अनुमान-प्रमाण

(प्राचीन न्यायवैशेषिक, बौद्ध-न्याय, जैन-न्याय तथा
नव्य-न्याय पर आधारित)

डॉ० बलिराम शुक्ल

रीडर, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना

प्राक्कथन

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल

भू० पू० कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण : १९८६

मूल्य : रु० १५०.००

मुद्रक : अरुण कम्पोजिंग एजेंसी, डी-१०२ नई सीलमपुर, दिल्ली-५३

ANUMĀNA - PRAMĀNA

(Infrence Based on Ancient Nyāya-Vaiśeṣika, Buddhist Logic, Jain Logic and Navya-Nyāya)

Dr. BALI RAM SHUKLA

With a FOREWORD by

Dr. ACĀRYA BADRINATH SHUKLA

Ex-Vice-Chancelor Sampurananand Sanskrit University, Varanasi

EASTERN BOOK LINKERS

DELHI (INDIA)

Publisher :

EASTERN BOOK LINKERS
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
DELHI-110007.

First Edition : 1986

Price : Rs. 150.00

Printed at :

Arun Composing Agency, D-102, New Seelampur, Delhi-110053

समर्पण

स्व० पूज्य पिता श्री न्याय सार्वभौम शास्त्र रत्नाकर पं० हरिराम
शास्त्री शुक्ल जी के चरणों में सादर श्रद्धाञ्जलि।
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेवसमर्पये ।

बलिराम शुक्ल

सूनृता वाक्

प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः इत्यत्र समेषां प्रमाणवादिनामैकमत्यम्। प्रमाणेषु चानुमानं मूर्धन्यं तस्य प्रत्यक्षागमाभ्यामिक्षितस्य पुनरीक्षणरूपत्वात्। स्पष्टमिदं यत् प्रत्यक्षेक्षितमपि पदार्थं विपश्चित्तावन्नाभ्युपैति यावत् सोऽनुमान निकषे कषणमासाद्य नानवद्यतां बिभर्ति, उक्तं यथा वाचस्पति मिश्रेण "प्रत्यक्ष-परिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" यद्यपितेनेदमप्यभिहितं "न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमतेऽनुमातारः"। परमेतत्कथनं तादृशान् पुँसोऽभिलक्षयन्ति ये स्वल्पके नैव सन्तुष्य विरतव्यापारतां भजन्ति न च भवन्ति प्रत्यक्षगोचरतां गतस्यानुमित्सवः। ये पुनः प्रतिभाशालिनो बहुत्र प्रत्यक्षे दृष्ट प्रवृत्ति विसंवादाः, तेऽनुमानेन परिपुष्टिं विना न श्रद्धधते प्रत्यक्षविषयतामापन्नक-मत्यर्थम्।

अनुमानमहिमानमाकलयन् वात्स्यायनः सत्यमेव बभाषे "प्रदीपः सर्व विद्यानामुपापः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्व धर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता"। अत्रान्वी-क्षिकी शब्दोऽनुमानमाचष्टे तत्रैव प्रस्तुतेन वचसा निर्दिष्टानामान्वीक्षिकी धर्माणा-मुपपत्तेः:

अनुमानं सर्वविद्यानां प्रदीपः विद्या नाम बोधः स स्वाभिलापकशब्दाध्वना स्वाश्रयादन्यत्र संक्रामति। मनुष्यो यं कमपि बोधमर्जयति तं तत्समानार्थकं वाक्यं प्रपुज्य परान् प्रत्यभिव्यनक्ति, पूर्वजानां विद्या मनुष्येण ग्रन्थत एवोपलभ्यन्ते, ग्रन्थश्च आसत्तियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्योपेतानां शब्दानां व्यस्थितो राशिः। तृतीयक्षणवृत्ति-ध्वंसप्रतियोगितया क्षणद्वयाधिकमनवस्थानेन स लिपिक्रोडे निपुणतया निक्षिप्यते। लिपिः स्वाभिज्ञान् स्वोत्सङ्गतान् शब्दान् स्मारयति। शब्दाश्च तत्तदर्थेषु गृहीत सङ्केततया तानुपस्थापयन्ति। शब्दार्थ संकेतग्रहश्च प्रयोज्यप्रयोजक वृद्ध व्युत्पित्सु वालोपजीविना व्यवहारेण साध्यते। व्यवहारश्चानुभानं पुरस्कृत्य प्रवर्तते। तदेवं शब्दार्थसङ्केतानुमानस्य ग्रन्थगतानां विद्यानामवबोधमूलतया अनुमानं सर्वविद्या प्रदीपो भवति।

अनुमानं सर्वकर्मणामुपायः। मनुष्यो हि स्वेष्टसाधनतयाऽवधृते कर्मणि व्याप्तियते। पयः पानेन सकृन्निवृत्तपिपासः कालान्तरे पिपासितो नूतनं पयः पातुं चेष्टते अपीत पयसि पिपासोपशान्तिसाधनतानानुभूतपूर्वा। अतः स पूर्व पीतपयः

सजातीयत्वेन तस्येष्टसाधनतामनुमायैव तत्पानाय प्रयतते। इयमेव स्थितिः सर्वेषामनागतकर्मणां सुनिश्चिते व्युवया दिशाऽनुमानमेव सर्वकर्मणामुपायो भवति।

अनुमानं सर्वधर्माणामाश्रयः, धर्मोहि द्विविधः तत्पदार्थवृत्तिः विहित-कर्मानुष्ठान निर्वर्त्यः कर्तृगतोऽतीन्द्रियोऽतिशयश्च। तयोः प्रथमोनुमानवेधः यथा पृथिव्यादि नव द्रव्येषु समवेतो द्रव्यत्वधर्मः कार्यसमवायि कारणतावच्छेदकतया पृथिवीत्वादिः पृथिव्यादि धर्मश्च गन्धादि समवायिकारणतावच्छेदकतयाऽनुमीयते बाधकाभावसहकृतेन स्वानुमानेन च जातित्वेन प्रतिष्ठाप्यते।

अदृष्टपदव्यपदेश्यः पुण्यापरनामा विहितकर्मजन्यः कर्तृसमवेतातिशयात्मा धर्मोऽप्यनुमानगम्यः वेदादि वेद्यायाः यागादेः स्वर्गसाधनताया उपपत्तये तदीय व्यापार तयैव तदर्थानुमानात्। यथोक्तमुदयेन "चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना" एष धर्म एव पुष्पदन्तेन शिवमहिम्नः स्तोत्रे पुरुषाराधनरूपतया प्रत्यपादि' क्रतो सुप्ते जाग्रत्वमसि फलयोगे ऋतुमतां क्वकर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। तदित्थमयं धर्मोऽप्यनुमानेनैवावसीयत इति भवति तत् सर्वधर्माणामाश्रयः।

अनुमानस्य निरूक्तामनन्यसाधारणीमुपयोगितामाधृत्यैव वैदिकेष्ववैदिकेषु च सर्वदर्शनेषु तन्निरूपणं वैशद्येन विस्तारेण च कृतं परिदृश्यते।

श्री बलिराम शुक्लो नैयायिकप्रवरस्य महामनीषिणो देवलोकं प्रसाधयतः श्री हरिराम शुक्लस्यज्येष्ठ स्तनयोऽतितरां व्युत्पन्नो न्यायविद्यायाम्। सखलु क्वचिदेक ग्रन्थेऽनुमानविषयकविचारामनिबन्धनेन युक्तिसङ्गत समीक्षावैकल्पेन च जायमानामनुमानजिज्ञासुवेदनां निराकर्तुं शोधविषयतयाऽनुमानं स्वीकृत्य विभिन्न ग्रन्थेषु प्रसृतानां तत्प्रतिपादकानां सङ्कलनपूर्वकं स्वकीयप्रतिभापरिष्कृतं ग्रन्थमेकम् "अनुमान प्रमाण" नाम्ना प्राणयत्, ग्रन्थेनानेनानुमान सम्बन्धे वेदितव्यं समग्रमेव वस्तु तत्वं पूर्णप्रायतया प्रस्तूयते, प्रकाश्यते च प्रशस्तं पाण्डित्यं प्रणेतुः।

अहं तस्य शास्त्रानुशीलनव्यसनेन प्रकृतस्य विशिष्टग्रन्थस्य रचनया च प्रमुदितेन मनसा तस्मै धन्याशीर्वचनान्पुपस्यन् विद्वज्जनस्पृहणीयस्य तदीयस्य यशो राशेरुत्तरोत्तरमभिवृद्धि कामये।

आचार्यः बदरीनाथ शुक्ल
भू० पू० कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य भारतीय न्यायशास्त्र की तीन मुख्य धाराओं के सन्दर्भ में न्याय के प्राणभूत अनुमान प्रमाण का विवेचन ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत करते हुए उसका समीक्षात्मक तथा तात्विक अध्ययन प्रस्तुत करना है। प्रस्तुत अध्ययन के लिए वैज्ञानिक दृष्टि के साथ न्यायशास्त्र के मौलिकग्रन्थों की विशेषरूप से सहायता ली गयी है। भाषान्तरित तथा अनूदित ग्रन्थों का भी यथोचित उपयोग विषय के याथातथ्य की रक्षा के लिए किया गया है।

न्यायशास्त्र का अध्ययन पहले केवल परम्परागत पाठशालाओं तथा संस्कृत विद्यालयों में ही होता था। इधर कुछ पाश्चात्य विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्या-विभूषित आधुनिक दार्शनिक विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है। तथा इस विषय पर अंग्रेजी हिन्दी आदि में कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं तथा विश्वविद्यालयों में दर्शन विषय के पाठ्यक्रम में भी इसका समावेश किया गया है। परन्तु न्याय शास्त्र विषयों की साङ्गोपाङ्ग तथा अपसिद्धान्त रहित ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखकर बहुत कम पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं अतः इस दृष्टि से यह अल्प प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ को पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय को प्रस्तुत विषय की प्रस्तावना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिसमें अनुमान का परिचय तथा अनुमान एवं प्रमाणशास्त्र के सम्बन्ध तथा अनुमान की प्रक्रिया में आने वाले आधारभूत तथ्यों का दिग्दर्शन तथा आन्वीक्षिकी विद्या के विकास तथा इतिहास पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में प्राचीनन्याय एवं वैशेषिक की अनुमान सम्बन्धी प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ज्ञातव्य है कि प्राचीन न्याय के विकास का श्रेय मुख्तयतः बौद्ध न्याय को है। बौद्धों की आलोचना के फल स्वरूप ही प्राचीन न्याय वैशेषिक का विकास हुआ है। जिस प्रकार नव्यनैयायिकों के प्रतिद्वन्द्वी प्रभाकर मीमांसक थे उसी प्रकार प्राचीन नैयायिकों के प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध नैयायिक थे। अतः इस अध्याय में बौद्धों की आलोचना के फलस्वरूप होने वाले अनुमान प्रक्रिया विकास को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय में अनुमान के सम्बन्ध में जैन तथा बौद्ध न्यायके दृष्टिकोण को विशेषरूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। न्यायशास्त्र के इतिहास में जैनों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धसेन दिवाकर आदि जैन न्याय के प्रवक्ताओं विवेचकों ने दिङ्नाग आदि के समान न्याय को दर्शन से भिन्न विधा के रूप में स्थापित किया है। अतः जैनदृष्टिकोण को समझे बिना भारतीय न्यायशास्त्र का अध्ययन एकदेशी ही होगा। उसी प्रकार बौद्ध न्याय भी अपने आप में स्वस्थ समृद्ध शक्तिशाली विचार धारा का जन्मदाता है। प्राचीन न्याय तथा बौद्ध न्याय दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्राचीन न्याय के अध्ययन के बिना बौद्ध न्याय का अध्ययन अधूरा है तथा बौद्ध न्याय के अध्ययन के बिना प्राचीन न्याय का अध्ययन व्यर्थ का बोझ है। जिन लोगों ने दोनों न्यायों में से किसी का भी अध्ययन किया है वे इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

इस बात को ध्यान में रखकर बौद्ध न्याय की दृष्टि से अनुमान प्रमाण और उसकी प्रक्रिया का यथातथ्य विवेचन करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में भारतीय तर्कशास्त्र के प्राणभूत नव्यन्याय के आधार पर अनुमान प्रमाण का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नव्यन्यायशास्त्र की दुरूहता से सभी परिचित हैं। नव्यन्याय के भारतीयशास्त्रों पर प्रभाव से भी भारतीय विद्याओं के अध्येता पूर्णतया परिचित हैं। सभीदर्शन, व्याकरणशास्त्र, साहित्य, धर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी नव्यन्याय से आश्चर्यजनकरूप से प्रभावित हैं। ज्योतिष तथा आयुर्वेद में नव्यन्याय की भाषा का ही उपयोग नहीं है अपितु उसके तार्किक प्रक्रिया तथा सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग भी किया गया है। इस तरह नव्यन्याय, विशेषरूप से उसका अनुमान प्रक्रिया सम्बन्धी विवेचन का भारतीय विद्या के क्षेत्र में बहुत महत्व है। आधुनिकशास्त्र की तुलना में भी यह तर्कशास्त्र उनसे हर माने में अधिक शक्तिशाली और स्पष्ट है। यह बात कतिपय पाश्चात्यतर्कशास्त्र-प्रवीण भारतीय तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्री भी स्वीकार करते हैं।

नव्यन्याय की भाषा की जटिलता विश्वविख्यात है। वस्तुतः नव्यन्याय की भाषा एक स्वतन्त्र भाषा है जिसमें पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है। उन पारिभाषिक शब्दों के प्रतिरूप हिन्दी भाषा में उपलब्ध न होने से प्रायः उन्हीं शब्दों का यथावत् उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया है। हिन्दी में संस्कृत भाषा के तत्सम और तद्भव शब्दों का उपयोग प्रायः होता है। नव्यन्याय के भी तत्सम शब्दों के प्रयोग को उचित जानकर उनका ही प्रयोग यहाँ किया गया हैं तथा काशी तथा अन्यत्र उत्तर भारत की पाठशालाओं में नव्यन्याय का अध्यापन जिस प्रणाली से होता है, उसी प्रणाली का अवलम्बन इस ग्रन्थ में भी किया गया है। यदि नव्यन्याय के उन्हीं पारिभाषिक

शब्दों को उसी रूप में न लेकर उनका रूप बदल दिया जाता तो उसी प्रकार की अव्यवस्था होती जैसी कि नव्यन्याय के अंग्रेजी अनुवादों में होती है और उससे अनेक भ्रान्तियों का जन्म होता है। उदाहरणार्थ "अवच्छेदक शब्द को ही लें। पाश्चात्य विद्वान् इन्गल्स ने इसके लिए "लिमिटर" शब्द का प्रयोग किया है तो भाषा परिच्छेद के भाषान्तरकार माधवानन्द उसके लिए "डिटरमिनेट" शब्द का प्रयोग किया है। इसीप्रकार किसी अन्य विद्वान् ने किसी अन्य शब्द का। इस अव्यवस्था की प्रतीति मुझे अंग्रेजी माध्यम से पूना विश्वविद्यालय में नव्यन्याय के उन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन हो तथा हिन्दी पाठक उनके आशय से भलीभांति परिचत हा जाये। इसलिए उन्हीं का प्रयोग करके उन्हें इस ढंग से समझाने का प्रयास किया है कि हिन्दी उनको समझने में कम से कम कष्ट का अनुभव करें भाषा की जटिलता को कम करने का प्रयास करके भी मैं विषय विस्तार के भय से अधिक कुछ नहीं कर सका हूं।

इस अध्याय में व्याप्तिवाद की चर्चा हेत्वाभास की तुलना में अधिक विस्तार से की गयी है। हेत्वाभास जो नव्यन्याय का निकष है उसकी चर्चा सिमीत रखी गयी है। हेत्वाभासों का नव्यन्याय का निरूपण भयङ्कर जटिलता से ओत-प्रोत है। उनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

अन्तिम अध्याय जो विषय का उपसंहार है, इसमें अनुमान की प्रामाणिकता और उसकी व्यापकता को प्रदर्शित किया गया है जिसमें पुनः एक बार सभी न्याय-शास्त्रों के अनुमान के प्रमाण्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

आजकल तुलनात्मक अध्ययन का प्रचलन जोर पर है। इस दृष्टि से पाश्चात्य तर्कशास्त्र जिसकी अनेक शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं, के साथ तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित था, परन्तु ग्रन्थ के असीमित विस्तार के भय से उस प्रयास को छोड़ दिया गया है। भविष्य में इस दृष्टि से अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा सकता है। अन्य विद्वान् भी इस ग्रन्थ के आधार पर उक्त प्रयास कर सकते हैं।

अन्त में मैं उन विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना चाहता हूं जिनके सत्परामर्श तथा मार्गदर्शन से यह ग्रन्थ प्रस्तुत कर सका हूं। विषय को वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक प्रकार से प्रस्तुत करने में डॉ० बलदेवराज शर्मा रीडर दिल्ली विश्वविद्यालय से जो प्रेरणा तथा सहायता प्राप्त हुई उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूं। उनके सहज स्नेहपूर्ण सत्परामर्श के बिना यह ग्रन्थ कदापि पूर्ण नही हो सकता था। उनके ही निरन्तर प्रयास से तथा पथप्रदर्शन से ही यह ग्रन्थ प्रकाश में आ रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में अनेक विद्वानों के सत्परामर्श मिलते रहे हैं जिनमें डा० रसिक बिहारी जोशी, प्रो० गौरीनाथ शास्त्री, प्रो० अनन्त लाल ठाकुर, डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय (प्रो० दर्शन विभाग दिल्ली वि० वि०) डॉ० वाचस्पति उपाध्याय प्रमुख हैं। मैं इन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

स्व० पिताजी के अनन्य मित्र गुरुवर्य स्वनाम धन्य पं० बदरीनाथ जी शुक्ल भूतपूर्व कुलपति संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। न केवल इन्होंने ग्रन्थ लेखन के समय अमूल्य पथप्रर्शन किया अपितु इस ग्रन्थ के लिए आशीर्वादात्मक दो शब्द लिखकर मुझे कृतार्थ किया है। विद्यार्थी अवस्था से ही मुझे इनका स्नेहपूर्ण आशीर्वाद सदा प्राप्त रहा है।

मैं मेरे परम गुरू स्व० पं० राज राजेश्वर शास्त्राद्राविड पू० पितृचरण न्याय सार्वभौम पं० हरिरामशास्त्री शुक्ल, शास्त्र रत्नाकर पं० विश्वनाथशास्त्रीदा तार महोदयो के प्रति आदराञ्चलि प्रस्तुत करता हूं। इनके प्रदत्त ज्ञान का मैं किंचिद् उपयोग रूप में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत कर सका।

यद्यपि मेरी असावधानी, प्रमाद, आलस्य और विषयाज्ञान से तथा प्रूफ संशोधन के प्रमाद से ग्रन्थ में अनगिनत अशुद्धियां रह गयी हैं इसके लिए मैं पाठकों का क्षमा प्रार्थी हूं। प्रूफ संशोधन तथा ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य स्व० जगदीश लाल जी शास्त्री ने किया था। उनके आकास्मिक निधन से प्रूफ संशोधन में बड़ी अव्यस्था हो गयी थी। उस अव्यवस्था तथा मेरे प्रमाद से मुद्रण में अनेक अशुद्धियां रह गयी हैं। पाठक कृपया उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे।

स्व० जगदीशलाल जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करते हुए अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर रहा हूं।

पुनश्च—कुछ स्थलों पर मुद्रण के बाद मुझे विषयाशुद्धियां भी दृष्टिगोचर हुई हैं उनका परिमार्जन मैं नहीं कर सका। आशा है विज्ञपाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।

अन्त में मैं इस्टर्न बुक लिकर्स के श्री श्यामलाल जी का आभार व्यक्त करता हूं। उनके लगन और अथक प्रयास से इतना विशालकाय ग्रन्थ इस महर्घता के युग में पाठकों के पास पहुँचा है। पाठकों पर इनका महान् अनुग्रह है। इसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूं।

ता० 21-2-86

बलिराम शुक्ल

सहायक ग्रन्थ सूची एवं संकेत परिचय

१.	अमृतोदयम्	अमृत० ना
२.	उपाय हृदय	उपा०
३.	कठाद रहस्य	क० र०
४.	कामन्दकीय नीति सार	का० नी० सार०
५.	कामन्दकीय नीतिसार जयमङ्गला	का० नीति० जय०
६.	कामन्दकीयनीतिसार उपाध्यायनिरपेक्षा	का० नीति० उपा०
७.	किरणावली	किरणा०
८.	कौटिलीय अर्थशास्त्र	कौ० अर्थ०
९.	कौटिलीय अर्थशास्त्र टीका	कौ० अर्थ० टी०
१०.	कौटिलीय अर्थशास्त्र टिप्पणी	कौ० अर्थ० टि०
११.	खद्योत टीका	ख० टी०
१२.	गादाधरी केवलान्वयिप्रकरण	गादा० के० प्र०
१३.	,, केवलव्यतिरेकी प्रकरण	गादा० व्य० प्र०
१४.	,, अवयव प्रकरण	गा० अव० प्र०
१५.	,, सामान्य निरूक्ति प्रकरण	गा० सा० प्र०
१६.	,, सत्प्रतिपक्ष प्रकरण	गा० सत्प्रति०
१७.	,, असिद्धि प्रकरण	गा० असि०
१८.	,, अनुमिति प्रकरण	गा० अनु०
१९.	,, पक्षता प्रकरण	गादा० प० प्र०
२०.	चरक संहिता	च० सं०
२१.	जागदीशी केवलान्वयि प्रकरण	जा० के० प्र०
२२.	,, केवलव्यतिरेकी प्रकरण	जा० के० व्य० प्र०
२२.	,, सत्प्रतिपक्ष प्रकरण	जा० स० प्र०
२४.	,, असिद्ध प्रकरण	जा० असि०
२५.	,, जागदीशी व्यधिकरण प्रकरण	जा० व्यधि०
२६.	,, सिद्धान्तलक्षण	जा० सि० ल०
२७.	,, पक्षता प्रकरण	जा० अनु० प्र०
	,, अनुमिति प्रकरण	जा० अनु० प्र०

२८. जैन न्याय में अनुमान विचार	जै० न्याय० अनु० वि०
२९. तत्त्व संग्रह	तत्व सं
३०. तत्त्व संग्रह पञ्चिका	तत्व० सं० पं०
तर्क संग्रह	त० सं०
तर्क संग्रह पद कृत्य	तर्क सं० पद०
तर्क भाषा	त० भा०
तत्त्व चिन्तामणि दीधिति केवलान्वयिप्रकर०	त० चि० के० प्र०
तत्त्वचिन्तामणि केवल व्यतिरेकी प्रकरण	त० चि० के० व्य० प्र०
,, अवयव प्रकरण	त० चि० अव प्र०
,, सामान्य निरूक्ति प्रकरण	त० चि० सामा० प्र०
,, दीधितिसत्प्रतिपक्ष प्रकरण	त० चि० दी० सत्प्र०
,, असिद्धि प्रकरण	त०चि० असि०
,, व्याप्तिग्रहोपायप्रकरण	त० चि० व्या० ग्र०प्र०
,, सामान्यलक्षण प्रकरण	त० चि० सा० ल०प्र०
,, तर्कप्रकरण	त० चि० त०प्र०
,, पक्षता प्रकरण	त०चि० प० प्र०
,, केवलान्वयि प्रकरण	त० चि० के० प्र०
,, सिद्धान्त लक्षण	त० चि० सि० ल०
,, अनुमान प्रकरण	त० चि० अनु० प्र०
,, सव्यभिचार प्रकरण	त० चि० सव्य० प्र०
तन्त्रवार्तिक	त० वा०
तैत्ति० आरण्यक	तै० आरण्तक
तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक	त० श्लो० वा
दीधिति व्याधिकरणप्रकरण	दी व्याधि०
दीधितप्रकाश व्यधिकरण प्रकरण	दी० प्र० व्याधि
दीधिति सव्यभिचार प्रकरण	दी० स० व्य० प्र०
दिनकरी	दिनकरी
धर्मोत्तरप्रदीप	धर्मो० प्र०
नयचन्द्रिका	न० च०
न्याय परिशद्धि	न्याय० परि०
न्याय भाष्य भाष्य चन्द्र टीका	न्या० भा० टी०
न्याय बिन्दु०	न्या० वि०
न्याय बिन्दु धर्मोत्तर टीका	न्या० बि० धर्मों०

न्याय लीलावती	न्या० ली०
न्याय सूत्र	न्या० सू०
न्यायसूत्रवात्सायनभाष्य	न्या० सू० वा० भा०
न्यायवार्तिक	न्या० वा०
न्याय वार्तिकतात्पर्यटीका	न्या० वा० ता० टी०
न्यायकौस्तुभ	न्या० कौ०
न्यायकुसुमाञ्जलि	न्या० कु०
न्यायमञ्जरी	न्या० म०
न्याय सिद्धान्त मञ्जरी	न्या० सि० म०
न्यायसिद्धान्त मञ्जरीसार	न्या० सि० म० सा०
न्यायसार	न्या० सा०
न्याय भाष्य भूमिका	न्या० भा० भू०
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली	न्या० सि० मु०
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली भूमिका	न्या० सि० मु० भू०
न्यायकुमुद	न्या० कुमु०
न्यायवार्तिक भूमिका	न्या० वा० भू०
न्याय प्रवेश सूत्र	न्या० प्र० सू०
न्याय दीपिका	न्या० दी०
न्यायबोधिनी	न्या० बो०
न्यायावतार	न्या० व०
न्यायावतारवार्तिक	न्या० व० वा०
न्यायावतार वार्तिक वृत्ति	न्या० वा० वृ०
न्यायकन्दली	न्या० क०
पदार्थ धर्मसंग्रह (प्रशस्तपादभाष्य)	प० ध० सं० प्र० भा०
परीक्षामुखसूवा	प० मु० सू०
पद्मपुराण	प० पु०
प्रमाणवार्तिक	प्र० वा०
प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दि वृत्ति	प्र० वा० मनो० वृ०
प्रकरणपञ्चिका	प्र० प०
प्रमाणमञ्जरी	प्र० म० हेत्वा
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्र० क० मा०
प्रमेय रत्न माला	प्र० र० मा०
प्रमाणसमुच्चय	प्र० समु०

प्रमाण समुच्चयवृत्ति	प्र० समु० वृ०
प्रमाण नय तत्वालङ्कार	प्र० न० तत्व
प्रमाण मीमांसा	प्र० मी०
बृहती ऋजु विमला टीका	बृ० ऋ० टी०
वृहदारण्यकोपनिषत्	बृ० उप०
बौद्ध न्याय	बौ० न्या०
बौद्धदर्शन मीमांसा	बौ० द० मी०
बौद्धदर्शन और वेदान्त	बौ० वे०
वौद्ध तर्क भाषा	बौ० त० भा०
भारतीय दर्शन	भा० द०
भारतीय दर्शन का इतिहास-दासगुप्त	भा० द० इति०
भाषापरिच्छेद	भा० पा०
भारतीयदर्शन—उमेशमिश्र	भा० द० उ०
भाट्टचिन्तामणि	भा० चि०
भाष्य चन्द्र टीक	भा० च० टी०
मनुस्मृति	म० स्मृ०
मत्स्य पुराण	मत्स्य पु०
महाभारतम्	म० भा
माठरवृत्ति	मा० वृ०
मानमेयोदय	मा० मे० द०
माथुरी—सामान्यनिरूक्ति प्रकरण	मा० सा० प्र०
,, —व्याप्ति पञ्चक रहस्य	मा० व्या० र०
,, सिंह व्याघ्रलक्षण	मा० सि० व्या० ल०
मुण्डकोपनिषद्	मुण्डक
याज्ञवल्क्य स्मृति	या० स्मृ०
युक्ति दीपिका	यु० दी०
रामरूद्री	रामरूद्री
लघीयस्त्रय	लघीय०
लक्षणावली	लक्षणा०
लक्षणावतार सूत्र	लक्षणावतार०
वाद न्याय—विपश्चितार्थाटीका सहित	वा० न्याय०
विश्वगुणादर्श चम्पू	वि० गु० च०

विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि भूमिका	वि० मा० सि० भू०
बेदान्त परिभाषा	वेदा० परि०
वैशेषिक सूत्रोपस्कार	वै० सू० उप०
वैशेषिक सूत्र	वै० सू०
व्योमवती	व्योम०
व्युत्पत्तिवाद	व्यु० बा०
शिशुपाल वध	शि० पाल० व०
शतपथ ब्राह्मण	श० ब्रा०
षट्खण्डागम सूत्र धवलाटीका	षट्खण्ड
सरस्वतीकण्ठाभरणम्	स० क०
सर्वदर्शन संग्रह	सर्व० द०
सांख्यकारिका	सां० का०
सांख्यतत्वकौमुदी	सां० त० को०
हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक	एच० आई० एल०
हिस्ट्री आफ नव्य न्याय इन मिथिला	एच० एन० एन० एम०
ज्ञान श्री मित्र निबन्धावली	ज्ञान श्री मि० नि०



विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

खण्ड (ख) जैन न्याय

खण्ड (ग) नव्यन्याय ३६

द्वितीय अध्याय

खण्ड-१

तृतीय अध्याय 'खण्ड १'

खण्ड—२

अध्याय ४



प्रथम अध्याय

खण्ड 1

अनुमान परिचय, विषयप्रवेश, अनुमान एवं प्रमाणशास्त्र

भारतीय ज्ञान मीमांसा क्षेत्र में अनुमान प्रमाण का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में तत्त्वमीमांसा के साथ प्रमाण-मीमांसा भी उपलब्ध होती है। कहीं मुख्य रूप से इसका विवेचन है तो कहीं गौण रूप से । भारतीय दर्शन के न्याय वैशेषिक बौद्ध तथा जैन सम्प्रदायों में उसका विशेष विवेचन प्राप्त होता है। न्याय दर्शन को तो प्रमाण-शास्त्र ही कहा गया है । न्याय[1] शब्द की व्याख्या "प्रमाणों के द्वारा अर्थ परीक्षण के रूप में की गई है जिससे सिद्ध होता है कि न्यायदर्शन प्रमाण प्रधान दर्शन है ।

यद्यपि सभी दर्शनों का उद्देश्य तत्व विवेचन के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है तो भी तत्त्व विवेचन प्रमाणों के बिना सम्भव नहीं है।[2] इसलिए प्रमाण का स्वरूप उसके भेद, उन भेदों के स्वरूप, उनके साधन तथा उनका प्रामाण्य आदि निश्चित किये बिना तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से तत्त्व-ज्ञान के साधन के रूप में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता है, इसलिए महर्षि वात्स्यायन ने प्रमाण के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है—"प्रमाण के द्वारा अर्थ प्रतिपादन के पश्चात् प्रवृत्ति अर्थवत् अर्थात् प्रयोजन युक्त होती है।[3] प्रमाण के द्वारा अर्थ का निश्चय होने पर ही अनुकूल के ग्रहण और प्रतिकूल के त्याग की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति, प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों से भी उत्पन्न हो सकती है, किन्तु जब व्यक्ति प्रमाण से अर्थ को जानकर उसके विषय में प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति समर्थ कहलाती है, प्रमाणाभास के द्वारा अर्थ का बोध करके जब प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति

---

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः—वा० भा० १-१-१

२. इह खलु निखिललोकविमोक्षमुख्योपायं मननोपायमात्मनस्तत्त्वज्ञानमामनन्ति । न्या० सि० मं० प्र० ख० ।

३. वा० भा० १-१-१

असमर्थ कहलाती है।[1] तात्पर्य यह है कि जब भी व्यक्ति किसी विषय मे प्रवृत्त होता है वह प्रमाण के द्वारा अर्थनिश्चय करके ही प्रवृत्त होता है, अतः प्रमाण का प्रयोजन विवादातीत है।

प्रमाणों की संख्या, उसके स्वरूप, उसके क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक सम्प्रदाय एकमत नहीं हैं। प्रमाणों के विषय में मतभेद होना या उनकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में मत वैचित्र्य होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक दर्शन में तत्वमीमांसा का स्वरूप भिन्न होने से उसके साधक के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रमाणों के सम्बन्ध में मतभेद रहना उचित ही है।

प्रमाण शब्द (प्र) पूर्वक मा धातु से करण वाच्य में ल्युट्-प्रत्यय से सिद्ध होता है। (प्र) पूर्वक (मा) धातु का अर्थ है (प्रकृष्ट ज्ञान) अर्थात् यथार्थानुभव प्रपूर्वक माधातु से प्रकृष्ट ज्ञान का ग्रहण होने से, प्रमाण शब्द से प्रकृष्ट अनुभूति के (करण) का बोध होता है।

प्रकृष्टानुभूति का एक मात्र प्रत्यक्ष ही करण है, ऐसा भौतिकवादी चार्वाक मानता है। वैशेषिक तथा बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। गौतमीय नैयायिक उपमान और शब्द को भी प्रमाणों में सम्मिलित करते हैं। प्राभाकर मीमांसक इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती अनुपलब्धि को मिलाकर कुल ६ प्रमाण स्वीकार करते हैं। सम्भव और ऐतिह्य का समावेश करके पौराणिकों ने चेष्टा को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानकर प्रमाणों की संख्या ९ स्वीकार की है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि (अनुमान) की प्रामाणिकता को चार्वाक के बिना सभी दार्शनिक सम्प्रदाय मानते हैं। अनुमान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक की आलोचना करते हुए वाचस्पति मिश्र[3] कहते हैं "अनुमान को प्रमाण न मानकर चार्वाक अज्ञानी, सन्देही या भ्रम से ग्रस्त व्यक्ति की पहचान कैसे कर सकेगा क्योंकि दूसरे पुरुष का अज्ञान, सन्देह या भ्रम, प्रत्यक्ष से नहीं ज्ञात हो सकता और यदि दूसरे पुरुष के अज्ञान, संशय, विपर्यय को जाने बिना, उसको उपदेश करेगा तो उसे उन्मत्त कहा जायगा। अतः उस दूसरे पुरुष के अज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न किसी लिङ्ग, वचन आदि के द्वारा जानना होगा। इस प्रकार अनिच्छा से भी उस अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार करना पड़ेगा।

१. वा० भा० १-१-१

२. त० सं० पद० प्र० परि०।

३. सा० त० कौ० प्र० प्र०

वस्तुतः अनुमान को माने बिना जगत् का कोई व्यवहार नहीं चल सकता।

नाट्य शास्त्र में अनुमान की स्थापना और उसका उपयोग पाया जाता है। विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति में दृष्टियों, भाव भङ्गिमाओं और भावमुद्राओं का प्रयोग किया जाता है, जिनसे व्यक्ति के अन्दर के भावों का अनुमान बिना किसी कठिनाई के सर्वसामान्य जनता भी कर लेती है।

साहित्य शास्त्र में तर्क या अनुमान की स्थिति में दृष्टि की अवस्था कैसी होती है, इसका वर्णन आता है, तर्क या अनुमान होने की अवस्था में व्यक्ति की पलकें और भौंहें सहज रूप से उद्वर्तित हो जाती हैं, पुतलियाँ विस्फारित होती हैं, जो शङ्का या सन्देह निरास का चिह्न है, इसे वितर्किता[1] दृष्टि कहा जाता है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि ज्ञान के क्षेत्र में अनुमान प्रमाण की सार्वभौमिक सत्ता है।

अनुमान का स्वरूप

अनुमान शब्द अनु पूर्वक मा धातु के साथ ल्युट् प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। जिस का अर्थ है। "**अनु पश्चात् मानं-ज्ञानम् अनुमानम्**" अर्थात् जो ज्ञान किसी ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं। महर्षि गौतम[2] ने प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण करने के पश्चात् (अनुमान) का लक्षण किया है (**अथ तत्पूर्वकम्-अनुमानम्**) तत्पूर्वक यहाँ पर तत्पद से प्रत्यक्ष का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि पूर्व सूत्र में उसी का निर्देश है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानपूर्वक जो ज्ञान है "वही अनुमान है। यही अनुमान का स्वरूप है। किन्तु जिस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के पश्चात् अनुमान उत्पन्न होत है उसका परिचय भी आवश्यक है, क्योंकि सभी ज्ञान "सविकल्पक प्रत्यक्ष, उपमिति शाब्द-बोध इत्यादि" प्रत्यक्ष पूर्वक हैं, इसलिए महर्षि वात्स्यायन ने[3] तत्पद से गृहीत प्रत्यक्ष के विषय में कहा है कि वह (प्रत्यक्ष) हेतु और साध्य के सम्बन्ध का दर्शन और हेतु का दर्शन है। जैसे पर्वत में धूम के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है।

कभी-कभी अनुमान आगम (शब्द) प्रमाण के आधार पर भी किया जाता है, जैसे किसी ने कहा है कि पर्वत पर धूम है तो हमें उक्त धूम का ज्ञान होकर व्याप्ति स्मरण पूर्वक पर्वत में अग्नि का ज्ञान होता है, तात्पर्य यह है कि हेतुज्ञान किसी भी प्रमाण से होने पर व्याप्तिस्मरणपूर्वक अनुमान हो सकता है। इसलिए वात्स्यायन ने[4] अनुमान को प्रत्यक्ष तथा आगम दोनों पर आश्रित स्वीकार किया है।

१. वितर्कोद्वर्तितपुटा तथैवोत्फुल्लतारका।
अधोगतिविकारा च दृष्टिरिष्टा वितर्किता।। नाट्यशास्त्र ८-७४

२. न्या० सू० १-१-५

३. वा० भा० १-१-५

४. प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमानम्-वा० भा० १-१-१

अनुमान के अङ्ग

जिस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के लिए इन्द्रियाँ, सन्निकर्ष आदि कारण होते हैं उसी प्रकार अनुमित्यात्मक ज्ञान के लिए व्याप्तिज्ञान एवं पक्षधर्मताज्ञान आदि कारण होते हैं।[1] लोक व्यवहार, ज्योतिष शास्त्र, पदार्थविज्ञान में भी व्याप्तिज्ञान के आधार पर विभिन्न वस्तुओं के विषय में सिद्धान्त स्थापित किए जाते हैं। जैसे कि लोक व्यवहार में बलाका पक्षी का रहना जल होने का लक्षण माना जाता है। जहाँ बलाका पक्षी होता है, वहाँ जल होता है, यह व्याप्ति हमें अनुभव और लोक व्यवहार से ज्ञात होती है। यदि हम यह बात नहीं जानते हैं तो किसी स्थान में बलाका के झुण्ड को देखकर भी जल का अनुभव नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार बलाका के दर्शन के बिना यह जानकर भी कि जहां-जहां बलाका पक्षी होता है वहां वहां जल होता है, हम जल का ज्ञान नहीं कर सकते हैं। कारण कि हमें व्याप्तिज्ञान तो है किन्तु पक्षधर्मताज्ञान नहीं है। अतः पक्षधर्मता का ज्ञान भी अनुमान का आवश्यक अङ्ग है। निश्चित स्थान में बलाका पक्षी का दर्शन ही पक्षधर्मताज्ञान है। जैसे पर्वत में धूम को देखकर भी जिस व्यक्ति को जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि रहती है इस प्रकार का व्याप्ति ज्ञान नहीं है उसे अग्नि की अनुमति नहीं होती है, इसी प्रकार उक्त व्याप्तिज्ञान के रहते हुए भी किसी व्यक्ति को धूम, वृक्ष आदि से ढक जाने के कारण पर्वत में दृष्टिगोचर नहीं होता है तो उसे पर्वत में अग्नि की अनुमिति नहीं होती है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों ही अनुमान के प्रमुख अङ्ग हैं। इसी प्रकार अनुमान की प्रक्रिया में परामर्श, पक्षता, हेतु, अनुमान के भेद, न्यायावयव आदि भी विचारणीय विषय हैं, इनके विषय में जो मतभेद हैं तथा जिनके फलस्वरूप न्यायशास्त्र का अद्भुत, अभूतपूर्व विकास हुआ है, उसका यथास्थान यथोचित विवेचन समीचीन रहेगा। इस दृष्टि से न्याय के संक्षिप्त इतिहास का विवेचन करने के उपरान्त ही इस विषय का क्रमानुसार तुलनात्मक विश्लेषण करना उचित समझते हैं।

प्रमाणशास्त्र या आन्वीक्षिकी का मूल तथा विकास

उक्त विवेचन से अनुमान की उपयोगिता, तथा उसका सामान्य स्वरूप स्पष्ट हो गया है, अनुमान का प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में प्रमुख स्थान होने से न्यायशास्त्र में इसको पर्याप्त महत्त्व दिया गया है।[2] प्रमाण शास्त्र आन्वीक्षिकी या न्यायशास्त्र में

---

१. अनुमानस्य द्वे अङ्गे व्याप्तिः पक्षधर्मता च० त० भा० अनु० प्र०

२. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणामन्वीक्षा तथा प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी न्याय-विद्या, न्याय-शास्त्रमित्यर्थ :—
वा० भा० १-१-१।

अनुमान की प्रक्रिया पर अत्यधिक अन्वेषण किया गया है। प्रमाण विद्या अत्यन्त प्राचीन विद्या है। न्याय शब्द का शब्दिक अर्थ है **नीयते अनेन इति न्यायः** जिसके द्वारा किसी निर्णय पर पहुंचा जाय वह न्याय है। न्याय प्रधान जो दर्शन है वह न्यायदर्शन है। न्याय शब्द तर्क या अनुमान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होता है। इसलिए वह दर्शन जिसमें अन्य दर्शनों की अपेक्षा, अधिक पूर्णता के साथ तार्किक पद्धति से तत्त्व मीमांसा की जाती है, न्यायदर्शन है।

न्याया हेतुविद्या का सबसे प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद[1] के नासदीय सूक्त में परम तत्त्व के दर्शन की साधिका के रूप में (मनीषा) शब्द से हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद्[2] और मुण्डकोपनिषद्[3] में भी इसका उल्लेख है। तैत्तिरीयारण्यक[4] में भी अनुमान को स्मृति प्रत्यक्ष ऐतिह्य के साथ प्रमाण रूप में प्रदर्शित किया गया है। वाल्मीकि रामायण[5] में ज्ञान के स्रोत के रूप में प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण के साथ अनुमान का भी उल्लेख है।

चरक संहिता[6] में महर्षि चरक ने चार प्रकार की परीक्षाओं का वर्णन किया है, आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति। उपलब्धि के कारण के रूप में भी अनुमान का उल्लेख है। उपलब्धि साधन को ही आचार्य जयन्त प्रमाण कहते हैं।

प्राचीन स्मृति[7] साहित्य में चतुर्दश विद्या स्थानों में न्याय शास्त्र का समावेश किया गया है। स्मृतियों में न्यायशास्त्र की आन्वीक्षिकी के रूप में चार विद्याओं में गणना मिलती है।[8] आन्वीक्षिकी केवल अध्यात्मविद्या उपनिषदों की तरह नहीं है, वल्कि यह उपनिषदों में प्रतिपादित "मनन" है, प्रत्यक्ष और आगम से बढ़-चढ़ कर इसका स्थान है। अतएव **आत्मा वारे०** इत्यादि उपनिषद्[9] मन्त्रों में प्रत्यक्ष और श्रवण (शब्द) के पश्चात् मनन को स्थान दिया है। मनन अनुमान या तर्क ही है। इसलिए कहा जाता है। "**मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः**[10]" अर्थात् उपपत्तियों द्वारा अर्थात् हेतु ज्ञान के द्वारा जो ज्ञान है वही मनन है।

---

१. सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीका: कवयो मनीषा-ऋग् १० । २१

२. बृहदारण्यक ३-७

३. मुण्डक १. १. १

४. स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यम् अनुमानचतुष्टयम् । एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते ॥ तैत्तिरीयारण्यक १. २

५. रामायण ५. ८७. २३

६. चरक संहिता अ० ८

७. याज्ञवल्क्य ० १. ३

८. कौ० अर्थ १. २

९. बृहदारण्यक ४. ५

१०. श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्य: मन्तव्यश्चोपपत्तिभि : मत्वा तु सततं ध्येय : एते दर्शनहेतवः ।

आन्वीक्षिकी विद्या प्राचीन काल से ही व्यापक प्रतिष्ठा का विषय रही है, महर्षि मनु[1] ने तो इसका समावेश श्रुति में ही किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति[2] मे इसकी वेदाङ्गों में गणना की गई है। कौटिलीय अर्थशास्त्र[3] में आन्वीक्षिकी को लोकसंस्थिति के लिए आवश्यक चार विद्याओं में से एक माना है।

यद्यपि आन्वीक्षिकी शब्द का व्यापक रूप से अध्यात्मविद्या के अर्थ में प्रयोग हुआ है, कौटिलीय अर्थशास्त्र[4] में सांख्य, योग, लोकायत शास्त्र को आन्वीक्षिकी की संज्ञा प्रदान की गई है, कामन्दक ने भी आन्वीक्षिकी को आत्मविज्ञान कहा है, तथापि आन्वीक्षिकी का न्याय विद्या के रूप में प्रयोग भी हमें प्राचीन साहित्य में पर्याप्त रूप से मिलता है। मनु[5] ने हेतु विद्या या तर्की कहकर (आन्वीक्षिकी) का वर्णन किया है, गौतम-धर्मशास्त्र, वाल्मीकि-रामायण और महाभारत में भी आन्वीक्षिकी का प्रयोग न्यायशास्त्र के लिए हुआ है। पुराणों में भी न्याय विद्या का उल्लेख इसी अर्थ में प्राप्त होता है।

मत्स्य पुराण[6] में मीमांसा और न्याय, प्रमाण प्रधान विद्यायें थीं। इसमें आठ प्रमाणों का भी उल्लेख है। महाभारत[7] के कई पर्वों में न्याय विद्या का उल्लेख है। कौटिलीय अर्थशास्त्र[8] का साँख्ययोग, लोकायत को आन्वीक्षिकी कहने का यही अर्थ है कि उस समय ये दर्शन भी अनुमान प्रधान थे, इनमें की गई अनुमान की मीमांसा ही आन्वीक्षिकी थी, वात्स्यायन कृत आन्वीक्षिकी शब्द की व्युत्पत्ति इस बात को स्पष्ट कर देती है।

अर्थशास्त्र की टीकाओं में तथा अन्यत्र भी (आन्वीक्षिकी) शब्द के तात्पर्य के विषय में मतभेद परिलक्षित होता है, उसका सामञ्जस्य एक विचारणीय विषय है, इसके विषय में समाधान यह भी हो सकता है कि जब कौटिलीय अर्थशास्त्र की

---

१. मनुस्मृति १२-३

२. पुराणं न्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांशमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥—याज्ञ० ४-३

३. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। कौ० अर्थ० १-२

४. वही— १-३

५. मनु० १२-१११

६. अनन्तरं च वक्त्रे भ्यो वेदास्तस्य विनिस्सृताः।
मीमांसा न्यायविद्या च प्रमाणान्यृक् संयुगा ॥ मत्स्य० ३-२

७. महा० आ० अ० १२ अ० ७०

८. कौ० अर्थ० १-३

रचना हुई, उस समय वात्स्यायन का भाष्य अनुपलब्ध था या उसकी रचना ही नहीं हुई थी। परापरा से न्याय ग्रन्थ के रूप में षष्टितन्त्र का प्रचार हो रहा हो, और आन्वीक्षिकी के रूप में कौटिल्य ने उसी का ग्रहण किया हो और उसी तात्पर्य के आधार पर जयमङ्गलाकार ने आन्वीक्षिकी के रूप में षष्टितन्त्र का ग्रहण किया हो, पश्चात् वर्धमान स्वामी (ई० पू० ६००) द्वारा षष्टितन्त्र का खण्डन हो जाने से और न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन-भाष्य बन जाने से षष्टितन्त्र की उपेक्षा करके लोगों ने आन्वीक्षिकी के रूप में न्याय विद्या का ग्रहण किया।

वस्तुत: सांख्यशब्द कपिल प्रणीत सांख्यदर्शन का वाचक नहीं है, अपितु वह उस विचार शास्त्र का वाचक है जिसमें कार्यकरण-भावादि के आधार पर यथावस्थित भाव स्वभाव का ज्ञान होता है।[1]

न्यायवार्तिक[2] में सिद्धान्त निरूपण के प्रसङ्ग में योगपद से न्याय और वैशेषिक का ग्रहण किया गया है, इससे प्रकट होता है कि आन्वीक्षिकी पद से तर्क-विद्या मात्र अभीष्ट है।

कामन्दकीय नीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षा ने स्पष्ट रूप से आन्वीक्षिकी को अनुमानविद्या बतलाकर उसे न्यायवैशेषिक शास्त्र के रूप में ग्रहण किया है। यद्यपि गौतम के न्यायसूत्र आदि का कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा दूसरे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि आन्वीक्षिकी विद्या अनुमानविद्या या तर्क विद्या का उल्लेख ऋग्वेद काल से उत्तरोत्तर काल में प्राप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह तर्क विद्या या अनुमान की कला अवश्य थी और उसका प्रयोग भी अपने मत को पुष्ट करने के लिए, यत्र तत्र किया जाता था क्योंकि किसी भी तन्त्र अथवा दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन तर्क विद्या के विना सम्भव नहीं है, किन्तु इस अनुमान विद्या या कला का शास्त्रीय विवेचन गौतम के न्याय सूत्र से प्रारम्भ हुआ, और एक नये युग का आरम्भ हुआ जिसे हम न्यायशास्त्रीय युग कह सकते है, पूरा न्यायशास्त्र हमारी गवेषणा का विषय नहीं है उसका अनुमान सम्बन्धी विवेचन ही हमारी गवेषणा का विषय है, जो न्याय शास्त्र का अभिन्न अङ्ग है। इसलिए न्याय विद्या या तक विद्या के शास्त्रीय विवेचन की सीमाओं के अन्तर्गत ही हमें अनुमान प्रमाण का विवेचन करना है—जिसके लिए न्याय शास्त्र के विकास के इतिहास की रूपरेखा जानना आवश्यक है, इसी रूपरेखा के आधार पर हमारे विषय की रूपरेखा निर्धारित होती है।

---

१. भा० दर्शन—उमेशमिश्र, पृ० २६८

२. न्या० वा० १-१-२९

खण्ड—२

न्याय विद्या का संक्षिप्त इतिहास

तर्कशास्त्र का शास्त्रीय विवेचन गौतम के न्यायसूत्रों से आरम्भ होता है। इससे पूर्ववर्ती काल में न तो बौद्धन्याय के किसी ग्रन्थ में और न जैनन्याय के किसी ग्रन्थ में इसका व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन के प्रवर्तक महर्षि गौतम ही हैं, जैन और बौद्ध अनुयायी भी इस शास्त्रीय विवेचन से प्रभावित हुए और जिस परम्परा का श्रीगणेश महर्षि गौतम ने किया, उसी शास्त्रीय विवेचन की परम्परा का आरम्भ उन्होंने भी अपने सम्प्रदाय में किया जिसके फलस्वरूप न्याय अथवा तर्क शास्त्र का मुख्यतः तीन सम्प्रदायों में विवेचन हुआ है। १. प्राचीन न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय, जिसके प्रतिनिधि गौतम कणाद तथा इनकी परम्पराओं को चलाने वाले आचार्य गण हैं। २. जैन एवं बौद्ध सम्प्रदाय—जिसके प्रतिनिधि-सिद्धसेन दिवाकर, वसुवन्धु तथा इनके सम्प्रदाय को चलाने वाले आचार्य गण हैं। तृतीय सम्प्रदाय है ३. नव्यन्याय सम्प्रदाय —जिसके प्रतिनिधि आचार्य गंगेश तथा उसके अनुयायी नव्य नैयायिक हैं।

इस दृष्टि से भारतीय तर्कशास्त्र को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। यह विभाजन काल के आधार पर न होकर सम्प्रदाय के आधार पर है। जो तर्क संगत प्रतीत होता है। पहले भाग में गौतमीय न्याय तथा वैशेषिक को रखा जाता है क्योंकि वैशेषिक दर्शन के भी अनेक आचार्यों का न्यायशास्त्र के विकास में अतिशय यागदान है। अतः प्राचीन न्याय शास्त्र के अन्तर्गत न्याय एवं वैशेषिक तार्किकों का समावेश किया गया है। दूसरे भाग में बौद्ध एवं जैन न्याय हैं जिनका तर्कशास्त्र प्राचीन न्याय की प्रतिक्रिया स्वरूप उदित हुआ। प्रत्येक सम्प्रदाय के न्याय के जन्म और विकास के अनन्तर एक दूसरे पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। समय की एकता हमारे लिए गौण है, महत्त्वपूर्ण है। इनका एक दूसरे पर प्रभाव और उसके फलस्वरूप तर्क विद्या का शास्त्रीय विकास। तीसरे भाग में आचार्य गंगेश से प्रादुर्भूत होने वाला नव्यन्याय का विकास है। इसे हम न्याय शास्त्र के विकास का अन्तिम तथा विकसिततम काल कह सकते हैं, यह नव्यन्याय का युग है, इसने जो प्रभाव भारतीय विद्याओं पर डाला है, वह सर्व विदित है। इस न्याय प्रणाली के उदय होते ही सभी शास्त्रों ने इसकी विवेचन की प्रणाली को अपना लिया था, जो आज भी अव्याहत रूप से प्रचलित है। यद्यपि न्यायशास्त्र का इतिहास अतिविस्तृत है, अनेक ग्रन्थ-कर्ताओं ने न्याय विद्याके भण्डार को भरा है, उन सब का परिचय यहां उपस्थित करना

असम्भव है, अतः हम केवल उन मुख्य नैयायिकों का परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं जिनका न्याय के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है अथवा जिन्होंने किसी मौलिक सिद्धान्त की स्थापना कर न्याय की अवाध धारा को तीव्रता से आगे बढ़ाया है, या जिनकी कृति का पश्चाद्वर्ती कृतियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है, या उनका जिन्होंने विरोधी सिद्धान्तों का प्रखरता से निराकरण किया है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थकारों को क्रमशः निम्न प्रकार के क्रम से रखा जाता है। सबसे पहले महर्षि गौतम, उसके पश्चात् क्रमशः भाष्यकार, वात्स्यायन, वार्तिककार, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त, उदयन। वैशेषिकों में सबसे पहले कणाद, उसके पश्चात् क्रमशः प्रशस्तपाद, शिवादित्य, उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, शङ्कर मिश्र आदि।[1]

महर्षि गौतम

महर्षि गौतम वर्तमान में उपलब्ध न्याय सूत्रों के रचयिता हैं, और उन्होंने तर्क विद्या के विश्लेषणात्मक तथा शास्त्रीय अध्ययन का सूत्रपात किया ? भीमाचार्य[2] झलकीकर ने, षड् दार्शनिक सूत्रों को तृतीय स्थान दिया है, उनके विचार से सबसे पहले ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई।

कुछ विद्वानों[3] का मत है कि सभी सूत्रों की रचना एक ही समय में हुई। चन्द्रकान्त[4] तर्कालङ्कार के विचार में सांख्यसूत्रों के पश्चात् क्रमशः कणाद, गौतम, बादरायण और जैमिनि के सूत्रों की रचना हुई।

न्यायकोशकार[5] ने इस मत की आलोचना की है। वेदान्त सूत्रों में योग आदि के सिद्धान्तों का खण्डन होने से वेदान्त सूत्र योगसूत्रों से प्राचीन सिद्ध नहीं हो सकते सांख्य दर्शन के पारिभाषिक शब्द प्रकृति पुरुष आदि के उपनिषदों में उपलब्ध होने से साँख्य दर्शन क्या उपनिषदों से प्राचीन है ? उपनिषदों में वर्णित कपिल आदि ऋषि आधुनिक सांख्यादि दार्शनिक सूत्रों के रचयिता नहीं हैं, कपिल शब्द किसी ऋषि विशेष के अर्थ में प्रयुक्त न होकर किसी अन्य अभिप्राय से हुआ है। इन सूत्रों की रचना के पूर्व भी जो सिद्धान्त प्रचलित थे और जो सिद्धान्त पश्चात् उनके नाम से प्रचारित किये गये उन अनादि सिद्धान्तों का खण्डन वेदान्तादि सूत्रों में उपलब्ध होता है। वर्तमान उपलब्ध सूत्रों के रचयिता ऋषि महर्षि अर्वाचीन ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

---

१. न्या० को० पृ० ३
२. न्या० को० पृ० २३
३. न्या० को० पृ० २४
४. न्या० को० पृ० २४
५. न्या० को० पृ० २४

महर्षि गौतम ने पाँच अध्यायों में न्याय सूत्रों की रचना की है, इन सूत्रों की संख्या में मतभेद है किसी ने सूत्रों की संख्या ५३७ तो किसी ने ५२८ बतलाई है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय सूची निवन्ध में न्याय सूत्रों की संख्या ५२८,५ अध्याय १० आह्निक ८४ प्रकरण तथा १९६ पद तथा ८३८५ अक्षर बतलाये हैं।[1]

महर्षि गौतम को गौतम भी कहा जाता है। इन्हीं को कुछ लोग मेधातिथि गौतम की मानते हैं। अक्षपाद, अक्षचरण, आदि गौतम के ही नाम हैं।[2]

महामहोपाध्याय हरप्रसाद[3] शास्त्री का मत है कि न्यायसूत्र महायान बौद्ध सिद्धान्त के समय के अर्थात् द्वितीय शताब्दी के हैं। म० म० सतीशचन्द्र[4] विद्याभूषण ने गौतम का समय ई० शती १५० ए० डी० निर्धारित किया है। किन्तु न्यायसूत्रों के सभी ५ अध्यायों की रचना उसी समय हुई इसमें सन्देह है, विद्याभूषण का विचार है कि प्रथम अध्याय किसी अन्य की रचना है। अग्रिम अध्यायों के विषयों का लङ्कावतार सूत्र तथा नागार्जुन के माध्यमिककारिका सूत्रों से साम्य है।

जर्मन पण्डित जैकोवी[5] महाशय के अनुसार न्यायसूत्रों का समय द्वितीय शती का अन्त है—अर्थात् शून्य वाद के पश्चात् और विज्ञान वाद के पूर्व का है।

कुछ विद्वानों[6] का मत है कि सूत्र तथा भाष्य दोनों में बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन होने से सूत्र का समय ईसा पश्चात् पाँचवीं शती है।

विद्वान्[7] मानते हैं कि "**तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म विध्युपायैः**" इस सूत्र कि व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है "**योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधि-प्रतिपत्तव्यः**" इसके आधार पर योगशास्त्र के प्रणेता पतञ्जलि (ई० पू० १४०) के पश्चात् न्याय सूत्रों की रचना हुई। इस प्रकार से न्यायसूत्रों की रचना के समय के विषय में विद्वान् एकमत नहीं है।

सूत्रों की रचना के विषय में कहा जाता है कि बौद्धादि सिद्धान्तों का इनमें उल्लेख होने से ये बौद्धादि शास्त्रों के पश्चात् हैं, यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, वस्तुतः बौद्धादि के सिद्धान्त नये नहीं हैं वेद और उपनिषदों में भी उनके बीज मिलते हैं, ये सूत्र गौतम प्रणीत हैं या नहीं यह विचार दूसरा है, न्यायसूत्र के रचयिता गौतम पौराणिक होते हुए भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, उनके पूर्व भी न्याय दर्शन था।

१. न्या० को० पृ० २४
२. न्या० को० पृ० २४
३. न्या० को० पृ० २४
४. न्यायभाष्य भूमिका—ढुण्डिराजशास्त्री—चौखम्बा० पृ०३
५. पृ० ५०
६. न्या० भा० भूमिका—ढुण्डिराजशास्त्री—चौ० पृ० ३
७. वही, पृ० ३
न्या० भा० भूमिका—ढुण्डिराजशास्त्री चौ० पृ०३

जैसे पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों की रचना के पूर्व व्याकरण शास्त्र नहीं था यह नहीं कह सकते, वैसे ही गौतम सूत्रों की रचना के पूर्व न्याय शास्त्र नहीं था यह नहीं कह सकते, उसी प्रकार गौतम के पूर्व अन्यदर्शन नहीं थे यह नहीं कहा जा सकता। अन्य दर्शन भी न्याय दर्शन के पूर्व थे सम्भवतः वे आज की तरह व्यवस्थित न हों किन्तु मौलिक रूप से उनके अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता, उन्हीं का खण्डन गौतमसूत्रों में उपलब्ध होता है। अर्वाचीन उपलब्ध ग्रन्थ अर्वाचीन हैं किन्तु सिद्धान्त अर्वाचीन नहीं हैं। अतः गौतम का समय ई० पू० छठी शती मनाने में कोई बाधा नहीं है।

वात्स्यायन

वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखा है जो 'वात्स्यायन भाष्य नाम से प्रसिद्ध है, प्रत्येक दार्शनिक सूत्र पर विभिन्न विद्वानों के भाष्य उपलब्ध हैं। भाष्य के सूत्रों की व्याख्या की एक विशिष्ट विधा है जिसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन किया जाता है तथा नये पदों का भी वर्णन किया जाता है उसे विद्वान् भाष्य कहते हैं।[१]

वात्स्यायन के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कामन्दकीय नीतिसार की टीका (उपाध्यायनिरपेक्षा) के अनुसार कौटिलीय अर्थशास्त्र और न्याय भाष्य के रचनाकार एक हा है।[२] परन्तु यह तथ्य इतिहास विरुद्ध है। कौटिल्य का समय वात्स्यायन से पूर्व है। कौटिल्य का समय ईसा पूर्व चतुर्थ शती माना जाता है।[३] जब कि वात्स्यायन को ईसा पश्चात् माना जाता है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और कामसूत्रकार वात्स्यायन एक ही हैं ऐसा भी विद्वानों का मत है। कामसूत्र[४] में शातकर्णि द्वारा महादेवी मलयवती के वध का वर्णन है। शातकर्णि का समय इतिहासकारों ने ई० १३७ से २०७ के बीच निर्धारित किया है। इससे अनुमान होता है कि कामसूत्रकार वात्स्यायन ई० १३७ से २०७ के बीच भारतवर्ष क पश्चिम प्रान्त में राज्य करने वाले सातवाहनों के वंशज शातकर्णि के समकालीन अथवा उसके पश्चात् होने चाहिएँ। अतः सिद्ध है कि वात्स्यायन से वहुत प्राचीन कौटिल्य थे, दोनों को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता है।

---

१. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥
न्या० को० पृ० २५

२. का० नीति० उपा० १-२

३. एच० आई० एल० पृ० १५०

४. कुन्तलश्शातकर्णिश्शातवाहनोमहादेवीं-मलयवतीं' जघान—काम०

दूसरा तर्क यह है वात्स्यायन[1] ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के वाक्यों को उद्धृत करते हुए कहीं भी अर्थशास्त्र को स्वकीय नहीं कहा है जबकि प्रायः विद्वान् स्व-रचित ग्रन्थ को उद्धृत करते समय अपना उल्लेख करते हैं। वात्स्यायन ने कामसूत्र में "**अर्थचिन्तकाः**" कहकर अर्थशास्त्र के रचनाकार का बहुवचन से समादर किया है, यदि अर्थशास्त्रकार वात्स्यायन होते तो उन्हें अपने लिए आदर सूचक बहुवचन प्रयुक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

अर्थशास्त्र के पारिभाषिक पदों का वात्स्यायन ने कामसूत्र में प्रयोग किया है, इससे प्रकट होता है कि कामसूत्रकार अर्थशास्त्रकार के उत्तरकालीन हैं। वात्स्यायन पाणिनि के उत्तरकालीन हैं यह बात उनके द्वारा पाणिनि के सूत्रों का प्रयोग (न्यायसूत्रों के साथ) प्रकट करता है। कामसूत्र की जयमङ्गला व्याख्या में यशोधर[2] ने कामसूत्र के रचनाकार का नाम मल्लनाग बतलाया है, यदि कौटिल्य और वात्स्यायन एक ही व्यक्ति होते तो उनके भिन्न नाम न होते।

वात्स्यायन और कौटिल्य को एक मानने वालों का तर्क है कि शातकर्णि का समय ईसा के पश्चात् बताया जाना सही नहीं है, कामसूत्र का उल्लेख पञ्चतन्त्र में मिलता है, पञ्चतन्त्र का अरबी अनुवाद भी ईसा के पूर्व हो चुका था।

कामसूत्र में लिखित शातकर्णि ईसा के पश्चात् (१३७ ई०) शातकर्णि से भिन्न शातवाहनवशीय ई० पू० १९५ का भी शातकर्णि हो सकता है। न्यायसूत्र के रचनाकार को पाणिनि के पश्चात् मानने में कोई आपत्ति नही है, पाणिनि का समय ई० पू० ७वीं शती माना जाता है।[4]

कामन्दकीय नीतिसार की टीका उपाध्याय[5] निरपेक्षा में कौटिल्य को ही वात्स्यायन कहा गया है। न्यायचन्द्रिका[6] और हेमचन्द्र[7] के कोश में भी कौटिल्य और वात्स्यायन को एक ही व्यक्ति कहा गया है।

---

१. क—प्रदीपः सर्वविद्यानाम्——वा० भा० १-१-१
   ख—परमतप्रतिविद्यमनुमतमिति तन्त्रयुक्तिः वही - १-१-४
२. जयमङ्गला अ० २
३. जय० को० प० पृ० २१५ सं० राजेश्वर शास्त्री द्रविड़
४. संस्कृत सा० इ० विश्वनाथ भारद्वाज पृ० ४५
५. का० नी० उपा० १-२
६. वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः "नयचन्द्रिका"
७. वात्स्यायनः मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मज । द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः ॥ "हेमचन्द्र"

श्रीमद्भागवत[1] की टीका में चाणक्य को ही वात्स्यायन कहा गया है। परन्तु कौटिल्य और वात्स्यायन को एक मानने के लिए दिये गये प्रमाण दोष रहित नहीं हैं, कौटिल्य और वात्स्यायन को एक मानने वालों ने जो यह कहा कि इतिहासविज्ञों द्वारा माना गया मलयवती को मारने वाले शातकर्णि का समय उन्हें मान्य नहीं है, इसलिए शातकर्णि का सम्बन्ध शातवाहन कुल से जोड़कर शातकर्णि को प्राचीन काल में ढकेलकर उसे कौटिल्य के काल में रखने का प्रयास और फिर उसे कौटिल्य के साथ तादात्म्य करने का प्रयास भी ठीक नहीं है, सातवाहन वंश में भी जो शातकर्णि हुआ है उसका समय भी विवादास्पद है और इतिहासकार उसे भी २०० ई० पू० का ही मानते हैं, इस आधार पर भी वात्स्यायन कौटिल्य के न तो समकालीन हो सकते हैं और न वे दोनों एक हो सकते हैं, दोनों के बीच २०० वर्ष का काल भेद रह जाता है।

चाणक्य वंश विस्तृत था। जयमाला टीका में कुटिल गोत्र के एक सौ कुलों का वर्णन आया है, अतः सम्भव है, अर्थ-शास्त्र, न्याय-भाष्य और काम सूत्रों के रचयिता वात्स्यायन गोत्र के चणक देश के निवासी होते हुए भी भिन्न व्यक्ति हों। जो भी हो वात्स्यायन को अर्थशास्त्रकार कौटिल्य से प्राचीन नहीं माना जा सकता। डा० विद्याभूषण[2] ने इनका समय तृतीय शती (३०० एडी) माना है। न्यायभाष्य[3] के भूमिकाकार ने विद्याभूषण का खण्डन करके महर्षि वात्स्यायन को भी खिष्टाब्द से प्राचीन माना है। वात्स्यायन को ईसा पूर्वकालीन मानने में कोई बाधा नहीं है। ई० सन् के प्रारम्भ होने के पूर्व न्याय-भाष्य, पञ्चतन्त्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र ये ग्रन्थ थे।

उद्योतकराचार्य

उद्योतकराचार्य ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखा है। भाष्य के समान वार्तिक[4] भी व्याख्या की एक स्वतन्त्र विधा है जिसमें उक्त अनुक्त और द्विरुक्त का बिचार किया जाता है। उद्योतकर को भारद्वाज भी कहा गया है।[5] सम्भवतः ये भारद्वाज

---

१. श्रीधरी १२-४०

२. एच० आई० एल० पृ० ११६

३. न्या० भा० भूमिका—ढुण्ढराजशास्त्री- चौ० वि० सं० १९८१-पृ० ६

४. उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः। न्याय कोश टिप्पणी में पराशर पुराण से उद्धृत पृ० २६

५. यदक्षपादप्रतिमो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
चकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्॥ न्या० वा० १-१-१

गोत्रोत्पन्न रहे होंगे। सुबन्धु[1] ने अपने गद्य काव्य वासवदत्ता में इनका उल्लेख किया है। सुबन्धु की वासवदत्ता का उल्लेख बाण ने अपने हर्षचरितसार में किया है। बाण का समय ६५० ई० माना जाता है।[2] इसलिए उद्योतकर उसके पूर्व ५ वीं या ६वीं सदी में होने चाहिएँ।

डा० सतीश चन्द्र विद्याभूषण[3] ने इन्हें आचार्य धर्मकीर्ति का समकालीन माना है उनका विचार है कि उद्योतकर ने अपने वार्तिक में जिस वादविधि नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है वह धर्मकीर्ति का वादन्याय ही है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति ने अपने न्यायबिन्दु में शास्त्रकार के रूप में वार्तिककार उद्योतकर का उल्लेख किया है। किन्तु विद्याभूषण का मत समीचीन नहीं है। क्योंकि वादविधि वादन्याय नहीं है। वादविधि आचार्य वसुवन्धु की रचना है। आचार्य वसुवन्धु न्याय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने स्वयं तीन न्याय ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें से एक का अपूर्ण अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध है। उसी का नाम वादविधि है। उस समय यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में उपलब्ध था। जब व्हेनसाङ्ग हिन्दुस्तान का भ्रमण कर रहा था उसने वसुवन्धु के न्याय सम्बन्धी तीन ग्रन्थ प्राप्त किये थे। अतः उद्योतकर[5] के द्वारा उल्लिखित वादविधि वसुवन्धु का ही ग्रन्थ है। दूसरी बात है कि आचार्य धर्मकीर्ति का वादन्याय ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से गौतम सूत्र के ५वें अध्याय के भाष्य और वार्तिक के खण्डन में लिखा गया है। वादन्याय में धर्मकीर्ति[6] ने वार्तिक का उल्लेख किया है यदि उद्योतकर धर्मकीर्ति के समकालीन हो तो उनके मत का खण्डन करने के लिए धर्मकीर्ति ग्रन्थ नहीं लिखते। जब तक किसी ग्रन्थ का व्यापक प्रचार न हो तब तक उसका खण्डन उस समय नहीं लिखा जा सकता था। ऐसी अवस्था में उद्योतकर के वार्तिक की प्रसिद्धि के लिए अवश्य कुछ समय लगा होगा। अतः उद्योतकर धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती और दिङ्नाग के पश्चाद्वर्ती हैं। इन्होंने न्यायवार्तिक

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ १२३

२. वही—पृ० १२४

३. वही—पृ० १२४

४. बौद्ध न्याय, पृ० ३५ (हिन्दी अनुवाद—चौखम्बा प्रकाशन)।

५. यत्रापवादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तम्—न्या० वा० पृ०

६. प्रतिदृष्टान्तधर्माऽभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः निग्रहस्थानम्—इत्यत्र भाष्यकारमतं दूषयित्वा वार्तिककारो यं स्थितपक्षमाह तत्रैवं ब्रूमः—प्रतिदृष्टान्तस्य यो धर्मस्तं यदा स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानाति निगृहीतो वेदितव्यः—वादन्याय प्रथम निग्रहस्थान खण्डन पृ० ७३

में दिङ्नाग के आक्षेपों का खण्डन किया है। न्यायवार्तिक का खण्डन धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाण वार्तिक आदि ग्रन्थों में किया है।[1] प्रभाचन्द्र के प्रमेय कमलमार्तण्ड में कई स्थानों में उद्योतकर का नामोल्लेख करके पूर्वपक्ष किये गये हैं। इस प्रकार उद्योतकर का समय ई० छठी शती सिद्ध होता है।

उद्योतकर धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में दिङ्नाग के "**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**" इस मत का खण्डन किया है, किन्तु आचार्य धर्मकीर्ति के "**कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्**" इस न्यायविन्दु के लक्षण का स्पर्श भी नहीं किया है। क्योंकि यह ग्रन्थ उस समय नहीं था यदि ग्रन्थ होता तो उसका खण्डन अत्यन्त अपेक्षित था। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री व्हेनसाङ्ग ने जिसने सातवीं शताब्दी के पूर्व भाग में इस देश की यात्रा की थी कहीं पर भी धर्मकीर्ति का वर्णन नहीं किया है। जबकि ई० ६२७ से ६९८ ई० के बीच भारत यात्रा करने वाले इत्सिंग ने दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति ने न्याय में आगे उन्नति कैसे की इसका वर्णन किया है।[2] इससे सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति उद्योतकर के पश्चात् ही प्रादुर्भूत हुए थे।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि नागार्जुन, वसुवन्धु आदि के खण्डन के लिए न्यायसूत्रों की रचना हुई। उससे असहमत होते हुए उद्योतकर[3] कहते हैं कि अक्षपाद महर्षि ने विश्वशान्ति के लिए न्यायदर्शन का सूत्रपात किया किन्तु मैं कुतार्किकों की अज्ञान निवृत्ति के लिए निबन्ध की रचना कर रहा हूँ। यहां कुतार्किक का दिङ्नाग और नागार्जुन से तात्पर्य है। स्पष्ट है कि न्यायसूत्रों की नहीं, अपितु वार्तिक की रचना नागार्जुन आदि का खण्डन करने के लिए हुई। उद्योतकर का जन्म कहाँ हुआ था अथवा वे किस स्थान के निवासी थे इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण अन्तः साक्ष्य या वहिःसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध नहीं है। वार्तिक में शुघ्न शब्द आया है इसके आधार पर श्रीविद्याभूषण इन्हें थानेश्वर का निवासी मानते हैं। शुघ्न थानेश्वर से लगभग ६० मील दूर है। संभव है ये थानेश्वर के दरवार में रहे हों क्योंकि उस समय थानेश्वर में विद्वानों का जमघट रहता था।[4]

उद्योतकर के उपरान्त न्यायशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदाता के रूप में वाचस्पति मिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्डप्रस्तावना, पृ० १४

२. न्यायविन्दु भूमिका – पृ० १२ चौ० ई १९५४

३. यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
न्या० वा० १-१-१

४. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १२४ (मोती० ई० १९७१)।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र षड्दर्शन टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने धर्मकीर्ति के आक्षेपों का समाधान करने के लिए उद्योतकर के वार्तिक पर न्याय-वार्तिक-तात्पर्य के नाम की टीका लिखी है। इन्होंने न्यायकणिका और परिशिष्ट नाम के दो अन्य ग्रन्थ न्याय विषय के लिखे हैं। इसके अतिरिक्त, ईश्वरकृष्ण की साङ्ख्यकारिका पर इनकी अन्य साङ्ख्य-तत्त्वकौमुदी नाम की व्याख्या है। इनकी अन्य रचना आचार्य शंकर के भाष्य पर भामती नाम से प्रसिद्ध है।

कुछ विद्वानों का मत है कि भामतीकार तात्पर्य के रचयिता से भिन्न[1] हैं किन्तु विद्वानों का यह बहुमत भामतीकार और न्याय-वार्तिकतात्पर्यकार वाचस्पति मिश्र को एक ही मानता है।

इनकी अन्य रचना परिशिष्ट के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे उदयनाचार्य की रचना मानते हैं और कुछ लोग इस परिशिष्ट को न्याय-कणिकापरिशिष्ट के रूप में ही स्वीकार करते हैं।[2]

वाचस्पति मिश्र[3] ने अपना समय स्वयं न्यायसूची निबन्ध में लिख दिया है। इसके आधार पर इनका समय ई० ८४१ निश्चित होता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र, आचार्य धर्मकीर्ति के पश्चात् हुए। इन्होंने आचार्य धर्मकीर्ति का कीर्ति नाम से उल्लेख न्यायकणिका में किया है।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त वाचस्पति के उत्तरभावी है। इन्होंने न्यायमञ्जरी में "**आचार्यास्तु**" कहकर वाचस्पति मिश्र के मत को उपस्थित किया है।[4] जयन्तभट्ट का समय ८५० ई० से ९५० ई० के बीच माना जाता है। इस दृष्टि से वाचस्पति का समय ८४१ ई० उचित ही प्रतीत होता है।

शंकराचार्य का जन्म ७८८ ई० माना गया है।[5] इस प्रकार भी भाष्य की टीका भामती के रचयिता, वाचस्पति मिश्र का ८४१ ई० में अस्तित्व सङ्गत हो जाता है।

न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका के मंगलाचरण में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है

---

१. न्यायकोश पृ० २६

२. न्यायकोश पृ० २६

३. श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वकवसुवत्सरे।
न्यायसूचीनिवन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे॥
न्या० मं० भूमिका, पृ० ५, चौ० ई० १९२५

४. न्याय-मञ्जरी, भूमिका, पृ० ५ चौ० ई० १९२५

५. वही पृ० ६

कि "दुस्तर कुनिबन्धरूपी पङ्क में फंसे हुए अतिवृद्ध उद्योतकररूपी गाय के उद्धार से अर्जित पुण्य की कामना करता हूं।"[1] इससे स्पष्ट है कि बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति ने उद्योतकर की तीव्र आलोचना की थी। उसका खण्डन करके गौतमीय दर्शन की स्थापना के लिए इन्होंने तात्पर्यटीका लिखी है। इनकी तात्पर्यटीका पर आचार्य उदयन ने परिशुद्धि नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने साङ्ख्य, योग, और वेदान्त दर्शनों पर टीकायें लिखी हैं किन्तु वे प्रवृत्त्या नैयायिक थे। साङ्ख्यतत्त्व-कौमुदी न्याय भूमि की दृष्टि से लिखी गई है। डा० उमेश मिश्र[2] का कथन है कि—"इन्होंने साङ्ख्य के तत्त्वों को व्यावहारिक वाह्यजगत् के तत्त्वों के समान ही मान लिया और न्याय शास्त्र की प्रक्रिया से उन तत्त्वों का विवेचन किया। वाचस्पति के पूर्व के आचार्यों ने भी सांख्य तत्त्वों को उसी रूप में ग्रहण किया है अत: इसे वाचस्पति का अपराध नहीं माना जा सकता।

वाचस्पति मिश्र भामती में मार्तण्डतिलक स्वामी का अभिवादन करते हैं जो उनके आचार्य की ओर संकेत माना जाता है। किन्तु अमलानन्द की टीका के अनुसार यह शब्द कर्मफल के कारण पूजित देवों के दो नाम मार्तण्ड और तिलक-स्वामिन् का वाचक है।[3]

आचार्य उदयन ने परिशुद्धि में तथा वर्धमानोपाध्याय ने प्रकाश में वाचस्पति के गुरु के रूप में त्रिलोचन का उल्लेख किया है एवं वाचस्पति ने भी त्रिलोचन गुरु का उल्लेख तात्पर्यटीका में किया है।[4] डा० दास गुप्ता का विचार है कि न्याय-कणिका तृतीय श्लोक[5] से ज्ञात होता है कि न्यायमञ्जरी के रचयिता जयन्त भट्ट वाचस्पति मिश्र के गुरु थे।[6] क्योंकि जयन्त ने (आचार्यास्तु)[7] कह कर वाचस्पति मिश्र के

---

१. इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥ न्याय वा० तात्पर्य-टी० १-१-१

२. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र

३. भारतीय दर्शन का इतिहास—डा० दास गुप्ता, पृ० १०२

४. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथा मानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्॥ न्या० वा० ता० टीका १-१-१

५. अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥ भारतीय दर्शन का इतिहास
डा० दास गुप्ता पृ० १०२

६. भारतीय दर्शन का इतिहास—डा० दासगुप्ता, पृ० १०२

७. न्यायमञ्जरी, पृ० १

मत को प्रस्तुत किया है। इसलिए जयन्त वाचस्पति के गुरु नहीं हो सकते।

डा० दास गुप्ता ने वाचस्पति द्वारा आचार्यमण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर की गई (तत्त्वसमीक्षा) का उल्लेख किया है।[१]

वाचस्पति मिश्र के ८४१ ईसवी समय का साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने अपनी तात्पर्यटीका में शान्तिरक्षित के तत्त्व संग्रह से एक श्लोक[२] उद्धृत किया है। आचार्य शान्तिरक्षित ने धर्मकीर्ति के वादन्याय पर विपञ्चितार्था टीका लिखी है। इससे सिद्ध है कि शान्तिरक्षित धर्मकीर्ति के उत्तरकालीन और वाचस्पति के पूर्वकालीन हैं। शान्तिरक्षित का समय ई० ७६२ है।[३]

वाचस्पति मिश्र ने भामती में अपने आश्रयदाता के रूप में राजा नृग का उल्लेख किया है। वाचस्पति ने अपने गुरु के रूप में जिन आचार्य त्रिलोचन गुरु का उल्लेख किया है ये त्रिलोचन वैशेषिक दर्शन के व्याख्याकार थे।

ई० १००० के बौद्ध विद्वान् रत्नकीर्ति[४] ने इनकी आलोचना की है अत: यह निश्चित है कि ये दशम शती के पूर्व उत्पन्न हुए थे।

वाचस्पति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् थे। न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका में इन्होंने बौद्धों के प्रसिद्ध चारों दार्शनिक सम्प्रदायों तथा दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के न्याय विषयक विचारों की समुचित उद्धरणों के साथ आलोचना की है। आचार्य वाचस्पति के विचारों का व्यापक प्रभाव उनके उत्तरकालीन नैयायिकों की कृतियों पर दृष्टिगोचर होता है।

वाचस्पति मिश्र के उपरान्त उल्लेखनीय ब्राह्मणन्यायशास्त्री जरन्नैयायिक जयन्त माने जाते हैं।

जयन्त भट्ट

जयन्त भट्ट (जरन्नैयायिक) के रूप में न्याय विद्वानों में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के अन्त में अपने पिता का श्री चन्द्र पण्डित के रूप में उल्लेख किया है।[५] इनके पुत्र अभिनन्द पण्डित[६] ने अपनी रचना कादम्बरीकथासार में अपने

१. भारतीय दर्शन का इतिहास—डा० दास गुप्ता, पृ० १०३

२. नर्तकीभ्रूलताभङ्गो नैवेक: परमार्थत:।
अनेकाणुसमूहत्वादेकत्वं तस्य कल्पितम्॥

न्या० वा० ता० पृ० १-१-५।२१७

३. प्रमेयकमलमार्तण्डप्रस्तावना पृ०, २१—निर्णय० १९४१

४. एच० आई० एल० पृ० १३४

५. न्यायमञ्जरीभूमिका—सूर्यनारायण शुक्ल—पृ० १

६. वही-

वंश का परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि जयन्तभट्ट काश्मीर नृपति मुक्तापीड के अमात्य शक्तिस्वामी के प्रपौत्र थे। इसलिए अनुमान किया जाता है कि मुक्तापीड नरपति के सौ वर्ष के भीतर इनका जन्म हुआ था।

परन्तु जयन्त[1] ने न्याय-मञ्जरी में आचार्य धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। धर्मकीर्ति का समय ई० ५९० से ६५० ई० तक माना जाता है।[2] इसके आधार पर जयन्त ६५० ई० के पश्चात् ही हैं। वे वाचस्पति मिश्र के भी अनन्तर हैं क्योंकि इन्होंने "आचार्यास्तु" कहकर वाचस्पति मिश्र के मत को उद्धृत किया है।[3] न्यायमञ्जरी की टिप्पणी में "**अत्राचार्या इति**" कहकर तात्पर्य टीका को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट होता है कि (आचार्यास्तु) कह कर प्रतिपादित मत वाचस्पति का ही है। काश्मीराधिपति मुक्तापीड का समय ई० ७१० से ७६० है। उनके मन्त्री शीतस्वामी का समय ई० ७२५-७५० पर्यन्त तथा उनके पुत्र कल्याण स्वामी का समय ई० ७५० से ई० ८२० तथा उनके पुत्र श्रीचन्द्र का समय ८१०-८७० और उनके पुत्र जयन्त का समय ८५० ई० से ९१० ई० निश्चित होता है।[4]

इनका वंश श्रौतयागनिष्णात वैदिक विद्वानों का था। इनके पितामह ने सौग्राहणी याग किया था। फलस्वरूप इन्हें सौरमूलक ग्राम की प्राप्ति हुई थी।[5] इनके पुत्र भी उच्चश्रेणी के विद्वान् थे। इस प्रकार जयन्त का वंश वैदिक गौड़ ब्राह्मणों में विख्यात था।

न्यायमञ्जरी में प्रथम न्यायसूत्र के अनुसार षोडश पदार्थ प्रतिपादक १६ प्रकरण हैं। इसमें १२ आह्निक हैं। प्रथम आह्निक में शास्त्रों के आरम्भ का समर्थन करते हुए परमतालोचनपूर्वक प्रमाणलक्षण तथा प्रमाणान्तरों का निराकरण करके चार प्रमाणों की स्थापना की गई है।

महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य[6] ने प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना में लिखा है कि जयन्त वाचस्पतिमिश्र के समकालीन वृद्ध हैं। इस विषय में उनका कथन है कि

---

१. इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः। पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतद् जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः॥
वही—पृ० ३

२. न्यायमञ्जरी भूमिका—सूर्यनारायण शुक्ल, पृ० ३

३. अत्राचार्यास्तावदाचक्षते···प्रमितिरीति—न्या० मं० प्र० प्र० आ०२ पृ ६३

४. न्यायमंजरी भूमिका—पृ० ५

५. तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सौग्राहणीं कृतवान्।
समाप्त्यनन्तरमेव सौरमूलकं ग्राममवाप मं०। भू० पृ० ५

६. प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रस्तावनानिर्णय—ई० १९४१, पृ० १६

न्यायकणिका[1] में न्यायमञ्जरीकार का गुरु के रूप में स्मरण किया गया है। उनका कहना है कि वाचस्पति द्वारा उद्धृत न्यायमञ्जरी जयन्त की न्यायमञ्जरी से भिन्न कोई अन्य रचना नहीं है। "जातञ्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" इस वचन के आधार पर ही जयन्त को वाचस्पति का उत्तरकालीन माना जाता है। पर यह वचन वाचस्पति की तात्पर्यटीका का नहीं है किन्तु न्यायवार्तिककार उद्योतकर का है। (न्यायवार्तिक पृ० २३६)[2] इस मत का खण्डन 'फणिभूषण' तर्कवागीश ने अपने न्यायपरिचय में किया है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी आफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर में वाचस्पति और जयन्त को समकालीन मानते हैं। वे जयन्त पर वाचस्पति का प्रभाव मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

म० म० गङ्गाधर शास्त्री ने इस (आचार्याः) पद के नीचे टिप्पणी में तात्पर्य-टीकायां वाचस्पतिमिश्र लिखा है। महेन्द्र कुमार[3] का मत है यह मत वाचस्पति का नहीं है, क्योंकि वाचस्पति ने उभयजज्ञान नहीं माना है। यह प्रसिद्ध व्योमवती टीक के लेखक व्योमशिवाचार्य का मत है। व्योमवती में न केवल उभयजज्ञान का समर्थन है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी व्यपदेश पद से किया है।

उक्त मत को वाचस्पति की देन न मानने पर भी वाचस्पति को जयन्त का उत्तरकालीन नहीं माना जा सकता है, जयन्त भट्ट के पितामह शातस्वामी की वंशावली का विचार करने पर जयन्त भट्ट वाचस्पति के उत्तरकालीन ही सिद्ध होते हैं।

उदयनाचार्य

जयन्त के उपरान्त न्यायशास्त्र के योगदाता के रूप में उदयनाचार्य उपस्थित होते हैं।

उदयनाचार्य ने आचार्य वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य-टीका पर परशुद्धि नाम की व्याख्या लिखी है जिसमें बौद्ध तार्किकों द्वारा वाचस्पति पर किये गये आक्षेपों का समाधान किया गया है।[4] ये मिथिला के निवासी थे।

---

१. अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥ न्या० मं० प्रभा० प्र० आ० १

२. प्रमेय क० मा० प्रस्तावना पृ० १६।

३. प्रमेय क० मा० पृ० १६

४. मातः सरस्वति पुनः पुनरेव नत्वा
बद्धाञ्जलिः किमपि बिज्ञपयाभ्यवेहि।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना
वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते॥ न्या० परि० १-१-१

डा० विद्याभूषण के अनुसार इनका समय ९८४ ई० है । आचार्य उदयन न्याय के और वैशेषिक के श्रेष्ठ आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं । इन्होंने कई अपूर्व ग्रन्थों की रचना कर ब्राह्मण न्याय के भण्डार को भरा है । इनके लिखे कुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्व-विवेक, न्याय-परिशिष्ट तथा प्रशस्तपाद के भाष्य की व्याख्या किरणावली आदि ग्रन्थ सर्वविश्रुत हैं ।

उदयनाचार्य का जैनों से विवाद हुआ था और इन्होंने (बौद्ध जैन) मत का मूलोच्छेद कर दिया था । यह बात जैन ग्रन्थों से स्पष्ट होती है ।[1] उदयनाचार्य श्रीहर्ष के पिता श्री हरि के समकालीन हैं ।[2] श्रीहर्ष शक सम्वत् ८८९ के लगभग थे । यह नैषध की टीका से स्पष्ट होता है । खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष ने उदयन के तर्कों की आलोचना की है । इससे स्पष्ट है कि उदयनाचार्य श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती हैं ।[3]

आचार्य उदयन ने अपने लक्षणावली नामक ग्रन्थ में इस रचना का समय स्पष्ट कर दिया है जिससे निश्चित होता है कि इसका समय शक सम्वत् ९०६ अर्थात् ९८४ ए० डी० है ।[4]

महर्षि कणाद

परम्परा के अनुसार महर्षि कणाद काश्यप गोत्रीय थे । मिथिलादेश में इनका निवास स्थान बतलाया जाता है । योग के प्रभाव से महेश्वर के प्रसाद को प्राप्त कर इन्होंने वैशेषिक दर्शन की रचना की थी । वैशेषिक दर्शन में १० अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक तथा ३७० सूत्र हैं ।[5]

महर्षि कणाद को कण-भक्ष कण-भुक् भी कहा गया है । इस विषय में कहा जाता है कि इन्होंने धान के कटने के पश्चात् खेतों में जो कण पड़े रहते थे उन्हें खाकर तपस्या की थी । इसलिए इनकी कणाद के रूप में प्रसिद्धि हुई । **कणान् अत्तीति कणादः ।**[6]

इनके विषय में यह भी कहा जाता है कि स्वयं भगवान् महेश्वर ने उल्लू के रूप में प्रगट होकर षट् पदार्थों का उपदेश दिया था—उसके पश्चात् महर्षि ने लोक

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृ० १४१
२. न्यायकोश, पृ० २६
३. न्यायकोश, पृ० २६
४. तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
   वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्—लक्षणावली—ब्रजभूषण
   ई० १८९७ पृ० १३
५. न्यायकोश २ उप०
६. न्यायकोश २ उप०

कल्याण की कामना से वैशेषिक सूत्रों की रचना की। इसलिए इस दर्शन को सर्व दर्शनसंग्रहकार[1] ने औल्लूक्यदर्शन की संज्ञा प्रदान की है। कुछ विद्वानों का मत है कि कणाद महाभारत से भी पूर्व के हैं क्योंकि महाभारत में उलूक नाम से इन्हीं का उल्लेख है।[2]

वैशेषिक दर्शन को कुछ लोग साँख्य से भी प्राचीन मानते हैं। सांख्य सूत्र है—"**न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्**"। उसी प्रकार ब्रह्म सूत्र "**महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपारिमाण्डलाभ्याम्**" के आधार पर इसे वेदान्त दर्शन से भी प्राचीन माना है। शब्दों की उत्पत्ति विनाश का सिद्धान्त कणाद से ही आया है। इसलिए यह दर्शन न्याय से भी प्राचीन कहा जाता है। जैमिनि द्वारा भी इसका खण्डन किया गया है।[3] इसलिए यह दर्शन सभी दर्शनों से प्राचीन है।

इन सूत्रों पर रावण ने भाष्य लिखा था। ब्रह्मसूत्र की रत्नप्रभा में इसका उल्लेख है। यह ग्रन्थ वर्तमान में अनुपलब्ध है। इसके आधार पर इसे रामायण काल से भी प्राचीन माना गया है।[4] मुरारिमिश्र ने भी अनर्घराघव में रावण को वैशेषिक दर्शन का वेत्ता कहा है।[5]

महर्षि भारद्वाज ने वैशेषिक सूत्रों पर एक वृत्ति लिखी थी किन्तु यह अब प्राप्त नहीं होती। यह वृत्ति महर्षि भारद्वाज द्वारा लिखी गई होगी अथवा भारद्वाज गोत्रोत्पन्न किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा लिखी हो सकती है।

वैशेषिक दर्शन में अनुमान का संक्षिप्त वर्णन है, हेत्वाभास के तीन ही प्रकार वैशेषिक सूत्र में बतलाये गये हैं। इसके आधार पर कुछ मनीषी[6] कहते हैं कि पूर्व में कणाद ने इस विषय का आरम्भ किया था। पश्चात् अक्षपाद ने उसका विस्तार किया। वैशेषिक दर्शन में प्रसिद्ध मन के इन्द्रियत्व के सिद्धान्त को न्याय-भाष्यकार ने स्वीकार किया, इसलिए वैशेषिक दर्शन न्याय से प्राचीन है। इस विषय में न्यायकोशकार[6] का मत है कि महाभारत में वर्णित उलूक महर्षि वैशेषिक सूत्र-कार कणाद से भिन्न हैं। '**महद्दीर्घवद्वा**' इत्यादि ब्रह्मसूत्र कणाद प्रतिपादित वैशेषिक सूत्रों का खण्डन नहीं करते हैं। अपितु उपनिषदादि मे प्रतिपादित अनादि वैशेषिक और जैमिनीय सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। हेत्वाभास के त्रैविध्य कथन से भी इसे

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह औ० द० प्र०

२. न्यायकोश, पृ० २८

३. न्यायकोश, पृ० २५

४. अनर्घराघवमुरारिमिश्र अ ५ पृ० १६१, काव्यमाला संस्करण

५. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र २२८

६. न्यायकोश टिप्पणी पृ० २५

न्यायदर्शन से प्राचीन नहीं माना जा सकता है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि न्यायदर्शन में हेत्वाभास पाँच बतलाये गये हैं। उनका ऊहापोह करके कणाद ने तीन हेत्वाभासों में ही उनका समावेश कर लिया। इसलिए ब्रह्मसूत्र,-जैमिनिसूत्र, वैशेषिकसूत्र, साङ्ख्यसूत्र, और योगसूत्र उस क्रम से ही सूत्रों का विकास हुआ है इसलिए वैशेषिकसूत्र न्यायसूत्रों के पश्चाद्वर्ती हैं।[1]

महर्षि कणाद का वर्णन वैशेषिकशास्त्र के प्रवक्ता के रूप में पद्मपुराण में आया है जिसका उल्लेख डा०सतीश चन्द्र विद्याभूषण ने अपने ग्रन्थ में किया है।[2] कणाद के अनन्तरकाल की दृष्टि से प्रशस्तपाद का नाम उल्लेखनीय है।[3]

प्रसस्तपाद

प्रशस्तपादाचार्य ने महर्षि कणाद के सूत्रों पर जो भाष्य लिखा है, वह प्रशस्तपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थभाण्य के लक्षण के अनुसार भाष्य नहीं है।[4] क्योंकि जिसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन किया जाता है उसे ही विद्वान् भाष्य कहते हैं। इसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन नहीं है। महर्षि ने भी इसे "**पदार्थ-धर्म-संग्रह**" ही कहा है, परन्तु विद्वत्समाज में यह भाष्य के रूप में ही प्रसिद्ध है। प्रशस्तपाद के प्रशस्तचरण और प्रशस्तदेव आदि नामान्तर भी उपलब्ध होते हैं। गौतम और वात्स्यायन के समान इन्हें भी महर्षि कहा जाता है। कपिल पञ्चशिखाचार्य की तरह ये भी आचार्य कहलाते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि बौधायन सूत्र के प्रवराध्याय के आङ्गिरसगण के अन्तर्गत आने वाले शारद्वत गण में प्रशस्त के रूप में जिस ऋषि का उल्लेख है वे ही वैशेषिक-भाष्य के कर्ता प्रशस्तपाद हैं। अन्य कुछ विद्वानों का कथन है कि "**प्रवररत्न**" ग्रन्थ में आङ्गिरस गण के गौतम वर्ग में जिस प्रशस्त ऋषि का उल्लेख है वे वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार प्रशस्तपाद हैं।[5]

वैशेषिक सूत्रों पर इस भाष्य के अतिरिक्त एक भारद्वाज वृत्ति भी थी, वह गंगाधर कविराज की बनाई हुई है। इस वृत्ति को कुछ लोग उद्योतकर भारद्वाज की

---

१. वही—पृ० २५

२. कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं साङ्ख्यं तु कपिलेन वै॥
हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक अ० २,

३. न्यायकोश

४. न्यायकोश टिप्पणी पृ० २५

५. न्यायकोश टिप्पणी पृ० २५

वृत्ति मानते हैं[1] जिन्होंने न्याय-भाष्य पर वार्तिक की रचना की है, उद्योतकर का भारद्वाज नाम भी था जिसका हम उल्लेख कर चुके हैं । एक "वृत्ति" को अज्ञातकर्तृक कह कर मिथिला विद्यापीठ ने प्रकाशित किया है ।

महर्षि प्रशस्तपाद के '**पदार्थ-धर्म-संग्रह**" निदर्शनाभास आदि के वर्णन से उन पर आचार्य दिङ्नाग का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि गोचर होता है, निदर्शनाभासों का वर्णन दिङ्नाग के पूर्व न्याय सूत्र या न्याय भाष्य में उपलब्ध नहीं है, यह दिङ्नाग से प्राप्त है । इस दृष्टि से प्रशस्तपाद को दिङ्नाग से उत्तरकाल में अर्थात् पाँचवीं शती में मानना उचित है ।

आचार्य ध्रुव[2] इन्हें वात्स्यायन और सुबन्धु से पूर्व दूसरी शती का मानते हैं, क्योंकि इन्होंने वसुबन्धु का खण्डन किया है । किन्तु उक्त तर्क का खण्डन दिङ्नाग के निदर्शनाभास के ग्रहण से ही हो जाता है ।

प्रशस्तपाद ने परमाणुवाद, भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति प्रक्रिया द्वितोत्पत्ति प्रक्रिया आदि के साथ ही प्रमाण और उसके प्रत्यक्ष और अनुमान का भी विवेचन किया है ।

"**पदार्थ-धर्म-संग्रह**" पर अनेक टीकायें हैं जिनमें व्योमशिवाचार्य की व्योमवती, श्रीधर की न्याय-कन्दली और उदयन की किरणावली सर्व विश्रुत हैं । प्रशस्तपाद के अनन्तर व्योमशिवाचार्य का स्थान कालक्रम की दृष्टि से विवेचनीय है ।

व्योमशिवाचार्य

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य पर व्योमशिवाचार्य की व्योमवती टीका सुप्रसिद्ध है । इनकी व्योमवती टीका उदयन की किरणावली और श्रीधर की न्याय-कन्दली से भी प्राचीन है । ये दाक्षिणात्य थे । सम्भवतः प्रशस्तपाद भाष्य की यह पहली टीका है । इनका समय ई० ६४५ के निकट माना जाता है ।[3]

श्रीधराचार्य

वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद के भाष्य के ऊपर श्रीधर की न्याय-कन्दली टीका है । यह टीका महत्त्वपूर्ण है । इसमें कई नये सिद्धान्तो की उद्भावना की गई है ।

न्यायकन्दलीकार श्रीधर का जन्मकाल उन्हीं की टीका[4] के अन्त में प्रदत्त समयानुसार ९९१ ई० प्रतीत होता है । श्रीधराचार्य भूरि सृष्टि नामक ग्राम के

१. न्यायकोश टिप्पणी पृ० २५

२. भा० दर्शन के सम्प्रदाय—सुधीर कुमार—पृ० १९५

३. एच० एन० एन०एम० पृ० १३ ।

४. त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे—न्या० क०

वासी थे जो कि दक्षिण बंगाल में पड़ता है। आचार्य ने अपनी टीका में अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है जो इस समय सर्वथा अनुपलब्ध है। वे ग्रन्थ हैं—१. अद्वैतसिद्धि २. तत्त्वप्रबोध, तत्त्वसंवादिनी तथा संग्रहटीका।[1]

श्रीधरभट्ट न्याय-वैशेषिक दर्शन के अद्वितीय विद्वान् थे, उनकी न्याय-कन्दली इसका प्रमाण है। प्रशस्तपादभाष्य की सबसे प्रसिद्ध व्याख्या के रूप में इसकी अक्षुण्णा कीर्ति है।

श्रीवल्लभाचार्य

श्रीवल्लभाचार्य की न्याय-लीलावती वैशेषिक दर्शन की एक मौलिक रचना है। यह मध्यकाल की श्रेष्ठ रचना है। इनका समय उदयनाचार्य के पश्चात् का प्रतीत होता है अर्थात् बारहवीं शती का मध्यकाल इनका समय होना चाहिए क्योंकि इनके व्याप्ति के लक्षण का पूर्वपक्ष व्याप्ति में आचार्य गंगेश ने खण्डन किया है। तथा १३ वीं शती के वादीन्द्र तथा चित्सुख आदि लेखकों ने इनका आदरपूर्वक स्मरण किया है, अतः इन्हें ई० ११७५ के लगभग रखना ही उचित प्रतीत होता है[2]

वल्लभाचार्य के साथ ही प्राचीन न्यायशास्त्रीय इतिहास का समापन हुआ और इसके उपरान्त न्याय-शास्त्रीय विवेचन ने एक नयी दिशा ली, जिसे हम नव्य-न्याय शास्त्र का अभ्युदय कहते हैं। प्राचीन न्यायशास्त्र ने ऐसा मोड़ क्यों लिया इस विषय में चर्चा इस स्थान पर अनपेक्षित नहीं है। अपितु न्याय शास्त्र के विकास व इतिहास को समझने के लिए आवश्यक है। वास्तविकता यह है कि ब्राह्मण न्याय शास्त्र के उत्कर्ष को देखते हुए तथा उनके द्वारा न्यायशास्त्र के बल से उनके मतो का खण्डन किए जाने के कारण बौद्ध तथा जैनों में भी न्यायशास्त्र के विषय में बड़ी तीव्रता से अभिरुचि परिस्फुटित हुई जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण न्याय तथा जैन और बौद्ध न्याय में १ शती से लेकर बराबर ही संघर्ष जारी रहा। इस संघर्ष के फलस्वरूप पुरानी शब्दावली विचार तथा परिभाषायें असमर्थ सिद्ध होने लगीं और इस असमर्थता के फलस्वरूप नयी शब्दावली, नयी परिभाषायें तथा विषय विश्लेषण की परम्परागत व्यवस्था को छोड़कर न्यायशास्त्र को नया रूप ग्रहण करना पड़ा और फलस्वरूप नव्यन्याय का जन्म हुआ। इसलिए प्रथम शती से आरम्भ होने वाले बौद्ध तथा जैन न्याय शास्त्र के इतिहास को जान लेना भी परमावश्यक है।

---

१. न्याय परिचय टिप्पणी, पृ० १२

२. हिस्ट्री आफ नव्य न्याय इन मिथिला—पृ० ६०

भाग २
क—बौद्ध न्याय

असङ्ग :—

असङ्ग सम्भवत: प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने तार्किक आधार पर विज्ञानवाद को स्थापित करने का प्रयत्न किया।[1] असङ्ग ही प्रथम बौद्ध दार्शनिक थे, जिन्होंने विज्ञानवाद की स्थापना के लिए नैयायिकों के पञ्चावयवी परार्थानुमान को बौद्ध क्षेत्र में व्यवहारत: प्रचलित किया। इन्होंने वादकला के सम्बन्ध में कुछ नियमों की स्थापना की थी। नियम वे गौतमीय न्याय सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित नियमों के समान ही थे। यद्यपि आचार्य मैत्रेय ने अपने ग्रन्थ (सप्तदश भूमिशास्त्र-योगाचार्य) में (वादकला) के विषय में चर्चा की है, तथापि आर्य असङ्ग ने इस विषय में जो ख्याति प्राप्त की उससे उनके गुरु की उपलब्धि आँख से ओझल हो गयी। आचार्य असङ्ग का प्रौढ पाण्डित्य उनके सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

आर्य असङ्ग का जन्म गान्धार देश में ४५० ई० में हुआ था। ये पहले वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। पश्चात् आचार्य मैत्रेय के सम्पर्क से विज्ञानवादी हो गये थे, ये प्रसिद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे जो द्वितीय बुद्ध के रूप में दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध हैं।[२]

असङ्ग की महत्त्वपूर्ण देन उनका बौद्ध न्याय अथवा प्रमाणशास्त्र है, जो (प्रकरणार्य-वाचाशास्त्र के ११ खण्ड तथा) **महायानाभिधर्म-संयुक्त-संगितिशास्त्र** के सातवें तथा सोलहवें खण्ड में उपलब्ध होता है। दोनों ही ग्रन्थ चीनी भाषा में अनूदित हैं। न्याय सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण मैत्रेय के समान ही है। असङ्ग चार प्रमाण स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। अनुमान के अङ्ग के रूप में प्रतिज्ञादि पञ्चावयवों को भी स्वीकार करते हैं।[3] इस तरह असङ्ग पर प्राचीन गौतमीय न्याय का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। असङ्ग के उपरान्त उनके कनिष्ठ बन्धु वसुबन्धु का नाम बौद्ध न्याय शास्त्र में उल्लेखनीय है।

वसुबन्धु

आचार्य वसुबन्धु पहले सर्वास्तिवादी थे, पश्चात् अपने ज्येष्ठ भ्राता असङ्ग के प्रभाव से विज्ञानवादी हो गये थे। वसुबन्धु की विज्ञानवाद को देन तुलनीय है। विज्ञान वाद ही क्या; सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के इतिहास में यह अद्वितीय

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० २६२-२६४

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक पृ० २६२-२६४

३. वही पृ० २६६

व्यक्ति हो गये हैं। वैभाषिक सम्प्रदाय के लिए भी इनका योगदान कम नहीं हैं। आचार्य वसुबन्धु की लगभग ३२ पुस्तकें उपलब्ध होती हैं।[1] उनमें से बौद्ध न्याय की दृष्टि से तीन प्रसिद्ध हैं।

आचार्य वसुबन्धु न्याय के प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने तीन न्याय ग्रन्थों की रचना की थी। इनका अनुवाद तिब्बतीय भाषा में तो नहीं हुआ परन्तु उनमें से एक का अपूर्ण अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध है। उसका नाम वाद-विधि है। इसके वर्तमान अंशों को देखने से गौतमीय नैयायिकों के साथ इनका घनिष्ठ साम्य लक्षित होता है।[2] सातवीं शताब्दी में जब ह्वेनसांग भारत का भ्रमण कर रहा था तो उस समय उसने वाद कला सम्बन्धी आचार्य वसुबन्धु के लिखे तीन ग्रन्थ प्राप्त किये थे।[3]

इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त एक तर्क-शास्त्र नामक ग्रन्थ भी वसुबन्धु ने लिखा था जो कि चीनी अनुवाद के रूप में प्राप्त है। चीनी भाषा में इसका नाम जु-शिह-लुन है। तर्कशास्त्र तीन अध्यायों में लिखा ग्रन्थ है, जिसमें पहले अध्याय में पञ्चावयवों की व्याख्या है। दूसरे अध्याय में जाति अर्थात् असदुत्तर का विवेचन है तथा तीसरे में २२ निग्रहस्थानों का वर्णन है। इस प्रकार वसुबन्धु पर वात्स्यायन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वसुबन्धु के विचार से वाद में पञ्चावयवों का प्रयोग होना चाहिए तथा (बोध) के लिए दो अवयवों, प्रतिज्ञा और हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त है।[4]

कुछ विद्वानों का विचार हैं कि वाद-विधि तर्कशास्त्र का ही एक अंश है परन्तु प्रो० टुची का विचार है कि तर्कशास्त्र का वाद-विधि से कोई सम्बन्ध नहीं है। बुद्धिस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूट लेनिन ग्राड में पढ़े गये एक शोध निबन्ध मे श्री वारिसवत्स्सी लेव ने स्थापना की है कि तर्कशास्त्र मूलतः तर्कविद्या का एक तीन भागो का ग्रन्थ था जो अपनी वर्तमान अवस्था मे केवल एक खण्ड में संगृहीत अंशों को व्यक्त करता है।[5]

दिङ्नाग

आचार्य वसुबन्धु के उपरान्त बौद्ध न्याय शास्त्र के विद्वान् दिङ्नाग का नाम आता है। बौद्ध धर्म के चार सम्प्रदायों का पृथक् विकास होने पर भी बौद्ध न्याय का

---

१. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की भूमिका—डा० महेश चौ० पृ० ५
२. बौद्धन्याय—श्चेरवास्की—हिन्दी अनुवाद, पृ० ३५
३. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० २६८।
४. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० २६८
५. बौद्धन्याय—हिन्दी अनुवाद पृ० ३५

विकास चौथी शताब्दी तक नगण्य ही था। नागार्जुन ने ईस्वी तीसरी शती में न्याय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा किन्तु वह केवल प्राचीन गौतमीय न्याय सिद्धान्तों की आलोचना मात्र थी।[१] मैत्रेय, असङ्ग और वसुबन्धु द्वारा चलाया गया न्याय केवल विज्ञान वाद पर ही आधारित नहीं था, उसमें वैभाषिक सिद्धान्तों का भी पुट था। बौद्धन्याय को विज्ञान वाद की भित्ति पर स्थापित करने का श्रेय दिङ्नाग को ही है। दिङ्नाग ने दर्शन और धर्म से पृथक् न्याय की स्वतन्त्र विद्या की स्थापना की और दर्शन की सार्वभौमिक मान्यता के लिए उसे तार्किक भिति प्रदान की।

दिङ्नाग वस्तुतः बौद्ध न्याय के पिता हैं। इनका समय ई० ५वीं शती माना जाता है।[२] दिङ्नाग के विषय में कहा जाता है कि ये वसुबन्धु के शिष्य थे, जब वसुबन्धु से शिक्षा ग्रहण करने के लिए दिङ्नाग आये तो वसुबन्धु वृद्ध हो चुके थे। दिङ्नाग दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने किसी वात्सीपुत्रीय आचार्य से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। किन्तु गुरु से किसी सिद्धान्त पर असहमत होकर वे वसुबन्धु से शिक्षा ग्रहण करने लिए मगध चले आये थे। उस समय आचार्य वसुबन्धु सम्पूर्ण भारत में प्रतिबुद्ध के रूप में विख्यात थे।

दिङ्नाग ने नालन्दा, उड़ीसा, महाराष्ट्र आदि देशों की यात्रा करके विरोधियों को चुनौती दी थी। अपने गुरु वसुबन्धु से भी न्याय के कुछ सिद्धान्तों पर इनकी असहमति हो गयी थी। उद्योतकर, वाचस्पति ने ही केवल उनकी आलोचना नहीं की अपितु जैन तार्किकों ने भी उन पर तीव्र प्रहार किया है।[3] इतना ही नहीं उन्हीं के शिष्य और व्याख्याकार धर्मकीर्ति भी उनकी आलोचना करने से नहीं चुके।

दिङ्नाग की प्रायः सभी कृतियाँ न्याय से सम्बद्ध हैं। इनसे उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। प्रमाण-समुच्चय, न्यायप्रवेश, आलम्बन-परीक्षा, हेतुचक्र समर्थन, न्यायमुख, आलम्बन-परीक्षावृत्ति और त्रिजाल-परीक्षा, इनके न्याय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इनमें से प्रमाण समुच्चय प्रधान है। यही बौद्ध-न्याय का पथप्रदर्शक ग्रन्थ है।[४] दिङ्नाग ने सर्व प्रथम छोटे-छोटे प्रबन्धों की रचना की थी जिनमें से कुछ तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं। कालान्तर में लेखक ने स्वयं टिप्पणी के साथ ६ अध्यायों में इनका संग्रह किया है। अध्याय इस प्रकार है। १. प्रत्यक्ष २. स्वार्थानुमान ३. परार्थानुमान ४. हेतुदृष्टान्त ५. अपोह और ६. जाति। इस पर जिनेन्द्रबुद्धि की विस्तुत टीका है।[५]

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० २७२।

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० २७२

३. वही पृ०, २७३

४. वही, पृ० २७४

५. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक पृ० २७४

बौद्ध न्याय को सुव्यवस्थित करने में दिङ्नाग का महान् योगदान है। गौतमीय नैयायिकों के पञ्चावयवों का निराकरण करके दिङ्नाग ने तीन अवयवों प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण को ही अनुमान का अङ्ग माना है। प्रत्यक्ष और अनुमान के जो लक्षण गौतम और वात्स्यायन ने दिये थे उनका खण्डन दिङ्नाग ने इतने अभिनिवेश के साथ किया है कि ब्राह्मण दार्शनिक उद्योतकर को वात्स्यायन के भाष्य पर दिङ्नाग के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए वार्तिक की रचना करनी पड़ी। कुमारिलभट्ट ने भी दिङ्नाग के सिद्धान्तों का बड़े विस्तार से श्लोक-वार्तिक में खण्डन किया है।

धर्मकीर्ति

दिङ्नाग के उपरान्त बौद्धन्यायशास्त्र के उल्लेखनीय तर्कशास्त्री धर्मकीर्ति प्रसिद्ध हैं। धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण के तिरुमलय स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने परम्परागत पद्धति से ब्राह्मण शास्त्रों का अध्ययन किया था। बाद में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये और वसुबन्धु के किसी प्रत्यक्ष शिष्य से शिक्षा प्राप्त करने के लिए नालन्दा आये। इन्होंने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से शिक्षा ग्रहण की थी। ये दिङ्नाग समझाने में अपने समय के श्रेष्ठ दार्शनिक थे। इनकी अलौकिक प्रतिभा की प्रशंसा प्रतिपक्षी विद्वानों ने भी की है। जयन्त भट्ट ने जो कि धर्मकीर्ति के प्रखर आलोचक थे उन्हें सुनिपुणबुद्धि और जगदभिभवधीर कहा है।[1] इनका समय ई० ६ शती माना जाता है।[2]

धर्मकीर्ति के सभी ग्रन्थ न्याय शास्त्र से सम्बधित हैं, किन्तु इनमें बौद्ध धर्म और विज्ञान वाद के सभी सिद्धान्त समाविष्ट हैं। धर्मकीर्ति ने न्याय ग्रन्थों की रचना की है। यद्यपि मूलतः इन ग्रन्थों की रचना दिङ्नाग की विस्तृत व्याख्या के रूप में की गई है तथापि ये दिङ्नाग की कृतियों से बहुत आगे निकल गये हैं। इनके ७ ग्रन्थों में प्रमाणवार्तिक सर्वप्रमुख है। इसमें बौद्धविज्ञानवाद के प्रमेय और प्रमाण दोनों का विवेचन है। प्रमाणविनिश्चय धर्मकीर्ति का दूसरा ग्रन्थ है, इसमें लगभग १३४० श्लोक हैं, इसके अतिरिक्त न्याय-बिन्दु हेतु-बिन्दु, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा, सन्तानान्तर-सिद्धि ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, इन रचनाओं से कतिपय ग्रन्थ तिब्बती में ही उपलब्ध हैं।[3]

धर्मकीर्ति के ग्रन्थों पर टीका कार्य प्रचुर मात्रा में हुआ जो कि तिब्बती अनुवादों में उपलब्ध है। धर्मकीर्ति के पश्चात् शान्तिरक्षित (७४९ ई०) कमलशील

---

१. न्या० म० प्रमा० प्र० आ० २

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० ३०४

३. वही, पृ० ३०४

(७५०ई.) धर्मोत्तर (८४७ ई.) ज्ञानश्री (१०४०) आदि कई तार्किक हो गये हैं जिन्होने बौद्ध न्याय की परम्परा को बनाये रखा था और अपने योगदान से बौद्धन्याय के दीप को प्रज्वलित करते रहे। परन्तु धर्मकीर्ति के पश्चात् बौद्ध धर्म और दर्शन के ह्रास के साथ ही बौद्धन्याय का प्रकाश भी क्षीण होने लगा था उसमें वह प्रखरता नहीं रह गई थी।

जैन न्याय

खण्ड--ख

जैन न्याय शास्त्र का उद्भव भी ब्राह्मण न्याय शास्त्र की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप ही हुआ। इस विद्या का विकास जैन लोगों ने अपने तन्त्र की रक्षा तथा दूसरों के तन्त्रों के खण्ड हेतु किया। जैन न्याय शास्त्र के प्रवर्तक के रूप में भद्रबाहु प्रथम शती के माने जाते हैं। इन्हीं के ग्रन्थ में दस न्यायावयवों का उल्लेख है। उसी प्रकार उमास्वाति (तीसरी शती) के ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में भी न्याय के कुछ प्रमेय मिलते हैं।

यद्यपि जैन न्याय का आरम्भ भद्रबाहु[1] (१ शती) से ही हो चुका था, और उमास्वाति के ग्रन्थों में भी उसका कुछ स्वरूप यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है[2] तथापि व्यवस्थित क्रम से जैन न्याय का आरम्भ हमें सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार में ही उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही जैन न्याय के प्रवर्तक आचार्य हैं।

सिद्धसेन दिवाकर

आ० सिद्धसेन के सन्मति-तर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सन्मतितर्क पर अभयदेव सूरि ने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डा० जैकोबी इन्हें धर्मकीर्ति का समकालीन विद्वान् मानते हैं।[3] इनके विचार से न्यायावतार के प्रत्यक्ष लक्षण में जो अभ्रान्त पद आया है वह धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण से लिया गया है। इसलिए इनका समय ईसा की ७ वीं शती है किन्तु यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता। हो सकता है इन्हीं के अभ्रान्त पद का धर्मकीर्ति ने ग्रहण किया हो, ये दिङ्नाग के न्यायप्रवेश से प्रभावित प्रतीत होते हैं और दिङ्नाग की प्रत्यक्ष लक्षण की न्यूनता का परिमार्जन इन्होंने किया है। इसलिए इनका समय दिङ्नाग के पश्चात् (छठी शती) मानना उचित है, समकालीन विद्वान् का प्रभाव उस युग

१. भारतीय दर्शन---डा० उमेश मिश्र, पृ०१०५

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक

३. प्रमेय कमल मार्तण्ड प्रस्तावना—महेन्द्रकुमार, पृ० ४३

में किसी विद्वान् के लेखक पर पड़ना अति कठिन मालूम होता है। इस दृष्टि से विद्याभूषण द्वारा लिखित समय अर्थात् छठी शती ही उचित प्रतीत होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के पश्चात् जैन न्याय के इतिहास में उल्लेखनीय आद्यस्तुतीकार स्वामी समन्तभद्र हैं।

समन्तभद्र

आचार्य समन्तभद्र के, वृहत्स्वयंभू स्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्नुशयासन आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। न्याय की दृष्टि से समन्तभद्र का सर्व प्रसिद्ध ग्रन्थ (आप्तमीमांसा) है। समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के चतुर्थ परिच्छेद में वर्णित (विरूपकार्यारम्भाय) आदि कारिकाओं के पूर्वपक्षों की समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि समन्तभद्र के सामने सम्भवतः दिङ्नाग के ग्रन्थ रहे हैं। बौद्ध न्याय की इतनी स्पष्ट विचारधारा की संभावना दिङ्नाग से पहले नहीं की जा सकती।[१]

हेतु-विन्दु के अर्चट कृत विवरण में समन्तभद्र मी आप्तमीमांसा की "**द्रव-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः**" इस कारिका के खण्डन में ५ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। ये श्लोक दुर्विवेक मिश्र के अनुसार स्वयं अर्चट ने ही बनाये हैं। अर्चट का समय ९वीं सदी है। कुमारिल के श्लोक वार्तिक में समन्तभद्र की "**घटमौली सुवर्णार्थी**" इस कारिका से समानता रखने वाले श्लोक[२] मिलते हैं। कुमारिल का समय ई० ७वीं शती माना जाता है। अतः समन्तभद्र सातवीं सदी के पूर्व तथा ५वीं शती के पश्चात् होने चाहिएँ।[3] समन्तभद्र के उपरान्त जैन न्याय शास्त्री के रूप में आचार्य अकलङ्क का नाम आता है।

अकलङ्क

अकलङ्क दक्षिण भारतीय दिगम्बर सम्प्रदाय के दार्शनिक थे। इन्होंने आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर जो व्याख्या लिखी है वह अष्ट-शती के रूप में प्रसिद्ध है। यह जैन न्याय का अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रन्थ है। माणिक्यनन्दी का परीक्षामुखसूत्र इन्हीं की दूसरी कृति न्याय-विनिश्चय पर आधारित है।

डा० विद्याभूषण ने इसका समय ७५० ई० माना है। ये राष्ट्रकूट वंश के नरेश कृष्णराज प्रथम के समकालीन थे। कृष्णराज के पुत्र गोविन्दराज द्वितीय का समय शक सं० ७०५ अथवा ई० ७८३ माना जाता है इसके आधार पर अकलङ्क का समय ७५० ई० उचित ही प्रतीत होता है। अकलङ्क के पश्चात् जैन न्याय के क्षेत्र में विद्यानन्द का कृतित्व उल्लेखनीय है।

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रस्तावना—महेन्द्रकुमार, पृ० ३०

२. वही, पृ० ३१

३. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १८२।

विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द का जैन तार्किकों में महत्वपूर्ण स्थान है। इनके श्लोक-वार्तिक, अष्टसाहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, युक्त्यनुशासन-टीका आदि ग्रन्थ इनके प्रौढ़पाण्डित्य के परिचायक है। आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेय कमल-मार्तण्ड तथा न्याय-कुमुदचन्द्र दोनों ही ग्रन्थों पर विद्यानन्द की कृतियों का अमिट प्रभाव है।[1]

महेन्द्रकुमार का कथन है कि विद्यानन्द ने अपनी आप्तपरीक्षा में **"सत्य-वाक्यार्थसिद्धये-सत्यवाक्याधिपा:"** इस विशेषण से तत्कालीन राजा का नाम प्रकारान्तर से सूचित किया है। **"राजमल्ल सत्यवाक्य"** गङ्गवाडि-प्रदेश का राजा था। उसका समय ई० ८१६ माना जाता है। आचार्य विद्यानन्द के उपयुक्त शब्दों से गङ्गराज सत्याधिप और उसके पिता विजयादित्य सूचित होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि आचार्य विद्यानन्द का समय ८१६ के लगभग है।

आचार्य विद्यानन्द की कृतियों में मण्डनमिश्र के मत का खण्डन उपलब्ध होता है। मण्डन मिश्र का समय ८वीं शती का पूर्व भाग है अतः विद्यानंद का समय ८ वीं शती का उत्तर भाग अथवा नवीं शती का पूर्व भाग उचित ही प्रतीत होता है। आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, में न्यायदर्शन के अनुमान सूत्र का खण्डन करते समय भाष्यकार और वार्तिककार के मत को ही पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है। न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीकाकार के मत को उपस्थित नहीं किया गया है, वाचस्पति की तात्पर्य-टीका का समय ई० ८४१ के निकट माना जाता है। इससे भी इनका समय ८ वीं शती का उत्तरार्द्ध ही ठीक है। यदि विद्यानंद ८४१ के पश्चात् होते तो अवश्य ही ये तात्पर्यटीका का उल्लेख करते।

अपनी अष्टसाहस्री में आचार्य विद्यानंद ने सांख्य दर्शन, योग दर्शन, वैशेषिक दर्शन, अद्वैत दर्शन, मीमांसादर्शन, तथा तथागतदर्शन की आलोचना की है। इनके ग्रन्थों में दिङ्नाग, उद्योतकर, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, भर्तृहरि शबरस्वामी, 'प्रभाकर, सुरेश्वर आदि का उल्लेख है।

विद्यानंद के पश्चात् जैन न्याय शास्त्र के इतिहास में ८ वीं से लेकर १७ वीं शती तक कई आचार्य हुए, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

नाम	समय	न्याय ग्रन्थ
१. माणिक्यनन्दी	८ वीं शती का अन्त	परीक्षामुख सूत्र
२. वादिदेवसूरि	१०८० ई० सं०	प्रमाणनयतत्त्वालङ्कार
३. हेमचन्द्र	१०८८ ई० सं०	प्रमाण-मीमांसा

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १८६

४. प्रभाचन्द्र	११ सदी	१. प्रमेयकमल-मार्तण्ड २. न्यायकुमुदचन्द्र
५. लघुअनन्तवीर्य	११७३ ई० सं०	प्रमेयरत्नमाला
६. मल्लिषेणसूरि	१२९३ ई० सं०	स्याद्वादमञ्जरी
७. गुणरत्न	१४३९ ई० सं०	षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति
८. यशोविजयगणि	१६८८ ई० सं०	१. जैनतर्कभाषा २. न्यायखण्डनखण्डखाद्य
९. धर्मभूषण	१७वीं सदी	न्यायदीपिका

बौद्ध तथा जैन न्यायशास्त्र के इतिहास को मध्यकालिक न्यायशास्त्र का इतिहास भी कहा जाता है। प्राचीन ब्राह्मणन्याय तथा जैनन्याय के साथ संघर्ष के फलस्वरूप, उदयन के साथ पूर्णत्व को प्राप्त करने वाला ब्राह्मणन्यायशास्त्र, नव्य न्याय के रूप में नया मोड़ ले लेता है। गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि के साथ ब्राह्मण न्यायशास्त्र नया उत्साह लेकर बलशाली प्रवाह के रूप में वेगवान् हो जाता है और मध्यकालीन विचारधाराओं पर भी प्रवाहशील हो जाता है।

बौद्धों और जैनों के साथ लगभग हजार वर्ष के संघर्ष के पश्चात् ब्राह्मण नैयायिकों ने अनुभव किया कि न्याय के षोडश पदार्थों में से प्रमाण मात्र का विकास करना आवश्यक है। प्रमाण की दृढ़ नीव के बिना प्रमेय की स्थापना दुष्कर है अत: चिन्तामणिकार गङ्गेश ने न्यायदर्शन को प्रमाणप्रधान दर्शन की कोटि से हटाकर "प्रमाण शास्त्र" की कोटि में स्थापित कर दिया। प्राचीन न्याय प्रमेय शास्त्र" के रूप में तथा नव्यन्याय प्रमाण शास्त्र के रूप में माना जाने लगा।

प्रमाणशास्त्र के रूप में नव्यन्याय प्योर लाजिक हो गया। इसका मुख्य उद्देश्य मोक्ष न होकर प्रमाणों का दृढ़ीकरण हो गया था। नव्यनैयायिक मोक्ष या अन्य किसी पुरुषार्थ के प्रति आग्रह को छोड़कर वस्तु के यथार्थबोध के प्रति अधिक संवेदनशील हो गये, साध्य को त्याग कर साधन के दृढ़ीकरण में दत्तचित्त हो गये।

"प्रमाण" विचार की दृढ़ता के लिए नव्य नैयायिकों ने गौतम के पदार्थों की उपेक्षा करके कणाद के वैशेषिक दर्शन के सामान्य विशेष समवाय और अभाव आदि पदार्थों को स्वीकार किया।

नव्यन्याय की प्रवृत्ति प्रत्येक वस्तु के अर्थ को विशेष शब्दों में व्यक्त करने की ओर रही जिससे उस वस्तु की यथार्थ पहचान करने में किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न हो।

नव्यन्याय वस्तु की लम्बी से लम्बी परिभाषा देकर भी वस्तु के वास्तविक बोध को प्रस्तुत करने में अधिक सक्षम है। प्रचलित शब्दावली की अपूर्णता का

अनुभव करके इसने कई प्रकार के पारिभाषिक शब्दो की रचना की। न केवल पारिभाषिक शब्द ही बनाये अपितु कई प्रकार के नये पदार्थों, प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि का भी सृजन किया।

नव्य-न्याय ने पदार्थों के उस स्वरूप या गुण धर्मों के अतिरिक्त जो कि सामान्य रूप से हमें दृष्टिगोचर होते हैं, अन्य गुण धर्मों की खोज की। एक ही पदार्थ में परिस्थिति के अनुसार जो परिवर्तन मालूम पड़ता है, उसे हम सब अनुभव अवश्य करते हैं किन्तु हम उसे व्यक्त नहीं कर पाते। इसको नव्य-न्याय ने अवच्छेदकता, प्रतियोगिता आदि नई शक्तियों को स्वीकार करके व्यक्त करने का प्रयास किया है।

परिस्थिति के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त करने के लिए नव्य न्याय द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को पाकर सारा विद्वत्समाज चमत्कृत और आह्लादित हो गया। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण विद्वत्समाज अपने भावों को व्यक्त करने के लिए परम्परागत प्रणाली की असमर्थता का अनुभव कर रहा था और नव्यन्याय की शब्दावली के आते ही उसको ग्रहण करने की उनमें होड़ लग गई।

नव्य न्याय के अध्ययन से तर्क करने का सामर्थ्य बहुत बढ़ जाता है। यद्यपि प्राचीन न्याय में भी वाद से लेकर निग्रह स्थान तक प्रमेय प्रधान रूप से जय पराजय के लिए प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु अन्त में इस सम्बन्ध में जितना उनका उपयोग नव्यन्याय में हुआ उतना पहले नहीं हुआ।

"नव्यन्याय" प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि पदार्थों के कारण अत्यन्त दुर्बोध हो गया है। सामान्य व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता है। इसलिए नव्य न्याय पढ़ने का साहस बहुत ही कम लोगों को होता है। यहाँ घोर बौद्धिक परिश्रम करना पड़ता है। इसलिए नव्यन्याय की निन्दा भी की जाती है कि सीधी सी बात को भी नव्य नैयायिक अपने शब्द जाल से उलझा देते हैं किन्तु ऐसा नहीं है।

नव्य न्याय शब्दावली के बिना "घट के अभाव" "घटमात्र के अभाव" "घट और पट के अभाव" के अन्तर का अनुभव करके भी हम नहीं बतला सकते कि इनमें किस आधार पर भेद हैं। उसी प्रकार "अग्नि है" और अग्निमान् पर्वत है" इन दो ज्ञानों में क्या अन्तर है। सामान्य रूप से देखें तो इनमें कोई अन्तर नही दिखलाई पड़ता है। अन्तर का अनुभव होता है। वह सूक्ष्म अन्तर नव्यन्याय की शब्दावली ही व्यक्त कर सकती है। सामान्य शब्दावली नहीं।[1] इसी प्रकार के अनेक उदाहरण

१. न्यायमधीते सर्वस्तनुते कुतुकान्निबन्धमप्यत्र।
अस्य तु किमपि रहस्यं केचन विज्ञातुमीशते सुधियः॥

त० चि० दी० अनु० प्र०

दिये जा सकते हैं ।

इतना ही नहीं नव्यन्याय के बिना "यस्य ज्ञान" इत्यादि अमरकोश श्लोक का भी अर्थ व्यक्त करना कठिन है । "यत्" जो सर्वनाम है, उसका अर्थ क्यों एक वस्तु है दूसरी वस्तु क्यों नहीं ? इसका उत्तर नव्यन्याय ही दे सकता है, अन्य कोई शास्त्र नहीं ।

न्यायदर्शन के "**प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि**" यह १५ अक्षरों वाले सूत्र की व्याख्या में आचार्य गङ्गेश ने अपनी प्रगल्भ मति से २००० पंक्तियों का चिन्तामणि नामक ग्रन्थ लिखा । यह सर्वविदित है । इस ग्रन्थ पर मिथिला, बंगाल, द्रविड, महाराष्ट्र आदि देशों के पण्डितों ने प्रचुर टीका कार्य करके न्याय शास्त्र के विस्तार को लाखों पंक्तियों में फैला दिया । इस प्रकार यह नवीन होते हुए भी प्राचीन है, अतः दीधिति-जागदीशी माथुरी-गादाधरी क्रोड पत्र आदि को आधार-हीन प्रलाप नहीं कहा जा सकता । इस शास्त्र के गाम्भीर्य को व्यक्त करते हुए रघुनाथ[1] शिरोमणि कहते हैं । सभी न्याय पढ़ते हैं और कौतुक वश इसमें ग्रन्थ भी लिखते हैं किन्तु इस शास्त्र का रहस्य कुछ ही विद्वान् समझ सकते हैं ।

यहां विचारणीय है कि नव्यन्याय तथा प्राचीन-न्याय के विवेक का क्या आधार है ? इस विषय में विभिन्न मत व्यक्त किये जाते हैं । कुछ लोग कहते हैं कि अवच्छेदकावच्छिन्नादि शब्दों के द्वारा व्याख्यान होने से यह शास्त्र नवीन है । किन्तु यह मत समीचीन नहीं लगता क्योंकि पातञ्जल दर्शन के समाधिपाद में ईश्वर का लक्षण करते हुए कहा गया है कि "**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**" यहाँ और इसके भाष्य में अनवच्छेदक शब्द का व्यवहार होने से इसे भी नव्य कहने का दोष उपस्थित होगा ।

इसी प्रकार कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि आत्मादि प्रमेयों के तत्त्व-ज्ञान से निश्रेयस को बतलाने वाले गौतम आदि ने निरात्म-वाद विज्ञानात्मवाद को स्वीकार करने वाले चार्वाक बौद्ध आदि का खण्डन करने के लिए आत्मा की अनुमान के द्वारा सिद्धि प्रदर्शित की । परार्थानुमान रूप न्याय के पूर्वाङ्ग तथा उत्तराङ्गों का वर्णन करने वाले सूत्र तथा भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य टीका आदि व्याख्या ग्रन्थ प्राचीन कहलाते हैं, तथा पदार्थों के एक भाग प्रमाण भाग का विवेचन करने वाले तत्त्वचिन्तामणि और उसके व्याख्या ग्रन्थ नव्य कहलाते हैं । किन्तु यह विवेचन भी ठीक नहीं है । प्रमाण मात्र का विवेचन करने से इन्हें नव्य माना जाये तो जैन और बौद्ध न्याय को भी नव्य मानना पड़ेगा ।

---

१. न्यायमधीते सर्वस्तनुते कुतुकान्निबन्धमप्यत्र ।
अस्य तु किमपि रहस्यं केचन विज्ञातुमीशते सुधियः ।।
त० चि० दी० अनु० प्र०

कुछ लोगों का विचार है कि नास्तिक के रूप में विख्यात चार्वाक बौद्ध आदि के सिद्धान्तों का तत्त्वचिन्तामणि से पूर्व के ग्रन्थों में खण्डन उपलब्ध होता है, इसलिए उन्हें प्राचीन तथा तत्त्वचिन्तामणि और उसके विख्यात ग्रन्थों में आस्तिक के रूप में प्रसिद्ध मीमांसा सांख्य आदि दर्शनों का खण्डन होने से उसे नव्य कहा जाता है। किन्तु यह युक्ति भी असमीचीन है। प्राचीन ग्रन्थों में भी सांख्य आदि सिद्धान्तों का खण्डन उपलब्ध होता है।[1]

वस्तुत: देखा जाय तो नव्यन्याय शब्द पारिभाषिक है। अलौकिक नूतन प्रतिभाशाली गङ्गेश ने न्यायभाष्य और उसकी व्याख्याओं का मंथन करके एवं दिङ्नागादि के ग्रन्थों का आलोचन करके उनके सार के रूप में तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ का सृजन किया। उस काल से निर्मित न्याय शास्त्र को 'नव्य' संज्ञा प्राप्त हुई तथा इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थ प्राचीन न्याय कहलाने लगे।

कुछ विद्वान् न्याय शास्त्र के ३ विभाग करते हैं प्राच्य, नव्य, नव्यनव्य। सूत्र से लेकर उदयन तक प्राच्य, उदयन से लेकर दीधितिकार तक नव्य और दीधितिकार के बाद लिखा गया न्यायशास्त्र नव्य-नव्य है। किन्तु इसका भी कोई ठोस आधार नहीं है क्योंकि विचारों में कुछ नवीनता सर्वदा है। इसलिए इस प्रकार से विभाजन करने पर ३ क्या ४-५-६ भेद भी किये जा सकते हैं। अत: उपर्युक्त "वस्तुत:" के द्वारा प्रदर्शित विवेचन ही समीचीन मालूम पड़ता है।

नव्य-न्याय

आचार्य गङ्गेश

आचार्य गङ्गेशोपाध्याय को नव्यन्याय का प्रवर्तक माना जाता है। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ लिख कर न्यायदर्शन में ही नहीं अपितु सभी भारतीय विद्याओं में क्रान्ति कर दी। इन्होंने चिन्तन और लेखन की प्रक्रिया ही बदल दी। तत्त्वचिन्तामणि की रचना के पश्चात् प्राय: सभी भारतीय दर्शनों तथा व्याकरण, साहित्य आदि विधाओं ने भी नव आविष्कृत भाषा को, "जो प्रतियोगितावच्छेदकता" आदि पारिभाषिक शब्दों से परिपूर्ण है इस पद्धति को अपनाया; अपने चिन्तन के प्रकटीकरण का अपूर्व माध्यम बनाया। १२वीं शती से आज तक अव्याहत रूप से उसका प्रयोग सभी विद्याशाखाओं में प्रचलित है।

गङ्गेश की उपलब्धि दर्शन के इतिहास में अद्वितीय है। सम्पूर्ण मध्यकाल के शास्त्रीय इतिहास में ऐसा कोई लेखक नहीं हुआ जिसकी कृति ने इतना प्रभावित

१. एवं २—अनुमिति गादा० भूमिका, पृ० ३

किया हो जितना केवल एक चिन्तामणि ग्रन्थ ने प्रभावित किया है।[1]

गङ्गेश की रचना तत्त्वचिन्तामणि चार भागों में विभाजित है, इसमें चार प्रमाणों का प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार खण्डों में विवेचन हैं। इनकी प्रतिज्ञा ही थी कि "**प्रमाणतत्त्वमत्र विविच्यते**"[2] इसीलिए नव्य न्याय को प्रमाण शास्त्र कहा जाता है।

गङ्गेश का अध्ययन प्राचीन न्यायदर्शन तथा मीमाँसा के प्रभाकर सम्प्रदाय से प्रभावित था। उदयनाचाय के समान इनका मुख्य संघर्ष बौद्धों से नहीं था। इनके मुख्य प्रतिद्वन्दी प्रभाकर मीमांसक थे। गङ्गेश के समय मिथिला में प्रभाकर का विशेष प्रभाव था। इसलिए इनके विचार प्रभाकर दार्शनिकों के विरोध से शक्ति पाकर फूले-फले हैं। इस तथ्य को रुचिदत्त ने अपनी कृति से स्पष्ट किया है।[3] गङ्गेश को जरन्नैयायिक जयन्त की कृति ने भी प्रभावित किया था। इस काश्मीरी रचनाकार का सर्वप्रथम पूर्वी भारत के विद्वान् गङ्गेश ने ही उल्लेख किया है।[4] गङ्गेश कवि भी थे जैसा कि उल्लेख उनके पुत्र वर्धमान ने किया है।[5] कहा जाता है कि स्वयं भी उन्होंने अपने को कवि माना था।[6]

आचार्य गङ्गेश के परिवार के विषय में जानकारी करने पर विद्वानों ने मिथिला की गोत्र-पथी मे इनका उल्लेख पाया है। इनका गाँव छादना मिथिला-प्रान्तान्तर्गत था। किन्तु उसकी जानकारी अभी उपलब्ध नहीं हुई। ये काश्यप गोत्रीय थे। इनके तीन पुत्र वधमान, सूपन तथा हरिशर्मे थे। पंजी में इन्हें प्रमाण-गुरु के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[7]

न्यायकोशकार मीमांसाचार्य[8] ने इन्हें बङ्ग देश वासी कहा है। सम्भवतः यह भूल से लिखा गया है। इनका समय ११०० शकसम्वत् बतलाया गया है। कुछ लोगों का कथन है कि शक सम्वत् १०३० के पूर्व गङ्गेशोपाध्याय थे। बंगाल में १०३० शक सम्वत् मे लक्ष्मणसेन नामक राजा थे, उनके सभा पण्डित हलायुध भट्ट थे, उनके पूर्व गङ्गेशोपाध्याय थे, ऐसा कहा जाता है।

---

१. हिस्ट्री आफ नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० ९६ मिथिला, ई० १९५८

२. ३ एवं ४ वही

५. हिस्ट्री आफ नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० ९६ मिथिला, ई० १९५८

६. अनास्वाद्य गौडीमनाराध्य गौरीं विना मन्त्रमन्त्रैर्विना शब्दचौर्यात्।
प्रसिद्धप्रबुद्ध प्रबन्ध प्रवक्ता विरिञ्चि प्रपद्ये मदन्यः कविः कः॥ वही पृ०१६

७. हिस्ट्री आफ नव्य न्याय इन मिथिला, पृ०९८ मिथिला, १९५८

८. न्यायकोश, पृ० २७-भाण्डारकर

प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य[1] ने कीथ, सतीशचन्द्र विद्याभूषण हर प्रसाद शास्त्री, आदि के मत की आलोचना करते हुए मिथिला में प्राप्त ऐतिहासिक सांक्ष्य के आधार पर आचार्य गङ्गेश का समय १३०० ए. डी. किया है।

प्रो० विद्याभूषण[2] ही ने गङ्गेशोपाध्याय को मिथिलान्तर्गत करिअन ग्राम का निवासी कहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये मिथिलान्तर्गत मधुवनी के पास मंगरोनी गाँव के निवासी थे जिसका प्राचीन नाम मङ्गलवनी था।

पक्षधर मिश्र

गङ्गेश के पश्चात् पक्षधर मिश्र ही एकमात्र ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने अपना एक स्वतंत्र सम्प्रदाय नव्यन्याय के क्षेत्र में तत्त्वचिन्तामणि पर आलोक व्याख्या लिखकर चलाया। तत्त्वचिन्तामणि के उपमान खण्ड को छोड़कर ३ खण्डों पर लिखी गई टीका आलोक भारत भर में बहुत दिन तक न्याय के अध्ययन अध्यापन का विषय रही।

पक्षधर मिश्र की आलोक टीका एकमात्र उनका ग्रन्थ बहुत दिनों तक प्रसिद्ध था किन्तु विद्वानों की गवेषणा के पश्चात् उनके दो अन्य ग्रन्थ मिले, "**द्रव्य-विवेक और न्याय-लीलावती** विवेक'। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में प्राप्त पक्षधर के इन दो ग्रन्थों में से एक वर्धमान उपाध्याय की द्रव्य-प्रकाश पर संक्षिप्त टीका है। इसका उल्लेख लीलावती विवेक में भी किया गया है।[3]

लीलावती-विवेक कुछ बड़ा ग्रन्थ है। ग्रन्थ में कहीं पक्षधर मिश्र का उल्लेख नहीं है। किन्तु प्राप्त पाण्डुलिपि में अन्त में" इति पक्षधरकृतौ लीलावती-विवेकः परिपूर्णः[4] लिखा है।

इनकी दो अन्य कृतियों के विषय में भी कहा गया है जो वाराणसी में हैं। एक है तत्त्वचिन्तामणि पर अन्य व्याख्या "टिप्पणी" तथा दूसरी "शशधर व्याख्या" इनके भतीजे वासुदेव ने जो कि इनका शिष्य था, प्रमाण-पल्लव नामक अन्य ग्रन्थ का उल्लेख भी किया हैं।[5]

पक्षधर मिश्र का पहला नाम जयदेव मिश्र था। मिथिला देश में ऐसी

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ०४०६

२. हिस्ट्री आफ नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० ९९ से १०४

३. हिस्ट्री आफ नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० ११८-मिथिला, ई. १९५८

४. वही

५. वही, पृ० ११९

किंवदन्ती प्रचलित है कि एकवार जब इनसे शास्त्रार्थ में बोलने के लिए कहा गया तो सुना जाता है कि ये एक पक्ष पर्यन्त एक ही विषय को लेकर बोलते रहे। इसी से इनका नामकरण पक्षधर हुआ।[1]

कतिपय विद्वानों[2] का ऐसा भी कहना है कि "चन्द्रालोक" के बनाने वाले जयदेव का ही नाम पक्षधर था।

इनके विषय में यह गाथा भी प्रसिद्ध है कि रघुनाथ शिरोमणि को वासुदेव सार्वभौम से समस्त न्यायशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन कर लेने पर भी जब पूर्ण सन्तोष न हुआ तब ये पक्षधर मिश्र की कीर्ति सुनकर उनके यहाँ अध्ययन करने के लिए मिथिला पहुँचे। पक्षधर मिश्र से साधारण लोग नहीं मिल पाते थे। उनके यहाँ ऐसा नियम था कि पाँच पण्डित नीचे के द्वार पर और तीन पण्डित अन्दर वाले द्वार पर रहते थे, जाने वाले नये विद्वानों का सर्व प्रथम बहिर्द्वारस्थ विद्वानों से तथा उसके पश्चात् अन्दर के विद्वानों से शास्त्रार्थ होता था, उसमें विजयी होकर ही कोई अपरिचित व्यक्ति पक्षधर मिश्र के दर्शन कर पाता था। रघुनाथ शिरोमणि सबको परास्त करके अन्त में पक्षधर के पास पहुँचे थे। उनसे इन्हें न्याय-शास्त्र का व्यापक और गम्भीर ज्ञान प्राप्त हुआ था।

पक्षधर मिश्र नव्य न्याय के अपूर्व विद्वान् थे, इसमें दो मत नहीं हो सकते। अनुमान खण्ड के आलोक में पक्षता प्रकरण में संशय और संशय योग्यता को पक्षता मानना इनके स्वतन्त्र पाण्डित्य का सूचक है। सामान्यलक्षणा, प्रागभाव आदि के सम्बन्ध मे इनके बिचारों का ब्यापक प्रभाव न्याय के विकास पर दृष्टिगोचर होता है।

पक्षधर मिश्र का जन्म काल १३ वीं शताब्दी माना गया है। अब भी पक्षधर मिश्र की पाषाणमयी मूर्ति नवद्वीप "नदिया" में प्रस्तुत है। इस मूर्ति की स्थापना इनके अनन्यभक्त रघुनाथ शिरोमणि ने की थी।[3]

रघुनाथ शिरोमणि

तार्किक शिरोमणि रघुनाथ बंगाल देश के नवद्वीप के निवासी थे। बाल्यकाल में ही इनके पिता का देहान्त हो गया। इनकी माता ने पुत्र को वासुदेव सार्वभौम के प्रति समर्पित कर दिया। वासुदेव सार्वभौम ने इन्हें आरम्भ से शिक्षा देनी प्रारम्भ की। आगे चलकर यही बालक तत्कालीन भारत का सर्वश्रेष्ठ तार्किक विद्वान्

---

१. न्याय सि० मु० भूमिका, ज्वाला प्रसाद, पृ० १९

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० ४५७

३. न्या० सि० मु० भूमिका, ज्वालाप्रसाद, पृ. २०

हुआ।[1] उस समय मिथिला में पक्षधर मिश्र की नैयायिक के रूप में महान् ख्याति थी। शास्त्रार्थ में इनके सामने कोई प्रतिपक्षी टिक नहीं सकता था। इनके विषय में उक्ति[2] है कि शङ्कर और वाचस्पति के समान तो शङ्कर और वाचस्पति थे किन्तु पक्षधर का प्रतिपक्षी कहीं पर दिखाई नहीं पड़ा। उनकी ख्याति को सुनकर रघुनाथ शिरोमणि इनसे अध्ययन करने के लिए मिथिला आये। मिथिला में जब पक्षधर मिश्र के यहाँ रघुनाथ गये तो इनको काणा देख कर पक्षधर मिश्र[3] ने उपहास में कहा "इन्द्र सहस्राक्ष है, महादेव त्रिलोचन हैं और हम सब द्विलोचन है आप एक लोचन कौन हैं ?" इस पर कल्पक शिरोमणि रघुनाथ ने भी उतना ही तीखा उत्तर दिया "ठीक है इन्द्र सहस्राक्ष है और महादेव त्रिलोचन हैं किन्तु आप सब अन्धे हैं हम ही केवल न्याय रूपी आँखों वाले है।" इस प्रकार इनकी प्रतिभा से प्रसन्न होकर पक्षधर मिश्र ने इन्हें अपना शिष्य बना लिया। अपनी अपूर्व प्रतिभा से इन्होंने अपने गुरु को बहुत पीछे छोड़ दिया था। इन्होंने अपने गुरु पक्षधर मिश्र के सिद्धान्तों का अपनी सुप्रसिद्ध तत्त्वचिन्तामणि टीका "दीधिति" में खण्डन किया है। पक्षधर मिश्र की तत्त्वचिन्तामणि की टीका आलोक एक श्रेष्ठ टीका है। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि[4] की प्रतिज्ञा थी कि विद्वानों के समूह ने सर्व सम्मति से जिस बात को ठीक सिद्ध किया हो और जिसे सदुष्ट सिद्ध किया हो मेरे शास्त्रार्थ करने पर उसे सम्पूर्ण रूप से बदला मानिये"। अर्थात् जिसे निर्दुष्ट किया है उसे सदुष्ट और जिसे दोषयुक्त सिद्ध किया है उसे निर्दोष। रघुनाथ की इस प्रतिज्ञा का निर्वहण हमें उनके प्रत्येक ग्रन्थ मे मिलता है। पक्षधर मिश्र के साथ सामान्य-लक्षणा के विषय में इनका मतभेद व्यक्त होता है। एक बार चर्चा के प्रसङ्ग में पक्षधर मिश्र ने इनसे कहा कि जन्म से काने सशय क अवसर पर स्पष्ट होने वाली सामान्य लक्षणा का क्यों खण्डन करते हो। इसका उत्तर ठीक-ठीक सामान्य लक्षणा ग्रन्थ में "अत्र वदन्ति" कल्प मे रघुनाथशिरोमणि ने दिया है वह द्रष्टव्य है।

---

१. शङ्करवाचस्पत्योः सदृशौ शङ्करवाचस्पती।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्मीभूतो न च क्वापि ॥
न्या० सि० मु० भू०, ज्वालाप्र०' पृ० १८

२. आखण्डलः सहस्राक्षः विरूपाक्षस्त्रिलोचनः।
वयं द्विलोचनाः सर्वे को भवानेकलोचनः ॥ वही पृ० २२, ४६३

३. आखण्डलः सहस्राक्षः विरूपाक्षस्त्रिलोचनः।
यूयं विलोचनाः सर्वे वयं न्यायैकलोचनाः ॥ वही पृ० २२

४. विदुषां निवहैरिहैकमत्या यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
मयि जल्पति जल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव ॥ वही पृ० २२

नव्यन्याय के मूलभूत ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि पर इनकी सुप्रसिद्ध टीका दीधित है। वैसे तो तत्त्वचिन्तामणि पर कई टीकायेंहैं किन्तु जो सम्मान विद्वानों ने दीधिति को दिया है वह किसी का नहीं है। इसी दीधिति टीका पर "जगदीश तर्कालङ्कार गदाधर भट्टाचाय एवं मथुरानाथ तर्कवागीश की सुप्रसिद्ध व्याख्यायें हैं जो अद्यापि पठन पाठन में आसेतु हिमाचल सम्पूर्ण भारत में प्रचलित हैं।

इतना ही नहीं रघुनाथ शिरोमणि की टीकायें खण्डन-खण्ड-खाद्य, कुसुमाञ्जलि आत्म-तत्त्व-विवेक, किरणावली आदि ग्रन्थों पर भी हैं। इसके अतिरिक्त इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ पदार्थधर्मसंग्रह भी है जिसमें इन्होंने पृथक्त्व के गुणत्व का खण्डन, दिशा तथा काल पदार्थों का खण्डन किया है।[1]

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती नैयायिकों द्वारा स्वीकृत कई सिद्धान्तों का खण्डन इनके ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैसे सामान्य लक्षणा खण्डन, केवलान्वयि-खण्डन, केवल-व्यतिरेकि-खण्डन, प्रागभाव-खण्डन, अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान की कारणता का खण्डन एवं अर्थापत्ति साधन इत्यादि इस प्रकार बहुत से पदार्थों का खण्डन करके इन्होने नव्यन्याय को क्रान्तिकारी मोड़ दिया है।

इस प्रकार हमें यह स्वीकार करने में जरा भी सङ्कोच नहीं होता कि रघुनाथ शिरोमणि नव्यन्याय क्षेत्र मे शिरोमणि ही थे। बंगाल मे ही नहीं अपितु समस्त भारत देश में महान् तार्किक के रूप मे स्मरण किया जाने वाला आचार्य गङ्गेश के बाद रघुनाथ ही है। इनका जन्म ई० १४७७ में नदिया या नवद्वीप में हुआ था।

प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य का मत है कि न वासुदेव सार्वभौम और न ही रघुनाथ शिरोमणि मिथिला में अध्ययन करने के लिए आये। इनके पक्षधर मिश्र के यहाँ आने के विषय मे जो किंवदन्ती है वह मात्र किंवदन्ती है उसमें वास्तविकता नहीं है।[2]

यज्ञपति उपाध्याय

यज्ञपति उपाध्याय मिथिला देश निवासी मैथिली ब्राह्मण थे। आप गङ्गेशोपाध्याय के पौत्र तथा वर्धमानोपाध्याय के पुत्र थे।[3] आपका जन्म काल

१. वक्षोजपानकृतकाण ? संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्य-लक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते ॥
न्या० सि० मु० भू०, ज्वालाप्रसाद, पृ० २२

२. दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते
न्या० सि० मु० भूमिका—ज्वाला० पृ० २२

३. हिस्ट्री आफ नव्य न्याय इन मिथिला, पृ० १२६—मिथिला, ई० १९५८

४. न्या० सि० मु० भूमिका—ज्वाला प्रसाद—पृ० २८

१४वीं शताब्दी का प्रारंभ माना जाता है। इन्होंने भी तत्त्वचिन्तामणि की स्वतन्त्र व्याख्या की है। इनका मत न्याय शास्त्र के भीतर प्राय: व्याप्ति वाद को छोड़कर सर्वत्र आता है। वाद के टीकाकारों ने तथा उपटीकाकारों ने इनके मत को कहीं **"उपाध्यायास्तु"** कहकर कहीं **"यज्ञपत्युपाध्यायास्तु"** कहकर उद्धृत किया है।

यज्ञपति उपाध्याय की व्याख्या "प्रभा" तत्त्व-चिन्तामणि के तीन खण्ड प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द पर है। उपमान इन्होंने छोड़ दिया है।[1] तत्त्वचिन्तामणि की प्रभा की पाण्डुलिपियाँ अत्यल्प संख्या में हैं। इसकी एक प्रति जो कि दरभंगा राज लाइब्रेरी में हैं उसकी रचना का समय उसमें शक संवत् १४२८ अर्थात् १४८६ ई० सं० अङ्कित है।

प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य ने इस बात का खण्डन किया है कि यज्ञपति उपाध्याय गङ्गेश के पौत्र और वर्धमान के पुत्र थे। उन्होंने शब्दकल्पद्रुम के इस कथन से भी असहमति प्रकट की है कि ये गङ्गेशोपाध्याय और उनके पुत्र वर्धमानोपाध्याय के शिष्य थे। इनका कथन है कि इनके पिता का नाम शिवपति उपाध्याय था और उन्होंने न्याय पर स्वतंत्र ग्रंथ बनाया था। उसी के आधार पर यज्ञपति ने "प्रभा" टीका की रचना की है।

मथुरानाथ तर्कवागीश

मथुरानाथ तर्कवागीश बङ्गाल देशवासी ब्राह्मण थे। इनके पिता श्री राम तर्कालंकार भी एक प्रसिद्ध नैयायिक थे। मथुरानाथ का न्याय शास्त्र का प्रारंभिक अध्ययन इनके पू० पिता श्रीराम तर्कालंकार के समीप ही हुआ था। अनन्तर ये प्रसिद्ध नैयायिक शिरोमणि श्री रघुनाथ से न्याय शास्त्र का अध्ययन करने के लिए गये। इनका बङ्गाल में मनीहारी नामक ग्राम में वास्तव्य था।[2]

इनका समय १६ वीं शती माना जाता है। मथुरानाथ ने तत्त्व-चिन्तामणि के ऊपर तथा तत्त्वचिन्तामणिदीधिति के ऊपर व्याख्याएँ लिखी हैं, जो कि माधुरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसका नाम **"रहस्य"** है। कुसुमाञ्जलि तथा आत्मतत्त्व विवेक पर भी मथुरानाथ की माथुरी टीका है।

इसके अतिरिक्त मथुरानाथ की पक्षधर मिश्र के आलोक पर भी माधुरी टीका है। आलोक एवं उसकी माथुरी टीका अभीतक अप्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त मथुरानाथ का **"न्याय रहस्य"** नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। विद्वान् होने के साथ ही ये बहुत भाग्यशाली थे। इनके वंशज आज भी मनीहारी ग्राम में रहते हैं।[3]

---

१. हिस्ट्री आफ नव्य न्याय इन मिथिला—पृ० १२६—मिथिला ई० १९५८
२. न्या० सि० भूमिका-ज्वाला प्रसाद—पृ २८
३. न्या० सि० मु० भू०—ज्वाला प्रसाद—पृ० २८

जगदीश तर्कालङ्कार

जगदीश तर्कालङ्कार भवानन्द तर्कवागीश के प्रधान शिष्य थे। इन्होंने दीधिति पर टीका लिखी है जो आज जागदीशी नाम से प्रसिद्ध है। दीधिति के अनुमान खण्ड की जागदीशी टीका और उसमें व्याप्तिवाद के विषय में जितना पाण्डित्य जगदीश का है उतना न गदाधर का है और न मथुरानाथ का। जगदीश ने दीधिति टीका के अतिरिक्त पक्षधर मिश्र के आलोक पर भी टीका लिखी है।[1] शब्द-शक्ति-प्रकाशिका,[2] तर्कामृत और न्यायादर्श—इनके स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। शब्द-शक्ति-प्रकाशिका भाषा-विज्ञान का उत्कृष्ट ग्रन्थ है - उसी प्रकार तर्कामृत में न्याय रूपी सागर को गागर में भरने का प्रयास किया गया है। इनका समय १६ वीं सदी माना जाता है।

विश्वनाथ पञ्चानन

बिश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य बंगाल देश निवासी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्रीनिवास भट्टाचार्य था। इन्होंने अपने राजीव नामक शिष्य पर कृपा करके १५५६ शालि-वाहन शक में न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली ग्रन्थ की रचना की थी।[3] यद्यपि ग्रन्थकार ने सर्व प्रथम कारिकावली की रचना की किन्तु पश्चात् अपने राजीव नामक शिष्य को अबुद्ध जानकर उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उसके प्रति करुणा की भावना से प्रेरित होकर स्वयं ही सुगम और सरल रूप से शिष्य को बोध कराने की अभिलाषा से कारिकावली की व्याख्या मुक्तावली के रूप में की।[4] इसके अतिरिक्त विश्वनाथ पञ्चानन की न्याय सूत्रों पर एक टीका विश्वनाथ वृत्ति के नाम से उपलब्ध है। ये नवद्वीपवासी थे किन्तु वृन्दावन में आकर बस गये थे।[5] ये रघुनाथ शिरोमणि की ही परम्परा में विद्यानिष्णात हुए थे। न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली की टीकाओं में दिनकरी टीका तथा दिनकरी की रामरुद्री टीका अपने प्रौढ़ पाण्डित्य के लिए विश्व विश्रुत हैं।

गदाधर भट्टाचार्य

गदाधर भट्टाचार्य जीवाचार्य के पुत्र बंग देश वासी थे। नवद्वीप में रहकर आपने हरिराम तर्कवागीश के यहाँ समस्त न्याय शास्त्र का अध्ययन किया था गदाधर भट्टाचार्य का समय १७ वीं सदी का मध्यभाग माना जाता है।[1]

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, भूमिका, पृ० २४

२. जगदीशस्य सर्वस्वं शब्दशक्ति-प्रकाशिका—अज्ञात

३. हिस्ट्री आफ इण्डिया लॉजिक, पृ० ४८३-४८७

४. वही, पृ० ४८१

५. वही, पृ० ४८१

इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें से कुछ प्राप्त हैं कुछ अप्राप्त हैं। इनके लिखे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१. न्यायकुसुमाञ्जलि टीका तत्त्वचिन्तामणि पर आलोक टीका की टीका दीधिति टीका, गादाधरी "आत्म-तत्त्व-विवेक-दीधिति-प्रकाशिका" मुक्तावली टीका, दुर्गासप्तशती टीका, बाह्य निर्णय," तथा ६४ वाद ग्रंथ हैं। इन वाद ग्रंथों में अधिकांश अप्राप्त हैं। प्राप्त वाद ग्रंथों में शक्तिवाद और व्युत्पत्तिवाद प्रधान हैं। तथा अन्य विषयतावाद, कारणतावाद, मुक्तिवाद, सादृश्यवाद, अवच्छेदकवाद, पर्याप्तिवाद, नव्यमतवाद, आख्यातवाद, नञर्थवाद, स्मृति-संस्कारवाद और कारकवाद प्रसिद्ध हैं। इतर "वाद" अप्राप्त हैं।

गदाधर के पश्चात् भी नव्य न्याय का प्रवाह सतत गतिशील रहा है। इनके वाद भी कई नैयायिक पैदा हुए जिन्होने अपने ग्रन्थरत्नों से न्यायशास्त्र के भण्डार को भरा है जिनमें कुछ प्रमुख ये है :

गदाधर के पश्चात् नव्यन्याय के क्षेत्र में उल्लेखनीय विद्वानों की सूची निम्न प्रकार है :—

१. रामरुद्र तर्कवागीश (१७०० ई.) न्यायग्रन्थ: तत्त्वचिन्तामणि दीधिति-टीका, व्याप्तिवाद व्याख्या आदि।

२. श्रीकृष्ण न्यायालङ्कार: (१६५० ई.) भावदीपिका

३. कृष्णकांत विद्यावागीश : (१७८० ई.) न्यायरत्नावली आदि

४. महादेव पुणताम्बेकर: (१७९० ई.) न्यायकौस्तुभ, व्याप्तिरहस्य टीका।

न्याय एव वैशेषिक का मिश्रण परवर्तीकाल मे हो गया था। इसके आधार पर भी कई ग्रन्थो की रचना हुई जिनमे अन्नम्भट्ट (१६२३ ए. डी.) का तर्कसंग्रह प्रमुख है। अन्नम्भट्ट दक्षिण भारत के विद्वान् थे। इनके तर्कसग्रह के ऊपर कई टीकायें लिखी हुई हैं। इसका अनुवाद भी भारत की कई भाषाओं में हो चुका है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित है। यह ग्रंथ सर्वत्र विश्वविद्यालयों में पाठ्य ग्रन्थ के रूप में निर्धारित है। इसी ग्रन्थ के समान ही विश्वनाथ पञ्चानन की न्याय सिद्धान्त मुक्तावली भी अनन्य प्रसिद्ध प्राप्त न्याय वैशेषिक रचना है। इस पर भी अनेक टीकायें उपलब्ध हैं। इसका भी कई भारतीय तथा अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक, पृ० ४८३-४८७

अध्याय २

गौतमीय न्याय में अनुमान (गौतम से उदयन तक)

खण्ड—१

प्राक्कथन

प्रस्तुत अध्याय में हम महर्षि गौतम से लेकर आचार्य उदयन तक के अनुमान सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमें महर्षि गौतम के साथ वात्स्यायन, उद्योतकर बाचस्पति जयन्त और उदयन की देन विचारणीय होगी। द्रष्टव्य है कि महर्षि गौतम से प्रारम्भ होने वाले अनुमान वृक्ष को किस तरह इन नैयायिकों ने सींचकर पुष्ट किया और समान काल में पल्लवित और पुष्पित होने वाली बौद्ध और जैन न्याय की आक्रामक विचार धारा से संरक्षित किया।

महर्षि गौतम ने प्रमाण के चार भेद—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द स्वीकार किये हैं[1] जिनमें प्रत्यक्ष सर्व प्रमाणों में ज्येष्ठ है।[2] बहुवादी सम्मत होने से महर्षि ने उसका प्रथम उल्लेख और लक्षण प्रस्तुत किया है।

अनुमान का लक्षण

गौतम मत

प्रत्यक्ष लक्षण के तुरन्त वाद महर्षि गौतम ने अनुमान का लक्षण प्रस्तुत किया है। तत्पूर्वक इत्यादि सूत्र से अनुमान का लक्षण और उसका विभाजन प्रस्तुत करते हुए महर्षि कहते हैं कि तत् "प्रत्यक्ष" से उत्पन्न अनुमान है जो कि पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट भेद से तीन प्रकार का होता है। महर्षि का "तत्पूर्वक" पद अस्पष्ट होने से भाष्यकार तथा टीकाकार को उसकी व्याख्या करना आवश्यक था, क्योंकि लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषों से रहित होना चाहिए। इस आधार पर यह लक्षण अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से ग्रस्त है। इसलिए

---

१. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि—न्या० सू० १-१-३

२. सकलप्रमाणमूलभूतत्वेन पूर्वपठितत्वेन च ज्येष्ठत्वात्प्रथमं प्रत्यक्षस्य लक्षणं प्रतिपादयितुमाह—न्या० म० आ० १ प्र० प्र०

तत्पूर्वक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार[1] ने कहा कि तत्पद से दो प्रत्यक्षों का लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष, और लिङ्ग का प्रत्यक्ष, ग्रहण करना चाहिए। लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष आद्य प्रत्यक्ष है। लिङ्ग दर्शन द्वितीय प्रत्यक्ष है। लिङ्ग और लिङ्गी अर्थात् हेतु और साध्य को परस्पर सम्बन्धित रूप से जान लेने पर उससे सम्बद्ध हेतु का स्मरण और स्मरण के पश्चात् पुनः हेतु का दर्शन होकर अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाता है। तात्पर्य यह है कि हेतु और साध्य के अविनाभाव रूप सम्बन्ध के प्रत्यक्ष और हेतु के प्रत्यक्ष के बाद अविनाभाव की स्मृति होती है। और स्मृति के पश्चात् पुनः लिङ्ग दर्शन होता है। स्मृति तथा हेतु प्रत्यक्षों के द्वारा अनुमान उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् अप्रत्यक्ष साध्य की अनुमिति होती है। इस प्रकार तत्पूर्वक की व्याख्या जो भाष्यकार को अभीष्ट है इस प्रकार है—"**ते पूर्वे यस्य**" अर्थात् वे दो प्रत्यक्ष १-लिङ्ग तथा लिङ्गी के सम्बन्ध का पूर्वकथित प्रत्यक्ष २. लिङ्ग प्रत्यक्ष।" पूर्व में हैं जिसके "तत्पूर्व यस्य" ऐसा विग्रह स्वीकार करने पर अनुमान से उत्पन्न अनुमान में व्याप्ति तथा प्रत्यक्ष से उत्पन्न स्मरण, संशय आदि ज्ञानों में अतिव्याप्ति होती है इसलिए पूर्वोक्त विग्रह आवश्यक है। यहीं पर इसी से अनुमिति ज्ञान और अनुमिति करण का भेद स्पष्ट हो जाता है।

"**तत्पूर्वकम्**" इस लक्षण में अनुमान उद्देश्य है और तत्पूर्वक विधेय है। यह लक्षण यहाँ पर अभेद सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्य लक्षण भाव को व्यक्त करता है अर्थात् तत्पूर्वकाभिन्न अनुमान है। तत्पूर्वक की व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है।[2] "**तानि प्रत्यक्षाणि व्याप्तिदर्शनादीनि पूर्वाणि यस्य तत्तथा**"। इस व्याख्या से महानस में धूम और अग्नि की व्याप्ति का दर्शन प्रथम, पक्ष में लिङ्ग मात्र दर्शन द्वितीय और व्याप्ति समन्वित लिङ्ग दर्शन तृतीय प्रत्यक्ष है। इस प्रकार से तीन प्रत्यक्ष अनुमान के पूर्ववर्ती होने से अनुमान "**तत्पूर्वक**" होता है।

दूसरी व्याख्या पूर्वपद को करणवाचक मानकर की जा सकती है। "**तद्-व्याप्यदर्शनं, व्याप्तिस्मृतिपरामर्शाभ्यां करणं यत्र तदनुमानमनुमितिः**[3]। तीसरी व्याख्या तत्पद को तदीयपरक मान कर तच्च **व्याप्तिदर्शनजन्यस्मरणं-तत्पूर्वकरणं**

---

१. तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गि लिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिङ्ग लिङ्गिनोः सम्बद्धयोः दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोनुमीयते। वा० भा० १-१-५

२. भाष्य चन्द्र टीका, पृ० ७४, चौ० प्र०

३. वही

यस्य तत्तथा" ।[1] यहाँ पर परामर्श को व्यापार माना गया है । जो लोग परामर्श को करण कहते हैं उनका कथन उचित प्रतीत नहीं होता । करणत्व कारकत्व का व्याप्य धर्म है और कारकत्व व्यापार ही कारणत्व है । इसलिए व्यापार के बिना कारणत्व नहीं हो सकता है । इन बातों का विचार करके ही वात्स्यायन ने **"तत्पूर्वक"** की पूर्वोक्त व्याख्या की है ।

न्यायवार्तिकमत

न्यायवार्तिककार आचार्य उद्योतकर ने **"तत्"** पद के तीन अर्थ लेकर **तानि ते तत्पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्"** ऐसी व्याख्या की है जिससे यह लक्षण समानजातीय प्रत्यक्ष और असमान जातीय वृक्षादि से अनुमान का व्यावर्तक हो जाता है । **"तानि पूर्वं यस्य"** इस प्रकार का विग्रह स्वीकार करने पर **"तानि"** इस बहुवचन से समस्त प्रमाणों का ग्रहण करने पर सर्व प्रमाण पूर्वकत्व अनमान का लक्षण बनता है ।[3] जिससे अनुमानपूर्वक या शब्दपूर्वक होने वाले अनुमान में अव्याप्ति नहीं होती है । किन्तु किसी भी प्रमाण से उत्पन्न होने वाला अनुमान अन्ततोगत्वा परम्परा से प्रत्यक्ष पूर्वक होने से **"प्रत्यक्षपूर्वक"** **"तत्पूर्वक"** की व्याख्या करना उचित ही है ।

जब तत्पूर्वक का **"ते द्वे पूर्वं यस्य"** इस प्रकार का विग्रह स्वीकार किया जाय तो दो प्रकार के प्रत्यक्ष अनमान के पूर्व में होते हैं । वे दो प्रत्यक्ष हैं, एक तो साध्य और हेतु के पश्चात् हेतु और साध्य के सम्बन्ध दर्शन के संस्कार की अभिव्यक्ति के पश्चात् सम्बन्ध की स्मृति होती है और स्मृति के पश्चात् पुनः हेतु का दर्शन होता है यह जो अन्तिम प्रत्यक्ष है—जो कि दो प्रत्यक्षों "सम्बन्ध प्रत्यक्ष और प्रथम हेतु दर्शन" के द्वारा उत्पन्न होता है—इसे ही लिङ्ग परामर्श कहा जाता है ।[4] यही अनुमान है । इसे हम इस प्रकार समझें कि सबसे पहले हमें पाकगृह में धूम और वह्नि के अविनाभाव सम्बन्ध का दर्शन होता है । पश्चात् हमें किसी स्थान पर केवल धूम का दर्शन होता है, उसके साथ ही हमें अपने पाकगृह में ज्ञात धूम और अग्नि के मध्य जो सम्बन्ध है उसके संस्कारों का उद्बोध होकर सम्बन्ध का स्मरण

१. भाष्यचन्द्र टीका, पृ० ७४

२. न्यायवार्तिक, १-१-५

३. यदा तानीति विग्रहः तदा समस्तप्रमाणाभिसम्बन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति न्या० वा० १-१-५

४. यद्यपि विग्रहः ते द्वे पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति । कतरे द्वे प्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम् । लिङ्गदर्शनं च द्वितीयम् । न्या० वा० १-१-५

हो जाता है और पुनः अग्नि सम्बद्ध धूम का प्रत्यक्ष होता है और उसके पश्चात् अग्नि का निश्चय होता है। इस व्याख्या के अनुसार अनुमान "शब्द" करणार्थक होता है। अर्थात् अनुमिति "अग्नि की प्रमा" का करण अनुमान है।[1] इसके अनुसार प्रमाण और फल में विषय की भिन्नता होती है। प्रमाण का विषय हेतु और फल का विषय साध्य है जिस विषयक करण है उस विषयक क्रिया नहीं है।

प्रमाण और उसके फल में विषय भेद नहीं मानें तो "**तत्पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकमिति**" यह विग्रह मानकर हेतु और साध्य के सम्बन्ध की स्मृति को तत्पद से ग्रहण करके, हेतु और साध्य का सम्बन्ध पूर्व में है जिससे वह परामर्श अनुमान कहलाता है उसके द्वारा शेष अर्थ अर्थात् साध्य का ज्ञान किया जाता है।[2]

अनुमान का स्वरूप

अनुमान क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग हेतु और साध्य के सम्बन्ध के स्मरण को अनुमान कहते हैं। कुछ लोग हेतु और साध्य के सम्बन्ध से उत्पन्न अनुमिति रूप प्रमा को अनुमान कहते हैं।[3] अन्य लोग लिङ्ग-परामर्श को अनुमान कहते हैं।

वार्तिक मत

वार्तिककार[4] का मत है कि सभी कुछ अनुमान है क्योंकि इनमें से सभी अनुमिति के आवश्यक अङ्ग हैं। प्रधान और गौण के विचार के अनुसार लिङ्ग परामर्श को ही अनुमान कहना उचित है। इसमें क्या औचित्य है ? या क्या युक्ति है कि लिङ्ग परामर्श प्रधान है ? तथ्य यह है कि हेतु और साध्य के सम्बन्ध की स्मृति के तुरन्त पश्चात् अनुमिति नहीं होती है। इसलिए स्मृति प्रधान नहीं हो सकती। किन्तु स्मृति के पश्चात् सम्पन्न होने वाले लिङ्ग परामर्श के पश्चात् तुरन्त साध्य की प्रमा उत्पन्न होने से लिङ्ग परामर्श ही प्रधान है।

इस प्रकार से लिङ्ग परामर्श को ही अनुमान मानने से पञ्चावयवरूपी न्याय में उपनय की उपयोगिता भी सिद्ध होती है।

---

१. क पुनरनुमानार्थः। अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थः, न्या० वा० १-१-५

२. न्या० वा०, पृ० २८३ १-१-५

३. वा० भा०, १-१-५

४. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। प्र० क० मा०, पृ० ३५४

वाचस्पति मत

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार[1] वाचस्पति का कथन है कि "**तत्पूर्वकत्व**" लक्षण अव्यापक तथा अतिव्यापक है। क्योंकि तत्पद से प्रत्यक्ष का ग्रहण करते हैं तो प्रत्यक्षपूर्वत्व जैसे अनुमान में है वैसे ही आगम स्मृति संशय और विपर्यास आदि में भी है। उनको भी अनुमान मानना होगा। दूसरी बात यह है कि अनुमान पूर्वकानुमान अर्थात् अनुमित अग्नि के द्वारा तज्जन्य उष्णता या आलोक का अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक न होने से उसमें अव्याप्ति होगी। इसलिए यह लक्षण अव्याप्ति-अति व्याप्ति ग्रस्त होता है। अतः 'तत्पूर्वक' इस पद की आवृत्ति करके तीन विग्रह करने चाहिएँ। उनमें प्रथम विग्रह के "**तानि**" इस पद से "**तत्पूर्वक**" इस सूत्र से पूर्व वाले सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का संग्रह करना चाहिए। ऐसा करने पर लक्षण की अव्याप्ति दूर होगी।

यहां यह प्रश्न होता है कि भाष्यकार वात्स्यायन का जो मत है कि "**तत्पूर्वक**" का अर्थ लिङ्गदर्शनपूर्वक है, उसका उल्लङ्घन होता है। इस विषय में वार्तिककार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार वाचस्पति कहते हैं कि प्रत्यक्षपूर्वत्व का तात्पर्य परम्परया प्रत्यक्षपूर्वकत्व से है। ऐसा कहने पर वात्स्यायन के साथ विरोध नहीं है। अतिव्याप्ति का निरास करने के लिए दूसरा विग्रह करके सूत्र में आया हुआ प्रत्यक्ष ही "ते" पद से ग्रहण करना चाहिए। "**द्वे**" "**ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य प्रत्यक्षस्य**" अर्थात् लिङ्गपरामर्शज्ञानस्य, इसके आधार पर लिङ्गपरामर्श रूप **प्रत्यक्ष** ही अनुमान है। अपने विषय में वह प्रत्यक्ष अनुमेयार्थ की प्रतीति कराने से अनुमान है, वार्तिककार उद्योतकर के प्रत्यक्ष शब्द को वाचस्पति उपलक्षण मानते हैं। "प्रत्यक्षे" को "**अनुमाने**" का भी द्योतक समझना चाहिए।[3] अर्थात् हेतु और साध्य के सम्बन्ध का अनुमान और हेतु के अनुमान से भी अनुमान ही होता है। क्या शब्द से भीसम्बन्ध ज्ञान और हेतुज्ञान होने पर अनुमान होकर अनुमेयार्थ अग्नि आदि की प्रतीति

---

१. तथा च प्रत्यक्षपूर्वत्वमनुमानस्येवागमस्मृतिसंशयविपर्यासानामप्यस्तीति तान्यप्यनुमानं प्रसज्येरन्। अनुमानादिपूर्वकं चानुमानं न प्रत्यक्षपूर्वकमिति नानुमानं स्यात्, अनुमानलक्षणेनाव्याप्तत्वात्। तस्मादव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यामलक्षणमेतदित्यत आह—न्या० वा० ता० टीका, पृ० ३०३ (१-१-५)

२. पारम्पर्येण हि प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुक्तं भाष्यकृता तस्मान्न विरोध इति
न्या० वा० ता०, पृ० ३०३ (१-१-५)

३. प्रत्यक्षग्रहणमुपलक्षणार्थम्, अनुमाने इत्यपि द्रष्टव्यम् न्या० वा० ता०
पृ० ३०३ (१-१-५)

हो सकती है। इसलिए "द्वे प्रत्यक्षे" का अभिप्राय "द्वे ज्ञाने" हा समुचित प्रतीत होता है।

परामर्श ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि द्वितीय लिङ्ग दर्शन व्याप्ति दर्शन के पश्चात् मध्यक्षणों में व्याप्ति के संस्कार के उद्बोध के साथ उत्पन्न हेतु-दर्शन से उत्पन्न संस्कार के कारण व्याप्ति स्मरण की अवस्था में द्वितीय लिङ्ग दर्शन का विनाश हो जाता है। इसलिए दोनों में यौगपद्य नहीं हो सकता है। विनाश के क्षण में दोनों का साथ होने पर भी वे परस्पर एक दूसरे के सहायक होकर अनुमिति के कारण नहीं बन सकते हैं। इसलिए भी दोनों प्रत्यक्षों से उत्पन्न तृतीय परामर्श को मानना आवश्यक हो जाता हे।[1]

जयन्त मत

जयन्त भट्ट[2] के अनुसार पञ्च लक्षण युक्त हेतु तथा व्याप्ति स्मरण से उत्पन्न परोक्ष साध्य के विषय में जो ज्ञान है वही अनुमान है। जयन्त[3] ने पञ्चलक्षण युक्त ज्ञान लिङ्ग, अथवा लिङ्गज्ञान को व्याप्ति स्मरण से युक्त होने पर प्रमाण[4] और लिङ्गज्ञान को उसका फल माना है, उनका कथन है कि यदि लिङ्गज्ञान को अनुमान प्रमाण मानें तो हेयोपादेय बुद्धि को उसका फल मानना चाहिए। जयन्त ने पञ्चलक्षण युक्त हेतु की प्रमाणकता का पहले पहल प्रतिपादनता किया है। आचार्य जयन्त ने तृतीय लिङ्ग परामर्श का उल्लेख नहीं किया है। "**तत्पूर्वक**" की व्याख्या "**ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य**" इस विग्रह के आधार पर व्याप्ति दर्शन प्रथम, और लिङ्ग दर्शन द्वितीय, इन दो प्रत्यक्षों के आधार पर होने वाले ज्ञान को अनुमान कहा है। क्योंकि **तत्पूर्वं कारणं यस्य तत्पूर्वकम्** ऐसा विग्रह करने पर निर्णय और उपमानादि में अतिव्याप्ति होती है। प्रत्यक्षद्वयपूर्वकत्व अनुमान आभासों में भी हो सकता है। इसलिए पञ्चलक्षणयुक्त हेतु का कथन सार्थक होता है।

---

१. न च द्वितीयलिङ्गदर्शनं व्याप्तिस्मरणसमये विनश्यदवस्थमप्यस्ति तस्माद् उभाभ्यामुत्पन्नं परामर्शज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं तृतीयप्रत्यक्ष मेषितव्यम्—न्या० वा० ता० टी० १-१-५

२. पञ्चलक्षणता का लिङ्गाद् गृहीतान्नियमस्मृते :
परोक्षे लिङ्गानि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते ॥ न्या० म० आ० १ प्रमा० प्र०

३. अत्रापि लिङ्ग-विषयं ज्ञानं ज्ञानविषयीकृतं वा लिङ्गप्रतिबन्धस्मरणसहितं प्रमाणम्, लिङ्गिज्ञानं फलम्, लिङ्गिज्ञानस्य वा प्रमाणतायां पूर्वमुपादानादि-ज्ञानं फलमुपवर्णनीयम्। न्या० म० आ० १ प्रमा० प्र० १

४. न्या० म० आ० १ प्रमा० प्र० १

इस प्रकार से "**प्रत्यक्षपूर्वकत्व**" अनुमान में सभी मानते हैं। किन्तु "**प्रत्यक्षपूर्वकत्वं**" यह अनुमान का लक्षण भावना नामक स्मृति के कारण संस्कार तथा प्रत्यक्ष-जन्य निर्णय आदि में होने से अति प्रसंग होता है। उसके विषय में वार्तिककार[1] उद्योनकर का उत्तर है कि यहाँ पूर्व सूत्र में प्रतिपादित "**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञान**" के आधार पर ततपूर्वक विज्ञान ही लेना चाहिए। विज्ञान[2] से तात्पर्य है विशिष्ट ज्ञान अर्थात् जो ज्ञान स्मृति से भिन्न है। ऐसा कहने पर स्मृति तथा संस्कार में दोष नहीं होता है। निर्णय के विषय में वार्तिककार[3] उद्योनकर का मत है कि वह कदाचित् प्रमाण का फल होने से लक्ष्यान्तर्गत ही है।

उदयन मत

आचार्य उदयन[4] भी तृतीय लिङ्ग-परामर्श को ही अनुमान मानते हैं। न तो व्याप्तिस्मृतिमात्र से अनुमिति होती है और न हेतु के दर्शनमात्र से। अपितु व्याप्तिविशिष्टहेतु के ज्ञान से अर्थात् तृतीय हेतु परामर्श से अनुमिति होती है। व्याप्ति विशिष्ट हेतु न तो व्याप्ति का विषय है, और न हेतु दर्शन का। दोनों के दो स्वतन्त्र विषय हैं, व्याप्ति दर्शन का विषय व्याप्ति है, और हेतु दर्शन का विषय हेतु है, व्याप्ति विशिष्ट हेतु दोनों में से किसी भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। और व्याप्ति विशिष्ट हेतु के दर्शन के विना साध्यानुमिति नहीं हो सकती है। इसलिए उन दोनों के पश्चात् तृतीय ज्ञान के रूप में व्याप्ति विशिष्ट हेतु ज्ञान रूपी परामर्श की कल्पना अनिवार्य है। इसलिए परामर्श को अनुमान कहा गया है।

अनुमान के अङ्ग

अनुमान के अङ्ग व्याप्ति, पक्षधर्मता बतलाये जाते हैं। इन दो प्रमुख अङ्गों के आधार पर ही अनुमान प्रमाण का सारा कलेवर अवस्थित रहता है। जब तक हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध अथवा अनिवार्य साहचर्य नियम का ज्ञान नहीं होता है तब तक अनुमान नहीं होता है। यही कारण है कि अज्ञ बालक आदि धूम को देखकर भी चूल्हे में हाथ डाल देते हैं, क्योंकि उन्हें जहां

---

१. नैषः, विज्ञानस्याधिकृतत्वाद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमिति ज्ञानाधिकारो वर्तते इति तेन न संस्काराऽतिप्रसङ्गः। न्या० वा० पृ० २६४ (१-१-५)

२. विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं विशेषश्च स्मृतेरन्यत्वम् न्या० वा० टी० १-१-६

३. निर्णयस्तूभयथा, कदाचित् प्रमाणं कदाचित् फलम्। स्वविषयपरिच्छेदकत्वात् फलम्। शेषपरिच्छेदकत्वात् प्रमाणम्—न्या० वा० १-१-७

४. न हि व्याप्तिस्मरणमात्रादनुमितिः, नापि लिङ्गदर्शनमात्रात् किं तर्हि व्याप्तिविशिष्टलिङ्गदर्शनात्—न्या० परिशुद्धि, पृ० १-१-५

जहां धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, यह व्याप्ति-ज्ञान नहीं रहता है। अनेक बार हम जो धूम और अग्नि के बीच अविनाभाव सम्बन्ध को अथवा दीप और प्रकाश के साहचर्य को जानकर भी अग्नि की खोज में भटकते हैं क्योंकि हमें पक्ष-धर्मता का ज्ञान नहीं है। हमें उस स्थान का दर्शन नहीं है इसलिए अग्नि का अनुमान नहीं होता है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों अनिवार्य हैं।

व्याप्ति

व्याप्ति के विषय में महर्षि गौतम के सूत्रों में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। महर्षि को न्याय शास्त्र का लघु सूत्रों[1] में उपदेश करना था इसलिए वह **"तत्पूर्वक"** इसी शब्द में सभी बातों को समाविष्ट कर लेते हैं। इसलिए हमें न्यायसूत्रों में व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध का दर्शन नहीं होता है।

वात्स्यायन मत

भाष्यकार[2] वात्स्यायन ने भी व्याप्ति का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने तत्पद की व्याख्या में तत्पूर्वक से लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध दर्शन का उल्लेख किया है। वही व्याप्ति का परिचायक है। भाष्यकार ने जिस लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का उल्लेख किया है वह सम्बन्ध व्याप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि हेतु और साध्य के मध्य रहने वाले अन्य कालिक, दैशिक वादरायण[3] जैसे सम्बन्धों का अनुमान में किञ्चित् भी उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए हमें लिङ्ग लिङ्गी का सम्बन्ध पद से उस अनिवार्य साहचर्य "**व्याप्ति**" को ही ग्रहण करना है।

वार्तिककार[4] ने अनुमान के पूर्ववर्ती दो प्रत्यक्षों में हेतु और साध्य के सम्बन्ध को आद्य प्रत्यक्ष तथा लिङ्ग दर्शन को द्वितीय प्रत्यक्ष माना है। अनुमान की प्रक्रिया

---

१. महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात् न्या० वा०

२. तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्ग-लिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनम्———न्या० भा० १-१-५

३. उपर की समताओं के आधार पर सम्बन्ध—जैसे दो घरों में बदरीवृक्ष होने पर कोई मान स्तरीय सम्बन्ध वाला मानने लगे।

४. लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्ध दर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम्, लिङ्गदर्शनं च द्वितीयम् बुभुत्सावतो द्वितीयात्, लिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्यनन्तर-कालं स्मृतिः, स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति। तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमणं लिङ्गमारामर्शरूपानुमानं भवति।

न्या० वा० १-१-५

को स्पष्ट करते हुए वार्तिककार[1] उद्योतकर कहते हैं कि साध्य ज्ञान की इच्छा रखने वाले मनुष्य को द्वितीय हेतु दर्शन के पश्चात् पूर्व सम्बन्ध विषय दर्शन स्मृति की उद्भावना होकर स्मृति के पश्चात् पुनः धूमादि हेतु का दर्शन होता है। वह पूर्व के दो प्रत्यक्षों और स्मृति के आधार पर होने वाला लिङ्ग परामर्श रूप अनुमान है। इस प्रकार हेतु और साध्य के सम्बन्ध को अनुमान का आवश्यक अङ्ग मानने में वार्तिककार उद्योतकर का भाष्यकार वात्स्यायन के साथ कोई मतभेद नहीं है।

वार्तिककार मत

वार्तिककार[2] ने पूर्ववत् अनूमान की व्याख्या के संदर्भ में अविनाभाव का उल्लेख अवश्य किया है। परन्तु उस अविनाभाव को कार्यकारणभाव एकार्थसमवाय अथवा सम्बन्ध मात्र के रूप में ग्रहण का निषेध किया है।

"लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शन" यहाँ सम्बन्ध पद से अनुमानाङ्ग सम्बन्ध का ग्रहण करना है जो कि अन्य व्यक्ति दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित तादात्म्यादि पर आधारित अविनाभाव से भिन्न है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है जिन दो पदार्थों में या व्यक्तियों में इस प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध होता है उन्हीं में गम्यगम्यकभाव होता है। जैसे धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है किन्तु वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। वह्नि की धूम के विना भी अयःपिण्ड में उपलब्धि होती है। परन्तु गीले ईंधन का स्पर्श होने पर ही अग्नि में धूम की प्रादुर्भूति होती है।[3] इसलिए धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध आर्द्र ईंधन रूप उपाधि के कारण होने से औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं।[4] परन्तु धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध

---

१. बुभुत्सावतो द्वितीयाल्लिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्यनन्तरकालं स्मृतिः स्मृत्यनन्तरं च पुनः लिङ्गदर्शनमयं धूम इति। तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं लिङ्गपरामर्शरूपमनुमानं भवति—न्या० वा० १-१-५

२. अग्निधूमयोरविनाभाव इति कोर्थः? किं कार्यकारणभावः उत एकार्थसमवायः उत सम्बन्धमात्रमिति ?———सम्बन्धमात्रं तत्र वर्तत इत्युक्ते तदप्यनुमातुं न शक्यते। न्या० वा० १-१-५

३. तस्माद् यो वा सो वास्तु सम्बन्धः केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते। तथाहि धूमादीनां वह्न्यादि सम्बन्धः स्वाभाविकः न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः———अतो नियतसम्बन्धोऽनुमानाऽङ्गम्। न्या० वा० ता० टी० १-१-५

४. तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभ्यमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः। वही—१-१-५

उपाधिरहित स्वाभाविक नहीं है। इसलिए यह नियत सम्बन्ध है। यही अनुमान का अङ्ग व्याप्ति रूप सम्बन्ध है। इस प्रकार से आचार्य वाचस्पति के अनुसार अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

इस सम्बन्ध की स्वाभाविकता के लिए उपाधि को खोजने का प्रयत्न किया जाता है, और न मिलने पर हेतु और साध्य के सम्बन्ध की अनौपाधिकता निश्चित की जाती है। आचार्य वाचस्पति[1] ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है। इसके पूर्व भाष्य तथा वार्तिक में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति मानने पर यह प्रश्न होता है कि किसी एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु के साथ बिना कारण स्वाभाविक सम्बन्ध होता है तो सभी का सभी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध क्यों नहीं होता और फलस्वरूप सब से सब की अनुमिति क्यों नही होती है। इस विषय में उत्तर यह है कि जिस प्रकार कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु का कारण होती है, सबका कारण नही होती, उसी प्रकार स्वाभाविक सम्बन्ध भी किसी विशेष का किसी विशेष के साथ होता है। वस्तुमात्र के साथ नहीं होता है। कार्यकारणभाव सम्बन्ध कार्य और कारण के मध्य ही होता है। किन्तु स्वाभाविक सम्बन्ध उनमे भी होता है जिनमे कार्यकारणभाव नहीं है।

जयन्त मत

आचार्य जयन्त[2] के अनुसार व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव नित्य साहचर्य है। साहचर्य नियम की स्मृति को अनुमान का अङ्ग अन्य ग्रन्थकारों के समान ही जयन्त ने माना है। इसलिए जयन्त के अनुसार लिङ्ग और लिङ्गी अर्थात् हेतु और साध्य का सम्बन्ध साहचर्य सम्बन्ध है। साहचर्य नियम के ग्रहण मात्र से अनुमिति नहीं होती है। अनुमिति के पूर्व साहचर्य का दर्शन नही होता। अपितु पूर्व-गृहीत साहचर्य का अनुमिति के पूर्व काल मे स्मरण होकर अनुमिति होती है।[3]

---

१. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

२. नियमस्मृतेरिति विव्रियतां कोऽयं नियमो नाम, व्याप्तिरविनाभावो नित्यसाहचर्य-मित्यर्थः। न्या० म० आ०१ प्रमा० प्र० १

३. नियमो हि गृहीतोऽङ्गमनुमेयप्रमां प्रति। न नारिकेलद्वीपस्थो धूमादग्निं प्रपद्यते ॥
साध्यानुमितिवेलायां न चास्ति नियमग्रहः। नियमग्रहकाले च न साध्यमनुमीयते ॥
तेन पूर्वगृहीतस्सन्निदानीं स्मृतिगोचरः नियमप्रतिपत्त्यङ्गं तथावगतिदर्शनात् ॥
न्या० म० आ० १ प्रमा० प्र० १

उदयन मत

परिशुद्धिकार आचार्य उदयन[1] ने अविनाभाव को नियममात्र कहा है। तादात्म्य तदुत्पत्ति आदि ही मात्र अविनाभाव नहीं है। वह नियम किसी पर भी आधारित हो सकता है। वह स्वाभाविक सम्बन्ध है। जिसका अर्थ है निरुपाधि अर्थात् उपाधि रहित। व्याप्ति में व्यभिचार या अव्यभिचार होता है और उपाधि के न रहने पर अव्यभिचार अर्थात् व्याप्ति होती है। जहां उपाधि होती है, वहां अवश्य ही व्यभिचार होता है। जैसे धूमवान् वन्हेः में आर्द्रेन्धन सयोग उपाधि रहने से व्यभिचार है—इसके विपरीत अग्निमान् धूमात् में उपाधि न होने से नियताव्यभिचारित्व है। इसलिए धूम और अग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक है। क्योंकि इसमें व्यभिचार की द्योतक उपाधि नहीं है।

आचार्य उदयन[2] निरुपाधि सम्बन्ध से अव्यभिचार को व्याप्ति कहना चाहते है। औपाधिकत्व और अनौपाधिकत्व व्यभिचार और अव्यभिचार से व्याप्त है। जहां जहां व्यभिचार होगा वहां वहां उपाधि होगी और जहां व्यभिचार नहीं होगा वहां उपाधि नहीं होगी। इसी प्रकार जहां उपाधि होगी वहां व्यभिचार होगा और जहां उपाधि नहीं होगी वहां व्यभिचार नहीं होगा। व्यभिचार या अव्यभिचार बिना किसी आधार के अथवा किसी निश्चित आधार से नहीं होता है। इसलिए उपाधि रहने पर व्यभिचार और उपाधि न रहने पर व्यभिचार का अभाव अर्थात् व्याप्ति है। इसलिए जहाँ स्पष्ट रूप से व्यभिचार है, वहाँ उपाधि के द्वारा उसको उपस्थित करने का प्रयास व्यर्थ है। किन्तु जहां व्यभिचार का सशय हो वहां उपाधि का विचार आवश्यक होता है। इस प्रकार से अव्यभिचार ही नियत या व्याप्तिरूप सम्बन्ध है।

व्याप्तिग्राहक

लिङ्ग और लिङ्गी के बीच सम्बन्ध का निश्चायक क्या है ? किस आधार

---

१. अविनाभावस्तु नियममात्रमित्येव ज्यायः। न्या० परि० १-१-५

२. स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थः। यद्यपि व्यभिचाराव्यभिचारव्याप्तौ औपाधिकत्वानौपाधिकत्वे, ताभ्यां च व्यभिचाराव्यभिचाराविति नियमः। तौ हि न तावन्निर्निमित्तौ सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात्। नियतविषयौ चोपलभ्येते। नाप्यनिमित्तौ सोपाधेरप्यव्यभिचारे निरुपाधेरपि व्यभिचारे अनियमप्रसङ्गात्, तथा सति कार्यात्मनोरपि कारणात्मव्यभिचारः प्रसज्येत। तस्मादुपाधाववश्यं व्यभिचारोनुपाधौ अवश्यमव्यभिचारः।

न्या० परि० १-१-५

पर हेतु और साध्य के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध को निश्चित करते हैं। सूत्रकार ने इस प्रश्न का समाधान नहीं किया है। भाष्यकार वात्स्यायन भी स्वाभाविक सम्बन्ध के निश्चायक के विषय में मौन हैं।

वार्तिककार[1] उद्योतकर ने अग्नि और धूम का अविनाभाव क्या है इस विषय में पूर्ववत् अनुमान की व्याख्या के प्रसङ्ग में चर्चा अवश्य की है, किन्तु मतान्तर आलोचन पूर्वक इसकी मीमांसा हमें वाचस्पति की तात्पर्यटीका में ही उपलब्ध होती है।

व्याप्तिग्रह के निश्चायक के विषय में पर्यालोचन करने के लिए, दिङ्नागादि के इस सम्बन्ध के विचार को पूर्व पक्ष के रूप में ग्रहण करके पहले अपने तर्कों द्वारा उनमें अव्याप्ति दोष दिखाकर पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं और तदनन्तर व्याप्ति ग्रह के विषय में अपना मत स्पष्ट करते हैं। आचार्य दिङ्नाग[2] आदि बौद्धों का मत है कि अविनाभाव या "**व्याप्ति**" तादात्म्य तदुत्पत्ति पर आधारित होती है।

कार्यकारणाभाव अन्वय और व्यतिरेक से भिन्न नहीं हैं। इसके रहने पर यह रहता है और इस वस्तु के न रहने पर इस पर आश्रित अन्य वस्तु नहीं रहती। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक का निश्चय धूम के साथ अग्नि के प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। इस प्रकार अग्नि के रहने से धूम रहता है और अग्नि के न रहने से धूम नहीं रहता है। इस प्रत्यक्षानुभाव के आधार पर इनमें कार्यकारणाभाव सिद्ध होता है जो उनके बीच अविनाभाव का परिचायक है।

इसी[1] प्रकार तादात्म्य भी विपक्ष में बाधक प्रमाण के आधार पर निश्चित किया जाता है। जैसे "**यत् सत् तत्क्षणिकम्**" यहाँ पर **सत्त्व** और क्षणिकत्व का तादात्म्य अक्षणिक में क्रम और अक्रम की उपलब्धि न होने से सत्त्व और क्षणिकत्व का तादात्म्य निश्चित होता है।

वाचस्पति[2] मिश्र बौद्धों के व्याप्तिग्रह के तदुत्पत्ति विषयक तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं अगर बौद्ध धूम की उत्पत्ति का अर्थ अग्नि के पश्चात् धूम का अस्तित्व मानते हैं तो वह धूम का अस्तित्व रासभादिक पश्चात् भी हो सकता है।

---

१. न्या० वा० १-१-५

२. तथा हि केनिदविनाभावं तादात्म्यतदुत्पत्तिनिबन्धनमनुमानाङ्गमाहुः
न्या० वा० ता० टी० १-१-५

३. वही

४. वही

अतः धूम रासभव्याप्त होना चाहिए परन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता। यदि अनन्तर भाव ही कार्यत्व है तो धूम पिशाच के अनन्तर भी उत्पन्न हो सकता है। अतः धूम पिशाच का अनुमापक होना चाहिए जोकि होता नहीं है क्योंकि धूम के देखने पर भी पिशाच का दर्शन नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि कार्य से यदि कारण का अनुमान किया जाय तो हेतु के पूर्वकाल में रहने वाले साध्य का ही अनुमान हो सकता है। हेतु के समानकालीन साध्य का अनुमान नहीं हो सकता। नदी वृद्धि के द्वारा पूर्वकालीन वर्षा का अनुमान होता है। उसी प्रकार धूमपूर्वकालीन अग्नि का अनुमान होगा। धूमकालीन वह्नि क अपेक्षा रखने वाले को धूम देखकर वह्नि का अनुमान नहीं होना चाहिए।[1]

रस (स्वाद) से पदार्थ के रूप का अनुमान जो होता है वहाँ न कार्यकारण-भाव है. और न तादात्म्य है। रस (स्वाद) न रूप का कार्य है और न रस और रूप का कारण है और न रस और रूप में तादात्म्य ही है। रस रूप से भिन्न वस्तु है। अतः केवल तदुत्पत्ति और तादात्म्य व्याप्तिग्राहक नहीं हो सकते, वाचस्पति का आपत्तियों का बौद्ध[2] इस प्रकार निराकरण करते हैं कि रूप, रस, गन्ध स्पर्श क्षण से रस क्षण की उत्पत्ति होती है। यह रस क्षण अपने पूर्वक्षण रूप का अनुमापक होता है। वह रूप क्षण रसक्षण के समानकालीन रूपक्षणान्तर का जनक होने से तथा रूप और रस क्षण एक होने से रस से समानकालवर्तिरूप का अनुमान होता है। इसलिए रस और रूप में व्याप्ति का निश्चय तदुत्पत्ति और तादात्म्य दोनों से है। बौद्ध तार्किक के इस समाधान की आलोचना करते हुए आचार्य वाचस्पति[3] कहते हैं कि समकालीन रूपक्षण, अपने पूर्व रूप क्षण का स्वभाव है ? या अस्वभाव है ? यदि स्वभाव है तो दोनों में अभेद होने से जन्यजनकभाव नहीं हो सकता है। एक ही वस्तु उसी वस्तु की जनक और जन्य नहीं हो सकती। जन्यजनकभाव भिन्न वस्तुओं का ही होता है। रूप, क्षण और पूर्वकालीन रूप क्षण भिन्न हैं तो वह अनुमापक कैसे ?

रस से रूपानुमान के समान ही आज के सूर्योदय से कल के सूर्योदय का, समुद्र के ज्वार से चन्द्रोदय का, एवं मध्य नक्षत्र दर्शन से अष्टास्तमोदय का जो अनुमान होता है उसमें न कार्यकारणभाव है और न तादात्म्य है। इनमें से कोई भी हेतु अपने साध्य का कार्य नहीं है और साध्य के साथ तादात्म्य भी नही रखता है।[4]

१. न्या० वा० ता० टीका १-१-५
२. एकसामग्र्यधीनस्य रूपादेरसतो गतिः । हेतुधर्मानुमानेन धमेन्धनविकारवत् ॥ न्या० वा० ता० टी० १-१-५
३. वही १-१-५
४. वही १-१-५

यथार्थवादी नैयायिकों[1] का विचार है कि तादात्म्य की अवस्था में गम्यगमक भाव अर्थात् अनुमाप्यानुमापक भाव नहीं हो सकता। एक ही वस्तु कर्म और कारण नहीं हो सकती। कर्मत्व और कर्तृत्व भिन्न का ही होता है। जैसे कि बौद्ध "**वृक्षोऽयं शिशपात्वात्**" यहां पर कल्पित भेद के आधार पर अनुमान मानते हैं वह उचित नहो है। क्योंकि वृक्षत्व और शिशपात्व को काल्पनिक मानने पर भी उनमें जैसे भेद नहीं है, वैसे ही अभेद भी नहीं है। क्योकि फिर वस्तु की असिद्धता हो जायेगी। काल्पनिक अवास्तविक होने के कारण उसमें वस्तुत्व ही उपपन्न नहीं होगा। इसलिए कल्पना पर आधारित विकल्पों का तादात्म्य नहीं हो सकता और वस्तुओं में परस्पर तादात्म्य मानने पर द्रव्य पार्थिव वृक्ष शिशपा आदि को पर्याय वाचक शब्द मानना पड़ेगा।[2]

विकल्पों में सामानाधिकरण्य के आधार पर भी उनमें अभेद सिद्ध नहीं होता है। द्रव्यों में रहने वाली जातियाँ समानाधिकरण होने पर भी उनमें परस्पर अभेद नहीं है। जैसे घट में रहने वाले पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व का समानाधिकरण्य होने पर भी उनमें अभेद नहीं है। वस्तु विकल्पों में भी अभेद नहीं होता है। जैसे एक ही स्थान में रहने वाले सव्येतर सिङ्गों की तरह सामानधिकरण्य होने पर भी गम्यगमक-भाव नहीं होता है। इस प्रकार जहाँ पर तादात्म्य है वहाँ गम्यगमकभाव नहीं है और जहाँ गम्यगमकभाव नहीं है वहाँ तादात्म्य नही है।[3]

जो यह कहते हैं[3] कि "**वृक्षोऽयं शिशपात्वान्**" यहाँ पर शिशपा के व्यवहार को समझने वाले और वृक्ष व्यवहार को न समझने वाले व्यक्ति के लिए ऊंचे सीसम के वृक्ष के लिए वृक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार से वृक्ष शब्द से बड़े वृक्ष ही समझने वाले मूढ व्यक्ति के लिए शिशपात्व के द्वारा वृक्ष व्यवहार का ज्ञान कराया जाता है कि वह छोटे शिशपा वृक्षों को भी वृक्ष समझे। यह भी उचित नहीं है। किन्तु वहाँ यदि वृक्षत्व साध्य न होकर वृक्ष का व्यवहार साध्य है तो वह शिशपा से भिन्न है। इसलिए उसमें तादात्म्य नहीं है और यदि उनमें अभेद है तो गम्यगमक-भाव नहीं है। इसलिए तादात्म्य और तदुत्पत्ति के आधार पर ही व्याप्ति सिद्ध होती है, यह मत उचित नहीं है।

बौद्धों से व्याप्ति निश्चायकों का खण्डन करने के उपरान्त अब वैशेषिकों के

---

१. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

२. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

३. वही

तद् विषयक विचार का भी खण्डन किया जाता है। वैशेषिकों ने चार प्रकार के व्याप्तिग्राहक सम्बन्धों को माना है। कार्यकारण, संयोग, समवाय और विरोध। किन्तु वाचस्पति[1] का विचार है कि "अस्येदं कार्यकारणं" इस कणाद सूत्र में उक्त चार सम्बन्ध ही क्यों ? सभी प्रकार के सम्बन्धों का संग्रह सम्बन्धी पद से सम्भव है। केवल चार सम्बन्धों तक उसे सीमित करना सूत्रकार के लिए उचित नही था।

वाचस्पति[2] ने विरोधी अनुमान का भी खण्डन किया है। भूतकालीन वर्षा अनागत वायु और मेघ संयोग की विरोधी कैसे ? वह उसके अनुकूल ही है। उसी प्रकार अनागत वर्षा भी भूतकालीन वायु और मेघ संयोग की विरोधी नहीं है। व्याप्तिग्रह विषयक वैशेषिकों के विचारों का खण्डन करने के पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने सांख्यों के सप्तविधि सम्बन्धो का भी निराकरण किया है। किन्तु यह सप्त-विधि सम्बन्धों का उद्धरण साङ्ख्य के किस ग्रन्थ से लिया गया है, यह अज्ञात है क्योंकि उपलब्ध सांख्यकारिकाओं में यह कारिका कहीं नहीं है।[3]

वाचस्पति का विचार है, सम्बन्ध जो स्वाभाविक और नियत है, यह कोई भी हो सकता है। उसकी गणना व्यर्थ है। जिनमें नियत स्वाभाविक सम्बन्ध हैं उनमे गम्यगमक भाव है। इस प्रकार से स्वाभाविक अर्थात् उपाधिरहित सम्बन्ध ही व्याप्ति का आधार है।

उपाधि रहित सम्बन्ध को अनुमान का अङ्ग मानने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि किसी एक वस्तु का दूसरे के साथ बिना किसी कारण के स्वाभाविक सम्बन्ध हो सकता है तो सबका सबके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध क्यो नही होता और सभी से सभी का बोध क्यों नहीं होता। यही बात कार्य कारण के साथ भी है। सभी वस्तुयें सभी का कारण क्यों नहीं होती। उसका उत्तर यह है कि कुछ वस्तुएँ स्वभाव से ही किसी का कारण या कार्य होती हैं उसी प्रकार स्वभाव से ही किसी का किसी के साथ साहचर्य होता है, सबके साथ नहीं।

स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्रहण किस प्रमाण से होता है? इस विषय में आचार्य वाचस्पति[4] का कथन है कि भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार सहित इन्द्रिय ही

---

१. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

२. वही

३. मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः।
स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः साङ्ख्यानां सप्तधानुमा। न्या० वा० ता० टी० १-१-५

४. तस्मादभिजातमणितत्त्ववद् भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीनां वह्न्यादिभिःस्वाभाविक सम्बन्धमिति युक्तमुत्पश्यामः—
न्या० वा० ता० टी० १-१-५

धूम और अग्नि के मध्य स्वाभाविक सम्बन्धग्राही हैं। उसी प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाणों से जहाँ व्याप्तिग्रह होता है वहाँ भूयोदर्शन सहित अन्य अनुमान शब्दादि प्रमाण स्वाभाविक सम्बन्ध के परिचायक होते हैं।

बौद्धों के **"स श्यामो मित्रातनयत्वात्"** इस अनुमान के आधार पर किये गए आक्षेप के सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि वहां अन्नपान परिणतिभेद रूप उपाधि के रहने से साध्य और हेतु के बीच अनौपाधिक सम्बन्ध नहीं है।[1]

जयन्त मत

जयन्त[2] के अनुसार साहचर्य सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक पर आधारित है। जयन्त कहते हैं इनमें अविनाभाव किस बात से है—इसका उत्तर यही है कि इसके रहने पर यह रहता है, और इसके न रहने पर नहीं रहता है। धूम मात्र के साथ वह्नि व्याप्ति का ग्रहण अग्नित्व सामान्यपुरःसर होता है।

उदयन मत

आचार्य उदयन ने स्वाभाविक सम्बन्ध ग्राहक प्रमाण के प्रसङ्ग में **"स्वभाव"** तथा **"भूयोदर्शन"** दोनों को व्याप्तिग्राहक नहीं माना है। कोई किसी के साथ स्वभाव से व्यभिचरित है, कोई नहीं है, इसका कारण उनका स्वभाव-विशेष है। यह निर्णय कैसे किया जाय ? शतबार देखने पर भी व्याप्ति सम्भावना भङ्ग हो सकती है। जहां व्याप्तिभङ्ग आज नहीं दिखलाई पड़ता है वहां कल नहीं दिखलाई पड़ेगा इसका क्या आधार है ?[3]

उपाधि के आधार पर व्यभिचार और उपाधि-विरह के आधार पर अव्यभिचार **"व्याप्ति"** का ग्रहण होता है। इस मत का भी उदयन[4] निषेध करते हैं। उपाध्यभाव का निश्चय अशक्य है। व्यभिचार की अनुपलब्धि के आधार पर उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि सभी को अनुपलब्धि है, इसमें सन्देह है ? स्वयं को अनुपलब्धि वस्तु होते हुए भी कारणान्तर से सम्भव होने से स्वानु-

---

१. वही १-१-५

२. तस्मिन्सत्येव भवने न विनाभवनं ततः। अयमेवाविनाभावो नियमः सहचारिता॥ किंकृतो नियमः स्यात्तस्मिन्निति चेदेवमुत्तरम्—न्या. म. आ. १ प्रभा. प्र.।

३. स्वभावादेव कश्चित् किञ्चिद् व्यभिचरति कश्चिच्च नेति स्वभावविशेष इति चेत्-केन चिह्नेन पुनरसौ निर्णेये इति निपुणेन भावनीयम्। भूयोदर्शनस्य शतशः प्रवृत्तस्यापि भङ्गदर्शनात्। यत्र भङ्गो न दृश्यते तत् तथेति चेत् आपाततो न दृश्यते इति सर्वत्र कालक्रमेणापि न द्रक्ष्यते इति को नियन्तेति—न्या० कु० ३-६

४. न्या० कु० ३-७

पलब्धि रूप आधार दोषयुक्त है। अतः व्यभिचार की अनुपलब्धि के आधार पर व्याप्ति निर्णय सम्भव नहीं है। यदि किसी व्यक्ति को रासभ और धूम में व्यभिचार उपलब्ध न हो तो क्या उनमें व्याप्ति सिद्ध होती है ?

तादात्म्य और तदुत्पत्ति का भी आचार्य उदयन[1] निषेध करते हैं। तादात्म्य की सिद्धि शिंशपा के वृक्ष सामग्री कार्यत्वरूप विपक्ष में बाधक आधार पर होती है तथा तदुत्पत्ति साध्य और हेतु के बीच पौर्वापर्य के प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि के आधार पर होती है। यह बौद्ध मत ठीक नहीं है क्योंकि उभयविध अनुमान में अव्यभिचार का निर्णायक एक नहीं है। प्रत्येक में उभयविधि अनुमान की व्याप्तिग्राहकता असिद्ध होने से प्रत्येक को भी व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना जा सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कार्य कारण का व्यभिचारी क्यों नहीं, वृक्षात्मा शिंशपा वृक्ष का व्यभिचारी क्यों नहीं ? "धूम वह्नि का व्यभिचारी नहीं है क्योंकि वह्नि का कार्य है, "शिंशपा वृक्ष व्यभिचारी नहीं है क्योंकि वृक्ष से तादात्म्य है" इस अनुमान में जो व्यभिचार शङ्का है उसका निवारण किस प्रकार होगा ?

तर्क

उदयनाचार्य का मत है कि तर्क व्यभिचार शङ्का का निवारक होने से व्याप्ति ग्राहक है।[2] **"धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्"** अर्थात् धूम यदि अग्नि का व्यभिचारी होगा तो अग्नि से जन्य नहीं होगा "धूम अग्नि से जन्य है अतः वह अग्नि व्यभिचारी नहीं है। अर्थात् उसमें अग्नि व्याप्ति है।

आचार्य[3] विपक्षेच्छारहित साहचर्य ज्ञान को व्याप्तिग्राहक मानते हैं। उक्त तर्क वह्निजन्यत्वाभावरूप आपाद्यकोटिविषयक सोपाधिकत्व रूप अथवा शङ्काकर्ता के लिए अभिप्रेत आपादककोटि में अनिष्ट उत्पन्न करता है क्योंकि शङ्का कर्त्ता को धूम में वह्निजन्यत्व का अभाव अथवा उसका ज्ञान अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार व्यभिचार के ज्ञान में अनिष्ट साधनता का ज्ञान होने पर उसमें द्वेष बुद्धि उत्पन्न होती है उससे विपक्षेच्छा का निराकरण हो जाता है।

इस प्रकार तर्क से व्यभिचार शङ्का या उपाधि शङ्का का निराकरण होता है।

---

१. न्या० कु० ३-६

२. शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥ न्या० कु० ३-७

३. विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गगमनानुकूलोऽधितिष्ठति, अभिष्ठिताच्च कारणात् क्रियापरिनिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम्। न्या० कु० ३-७

इसे स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है कि तर्क भी अविनाभाव-सापेक्ष्य है, यदि अग्नि न हो तो धूम भी न हो यह तर्क वह्न्यभाव और धूमाभाव के अविनाभाव पर आधारित है। इस प्रकार अनवस्था होती है। इसके विषय में आचार्य उदयन[1] का मत है कि व्याघात शङ्का की अवधि है जहाँ स्वव्यापार-स्वोवित अथवा स्वप्रवृत्ति का व्याघात होता है, वहाँ शङ्का समाप्त हो जाती है। यह लोकव्यवस्था है। यदि वह्नि के विना धूम रहे तो धूम्रपान के इच्छुक को अग्नि को सामग्री इकट्ठी करने की प्रवृत्ति न हो। धूमार्थी की अग्नि की सामग्री में प्रवृत्ति देखते हुए धूम हो अग्नि न हो, यह आशङ्का निर्मूल हो जाती है।

जन्म-जनकभाव नहीं होता है, यह शङ्का नहीं की जा सकती। यदि जन्य जनकभाव ही न हो तो शङ्का से भी क्या उत्पन्न होगा। क्योंकि व्यभिचार शङ्का इच्छा द्वारा व्याप्तिज्ञान का विरोध करती है। यदि हेतुफलभाव न हो तो व्यभिचार शङ्का व्यर्थ हो जाती है। जैसे 'सर्वं मिथ्या' है। इस वाक्यान्तर्गत सर्व को मिथ्या और सत्य माने तो इस वाक्य से कोई बोध नहीं होगा। सर्व को मिथ्या मानने पर असामर्थ्य है सव को सत्य माने तो सर्वं मिथ्या यह कथन अनुचित होता है। इस प्रकार कार्य-कारणभाव सिद्धान्त न मानने पर व्यभिचार शङ्का भी व्यर्थ हो जाती है इसलिए कार्यकारणभावसिद्धान्त का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

तर्क के विषय में व्यभिचार की शङ्का उपस्थित नहीं की जा सकती। इसलिए आचार्य[1] उदयन का मत है कि विपक्ष में साध्य की जिज्ञासा निवर्तक तर्क सहित भूयोदर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है। इसलिए तर्कसहकृतभूयोदर्शन रहने पर कार्यकारण, संयोगी, समवायी उससे भिन्न भाव अथवा अभाव रूप विशेषण सहित या विशेषण रहित कोई भी हेतु हेतु है, अन्यथा हेत्वाभास है।[2]

तादात्म्य और तदुत्पत्ति स्थल में भी अविनाभाव का बीज तर्क ही है।[3] वह्नि का कार्य धूम और वृक्षात्मा शिंशपा, क्रमशः वह्नि और वृक्ष का व्यभिचारी क्यों नहीं है? इसका उत्तर यही है कि यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होगा तो उसका कार्य

१. शङ्काया व्याघातावधित्वात्—न्या० कु० ३-७

२. तदनेन विपक्षदण्डभूतेन तर्केण सनाथे भूयोदर्शने, कार्यं वा कारणं वा ततोन्यद्वा, समवायि वा संयोगि वाऽन्यथा वा भावोवाऽभावो वा सविशेषणं वा निर्विशेषणं वा लिङ्गमिति निश्शङ्कमवधारणीयम्। अन्यथा तदाभास इति रहस्यम्। न्या० कु० ३-७

३. तादात्म्यतदुत्पत्त्योरप्येतदेव बीजम्। यदि हि कार्यात्मानौ कारणमात्मानं चातिपतेताम्। न्या० कु० ३-७

नहीं होगा, यदि शिंशपा वृक्षत्व की व्यभिचारी होगी तो शिंशपावृक्ष नहीं होगी इस तर्क के आधार पर ही उनमें अव्यभिचारिता सिद्ध होती है।

इस प्रकार उपाध्यभाव के आधार पर अव्यभिचार का निश्चय होता है तथा उपाधि की शङ्का से उत्पन्न व्यभिचार की आशङ्का का निराकरण तर्क के द्वारा होता है।[1] इसलिए भूयोदर्शनजन्य संस्कार सहित इन्द्रिय को व्याप्ति का ग्राहक मानने में भी कोई आपत्ति नहीं रहती है।

पक्षधर्मता

व्याप्ति की तरह पक्षधर्मता भी अनुमान का अङ्ग है। यह बात पूर्व में कह चुके हैं। पक्षधर्मता और पक्षता दो पद तर्कशास्त्र में अनेक स्थलों में चर्चित हैं। इस सम्बन्ध में न्यायशास्त्र में विभिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध हैं।

वात्स्यायन

पक्षधर्मता के सम्बन्ध में वात्स्यायन भाष्य में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। **"तत्पूर्वक'** शब्द की व्याख्या के अवसर पर महर्षि ने 'तत्पद' से दो प्रत्यक्षों का ग्रहण किया है। एक लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध **"व्याप्ति"** का दर्शन तथा दूसरा लिङ्ग-दर्शन। यह लिङ्ग दर्शन ही पक्षधर्मता के ज्ञान का प्रतीक है। क्योंकि केवल मात्र लिङ्ग प्रत्यक्ष कहीं भी अनुमिति का जनक नहीं हो सकता है। हेतु का पक्ष में दर्शन अनुमिति में उपयोगी होता है। अतः लिङ्ग दर्शन का तात्पर्य पक्षवृत्ति हेतु का दर्शन है। इसलिए हेतु के पक्षवृतित्व को ही पक्षधर्मता कहा गया है।[2]

उद्योतकर मत

न्यायवार्तिक[3] में उद्योतकर ने तत्पूर्वक की व्याख्या **"ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य"** में दो प्रत्यक्षों में एक हेतु और साध्य के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को आद्य-प्रत्यक्ष और लिङ्ग दर्शन को द्वितीय प्रत्यक्ष कहा है। तथा अनुमान पद से पुनः होने वाले लिङ्ग प्रत्यक्ष अर्थात् परामर्श का ग्रहण किया है। इस प्रकार अनुमान पद में' परामर्श का ग्रहण करने पर तथा अनुमान के दो अङ्ग व्याप्ति और पक्षधर्मता को स्वीकार करने पर सम्बन्ध दर्शन व्याप्ति दर्शन के रूप में, तथा लिङ्ग दर्शन पक्ष-धर्मता ज्ञान के रूप में गृहीत होता है। यह द्वितीय लिङ्ग दर्शन पक्षता नहीं है। पक्षता का बोधक एक शब्द यहां प्रतीत होता है। वह है बुभुत्सा।[4] अर्थात् बोध

---

१. तर्कश्च सर्वशङ्कानिराकरणपटीयान् विजयत इति—न्या० परि० १-१-५

२ व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता—तर्कसंग्रह अनु० परि०

३. न्यायवार्तिक १-१-५

४. बुभुत्सावतो द्वितीयलिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्युत्तरकालं स्मृतिः, स्मृत्यनन्तरं च पुनः लिङ्गदर्शनमयं धूम इति—न्यायवार्तिक १-१-५

(अनुमिति) की इच्छा। नव्य नैय्यायिकों में अनुमित्सा को पक्षता मानने वाला एक सम्प्रदाय है। लगता है इसी सिद्धान्त का उस सम्प्रदाय ने विकास किया है।

वाचस्पति

पक्षधर्मता का स्पष्ट उल्लेख न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में भी नहीं है। किन्तु द्वितीय लिङ्ग दर्शन ही पक्षधर्मता है इसकी पुष्टि जरन्नैयायिक जयन्त[1] ने की है। साहचर्य नियम के ग्रहण होने पर जबतक धर्मी में धूमादि हेतु का ग्रहण नहीं होता है तब तक साध्य की अवगति नहीं होती है। इसलिए द्वितीय लिङ्ग दर्शन अपेक्षित है। वही पक्षधर्मता कहलाता है। लिङ्ग शब्द की व्याख्या के अवसर पर जयन्त ने लिङ्ग को पञ्चलक्षण युक्त कहा है जिसमें पक्षधर्मत्व भी एक लक्षण है, जिसके न रहने पर हेतु असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि चाक्षुष है इस अनुमान में शब्द में चाक्षुषता असिद्ध होने से पक्षधर्मता नहीं है।

कुछ[2] लोगों ने महर्षि गौतम के सूत्र में वर्णित त्रिविध पद का अर्थ पक्ष-धर्मत्वादि त्रिविध किया है। पूर्ववत् पद से पक्षवृत्तित्व, शेषवत् से सपक्षवृत्तित्व और सामान्यतोदृष्ट से विपक्षावृत्तित्व का ग्रहण होता है। यह मत जयन्त को मान्य नहीं है क्योंकि न्यायसिद्धान्त में हेतु को पञ्चलक्षणोपपन्न माना जाता है न कि त्रिरूपोपपन्न, इसलिए त्रिविध पद अनुमान के विभाग का ही प्रतिपादक है। पक्षधर्मता का बोध लिङ्ग दर्शन पद से ही होता है।

उदयन मत

आचार्य उदयन[3] के अनुसार व्याप्त की पक्षधर्मता की प्रतीति का बोध "सिद्धि" है तथा उसका अभाव असिद्धि है। व्याप्ति और पक्षधर्मता में से किसी के भी न रहने पर अन्यथासिद्धि, आश्रयासिद्धि और स्वरूपासिद्धि रूप हेत्वाभास होते हैं, इसलिए पक्षधर्मता को अनुमान का अङ्ग मानना अनिवार्य है।

ज्ञातव्य है जैन तार्किक[4] पक्षधर्मता को अनुमान का अङ्ग नहीं मानते।

१. गृहीते नियमे यावत्पुनः क्वचिद्धर्मिणि धूमादेर्लिङ्गस्य ग्रहणं न वृत्तं तावन्न भवति लिङ्गिनोऽवगतिरिति सम्बन्धग्रहणकालापेक्षया द्वितीयं तल्लिङ्गदर्शनमपेक्षितव्यम्, सैवेयं पक्षधर्मतोच्यते, न्या० म० आ० प्रमा० प्र०।

२. यस्य पक्षधर्मता नास्ति-असावसिद्धो हेत्वाभासः न्या० म० आ० १ प्रमा० प्र०।

३. तथा हि व्याप्तस्य हि पक्षधर्मताप्रतीतिः सिद्धिः। तदभावोऽसिद्धिः। इयं च व्याप्तिः पक्षधर्मतास्वरूपाणामन्यतमाप्रतीत्या भवन्ती यथासङ्ख्यमन्यथासिद्धिराश्रय सिद्धिः स्वरूपासिद्धिरित्याख्यायते—न्या० कु० ३-७

४. प्रमेयरत्नमाला, पृ० १४२

उनके विचार से केवल मात्र अविनाभाव अर्थात् अन्यथानुपपन्नत्व ही एकमात्र अनुमान का अंग है। जिसकी सिद्धि करने की इच्छा है उससे युक्त धर्मी अर्थात् आश्रय पक्ष कहलाता है। उसमें आश्रित होना ही पक्षधर्मता है ऐसा जरन्नैयायिक[1] का विचार है।

पक्षता

पक्षता स्वतन्त्ररूप से अनुमिति का कारण है "परामर्श" के अन्तर्गत नहीं है। सिद्ध साधन स्थल में व्याप्ति और पक्षधर्मता के रहने पर भी अनुमिति नहीं होती हैं। व्याप्ति और पक्षधर्मता के विद्यमान होने से वहां किसी हेत्वाभास की प्रसक्ति भी नहीं होती है। इसलिए पक्षता को अनुमिति का कारण मानना अनिवार्य है। इसके न रहने से सिद्धि साधन स्थल में भी अनुमिति नहीं होती है।

वार्तिक मत

वात्स्यायन भाष्य में अनुमानसूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में लिङ्ग दर्शन, और लिङ्ग लिङ्गी सम्बन्ध दर्शन दो का ही अनुमिति के कारण के रूप में उल्लेख है। न्यायवार्तिक[2] में लिखा है कि बुभुत्सावान् को द्वितीय दर्शन के पश्चात् व्याप्ति स्मृति और व्याप्ति स्मृति के पश्चात् तृतीय लिङ्ग दर्शन होकर अनुमिति होती है। इसमें बुभुत्सावान् यह शब्द बतलाता है कि बुभुत्सा भी अनुमिति का कारण है। क्योंकि सभी प्रकार की अनुमिति सामग्री के विद्यमान होने पर भी यदि साध्य सिद्धि है तो अनुमिति नहीं होती है। क्योंकि कहा गया है **नानुपलब्धे नानिर्णीते अर्थे न्यायः प्रवर्तते**। निर्णीत के विषय में क्योंकि **बुभुत्सा** नहीं रहती है इसलिए अनुमिति वहां नहीं होती है। अतः वहां बुभुत्सा ही पक्षता है।

वाचस्पति मत

वाचस्पति मिश्र[3] ने स्पष्ट रूप से बुभुत्सा को अनुमान ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण माना है। सिषाधयिषा[4] का भी उल्लेख न्यायवार्तिक-तात्पर्य टीका में मिलता है जिससे सिषाधयिषा रूप अनुमिति कारणता का प्रतिपादन होता है।

१. सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः तद्धर्मत्वं तदाश्रितता इत्यर्थः
न्या० म० आ० प्रमा० प्र०

२. न्यायवार्तिक १-१-५

३. बुभुत्साप्यनुमानज्ञानोत्पत्तौ कारणमिति दर्शयितुं बुभुत्सावत इत्युक्तम्।
न्या० वा० ता० टी० १-१५

४. पार्थिवानामप्यणूनामनित्यत्वेन सिषाधयिषितत्वात्— पृ० १७३
+द्रष्टव्य पृ० ८७

उदयन मत

आचार्य उदयन[1] पक्षता को अनुमिति का कारण मानते हैं तथा पक्षता रूप कारण के न रहने पर पक्षत्वासिद्धि हेत्वाभास होता है। पक्षता सिषाधयिषा या वुभुत्सा है। सिद्धि रहने पर साध्य विषयिणी जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। सर्वत्र विषय की पूर्ति होने से इच्छा का विनाश देखा गया है। इसलिए जहाँ सिद्धि रहेगी वहां सिषाधयिषा का विनाश हो जाने से अनुमति नहीं होगी। किन्तु बुभुत्सा, साक्षात् ज्ञान का कारण नहीं है, अपितु ज्ञान सामग्री सम्पादक के रूप में ज्ञान का कारण होती है।[2] कारण कि ज्ञान, क्रिया के समान पुरुषाधीन नहीं है, अपितु वह वस्तु के अधीन तथा सामग्री पर आधारित है। इच्छाभाव मात्र से वस्तु को ज्ञान की अनुत्पत्ति नहीं होती है। यदि ज्ञान की सामग्री विद्यमान है तो इच्छा के न रहने पर भी ज्ञान होता है। इसलिए सिद्धि अनुमिति की प्रतिबन्धक नहीं है। अपितु इच्छा की बिनाशक है। इसलिए बुभुत्सा रूप पक्षता अनुमिति विशेष का परम्परया कारण है।

परामर्श

अनुमिति के लिए परामर्श की कारणता का विचार हमें न्यायवार्तिक में उपलब्ध होता है। भाष्यकार ने हेतु और साध्य की स्मृति तथा लिङ्गदर्शन को ही अनुमिति का कारण माना है। भाष्यचन्द्रटीकाकार रघूत्तम का विचार है कि 'स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन' का तात्पर्य है कि स्मृति से उत्पन्न लिङ्ग परामर्श व्यापार से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान किया जाता है।

वार्तिककार[3] ने अनुमिति की प्रक्रिया को उद्घाटित करते हुए कहा है कि अनुमति के इच्छुक को द्वितीय लिङ्ग दर्शन से संस्काराभिव्यक्ति के पश्चात् लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति के पश्चात् पुनः लिङ्ग

---

१. तद्विशेषणपक्षत्वाप्रतीत्या वेति द्वयी। तत्र चरमा, सिद्धसाधनमिति व्यपदिश्यते व्याप्तिस्थितौ पक्षत्वस्याहत्य विघटनात्—न्या० कु० ३-७

२. तस्माद् बुभुत्सादीन्द्रियान्तराद्याकृष्य बुभुत्सार्थग्राहिणीन्द्रिये मनो निवेशयन्ती-उपयुज्यते नतु स्वरूपतः न्या० कु० ३-१

३. बुभुत्सावतो द्वितीयलिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्युतरकालं स्मृतिः। स्मृत्यन्तरं च पुनः लिङ्गदर्शनमयं धूम इति। तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपानुमानं भवति। "चौखम्बा" न्या० वा० १-१-५

का दर्शन होता है। यह अन्तिम लिङ्ग प्रत्यक्ष ही प्रथम तथा द्वितीय प्रत्यक्ष एवं स्मृति के पश्चात् होने वाला परामर्श रूप अनुमान है। अनुमिति की प्रक्रिया में इस हेतु परामर्श का तृतीय स्थान होने से इसे तृतीय ज्ञान भी कहते हैं।

यह तृतीय प्रत्यक्ष अनुमान, इस रूप में है कि अनुमान शब्द "अनुमीयतेऽनेन इति" इस विग्रह से कारणार्थक है और उसका फल अग्निविषयक प्रतिपत्ति है। वार्तिककार[1] का विचार है, यद्यपि हेतु दर्शन, व्याप्तिस्मृति आदि सभी अनुमिति के जनक होने से अनुमान हैं तथापि प्रधान और गौण की दृष्टि से विचार करने पर लिङ्ग परामश ही अनुमान है। क्योंकि इसके पश्चात् ही अभीष्टार्थ की सिद्धि होती है।

परामर्श को स्वीकार करने पर ही पञ्चावयवान्तर्गत उपनय की उपयोगिता सिद्ध होती है यदि व्याप्ति स्मृति से उत्पन्न लिङ्गपरामर्श को अनुमान माना जाय तभी उपनय का प्रयोजन सिद्ध होता है। पञ्चावयव जो परार्थानुमान में उपयोगी होते हैं उनमें से प्रत्येक अनुमान के किसी न किसी अङ्ग का प्रतिपादन करते हैं जैसे हेतुवाक्य हेतु का, उदाहरण वाक्य व्याप्ति का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार उपनय वाक्य लिङ्गपरामर्श का प्रतिपादक होता है। लिङ्ग-परामर्श को अस्वीकार करने पर उपादेयता भी समाप्त हो जाती है।

वाचस्पति

परामर्श की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए टीकाकार[2] वाचस्पति कहते हैं कि द्वितीय लिङ्ग दर्शन व्याप्ति स्मरण के समय में विनश्यद् अवस्था में भी नहीं रहता है। क्योंकि व्याप्ति स्मरण के पूर्व व्याप्ति के संस्कारोद्बोध के समय उसी में उत्पन्न संस्कार में व्याप्ति स्मरण के समय इनका विनाश हो जाता है। इसलिए अनुमिति की उत्पत्ति के लिए दोनों के द्वारा उत्पन्न तृतीय परामर्श को मानना अनिवार्य है। अन्यथा द्वितीय लिङ्ग दर्शन के नष्ट हो जाने से पक्षधर्मता समाप्त हो जाती है।

जयन्त मत

जयन्त तृतीय लिङ्ग परामर्श को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनके विचार

---

१. वयं तु पश्यामः। सर्वमनुमानमनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात्। प्रधानोपसर्जनताविवक्षायां लिङ्गपरामर्श इति न्याय्यम्॥ वही १-१-५

२. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

३. तस्माद्यथोचितात्लिङ्गाद्यथोक्तनियमस्मृतेः।
यथोक्तलिङ्गिविज्ञानमनुमानमिति स्थितम्॥ न्या० मं० आ० प्रमा० प्र०

से ज्ञात लिङ्ग अथवा व्याप्ति स्मरण से युक्त पञ्चरूपोपपन्न "**पक्षसत्त्वादि**" लिङ्ग का ज्ञान ही अनुमिति का कारण है। इस प्रकार से व्याप्ति स्मरण उसके पश्चात् द्वितीय लिङ्ग दर्शन और उसके अनन्तर अनुमिति यह प्रक्रिया उन्हें मान्य है। उन्होंने कहा है कि परामर्शज्ञान कुछ लोग मानते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि उन्हें परामर्श ज्ञान की कारणता स्वीकार नहीं है। अतः उनके मत में द्वितीय लिङ्ग दर्शन ही प्रमाण है।[1]

जयन्त[2] के विचार से परामर्श को स्वीकार किये बिना भी उपनय की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। दृष्टान्त में गृहीत व्याप्ति का हेतु ही साध्य का अनुमापक होता है। यद्यपि पक्षधर्मवचन अर्थात् हेतु वचन से पक्ष के साथ हेतु का सम्बन्ध मात्र बोधित होता है तो भी दृष्टान्त में गृहीत व्याप्ति वाला हेतु है या नहीं यह आशंका बनी रहती है। उसका निराकरण उपनय के द्वारा ही होता है, इसलिए उपनय की उपयोगिता स्पष्ट है।

उदयन मत

उपनय का उपयोग पक्षधर्मता का प्रकाशन करने के लिए परार्थानुमान में है, स्वार्थानुमान में पक्षधर्मता द्वितीय लिङ्ग दर्शन द्वारा प्रस्तुत की जाती है। ऐसी अवस्था में परामर्श निरर्थक है। इस आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य उदयन[3]

---

१. अत्र हि प्रथमं लिङ्गदर्शनं ततः प्रतिबन्धस्मरणं ततः केषाञ्चिन्मते परामर्शज्ञानं ततः साध्यार्थप्रतीतिस्ततः प्रत्यक्षलक्षणावसरवर्णितेन क्रमेण हेयादिज्ञानमिति। न्या० म० आ० प्रमा०

२. येषामपि मते परामर्शज्ञानं नास्ति तैरप्युपनयवचनमवश्यमेवापरिहार्यमनुमेयप्रतिपत्तये। दृष्टान्ते दर्शितशक्तिरेव हेतुः प्रभवति नान्यथेत्यतो यद्यपि पक्षधर्मवचनेन तस्मिन्नर्धर्मिणि तथाविधो हेतुः स्यान्नवेत्यसिद्धशङ्का उपनयवचनमन्तरेण न भवत्येवेत्यवश्यं प्रयोक्तव्यं तदिति। न्या० म० १४२ आ० १ प्र०

३. पक्षधर्मता हि व्याप्त्या सहप्रतिसंहितानुमानोपयोगिनी तादृशी चोपनयनेन प्रदर्श्यते, न तु द्वितीयलिङ्गदर्शनेन। तस्य तु व्याप्त्यनुसन्धरहितं पक्षधर्मतामात्रमेव गोचरः। न च तदनुमानोपयोगि। तस्मादुपनयार्थो न द्वितीयलिङ्गदर्शनविषयः। ततः स्वार्थानुमाने यद्यस्ति तस्योपयोगः नूनं परामर्शोऽपि तृतीयः स्वीकर्तव्यः। नास्ति चेत् परार्थानुमानेऽपि लिङ्गपरामर्शकार्यः उपनयोऽपि नादरणीयः। न्या० परि० १-१-५

कहते हैं कि व्याप्ति के साथ सम्बद्ध पक्षधर्मता का प्रदर्शन उपनय के द्वारा किया जाता है। लिङ्गप्रदर्शन द्वारा इस प्रकार की पक्षधर्मता का प्रदर्शन सम्भव नहीं है। द्वितीय लिङ्ग दर्शन का विषय व्याप्त्यनुसन्धान रहित पक्षधर्मता मात्र है। और इस प्रकार की पक्षधर्मता का अनुमान में कोई उपयोग नहीं है। व्याप्ति से रहित केवल धूम का पर्वत में अस्तित्व किसी भी प्रकार से अनुमान का सहायक नहीं होता है। इसलिए उपनयार्थ द्वितीय लिङ्ग दर्शन का विषय नहीं है। इसलिए यदि स्वार्थानुमान में उसका उपयोग है तो परामर्श को भी स्वीकार करना चाहिए और नहीं है तो परार्थानुमान में भी उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार से जहां परामर्श नहीं है वहां उपनय भी नहीं है। यदि उपनय आवश्यक है तो परामर्श भी आवश्यक है क्योंकि दोनों का विषय समान है।

ज्ञातव्य है कि भट्ट मीमांसक परामर्श को अनुमिति का स्वतन्त्र कारण नहीं मानते। उनके मत में दो ही ज्ञानों से अर्थात् हेतु और साध्य के सम्बन्ध के ज्ञान तथा हेतु दर्शन से ही अनुमिति होती है। इसी कारण से पञ्चावयववाक्य न मानकर प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन इन्हीं वाक्यों को अवयव मानते हैं।[१]

अनुमान के भेद

गौतम

महर्षि गौतम[२] ने अनुमान के तीन भेद स्वीकार किए है। पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतोदृष्ट। महर्षि के पूर्व इस प्रकार का अनुमान का वर्गीकरण हमें प्राप्त नहीं होता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने इन प्रकारों की दो प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे अनुमान होता है कि वात्स्यायन भाष्य के पूर्व इन अनुमानों की एक अन्य व्याख्या की गई थी जिसका वर्णन "**अथवा**" के द्वारा वात्स्यायन[३] ने किया है अथवा यह भी सम्भव है कि इसके परम्परागत अर्थ का लोप हो गया हो और उसके वास्तविक अर्थ के विकास में सन्देह हो जैसा कि डा० विद्याभूषण[४] ने डा० जैकोबी के मत को उद्धृत किया है—डा० जैकोबी का कथन है कि आचार्य वात्स्यायन को

१. भारतीय दर्शन—डा० उमेशमिश्र पृ० २५५

२. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च न्या० सू० १-१-५

३. वात्स्यायन भाष्य १-१-५

४. स्टडी आफ इण्डियन लॉजिक, ११६

सम्भवतः अनुमान के पूर्ववत् आदि भेदों के स्वरूप का ज्ञान नहीं था। इस अभिप्राय का अनुमान इस बात से किया है कि पूर्ववत् आदि के जो अर्थ वात्स्यायन ने किये है वे परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। इसमें मैं उन विद्वानों से सहमत हूँ जो यह मानते है कि वात्स्यायन और गौतम के पूर्व भी न्यायशास्त्र था। अथवा सम्भव है कि यह वात्स्यायन की अपनी ही सूझ हो। ब्रज नारायण[1] शर्मा ने "**वत्**" के दो अर्थ "**सदृश**" और "**आधार**" मानकर एक सदृश के आधार पर पूर्ववत् अर्थ किया है तथा दूसरा अधिकरण के आधार पर। किन्तु आचार्य के बचाव में दिया गया यह तर्क भी विशेष युक्तियुक्त नहीं लगता—जैसे पूर्ववत् का अर्थ है, पूर्व में गृहीत व्याप्ति वाले, अर्थात् महानस के सदृश पर्वत में अग्नि की अनुमिति होती है। इसलिए यह पूर्ववत् अनुमान है। यह उचित नहीं है। कारण सर्वत्र ही सपक्ष के सदृश में अनुमिति होती है। इसलिए शेषवत् आदि भी पूर्ववत् हो जायेंगे।

वात्स्यायन

महर्षि वात्स्यायन[2] के अनुसार पूर्ववत् वह अनुमान है, जहां कारण के द्वारा कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे मेघों की उन्नति के दर्शन से भविष्यत्कालीन वृष्टि का अनुमान होता है। शेषवत् वह अनुमान है, जहां कार्य के कारण का अनुमान होता है, जैसे पूर्व जल से भिन्न प्रकार का जल अर्थात् मटमैला तथा नदी की पूर्णता और प्रवाह की तीव्रगति से भूतकालीन वृष्टि का अनुमान होता है। उसी प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, जैसे सूर्य की गति का अनुमान क्योंकि एक स्थान पर देखी गई वस्तु का अन्यत्र दर्शन गति के आधार पर होता है। सूर्य का प्रभात काल में देखे गए स्थान से भिन्न स्थान में दर्शन होता है अतः सूर्य भी गतिमान् है यह निष्कर्ष निकलता है।

दूसरे प्रकार से भी भाष्यकार[3] ने उक्त अनुमानों की व्याख्या प्रस्तुत की है। जहां यथापूर्व प्रत्यक्षीभूत दो वस्तुओं में से किसी एक के दर्शन से अप्रत्यक्ष दूसरी वस्तु का अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। जैसे धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान, धूम और अग्निसहचरित के रूप में महानस में अनेक बार देखे गए हैं इसलिए उनमें से एक "धूम" के दर्शन से अग्नि का अनुमान होता है।

"शेष" का अर्थ भाष्यकार[4] ने परिशेष किया है। सम्भावितों का प्रतिषेध किये जाने पर अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर जो बच जाये उसे शेष कहते हैं।

---

१. भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ०
२. वात्स्यायन भाष्य, १-१-५
३. वही
४. वही

परिशेषानुमान को ही भाष्यकार ने शेषवद् अनुमान कहा है। जैसे सद् वस्तु नित्य होती है, इसलिए वह सामान्य विशेष समवाय के अन्तर्गत नहीं हो सकती। शब्द सद् है, इसलिए वह द्रव्यगुणकर्म में से किसी के अन्तर्गत हो सकता है। इस सन्देह के उपस्थित होने पर वह द्रव्य नहीं है, क्योंकि वह एक ही द्रव्य में रहता है। वह कर्म नहीं है, क्योंकि शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करता है जब कि कर्म किसी दूसरे कर्म को उत्पन्न नहीं करता है। क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है। इस प्रकार शब्द में गुणत्व सिद्ध करना शेष रहता है। इसलिए शब्द में गुणत्व की सिद्धि शेषवद् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट[1] वह अनुमान का प्रकार है जहां हेतु और साध्य का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रहता है, किसी अन्य वस्तु के साथ हेतु के साध्य के आधार पर अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान होता है। जैसे इच्छा के आधार पर अप्रत्यक्ष आत्मा का अनुमान होता है। क्योंकि इच्छा ज्ञान आदि गुण है, और गुण द्रव्याश्रित होता है इसलिए इच्छा आदि जिस पर आश्रित है, वह आत्मा है यहां पर इच्छा का द्रव्याश्रितत्व मात्र ही सामान्यतोदृष्टानुमान से सिद्ध होता है। आत्मा की सिद्धि परिशेषानुमान से होती है।

जहां तक कार्य से कारण का अनुमान है अथवा कारण से कार्य के अनुमान का प्रश्न है—उसे वैशेषिक, सांख्य आदि दार्शनिक भी स्वीकार करते है। किन्तु सामान्यतोदृष्टानुमान के विषय में विप्रतिपत्ति है। क्योंकि यहां भी कार्य से ही अनुमान होता है। "**अथवा**" विकल्प से जो व्याख्या प्रस्तुत की गई हैं क्या वह भाष्यकार की अपनी स्वतन्त्र व्याख्या है। इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार क्या है ? प्रत्यक्ष भूत का अर्थ सहचरित के रूप में प्रत्यक्ष भूत माना जाय तो अन्यतर में से धूम के दर्शन से ही क्यों वह्नि का अनुमान होता है, वह्नि के दर्शन से धूम का अनुमान क्यों नहीं होता ? उसी प्रकार परिशेषानुमान कई अनुमानों की शृंखला का निष्कर्ष है। वह कोई एक अनुमान नहीं है।

सामान्यतोदृष्ट की भी दूसरी व्याख्या सदोष है क्योंकि जब लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है अर्थात् पूर्व प्रतिपादित आधार प्रत्यक्ष रूप कारण ही नहीं हैं तो अनुमान कैसे हो सकता है ? यदि होता है तो लिङ्गलिङ्गी सम्बन्धदर्शन की कारणता का भी परित्याग करना पड़ेगा। सूत्र में प्रतिपादित पूर्ववत्, शेषवत् आदि सभी शब्द पारिभाषिक हैं। विभिन्न ग्रन्थों में इनकी विभिन्न व्याख्यायें हैं। भाष्यकार ने भी दो प्रकार से व्याख्या की है।

---

१. सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यात् प्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते। वा० भा० १-१-५

उद्योतकर

वार्तिककार[1] ने त्रिविध पद की व्याख्या भिन्न प्रकार से भी प्रस्तुत की है उन्होंने अनुमान के तीन प्रकार व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी, अन्वयी बतलाये हैं। यह उनका वर्गीकरण सूत्रनिर्दिष्ट प्रकारों से भी भिन्न है। इस वर्गीकरण का आधार हेतु के स्वरूप की भिन्नता है। कुछ हेतु पक्ष में रहकर तथा विपक्ष में न रहकर साध्य के अनुमापक होते हैं, कुछ पक्ष में रहते हैं किन्तु उनके लिए विपक्ष नहीं होता। कुछ हेतु सपक्ष में रहते हुए विपक्ष के न रहने वाले होते हैं। इस प्रकार के अनुमापक हेतुओं के स्वभाव वैचित्र्य के आधार पर वार्तिककार ने सूत्र से हटकर अनुमानों का वर्गीकरण किया।

अन्वयव्यतिरेक की व्याख्या करते हुए भाष्य-वार्तिककार[2] कहते हैं जो हेतु विवक्षित तथा तज्जातीय अर्थात् पक्ष और सपक्ष में रहता है और विपक्ष में नहीं रहता वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि सामान्य और विशेषवान् होते हुए हमारे बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष का विषय है। जैसे घर। इस अनुमान में हेतु पक्ष शब्द तथा सपक्ष घर में अविद्यमान है।

अन्वयी अनुमान[3] वह है—जिसमें हेतु विवक्षित जातीय अर्थात् सपक्ष में रहते हुए विपक्ष से रहित होता है—जैसे सर्वानित्यत्ववादियों के लिए शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। यथा घर। इसके लिए विपक्ष नहीं है। क्योंकि सभी वस्तुयें अनित्य हैं।

व्यतिरेकी वह अनुमान[4] है जिसमें विवक्षित में हेतु विद्यमान हो तथा सपक्ष न होते हुए विपक्ष में वृत्ति न हो। जैसे यह शरीर निरात्मक नहीं है क्योंकि

---

१. त्रिविधमिति। अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति।

न्या० वा० १-१-१

२. विबक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् धटवदिति

न्या० वा० १-१-५

३. अन्वयी—विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विवक्षितो यथा सर्वानित्यत्ववादिनामनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति।

वही—१-१-५

४. व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकम् अप्राणानिमितत्वप्रसङ्गात् इति।

वही—१-१-५।

प्राणादि से युक्त है। इस अनुमान में सपक्ष नहीं है तथा हेतु विपक्ष अचेतन वस्तुओं में भी नहीं है।

अपने स्वतन्त्र वर्गीकरण के अतिरिक्त सूत्रकारोक्त अनुमानों की भी भाष्य से भिन्न व्याख्या वार्तिककार[1] ने प्रस्तुत की है। पूर्व अर्थात् साध्य वह जिसकी व्याप्ति से हो वह पूर्ववत् अनुमान है। उसी प्रकार साध्य का सजातीय शेष है, वह जिसका हो वह शेषवदनुमान है। पूर्ववत् का अर्थ है साध्यव्यापक, शेषवद् का अर्थ है, जो साध्य के सदृश में हो। च शब्द से प्रत्यक्ष और आगम के साथ विरोध न रखने वाले हेतु का संग्रह करना चाहिए।

वार्तिककार[2] ने कारण से कार्यानुमान का प्रयोग इस प्रकार दिखलाया है **वृष्टिमन्तः इमे मेघाः गम्भीरध्वानकत्वे सति बहुलबलाकावत्वे सति अचिरप्रवाहत्वे च सति उन्नतत्वात् तदन्यवृष्टिमन्मेघवदिति।**

शेषवद्[3]—अनुमान का कारण है **उपरिवृष्टिसम्भवदेशसम्बन्धिनी नदी शीघ्रतर-स्रोतस्त्वे सति फलकाष्ठादिवहनवत्त्वे च सति पूर्णत्वात् तदन्यवृष्टिमत्पूर्णनदीवत् इति।**

सामान्यतोदृष्ट की व्याख्या[4] तथा उसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह भाष्य से भिन्न है। इनके विचार से सामान्यतोदृष्ट अनुमान वह है जहाँ कार्यकारण-भाव के विना अविनाभाव सम्बन्ध वाले हेतु के द्वारा साध्य का अनुमान होता है। जैसे बलाका के द्वारा सलिल का अनुमान। बलाका नामक पक्षी विशेष जिस स्थान को नहीं छोड़ता है वह स्थान सलिल पूर्ण होता है। इसलिए बलाका के द्वारा सलिल का अनुमान सामान्यतोदृष्टानुमान है।

वार्तिककार[5] ने आदित्य की गति के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट मानने वाले भाष्यकार का विरोध किया है। आदित्य की गति का अनुमापक कोई हेतु नहीं हो सकता। उसके साथ किसी की व्याप्ति न होने से अनुमान नहीं हो सकता है।

---

१. न्यायवार्तिक १-१-५
२. वही
३. वही
४. वही
५. सामान्यतोदृष्टोदाहरणं भाष्यकारीयं दुरवबोधं शेषवदुदाहरणान्तर्गतं च। अत्रापि कार्येण सवितुर्देशान्तरप्राप्त्या तत्कारणस्य व्रज्याया अनुमानात्। न चैतावता अनुमानस्य त्रैविध्यं भवति। उदाहरणमात्रस्यानन्त्ये सानन्त्य-प्रसङ्गात्। न्या० वा० ता० टी० १-१-५

इसलिए यहां देशान्तर प्राप्ति का अनुमान करके उसके द्वारा पुनः गति का अनुमान करना पड़ेगा। इसलिए यह उदाहरण साक्षात् सूर्य की गति के अनुमान का नहीं है, देशान्तरप्राप्ति हेतु अप्रत्यक्ष है।

"**त्रिविध**" अनुमान के विषय में दो अन्य मत भी वार्तिककार ने प्रदर्शित किये हैं। "**त्रिविध**" यह अनुमान के वर्गीकरण के लिए न होकर हेतु के वर्गीकरण के लिए है। तीन प्रकार के हेतु हैं, प्रसिद्ध, अर्थात् पक्षवृत्ति। सद् अर्थात् सपक्षवृत्ति असन्दिग्ध अर्थात् सजातीयाविनाभावी। दूसरा मत है त्रिविध नियमार्थ है। अर्थात् अनेक प्रकार के अनुमानों का पूर्ववादादि में संग्रह करने के लिए त्रिविध पद है।

वार्तिककार[1] का विचार है कि अनुमानों के अनन्त भेद हैं। जैसे—अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान के दो भेद हैं—सपक्ष में वृत्ति और सपक्ष में वृत्ति अवृत्ति। उसी प्रकार अन्वयी भी दो प्रकार का है और व्यतिरेकी एक ही प्रकार का है—क्योंकि इसमें सपक्ष नहीं होता। इस प्रकार पांच प्रकार का अनुमान है। उसका फिर काल के आधार पर वर्गीकरण करें तो तीन कालों के आधार पर इनके पन्द्रह भेद होते हैं। फिर पुरुष भेद के आधार पर ६० भेद होते हैं। पुरुष चार प्रकार के होते हैं प्रतिपन्न, अप्रतिपन्न, सन्दिग्ध और विपर्यस्त प्रत्येक के पन्द्रह के हिसाब से साठ प्रकार के अनुमान होते हैं। फिर उसके अवान्तर अनेक भेद हैं। इस प्रकार से अनन्त संख्या बाले अनुमानों को उक्त तीन में संग्रह किया है। इसलिए त्रिविध नियमार्थ है।

भाष्यकार द्वारा व्याख्यात सामान्यतोदृष्ट की वार्तिककार ने तीव्र आलोचना की है। भाष्यकार ने कहा है कि जहां लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष हो। वार्तिककार[3] पूछते हैं कि अप्रत्यक्ष से भाष्यकार का क्या तात्पर्य है? सम्बन्ध अप्रत्यक्ष कब रहता है? जब अनुमिति की जाती है तब अप्रत्यक्ष है यह सभी मानते हैं। अनुमिति के पूर्व यदि हेतु और साध्य का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है तो अनुमान ही नहीं हो सकता, इसलिए इतरधर्म के दर्शन से धर्मि-बोध का जो साधन है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है—जैसे इच्छादिकों के द्वारा आत्मा का अनुमान। यहां पर अनुमान का आकार है, **परतन्त्रा इच्छादयः गुणत्वादरूपवदिति**। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से केवल परतन्त्रता इच्छादिकों की सिद्धि होती है। आत्मपरतन्त्रता परिशेषानुमान से ज्ञात होती है।

---

१. न्या० वा० ता० टी० १-१-५
२. वही १-१-५
३. वही १-१-५
४. न्यायवार्तिक १-१-५

वाचस्पति

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका के अनुसार भाष्यकार द्वारा व्याख्यान सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण समझ के परे है। वह उदाहरण शेषबद् अनुमान के उदाहरणान्तर्गत ही है। यहां भी सूर्य की देशान्तर में दर्शन रूप कार्य के आधार पर उसके कारण गति का अनुमान करते हैं। इस प्रकार केवल उदाहरण के वैचित्र्य के आधार पर अनुमान के त्रैविध्य का प्रतिपादन अनुचित है। उदाहरण के भेद से अनन्त अनुमान बन सकते हैं। टीकाकार ने सामान्यतोदृष्ट की व्याख्या इस प्रकार की है। '**सामान्येन**' अर्थात् अविनाभावि हेतु से लक्षित "**दृष्टधर्मिरूपानुमान**" सामान्यतोदृष्टानुमान है।[2]

टीकाकार[3] ने हेतु के पञ्चलक्षणों के आधार पर त्रिविध अनुमानों की व्याख्या का प्रयास किया है ':अबाधित विषय असत्प्रतिपक्षत्व और इनको सभी के साथ जोडकर शेषवत् पूर्ववत् प्रथम, सामान्यतोदृष्ट द्वितीय तथा शेषवत् सामान्यतोदृष्ट तृतीय इस प्रकार अनुमान में तीन प्रकार कहे हैं—इनमें से चतुर्लक्षण से युक्त दो तथा एक पञ्चलक्षण युक्त है।

कार्य से कारण अनुमान के रूप में विकल्प से पूर्ववत् का अर्थ जो भाष्यकार ने किया है उसके विषय में—वाचस्पति मिश्र[4] का वक्तव्य है कि कारणमात्र कार्योत्पत्ति का अव्यभिचारी नहीं है। जो कारण कार्य का व्यभिचारी नहीं है उसको निपुणता से समझना आवश्यक है। रस से रूप के अनुमान के स्थल में कारण से कार्यानुमान का निषेध किया जा चुका है। किन्तु ऐसा स्थल हो सकता है, जहां कार्य और कारण में अव्यभिचार होता है जैसे जहां अन्तिम तन्तु के संयोग से पट उत्पन्न होता है वहाँ भी कारण से कार्य का अनुमान किया जा सकता है। जैसा प्रथम क्षण में उद्बुद्ध संस्कार से व्याप्तिस्मरणवशात् तन्तुओं में पटोत्पादन क्रिया का परामर्श होता है उसके पश्चात् क्रिया से विभाग और विभाग से उत्तर संयोग का नाश और उसी क्षण में परामर्श के कारण "**अवश्यम्भावि पटविशिष्टेयं क्रिया**" इस प्रकार का

---

१. सामान्यतोदृष्टोदाहरणं भाष्यकारीयं दुरवबोधं शेषवदुदाहरणान्तर्गतं च। अत्रापि कार्येण सवितुर्देशान्तरप्राप्त्या तत्कारणस्य व्रज्जाया अनुमानात्। नचैतावता अनुमानस्य त्रैविध्यं भवति। उदाहरणमात्रस्यानन्त्येनानन्त्यप्रसङ्गात्।

न्या० वा० ता० टी० १-१-५

२. वही

३. वही

४. वही

अनुमान उत्पन्न होता है। उसी प्रकार बधिर व्यक्ति को मृदङ्ग पर हाथ पड़ने से उससे उत्पन्न शब्द का अनुमान होता है वह अनुमान पूर्ववत् अनुमान है।

शेषवत् का उदाहरण जो भाष्यकार ने प्रस्तुत किया है उसके विषय में टीकाकार वाचस्पति[1] असहमत हैं। द्रव्यत्व और कर्मत्व का शब्द में निराकरण होने से उन दोनों से भिन्न गुणत्व शेष रहता है, वह जिस अनुमान का प्रतिपाद्य है, वह शेषवत् अनुमान कहा गया है यह उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि व्यतिरेकी अनुमान का ही नामान्तर परिशेष है। और यह अनुमान व्यतिरेकी न होकर अन्वय व्यतिरेकी है। **द्रव्यकर्मान्तत्वे सति सत्वं** सपक्ष रूप आदि में है और विपक्ष सामान्य आदि पदार्थों में नहीं है इसलिए इच्छा आदि गुणों को आत्माश्रित सिद्ध करने वाला उदाहरण परिशेषानुमान का उदाहरण है, यही ठीक है।

जयन्त

वार्तिककार के इस मत का कि सूत्रस्थ त्रिविध पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतोदृष्ट का अर्थ क्रमशः पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्व जयन्त[2] ने खण्डन कर दिया है। जयन्त का कथन है कि त्रिरूपता हेतु का लक्षण नहीं है अपितु पञ्चरूपोपन्नता ही हेतु का लक्षण है। इसलिए पूर्ववत् आदि शब्द लिङ्ग के स्वरूपों के द्योतक हैं, उचित नहीं है।

उदयन

पूर्ववदनुमान के अनेक उदाहरण परिशुद्धिकार[3] ने दिये हैं जिनके आधार पर पूर्ववत् के स्वरूप को समझना सुलभ हो जाता है जैसे मनोज्ञकामिनी के दर्शन से सांसारिक पुरुष में कामना का अनुमान, शत्रु के दर्शन से क्रोध का अनुमान, विषय के भोग से सुख का अनुमान, रोग से दुख का अनुमान आदि।

परिशुद्धिकार[4] ने पूर्ववदनुमान की परिभाषा इस प्रकार की है "व्याप्ति ग्राहकप्रमाणयोग्यो धर्मो यत्रानुमीयते तत् पूर्ववदनुमानं तद्योग्यस्तु **यत्र तत् सामान्यतोदृष्टम्**" अर्थात् व्याप्ति ग्राहक प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने योग्य धर्म जहां अनुमित होता है, वह पूर्ववद् अनुमान है। जैसे वह्नि व्याप्ति ग्राहक प्रमाण प्रत्यक्ष के

---

१. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

२. त्रिरूपञ्च पञ्चलक्षणमिह शास्त्रे अभ्युपगम्यते इति निरूपिते तस्मिन् वर्ण्यमाने कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयोः प्रसङ्गो न व्यावर्तत इति तस्मात् तत्पूर्वकपदमेव लक्षणप्रतिपादनार्थमनवद्यम्। न्या० म० १ प्रमा०

३. न्या० परि० १-१-५

४. वही १-१-५

द्वारा जाना जा सकना है। इसलिए धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान पूर्ववदनुमान है। एवं जो धर्म व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण द्वारा नहीं जाना जा सकता उसका अनुमान सामान्यतोदृष्टानुमान है। जैसे सूर्य की गति को व्याप्तिग्राहक प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। इसलिए सूर्य की गति का अनुमान सामान्यतोदृष्टानुमान है।

पूर्ववत् की व्याख्या कारण से कार्य के अनुमान के रूप में भाष्यादि में कही गई है उसके सम्बन्ध में कई आक्षेप किये जाते हैं :

१. कारण के द्वारा कार्य का अनुमान सम्भव नहीं है। कार्य को पक्ष नहीं बनाया जा सकता। यदि कार्य सिद्ध है तो अनुमान व्यर्थ है। यदि असिद्ध है तो आकाश कुसुम के समान होने से पक्ष नहीं हो सकता। कारण के अस्तित्व से कार्य के अस्तित्व का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि साध्य और हेतु एकाश्रित नहीं हैं। इसके विषय में जयन्त[1] का विचार है कि **मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टि में पूर्वोक्त** कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पयोधरों को ही शीघ्र होने वाली वृष्टि से युक्त के रूप में विशिष्ट उन्नति रूप धर्म के आधार से सिद्ध किया जाता है। उसी प्रकार 'अग्निमान्' एवं इस स्थल में बहुल पाण्डुल पाण्डुला आदि धर्म के आधार पर धूम में अग्निमत्ता का अनु-मान किया जाता है, धूम से अग्नि का अनुमान नहीं।

कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहा गया है। वहां भी कार्य से कारण का अनुमान नहीं है यहां वैय्याधिकरण्यादि दोष होते हैं, नदी की पूर्णता से जो वृष्टि का अनुमान है वह वृष्टि से युक्त उपरिदेशस्थित नदीधर्म का नदीधर्मविशिष्ट पूरणता के आधार पर होने वाला अनुमान है। इस अनुमान का आकार इस प्रकार है "वृष्टि वाले पिछले भाग से सम्बन्धित यह नदी है।" क्योंकि फेनिल कलुषता आदि से युक्त बाढ़ वाली है। जैसे पूर्व में उपलब्ध इस प्रकार की नदी। इसलिए यह मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि कार्य से कारण का अनुमान मात्र कथन है। वस्तुतः यहां धर्म का धर्मवत्त्व के द्वारा धर्मवान् के रूप में अनुमान होता है।[2]

सामान्यतोदृष्ट की व्याख्या करते हुए आचार्य जयन्तभट्ट[3] कहते हैं कि कार्य और कारण से भिन्न हेतु के द्वारा कार्य अथवा कारण से भिन्न साध्य का अनुमान ही सामान्यतोदृष्टानुमान है। जैसे कपित्थादि फल में उसके रूप के आधार पर रस का अनुमान होता है। रूप और रस में परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है। भाष्यकार के

---

१. न्या० म० प्रमा० प्र० आ० १

२. वही १

३. वही १

सूर्य की गति के अनुमान को जयन्त[1] ने भी शेषवत् अनुमान ही कहा है।

अनुमान के इन तीन भेदों का आधार क्या है? जबकि व्याप्तिज्ञानपूर्वकत्व तीनों में समान है। आर पूर्ववत् यहां पूर्वपद से हेतु और साध्य के सम्बन्ध का ग्रहण करने पर सभी अनुमान पूर्ववत् हैं। ऐसी परिस्थिति में वर्गीकरण के लिए इनके बीच कोई प्रकारान्तर वैशिष्ट्य होना चाहिए। जिसके आधार पर इनको एक दूसरे से पृथक् किया जा सके। जिस धूम और अग्नि को पहले प्रत्यक्ष किया है, उसी धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं। इसलिए यह पूर्ववत् अनुमान अर्थात् प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान है, सामान्यतोदृष्टानुमान में अनुमेय नित्य परोक्ष होता है जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का अनुमान शब्द में गुणत्व साधक अनुमान। परिशेषानुमान में साध्य की परोक्षता अनिवार्य नहीं है। तृणादि इन्धन के निषेध होने पर गोमय इन्धन वाले अग्नि के अनुमान में अग्नि परोक्ष नहीं है।

सम्भव के निषेध के आधार पर निश्चित साध्य का बोधक अनुमान परिशेषानुमान है अर्थात् शेषवत् अनुमान कहलाता है, इस प्रकार के अनुमेयादि विषयक विभिन्नता के आधार पर अनुमान का वर्गीकरण किया जाता है।

जो लोग अदृष्टस्वलक्षणक्रियाविषयकानुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं उनका मत उचित नहीं है। क्रिया परोक्षवस्तु नहीं है, देवदत्त चल रहा है, यज्ञदत्त गिर रहा है इस प्रकार क्रिया का प्रत्यक्ष ही होता है। इसलिए क्रिया नित्यपरोक्ष न होने से क्रिया-विषयक अनुमान सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण नहीं है।[2]

अनुमान का वर्गीकरण

स्वार्थ एवं परार्थ

उपर्युक्त विवेचित नैयायिकों के समकालीन दार्शनिकों ने अनुमान का वर्गीकरण भिन्न प्रकार से किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग[3] ने अनुमान के दो ही भेद स्वार्थानुमान और परार्थानुमान किये हैं। अनुमान का यह वर्गीकरण वात्स्यायन-

---

१. देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वात्कार्येण कारणानुमानं शेषवदेवेदं स्यात्।
न्या० मं० प्रमा० प्र० आ० १

२. तदिदमनुपपन्नम्, परिस्पन्दरूपस्योत्क्षेपणादिभेदवतः कर्मणः चलत्यादिप्रतीतौ प्रकाशमानत्वेन प्रत्यक्षत्वाद् न तस्य नित्यानुमेयत्वम्
न्या० म० प्रा० प्र० आ० १

३. अनुमानं द्विधा स्वार्थंनिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्, परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम—प्रमाणसमुच्चय—२-१

भाष्य तथा वार्तिक में नहीं मिलता है, किन्तु उदयन[1] और जयन्त[2] के ग्रन्थों में स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का उल्लेख उपनय की आवश्यकता के प्रसङ्ग में प्राप्त होता है। आगे चलकर नव्य नैयायिकों ने भी अनुमान के ये भेद स्वीकार किये हैं, और उसी प्रसङ्ग में पञ्चावयवों की उपयोगिता परार्थानुमान में स्वीकार की है। अवयवों की परिभाषा में वार्तिककार[3] ने "**परप्रतिपादिका**" यह शब्द रखा है इसके आधार पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि अवयवों का उपयोग दूसरे को बोध कराने में ही है।

जयन्त मत

आचार्य जयन्त[4] का विचार है कि वस्तुतः परार्थानुमान नामक कोई वस्तु नहीं है, किन्तु दो प्रकार के अनुमानकर्ता हैं—एक जो स्वयं व्याप्त्यादि का निश्चय रखता है और दूसरा वह जिसे स्वतः व्याप्त्यादि का निश्चय नहीं हुआ है। जो स्वयं व्याप्त्यादि का ज्ञान रखता है उसके लिए परार्थानुमान का उपदेश नहीं होता है। जिसे स्वतः व्याप्त्यादि का निश्चय नहीं है उसे व्याप्ति का निश्चय कराया है। उसके लिए परार्थानुमान और उसके प्रतिपादक वाक्य की व्याख्या की जाती है। वक्ता का अभिप्राय यह नहीं होता कि मेरे वचनों से उसे बोध हो, वह अनुमान से उसे अनुमेय का बोध कराना चाहता है। श्रोता व्याप्ति विशिष्ट हेतु के द्वारा स्वयं अनुमेय का ज्ञान नहीं कर सकता है, इसलिए उसे बोध कराने का साधन होने से परार्थानुमान है। अतः श्रोता का भी अनुमान स्वार्थानुमान ही है। वक्ता दूसरे के प्रति उसका प्रतिपादन करता है। इसलिए उसे परार्थानुमान कहा है।

वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित अनुमान भेद निराकरण

वैशेषिकों ने व्याप्ति नियामक सम्बन्धों के आधार पर अनमान के पाँच भेद स्वीकार किये हैं। कार्य-हेतुक और कारण-हेतुक संयोगी, विरोधी और समवायी। कार्य-हेतुक और कारण-हेतुक अनुमान वे ही हैं जो पूर्ववत् और शेषवत् अनुमान के रूप में नैयायिकों ने स्वीकार किये हैं। संयोगी अनुमान का उदाहरण है। **जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिकत्वात्** तथा बिरोधी अनुमान—फुफकारने वाले सर्प को देखकर झाड़ी में छिपे हुए सर्प के विरोधी नेवल का अनुमान। इसमें विद्यमान नेवला ही विद्यमान

---

१. न्या० परि० १-१-५

२. तस्मात्परार्थानुमानं वाक्योपपत्तेस्तदेकदेशा अवयवा युक्ता इति लक्ष्यते न्या० म० पृ० १३१

३. परप्रतिपादितवाक्ये वाक्याङ्गभूता इतरेतराप्रत्यायितेनार्थेनार्थवन्तो वाक्यांशतामुपयान्ति तेऽवयवाः—१-१-३२

४. न्या०म० आ० प्र० १

विरोधी सर्प का अनुमापक होता है। उसी प्रकार **आकाशं परिमाणवत् व्याप्यत्वात्** इस अनुमान में समवायी हेतु है।

आचार्य बाचस्पति[1] वैशेषिकों के चार प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित अनुमानों के वर्गीकरण को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सम्बन्धी पद से ही सभी चारों सम्बन्धों पर आश्रित अनुमान का ग्रहण हो सकता है। कणाद के सूत्र में उच्चरित अन्य सभी पद व्यर्थ हैं। सम्बन्धी पद के कारण होने वाली अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए इनका समावेश सूत्र में किया गया है यह बात नहीं कह सकते क्योंकि फिर सम्बन्धी पद की कुछ आवश्यकता नहीं रह जाती। उसीसे सम्बन्धी भेदों का ग्रहण हो जाता है। दूसरी बात यह है कि वैशेषिक चार ही प्रकार के सम्बन्धों को अनुमान का अङ्ग मानते हैं। इसलिए ये चार सम्बन्ध तो उपलक्षण मात्र हैं। इसलिए सम्बन्धी पद सम्बन्धी मात्र का अभिप्रायक है। चार प्रकार के सम्बन्ध को अनुमानाङ्ग मानने पर अव्याप्ति होती है।

विरोधी अनुमान के उदाहरणों का भी आचार्य वाचस्पति[2] विरोध करते हैं। भूतकालीन वर्षा अभूत वायु और मेघों के संयोग की विरोधी नहीं है। बल्कि उसके अनुकूल ही है। उसी प्रकार अभूत वर्षा भी भूत वायु और मेघ के संयोग के अप्रतिकूल ही होती है। उसी प्रकार भूत नकुलविषय, भूत सर्प-पराजय का विरोधी नहीं है—जिनमें वास्तविक विरोध होना है वे एक दूसरे के अनुमापक कभी नहीं हो सकते वल्कि प्रतिक्षेपक ही होते हैं।[3]

सांख्यमतखण्डन

आचार्य वाचस्पति[4] मिश्र ने सांख्यों के सम्बन्धों पर आधारित सात प्रकार के अनुमानों का भी निषेध किया है। वे सात अनुमान हैं मात्राहेतुक, निमित्तहेतुक, संयोगि-हेतुक, विरोधि-हेतुक, सहचारिहेतुक स्वस्वामिभाव तथा **वध्यघातकभवहेतुक**।[5] मात्राहेतुक अनुमान की व्याख्या कहीं उपलब्ध नहीं है। ऐसा लगता है कि मात्रा का अर्थ परिमाण होने से मात्राहेतुक अनुमान इस प्रकार बन सकता है **इयं खारी**

---

१. अत्रेदं कार्यं कारणं संयोगि-विरोधि-समवायि चेतिलैङ्गिकम्—वै०सू०सू०४८५

२. अत्रापि 'सम्बन्धी' पदेनैव सर्वोपसंग्रहात् शेषाभिधानम्।

न्या० वा० ता० टी० १-१-५

३. अपिच भूतं वर्षमभूतस्य···प्रतिक्षेपकमेव।

न्या० वा० ता० टी० १-१-५

४. वही

५. मात्रानिमित्तसंयोगिसहचारिभिः स्वस्वामिछोंगाद्यैः साङ्ख्यानां सप्तधानुमा। वही १-१-५

द्रोणवती, तद्घटितत्वात्" अथवा "**शतं पञ्चाशत तद्घटितत्वात्**" खारी कहने पर **द्रोण** परिमाण का समावेश हो जाता है। यत्र **यत्र खारीत्वं तत्र द्रोणादिपरिमाणघटितत्वं जहां** खारीत्व है वहां द्रोणादि है। इसी प्रकार जहां शत है वहां पचास है। इस प्रकार की व्याप्ति होने से शत की मात्रा पचास की बोधक होती है। इसलिए यह **मात्राहेतुक** अनुमान **है**।

निमित्त, संयोगों, तथा विरोधी हेतुक अनुमान वैशेषिकों के समान ही है— सहचारी अनुमान है रूपसे रस का अनुमान। **अयं धनी चैत्रत्वात्** इस अनुमान में **धन** का और चैत्र का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होने से यह अनुमान स्वस्वामिभाव **सम्बन्धी** हेतुकानुमान कहा जायेगा।[1] किसी वन में सिंह को देखने से उसमें उसके **खाद्य पशुओं** का जो अनुमान होता है, सिंह और उसके खाद्य पशुओं में बध्यघातकभाव होने **से यह** अनुमान वध्यघातकभाव सम्बन्धी अनुमान है। प्राचीन अप्राप्य साङ्ख्य **ग्रन्थ में ये** अनुमान के भेद वर्णित किये गये हैं।[2] वर्तमान उपलब्ध साङ्ख्य के सर्व प्राचीन **ग्रन्थ** साङ्ख्यकारिका में तो **त्रिविधम् अनुमानमाख्यातम्** कहा गया है। वे तीन **भेद** व्यास सूत्र में प्रतिपादित पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट ही हैं। इनका **वर्गीकरण** साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीकार[3] ने व्याप्ति के आधार पर वीत और अवीत किया है। व्याप्तियां अन्वय और व्यतिरेक भेद से दो प्रकार की होने से उन पर आधारित अनुमान दो प्रकार के होते हैं। अन्वय-व्याप्ति पर आधारित अनुमान वीत कहलाता है। तथा व्यतिरेक-व्याप्ति पर आधारित अनुमान अवीत कहलाता है। पहला अनुमान विधायक कहलाता है तथा दूसरा निषेधक। इनमें पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट अन्वय व्याप्ति पर आधारित हे तथा परिशेषानुमान अर्थात् शेषवत् व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित है।

---

१. तिब्बती उच्चशिक्षासंस्थान में मार्च १९७६ में आयोजित एक सेमिनार में श्री जम्पाथेग छोंग नामक तिब्बती विद्वान् द्वारा पढे गये एक निबन्ध में सांख्यों के सप्तविध सम्बन्धों की व्याख्या इस प्रकार की गई है :—

१. देवदत्त और अश्वधन—धनपति सम्बन्ध है।
२. गीली मिट्टी और घट-स्वभाव-विकार सम्बन्ध है।
३. कुम्भकार और घट—कार्यकारण सम्बन्ध है।
४. बीज एवं अङ्कुर—हेतुपरिणाम सम्बन्ध है।
५. वृक्ष और डाली—अङ्गअङ्गि सम्बन्ध है।
६. काक और उलूक—शत्रुमित्र सम्बन्ध है।

२. उद्धरण १५वीं सदी के एक तिब्बती लेखक के ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है।

३. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी अनु० प्र०।

आचार्य वाचस्पति[१] का विचार है कि ये जो विभिन्न सम्बन्धों पर आधारित अनुमान हैं इनका अन्तर्भाव एक ही सहचारी हेतुक में हो जाता है। इन विभिन्न सम्बन्धों का प्रतिपाद्य सहचार रूप अविनाभाव होने से एक मात्र सहचारी हेतुक अनुमान से ही गतार्थ है। सम्बन्ध चाहे जो हो जिसके साथ जिसका स्वाभाविक और नियत सम्बन्ध है वह गमक है।

जैन तार्किक अकलंक ने नैयायिकों के पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेद की तीव्र आलोचना की है—"**अस्ति आत्मा प्रमाणतः उपलब्धेः**" "**खरविषाणं नास्ति अनुपलब्धः**" आदि अनुमान ऐसे हैं जिनका अन्तर्भाव उक्त तीन प्रकारों में नहीं होता है तथा वैशेषिक और सांख्यों के द्वारा प्रस्तुत पञ्चविध और सप्तविध अनुमानों में भी वे नहीं आते हैं। उपलब्धि और अनुपलब्धि आत्मा आदि के कार्य या कारण आदि नहीं हैं। इसलिए जैन परम्परा में अनुमान के दो भेद आचार्य सिद्धसेन ने स्वीकार किये हैं स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान।[२]

अनुमान के स्वार्थ तथा परार्थ भेद को प्रशस्तपाद[३] ने भी स्वीकार किया है। स्वनिश्चितार्थ विषयक अनुमान को स्वार्थानुमान तथा स्वयं के द्वारा निश्चित अर्थ को संशयित, अव्युत्पन्न तथा भ्रमग्रस्त व्यक्ति को पञ्चावयव वाक्यों का उपयोग करके जो अनुमिति का बोध करवाया जाता है वह परार्थानुमान है। अनुमान के इन भेदों को आगे चलकर प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। मीमांसा तथा वेदान्त[४] ग्रन्थों में स्पष्टरूप से ही इनका प्रतिपादन है। साङ्ख्यकारिका की टीकाओं[५] में यद्यपि स्पष्ट इनका उल्लेख नहीं है किन्तु अवयव निर्वचन के आधार पर ऐसा लगता है कि इन्हें भी अनुमान के उक्त भेद स्वीकार हैं।

चरक संहिता[६] में अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं जिनको उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है—जैसे धूम द्वारा अग्नि का अनुमान, गर्भ दर्शन से मैथुन का अनुमान तथा बीजों से फल उत्पादन का अनुमान।

---

१. इनका प्रतिपादक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः न्यायशास्त्र हेतु विषयक बृहद् चर्चा के आगे सांख्यों की हेतुचर्चा न रुक सकी और कालान्तर में उपेक्षा के कारण यह ग्रन्थ नष्ट हो गये।

२. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थमानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥ न्या० वा० का० १०

३. प्रशस्तपादभाष्य—लौकिक ज्ञान प्र० १

४. वेदान्तपरिभाषा अनु०

५. युक्तिदीपिका अनु० प्र०

६. चरकसंहिता पृ०

अनुमान के अवयव

परार्थानुमान के विवेचन के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है कि परार्थानुमान पञ्चावयव वाक्यों पर आधारित होता है यद्यपि न्यायसूत्र में अनुमान के इन भेदों का उल्लेख सूत्रकार[1] ने किया है। न्यायावयवों की "अनुमान" आवश्यकता को व्यक्त करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि साधनीय अर्थ अर्थात् साध्य धर्म से युक्त धर्मी की अथवा साध्य धर्मी से विशिष्ट साध्य की सिद्धि जिस शब्दसमूह में निष्पन्न होती है, उन्हें वाक्यावयव कहा जाता है। वाक्यसमूह की इकाई होने के कारण उन्हें अवयव "अंश" कहा जाता है।[2] इस व्याख्या के आधार पर प्रतीत होता है कि पञ्चावयवों का उपयोग संशयित, विपर्यस्त आदि का बोध कराने की इच्छा से किया जाता है। शब्द का उपयोग होने पर भी यह शाब्दबोध नहीं है, यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इन न्यायावयवों के आधार पर वाद, जल्प और वितण्डा का प्रवर्तन होता है। इस भाष्यकार[3] के कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिवादी अथवा मध्यस्थ को अपना मन्तव्य समझाने के लिये इनका उपयोग आवश्यक है। स्वबोध में इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तत्त्वबोध के लिए इसका उपयोग न होकर तत्त्व-स्थापना में इसका उपयोग है।

पञ्चावयवों को वात्स्यायन[4] ने परम न्याय कहा है, विप्रतिपन्न पुरुष प्रतिपादकत्व ही उसका परमत्व है। पञ्चावयव वाक्यों में प्रमाणों का सम्मिलन होने से तथा यह वाक्यों पर आधारित प्रमाणों का सम्मिलन भ्रमग्रस्त पुरुष के लिए तत्त्व का प्रतिपादक होने से तत्त्व व्यवस्था का आधार माना जाता है। स्वतन्त्ररूप से एक एक प्रमाण विप्रतिपन्न पुरुष प्रतिपादक नहीं है। वाचस्पति का विचार है कि लोक व्यवहार में स्वतन्त्ररूप से प्रत्यक्षादि प्रमाण विप्रतिपन्न पुरुष के लिए प्रतिपादक होते हैं, परन्तु वेद प्रामाण्य, तथा आत्मादि का प्रतिपादन न्यायशास्त्र में वर्णित पञ्चावयव वाक्यों के विना नहीं हो सकता है। इसलिए पञ्चावयवों का वर्णन किया गया है।

आचार्य जयन्त के अनुसार स्वयं अनुमान से गृहीत अर्थ को दूसरों के प्रति प्रतिपादन के लिए जितने शब्द-समूह में अर्थ का निश्चय होता है उस शब्द-समूह को परार्थानुमान कहते हैं। शब्द समूह के अर्थात् वाक्यों पर आधारित होने से ही पञ्चावयव वाक्यों को अनुमान का अवयव अर्थात् एक अंश कहा जाता है।

---

१. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमन्यायावयवाः। न्या० सू० १-१.३२
२. साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। वा० भा० १-१-१
३. एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते नातोऽन्यथेति। वही १-१-१
४. सोऽयं परमो न्याय इति। वा० भा० १-१-१

पञ्चावयवों का सामान्य लक्षण

महर्षि गौतम ने सूत्र में अवयवों का विभाग मात्र किया है, उसका सामान्य लक्षण नहीं बतलाया है। तथापि सूत्रस्थ अवयव शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इसे लक्षणबोधक माना जा सकता है। अवयव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है। "**अत्र साध्यस्य अवधारणाय युवन्ति मिश्रीभवन्ति भूयन्ते मिश्रीक्रियन्ते वा इत्यवयवा:**"[1] यु धातु मिश्रण और अमिश्रण का वाचक माना जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो वाक्य साध्य के निश्चय के लिए मिल जाते हैं अथवा जिनको मिलाकर साध्य की सिद्धि की जाती है उसे अवयव कहते हैं।[2]

वात्स्यायन ने तत्त्वार्थसाधक वाक्यों के भाग एकदेश को अवयव कहा है इसी के आधार पर जिज्ञासादि को अवयव मानने का निषेध किया है।

वार्तिककार[3] ने अवयवों की स्पष्ट परिभाषा उपस्थित की है। उनके अनुसार दूसरों को बोध कराने वाले वाक्य के अङ्ग जो परस्पर अपेक्षित सम्बन्ध योग्य अर्थ का बोध कराने वाले होते हैं, अवयव कहा है। वाक्यार्थ को पांचों अवयव मिलकर उपस्थित करते हैं, इसलिए ये वाक्यार्थ प्रतिपादक अंश हैं। अतएव यहां अवयव शब्द से अङ्ग का ग्रहण कर वाक्यांशों का ग्रहण किया गया है।

आचार्य जयन्त[4] ने भी साधनीय अर्थ के बोधक वचन-समूह के एक अंश को अवयव कहा है। उनके अनुसार प्रमाण सूत्र के समान ही एक ही सूत्र में विभाग और लक्षण महर्षि ने प्रतिपादित किये हैं।

अवयवों का विभाग

महर्षि गौतम ने पाँच प्रकार के अवयवों—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन को सूत्रित किया है। वात्स्यायन[5] ने दशावयव मानने वाले नैयायिकों का

---

१. साधकवाक्यैकदेश इति—वा० भा० १-१-३२

२. इह हि स्वयमवगतमर्थमनुमानेन परस्मै प्रतिपादयता साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तावान्प्रयोक्तव्यः, तमेव च परार्थानुमानमाचक्षते नीतिविदः। न्या० म० प्रमे० अव०

३. परप्रतिपादका ये वाक्याङ्गभूता इतरेतरा प्रत्यायितेनार्थेनार्थवन्तो वाक्याङ्गतामुपयान्ति तेऽवयवा:। न्या० वा० १-१-३२

४. साधनीयार्थप्रतिपत्ति पर्यन्तबचनकलापैकदेशत्वमवयवानां सामान्यलक्षणमाचष्टे। न्या० म० प्रमेय० अव० ५०२

५. दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते। जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं, संशयव्युदास इति। वा० भा० १-१-३२

उल्लेख करके दशावयवों का खण्डन किया है। इन उपस्थित होता है कि वात्स्यायन के पूर्व ये नैयायिक कौन थे? विद्याभूषण[1] का अनुमान है कि वात्स्यायन ने सम्भवत: जैन तार्किक भद्रबाहु का उल्लेख किय है। जिसने **दशवैकालिक निरुक्ति** में दस अवयव स्वीकार किये हैं, अनुमान है कि भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का समकालीन था जिसका समय ईसा ३७५ माना जाता है। परन्तु इस विषय पर दशावयव सम्पादक कौन नैयायिक थे, विद्वानों का मतभेद है।

वात्स्यायन द्वारा उद्धृत दशावयव हैं—पूर्वोक्त वाक्य तथा जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति:; प्रयोजन और संशयव्युदास। ये पाँच अवयव प्रकरण अर्थात् कथाप्रवृत्ति में अवधारणीय अंश के उपयोगी हैं, जिज्ञासा आदि से ही कथा की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। कथा के उत्थापक होने से वे जिज्ञासादि, कथा के अंग हैं। इसलिए जिज्ञासा आदि प्रकरण के अंग हो सकते हैं। किन्तु जैसे प्रतिज्ञा आदि अवयव अपने ज्ञान से स्वार्थ का प्रतिपादन करते हुए न्यायाङ्ग बनते हैं वैसे जिज्ञासादि नहीं हैं। इसलिए जिज्ञासादि प्रकरण के उत्थापक मात्र हैं अवयव नहीं।[2]

प्रतिज्ञा

सूत्रकार ने साध्यनिर्देश को प्रतिज्ञा कहा है। केवल **साध्यनिर्देश** यह लक्षण अव्यापक होने से भाष्यकार[3] को उसका भाष्य करना पड़ता था। प्रज्ञापनीय धर्म अर्थात् साध्य से युक्त धर्मी अर्थात् पक्ष की स्वीकृति का प्रतिपादक वचन प्रतिज्ञा है। जैसे—**शब्द अनित्य है।**

वात्स्यायन

भाष्य के आश्रय को वार्तिककार[4] ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। प्रज्ञापनीय धर्म विशिष्ट धर्मी साध्य है। उसका निर्देश अर्थात् परिग्रह वचन प्रतिज्ञा है। अन्यथा साध्य निर्देश प्रतिज्ञा में समान हेतु और दृष्टान्त में भी होने से उनमें अति प्रसंग होगा।

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक

२. जिज्ञासादय: उत्पत्तिमात्रेण न्यायप्रवृत्तेरङ्गम्। न तु ज्ञप्तिमपेक्ष्यन्ते। अतो नैषां ज्ञापकचिन्ता क्रियते। प्रतिज्ञादयस्तु ज्ञाता एव न्यायमुपकुर्वन्त: फलसिद्धावुपयुज्यन्ते। उद्योत पृ० १४०— चौ० सं० १९२५

३. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा। वा० भा० पृ० १-१-३३

४. तत्र प्रज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मी साध्य: तस्य निर्देश: प्रतिज्ञापरिग्रह-वचनम्। न्या० वा० १-१-३३

उद्योतकर

वार्तिककार[1] ने वाद विधि में वर्णित वसुबन्धु के प्रतिज्ञा लक्षण का खण्डन किया है। वसुबन्धु ने "साध्याभिधान" प्रतिज्ञा का लक्षण किया है। वार्तिककार का कथन है कि दो प्रकार के दोष के कारण यह प्रतिज्ञा का लक्षण उचित नहीं है। यदि पूर्वगृहीत पक्ष को लक्ष्य करके साध्याभिधानं प्रतिज्ञा यह लक्षण करते हैं तो साध्य ग्रहण व्यर्थ है। पूर्व प्रकृत यहां का तत् शब्द से ग्रहण होना चाहिए। यदि पूर्वगृहीत पक्ष को लक्ष्य न कर स्वतंत्र रूप से लक्षण करते हैं तो नैयायिक के "साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा" इस लक्षण में जो दोष है वही दोष वसुबन्धु के लक्षण में भी है। इस विषय में बौद्ध यह नहीं कह सकते कि आपके मत में जो परिहार है वही मेरे मत में भी होगा क्योंकि नैयायिक को "साध्यनिर्देश:" यह मात्र लक्षण स्वीकार नहीं है, बौद्ध का स्वीकार है।

वाचस्पति

वाचस्पति[2] का विचार है कि प्रतिज्ञा लक्षणस्थ साध्य पद से सिषाधयिषित कर्म विशिष्ट धर्मी अभिप्रेत है। पञ्चावयव साक्षाद्रूप से उसका बोध कराने में असमर्थ है। सिषाधयिषित धर्म विशिष्ट धर्मी ही अवयवों का प्रधान विषय है। प्रधान ही प्रथम बुद्धि का विषय होता है। इसलिए साध्य शब्द से उसी का ग्रहण होने से अप्रधान हेतु और दृष्टान्त प्रधान साध्य के रूप में मान्य नहीं है।

प्रतिज्ञा की आवश्यकता को व्यक्त करते हुए आचार्य जयन्त[3] कहते है कि स्वबोध कराने के लिए स्वबोध का विषय धर्मी को दूसरे को बतलाना आवश्यक है। अन्यथा उच्चारण के बिना हेतु कहां साध्य की सिद्धि करेगा ? केवल धर्मी का वचन भी निरर्थक है। धर्मी पर जिसकी सिद्धि करने के लिए हेतु का प्रयोग करना है उसके प्रतिपादन के बिना हेतु किसकी सिद्धि करेगा ? इस शका के निराकरण के लिए साध्य धर्म का निर्देश भी आवश्यक है। केवल "शब्द" कहने मात्र से उसके लिए हेतु की आकांक्षा नहीं होती है। इसलिए साधन वचन के अवसर तथा उसके प्रयोग की सफलता के लिए अनित्यः शब्दः इस प्रतिज्ञा वचन का प्रयोग करना आवश्यक है।

---

१. न्या० वा० १-१-३३

२. न्या० वा० ता० टी० पृ० १-१-३३

३. उच्यते स्वप्रतिपत्तिमनुसरता परस्य प्रतिपत्तिरुत्पादनीयेति धर्ममात्रेऽनुमान-मनर्थकमविवादसिद्धत्वात्। न्या० म० अव० प्र०।

दूसरी बात यह है कि प्रतिज्ञा ही पक्ष कहलाती है।[1] इस प्रकार की प्रतिज्ञा के लक्षण से पक्षाभासादि दोषों का निराकरण हो जाता है।

यद्यपि न्याय मत में पक्षाभास तथा दृष्टान्ताभास आदि पक्ष के तथा दृष्टान्त के दोष नहीं माने गये हैं, हेतुदोषों के रूप में ही उनको स्वीकार किया गया है तथापि पूर्वोक्त प्रतिज्ञा को अनुमानावयव न मानने पर उक्त हेतु दोषों की प्रसक्ति हो सकती है। इनके परिहार के लिए प्रतिज्ञा का उपयोग आवश्यक है।

हेतु

प्रतिज्ञा के पश्चात् दूसरा अवयव है हेतु। हेतु का लक्षण महर्षि ने दो सूत्रों में प्रस्तुत किया है। इसके आधार पर पता चलता है कि महर्षि हेतु के दो भेद अन्वयी और व्यतिरेकी मानते हैं। अन्वयी हेतु का लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उदाहरण के सादृश्य के साध्य का साधन हेतु है जो धर्म दृष्टांत में रहता है उसी प्रकार से पक्ष में भी रहता है तो उनमें साधर्म्य बनता है।

अवयव वाक्य होने से साधन शब्द हेतु वस्तु का वाचक न होकर प्रज्ञापन का वाचक होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार[2] ने लिखा है कि उदाहरण की समानता के आधार पर साध्य धर्म का प्रज्ञापन करने वाला हेतु होता है। पक्ष में हुए धर्म को उदाहरण में भी देखकर दूसरों के प्रति साध्य के बोध के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला वचन हेतु कहलाता है। यह हेतु का लक्षण अन्वयी हेतु का प्रतिपादक है। जैसे शब्दो नित्यः इसकी सिद्धि के लिए "**उत्पत्तिधर्मकत्वात्**" अनित्यघटादि उत्पत्ति धर्मक देखे गये हैं उसी के सादृश्य के शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व सिद्ध होता है।

व्यतिरेकी हेतु

दूसरा हेतु का लक्षण **तथा वैधर्म्यात्** इस सूत्र से उपस्थित किया गया है। जिसका तात्पर्य है उदाहरण की विभिन्नता के आधार पर साध्य का प्रज्ञापन करने वाला भी हेतु होता है।[3] यही हेतु व्यतिरेकी हेतु होता है, जैसे इसी उदाहरण में "**उत्पत्तिधर्मकत्वं हेतुः**" आत्मादि द्रव्य उत्पत्तिधर्मक नहीं है। इसलिए अनित्य नहीं

---

१. प्रतिज्ञैव च पक्ष इत्युच्यते। तदेवंविधे पक्षलक्षणे प्रदर्शिते बलात् पक्षाभासाः प्रतिक्षिप्ता भवन्ति। न्या० म० अव० प्र० १।

२. क—उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनहेतुः
ख—तथा वैधर्म्यात्। न्या० सू० १-१-३४-३५।

३. उदाहरणेन सामान्यात्साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः
वा० भा० १-१-३७

है। इसके असादृश्य से शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व होने से शब्द अनित्य सिद्ध होता है। अर्थात् जो वस्तु अनित्य नहीं है वह उत्पत्तिमान् नहीं है। इस व्याप्ति के होने से यह वैधर्म्य हेतु कहलाता है।

वार्तिककार[1] का मत है कि उदाहरणसाधर्म्यात् यहां "**एव**" इस अवधारण का ग्रहण करना चाहिए—जिससे उदाहरणेनैव साधर्म्यात् यह अर्थ लक्ष्य होने से अनुदाहरण साधर्म्य का निषेध हो जाता है। "साध्य के साथ साधर्म्य" यहां पर भी साध्व के साथ साधर्म्य ही" यह अर्थ लेना चाहिए।

जिससे साध्य के अन्तर्गत किसी एक साध्य में रहने वाले हेतु का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार से द्विलक्षण से युक्त तथा त्रिलक्षण से युक्त हेतुओं का संग्रह होता है, इस प्रकार से हेतु का स्वरूप अवधारण करने से हेत्वाभासों का निराकरण होता है। —"**उदाहरणेनैव साधर्म्यम्**" कहने से बाधित और अनैकान्तिक हेत्वाभास का निराकरण होता है। तथा **साधर्म्यमेव** कहने से **साध्यावृत्ति** अर्थात् स्वरूपासिद्ध और "**साध्यैकवृत्ति** हेत्वाभासों का निराकरण होता है।

दिङ्नाग मत निराकरण

आचार्य दिङ्नाग[2] ने सूत्रकार के लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है। यदि उदाहरण का साम्य साध्य का साधन है तो उदाहरण साधर्म्य ही हेतु है। ऐसा लक्षण करना चाहिए था यदि साधर्म्य साधन है तो वाक्यांश न होने से उसे अवयव नहीं कहा जा सकता है। साधर्म्य और साधन में यदि अभेद है तो **पञ्चमी** विभक्ति अनुपपन्न है। यदि सामान्य विशेषभाव के आधार पर किसी प्रकार का भेद मानें तो भी एकाधिकरण्य होने से प्रथमा होनी चाहिए। यदि साधन वाक्य रूप है तो उसका अर्थ साधर्म्य अर्थ से प्रयुक्त वाक्य है। किन्तु वाक्य ही अर्थ से उत्पन्न नहीं अपितु विवक्षा आदि भी अर्थ से उत्पन्न हैं किन्तु वे साध्य के साधन न होने से उनमें दोष नहीं है। ऐसा कहने पर दो प्रकार से दोष होता है। साधर्म्य साधन किस प्रकार से है साक्षात् है या परम्परा से। वक्ता का ज्ञान साक्षात्साधर्म्यजन्य है—वह परम्परा से श्रोता के साध्य विज्ञान का साधन हो जायेगा, यदि साक्षात्साधन कहें तो श्रोता का ज्ञान परम्परा से साधर्म्यजन्य साक्षात्साधन होगा। दूसरी बात यह है कि उपनय भी साथ साधर्म्य जन्य होने से हेतु हो जायेंगे।

इसका उत्तर देते हुए वार्तिककार कहते हैं, उदाहरण साधर्म्यात् साध्य

---

१. न्या० वा० १-१-३४-३५

२. न्या० वा १-१-३४

साधनवचन यह व्याख्या करने पर समस्त दोषों का परिहार हो जाता है।[1] हेतुपद के सान्निध्य के कारण साधन पद हेतुपद के साथ प्रवर्तित होने से उपनय में अतिव्याप्ति नहीं है पञ्चमी प्रयोग के विषय में वार्तिककार का कथन है कि विवक्षा के अनुसार विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। जब साधर्म्य अभिधीयमान के रूप में विवक्षित हो तो 'उदाहरणसाधर्म्यस्य' यह कथन उचित होगा। जब उदाहरण साधर्म्य को नियमित बतलाना हो तो पञ्चमी विभक्ति उचित होती है। यहां उदाहरण साधर्म्य को निमित्त बतलाना है इसलिए पञ्चमी ही उचित है। उदाहरण साधर्म्य किस प्रकार से साधन परिग्रह वचन का निमित्त है इसको स्पष्ट करते हुए वार्तिककार[2] कहते हैं कि उदाहरण साधर्म्य को जानकर विवक्षा प्रयत्न, वायु, कण्ठ तालु का अभिघात आदि शब्द के निमित्त बनते हैं। इसलिए परम्परा से उदाहरण साधर्म्य भी निमित्त है। अतः 'साधर्म्यात्' यहां पञ्चमी का प्रयोग उचित ही है।

वाचस्पतिमत

वाचस्पति[3] के अनुसार **उदाहरणेन साधर्म्यात् साधनस्य** इस लक्षण से अन्वय तथा पक्षधर्मता और अन्वयव्यतिरेकी एवं पक्षधर्मता को प्रदर्शित किया गया है। साध्यसाधनं इस अंश में साध्य के कथन से हेतु के अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को सूचित किया गया है।

जयन्त मत

आचार्य जयन्त[4] ने "**साध्यसाधर्म्यात्**" इस हेतु के लक्षण से प्रतिबन्ध "**व्याप्ति**' के स्वरूप का भी वर्णन किया है।

यदि अर्थात्मक हेतु लक्ष्य हो तो पञ्चमी विभक्ति को हटाकर उदाहरण साधर्म्ये साध्यसाधनं हेतुः इस प्रकार सूत्र की व्याख्या मानी जाय। लक्षण मे उदाहरण साधर्म्य का निवेश हेत्वाभासों के निराकरण के लिए नहीं है, हेत्वाभासों का निरा-

---

१. तत्र त्वेष दोषो न परिहारान्तरं प्रयोजयति तेनैव व्याकृतत्वाद् उदाहरण-साधर्म्यात् साध्यसाधनवचनं हेतुरित्येवं व्याचक्षाणेन समस्त एव दोषोऽपाकृतो भवतीति। न्या० वा० १-१-३४

२. यस्मादुहारणसाधर्म्यं बुद्ध्वा विवक्षा प्रयत्नवागुदीरणताद्यभिघातादयः शब्दस्य निमित्तं भवन्ति अतः पारम्पर्येणोदाहरणसाधर्म्यमपि निमित्तमिति। तस्मात् पञ्चम्यभिधानमेव ज्यायः। न्या० वा० १-१-३५

३. उदाहरणेन साधर्म्यात्साध्यस्येत्यनेनान्वयपक्षधर्मत्वे अन्वयव्यतिरेकपक्ष-धर्मत्वानि च दर्शितानि साध्यसाधनमित्यत्र च साध्यग्रहणे न बाधित-विषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे सूचिते—न्या० वा० ता० टींका १-१-३४-३५

४. न्या० म० प्रमेय० अव० प्र० १

करण साध्य साधन पद से ही होता है केवल व्यतिरेकी हेतु के निराकरण के लिए 'साध्यसाधर्म्यात्' कहा है।

संशय के निराकरण के लिए साधर्म्यात् इस पञ्चमी विभक्ति का उपयोग भी उचित है। "**साध्यसाधन**" कहने से यह संशय हो सकता है कि साध्याविनाभूत हेतु है या भिन्न है। इस संशय के निवारण के लिए कहा जाता है। "**साध्यसाधर्म्यात्**" साध्यसाधर्म्य होने से साध्याविनाभूतत्व की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार से जो लोग पञ्चमी के प्रयोग को व्यर्थ मानते हैं उनका भी समाधान हो जाता है।

तथा वैधर्म्यात् इस सूत्र से महर्षि गौतम[1] ने द्वितीय हेतु केवल व्यतिरेकी के स्वरूप को व्यक्त किया है। उदाहरण वैधर्म्य के द्वारा साध्य का प्रज्ञापन करने वाला भी हेतु होता है। जैसे **अनित्यशब्द: उत्पत्तिधर्मकत्वात्** यहां पर उत्पत्ति धर्मक हेतु व्यतिरेकी भी है जो उत्पत्ति धर्मक नहीं है वह अनित्य नहीं है जैसे आत्मा। आत्मा उदाहरण की असमानता के कारण शब्द में अनित्यत्व सिद्ध होता है। हेतु के विषय में भाष्य और वार्तिक के मत भेद हैं। वार्तिककार[2] भाष्य से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि भाष्यकार ने यह जो उदाहरण दिया—**अनित्य: शब्द उत्पत्ति धर्मकत्वात् अनुत्पत्ति धर्मकमनित्यं दृष्टात्मादि द्रव्यमिति** यह उचित नहीं है। यह मात्र प्रयोग भेद है, अर्थ एक ही है, प्रयोग के भेद से वस्तु में भिन्नता नहीं होती है। उदाहरणमात्र का भेद है। प्रतिपाद्य उत्पत्तिधर्मकत्व होने से इसे वैधर्म्य हेतु नहीं कह सकते। यदि उदाहरण के भेद से भेद माना जाय तो **तथा वैधर्म्यात्** यह कहने की क्या आवश्यकता है? उदाहरण भिन्नता का प्रतिपादन अग्रिम सूत्र में किया ही गया है। **तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्** इति। इसलिए भाष्यकार का वैधर्म्य हेतु का उदाहरण समीचीन नहीं है। इसका उदाहरण[3] होना चाहिए। "यह जीवित शरीर निरात्मक नहीं है क्योंकि अप्राणादिमत्त्व की प्रसक्ति होती है। जो जो अप्राणादिमान् होता है वह सब निरात्मक होता है। यह अप्राणादिमान् नहीं है इसलिए निरात्मक नहीं है। इस प्रकार से यह अवीत अर्थात् व्यतिरकी हेतु सिद्ध होता है। इन्हीं वीत और अवीत हेतुओं के भेद को सूत्र के द्वारा महर्षि ने उपस्थित किया है। "**वीत**" स्वरूप के द्वारा अर्थ को उपस्थित करता है। "**अवीत**" निषेध के द्वारा परपक्ष के प्रतिषेध पूर्वक स्वपक्ष स्थापन करता है।

---

१. न्या० सू० १-१-३५

२. एतत्तु न समञ्जसमिति पश्याम: प्रयोगमात्रभेदात् प्रयोगमात्रं भिद्यते नार्थ इति तस्मान्नेदमुदाहारणं न्याय्यमिति। न्या० वा० १-१-३५

३. नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्। ... सोऽयमवीत: परपक्षप्रतिषेधार्थ एव भवति। न्या० वा० १-१-३५

वार्तिककार का बौद्ध हेतु लक्षण खण्डन

वार्तिककार[1] ने "**हेतुर्विपक्षाद्विशेषं**" अर्थात् "विपक्ष में जो आवृति वह हतु है" इस बौद्ध हेतु लक्षण का निराकरण किया है। उनका कथन है कि इस लक्षण से एक विलक्षण हेतु का ग्रहण और दूसरे विलक्षण हेतु का निराकरण होता है। "**विपक्षादेव यो विशेषः स हेतुः**" ऐसा लक्षण करने पर अनिष्टहेतु का ग्रहण, इष्ट हेतु का परित्याग अथवा अभिप्रेतहानि—ये दोष होते हैं। सपक्ष की एक इकाई में रहने वाले तथा पक्ष की एक इकाई में रहने वाले हेतु भी "**विपक्षावृत्ति**" होने से उनका ग्रहण होता है जो अनिष्ट है। वहाँ विपक्ष ही नही है इष्टहेतु का परित्याग तथा अभिप्रेतहानि भी होती है। सौत्रान्तिक[2] के मत में—"**सर्वम् अनित्यं कृतकत्वात्**" यहाँ पर विपक्ष न होने से "**हेतुर्विपक्षाद्विशेषः**" यहाँ पर विपक्ष का क्या अर्थ लिया जाय। और विपक्ष के न रहने से "**विपक्षात्**" इस पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग कैसे संभव है? इत्यादि विचारणीय है। यह लक्षण बौद्धों के अपने सिद्धान्त से ही असंगत है। जैसे **शब्दोऽनित्यः वर्णत्वात् एव शब्दो अनित्यः घटितत्वात्** हैं।

इसी प्रकार वार्तिककार[3] ने हेतु "**ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः**" **तदा तादृगविनाभाविधर्मोऽपदर्शनं हेतुः**" इत्यादि हेतु लक्षणों का निराकरण करके महर्षि के दोनों प्रकार के हेतु लक्षणो का समर्थन किया है। आचार्य वाचस्पति ने भी भाष्यकार के विपरीत वार्तिककार के वैधर्म्य हेतु के उदाहरण का समर्थन किया है।

जयन्तमत

आचार्य जयन्त[4] का विचार है कि सूत्रोक्त दोनों ही हेतु के लक्षण हैं अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही अनुमान में अङ्ग होने से एक सूत्र से अन्वय तथा दूसरे सूत्र से व्यतिरेक महर्षि ने उपस्थित किया है। इसलिए भाष्यकार ने यह प्रश्न करके कि क्या इतना ही हेतु का लक्षण है? नहीं, वैधर्म्य से भी कहते हैं" यह उत्तर दिया है। तथा उदाहरण भी दोनों का एक ही "**उत्पत्तिधर्मकत्वात्**" दिया है।

---

१. वही १-१-३५

२. यदा सौत्रान्तिकपक्षमाश्रित्य लक्षणं विचार्यते तदा विपक्षासम्भवाद्धेतुर्विपक्षाद्विशेष इति विपक्षार्थो वक्तव्यः, न चासति विपक्षार्थं पश्याम इति। न्या० वा० पृ० १-१-३५

३. न्या० वा० पृ० १-१-३५

४. अन्वयव्यतिरेकयोगमकांऽशत्वादेकेनान्वयनिरूपणमपरेण च सूत्रेण व्यतिरेकव्युत्पादनम्। न्या० म० अव० प्र०।

अन्वय[1] व्यतिरेकी हेतु ही कहीं पक्षविशेष में किसी विशेष विशेषण के कारण केवल व्यतिरेकी हो जाता है। जैसे इच्छा आदि में रहने वाला "**कार्यत्वहेतु**" आत्मा की सिद्धि के लिए केवल व्यतिरेकी बन जाता है। इस प्रकार से केवल व्यतिरेकी हेतु नहीं है यह नहीं कह सकते। किन्तु स्वतन्त्र रूप से उसका लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। दोनों सूत्रो को मिलाकर हेतु का लक्षण मानने पर जैसा कि भाष्यकार को अभीष्ट है केवलान्वयी हेतु के लिए कोई स्थान नही रह जाता है।

उदाहरण

तृतीय न्यायावयव को उदाहरण कहते है। उदाहरण दृष्टान्त का ही कथन है। इसलिए महर्षि गौतम[2] ने साध्य के साधर्म्य मे साध्य अर्थात् पक्ष के धर्म से युक्त दृष्टान्त को उदाहरण कहा है। दृष्टान्त का लक्षण सूत्रकार[3] ने पहले ही कह दिया है। लौकिक और परीक्षक दोनों ही जिसके विषय मे एक मत हों वह दृष्टान्त है।

भाष्यकार[4] का कथन है कि साध्य का अर्थ धर्म और धर्मी दोनों ही होता है यहाँ पर साध्य पद से पक्ष का ग्रहण करना चाहिए। **शब्दो नित्यः कृतकत्वात्** "शब्द अनित्य है कार्य होने से" इस अनुमान में शब्द उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। उत्पत्तिमान का अनित्यत्व के साथ साध्य साधन भाव अर्थात् जो उत्पत्तिधर्मक होता है वह अनित्य होता है, घटादि के सादृश्य के आधार पर ज्ञात होता है दृष्टान्त मे उपलब्ध साध्य साधन भाव के आधार पर शब्द में उत्पत्ति धर्मता के आधार पर घट आदि के समान अनित्यत्व सिद्ध होता है। उदाहरण शब्द की व्युत्पत्ति "**उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभावः**" इति उदाहरणम् इस व्युत्पत्ति के आधार पर साध्य और हेतु के व्याप्य-व्यापकभाव को सिद्ध करने वाला ही उदाहरण कहलाता है।

यहाँ उद्योतकर ने यह आक्षेप किया है कि '**उदाह्रियते**' इस व्युत्पत्ति के आधार पर "**उदाहरण**" करण कारक वाचक है, जबकि दृष्टान्त वस्तु है। इन दोनों में एकरूपता कैसे हो सकती है। इसलिए वचन प्रयुक्त दृष्टान्त को उदाहरण

---

१. किन्त्वन्वयव्यतिरेकवानेव हेतुः – क्वचित्साध्यविशेषे विशेषणविशेषवशात्केवल व्यतिरेकितावलम्ब्यत इति ब्रूमः। तद्यथेच्छादिगतं कार्यत्वमात्मसिद्धौ— न्या० म० अव० प्र० १

२. साध्य-साधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्तः उदाहरणम्। न्या० सू० १-१-२६

३. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। न्या० सू० १-१-२५

४. न्या० भा० १-१-३६

मानकर उदाहरण का लक्षण[१] **"साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावित्वे सति अभिधीयमान:'** अर्थात् साध्य के सदृश धर्म "वह्नि आदि" से युक्त होते हुए उसी प्रकार से कहा जाने वाला उदाहरण होता है। दृष्टान्त के समान वाक्यात्मक उदाहरण का लक्षण नहीं बन सकता। दृष्टान्त प्रतिपादक वचन के आधार पर यहां उसका सामान्याधिकरण्य विवक्षित है।

न्यायमञ्जरी कार[२] के अनुसार 'प्रयोज्य और प्रयोजक भाव जिनका है ऐसे साध्य और साधन धर्मों से युक्त जो दृष्टान्त वह साधर्म्य दृष्टान्त है तथा उससे रहित वैधर्म्य दृष्टान्त है।

"तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्" इस सूत्र से वैधर्म्य दृष्टान्त का लक्षण प्रस्तुत किया है जिसका अर्थ है साध्य से विभिन्न होने के कारण जो साध्य के धर्म से युक्त नहीं है वह दृष्टान्त उदाहरण है। यह उदाहरण अवीत अर्थात् व्यतिरेकी हेतु स्थल में देखा जाता है।[३] जैसे **"अनित्य: शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्"** इसी अनुमान में **"आत्मा"** वैधर्म्य दृष्टान्त है। पक्ष **"शब्द"** का जो वैधर्म्य है अनुत्पत्तिकधर्मत्व उसके कारण तद्धर्म अर्थात् अनित्यत्व उससे रहित है। अर्थात् आत्मा नित्य है। यहां आत्मा में उत्पत्तिधर्मकत्व न रहने में अनित्यत्व नहीं रहना है। यह जानकर शब्द में उत्पत्ति धर्मकत्व हेतु के लिए साधयर्म्य से कथित दृष्टान्त उदाहरण होता है। वैधर्म्य से कथित हेतु के लिए वैधर्म्य दृष्टान्त उदाहरण होता है। साधर्म्य में वस्तुओं का व्याप्यभाव गृहीत होता है जबकि वैधर्म्य में उनके अभावों का व्याप्य व्यापकभाव ज्ञात होता है।

वार्तिककार ने अन्ये तु कहकर कुछ लोगों का यह सूत्र पाठ दिया है। **"साध्यसाधर्म्यात् तदधर्मभावित्वं दृष्टान्तस्य"** इस प्रकार से विकृत सूत्र पाठ तथा उसकी व्याख्या वार्तिककार के पूर्व थी इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार के सूत्र का दूसरों ने खण्डन किया है। किन्तु वार्तिककार का मत है। हमारा यह सूत्र पाठ न होने से उसका खण्डन हम पर लागू नहीं होता है।

---

१. न्यायवार्तिक पृ० १-१-३६

२. इह तु प्रयोज्यप्रयोजकभावव्यवस्थितसाध्यसाधनधर्माधिकरणत्वमेकत्वं द्वितीयस्य च तद्रहितत्वं लक्षणमुपपाद्यते—न्या० म० अव० प्र०

३. उदाहरणमवीतहेतौ द्रष्टव्यम्। न्या० वा० १-१-३६

४. अन्ये तु साध्यसाधर्म्यात तदधर्मभावित्वं दृष्टान्तस्येति सूत्रं पठन्ति। न्या० वा० १-१-३६

कुछ लोग "**तद्धर्मभावी**" यहां भाव पद व्यर्थ मान कर साध्य साधर्म्यात् तद्धर्म इतना ही लक्षण करना चाहते है उनका खण्डन करते हुए वार्तिककार[1] कहते हैं कि कृतकत्व अनित्यत्व को अभावरूप मानने वाले के मत का निराकरण करने के लिए तद्धर्मभावी कहा है। "**तथा सिद्धो दृष्टान्त[2] इत्यन्ये**" कहकर बौद्धों के उदाहरण के लक्षण को उपस्थित कर वार्तिककार[3] ने उसका निराकरण किया है। "**साध्यसाधनवत्त्व**" यह दृष्टान्त का लक्षण बौद्ध मत में ही अव्याप्तिग्रस्त है। घट आदि दृष्टान्त में ही प्रागभावरूप कृतकत्व तथा प्रध्वंसाभावरूप अनित्यत्व नहीं है। क्यों कि घट आदि स्वभाव के विरोधी हैं। जब घट है तो उसमें प्रागभाव और ध्वंस कैसे रह सकते हैं। इसी प्रकार से "**साध्यसाधनयोः सम्बन्धिनिदर्शनं दृष्टान्तः**" यह लक्षण तथा "**साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता**" यह लक्षण दोनों ही खण्डित हो जाते हैं।

जहां जयन्त भट्ट[4] ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि साध्याभाव से साधन-भाव यह वैधर्म्य दृष्टान्त के कथन की क्या आवश्यकता है? साधर्म्य दृष्टान्त के आधार पर ही साधनाभाव से साध्याभाव का प्रतिपादन क्या नहीं किया जाता है? व्याप्यव्यापकाभाव जो साध्य और साधन के बीच वही विपरीत होकर उनके अभावों के बीच हो जाता है। इसलिए साध्याभाव से साधनाभाव का प्रतिपादन करने वाले वैधर्म्य दृष्टान्त का विवेचन आवश्यक है। साधनाभाव से साध्याभाव का व्याप्य-व्यापकभाव नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि अयोगोलक आदि में साधन का अभाव होने पर भी अग्नि का अभाव नहीं रहता है साध्य और हेतु की समव्याप्ति सर्वत्र नहीं होती है।

उपनय

महर्षि गौतम तथा उसके समर्थक उपनय को भी अनुमान का आवश्यक अङ्ग मानते हैं, वसुवन्धु और उनके अनुयायी उपनय को अनावश्यकहेतु की पुनरा-

---

१. सन्ति चैवंवादिनो येषां कृतकत्वानित्यत्वेऽभाव इति तन्निराकरणार्थं चेदं वक्तव्यं तद्धर्मश्चासौ भावश्चेति। वही १-१-३६

२. न्या० वा० १-१-३६

३. तदेतत्साध्यसाधनवत्त्वं दृष्टान्तस्य बौद्धराद्धान्तेऽव्यापकं, स्थाल्यादौ दृष्टान्ते कृतकत्वानित्यत्वरूपसाध्यसाधनवैकल्यात्, प्रागभावो हि स्थाल्याः कृतकत्वं प्रध्वंसाभावश्चानित्यता राद्धान्ते बौद्धानां नचैवमुभयमपि स्थाल्यामस्ति तस्याः स्वभावविरोधित्वादिति दूषयति—न्या० वा० ता० टी० पृ० ११-६६

४. न्यायमञ्जरी अब० प्र० १

वृत्ति मानते हैं। महर्षि गौतम का कहना है कि उदाहरण के आधार पर साध्य का जो उपसंहार है वह उपनय है। "उपसंहार दो प्रकार से होता है।" "**तथा चायं** अथवा न **तथा चायम्**।"

गौतम के सूत्र[1] की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन कहते हैं 'उदाहरणापेक्ष, का अर्थ है उदाहरणतन्त्रः' अर्थात् उदाहरणवश, उदाहरण के अधीन साध्य साधर्म्य वाले उदाहरण में स्थाली आदि द्रव्य उत्पत्तिमान् अनित्य हैं। उसी प्रकार उत्पत्तिमान शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार "तथा चायम्" इस वाक्य से करते हैं।

उसी प्रकार साध्य वैधर्म्य युक्त उदाहरण में आत्मा आदि द्रव्य अनुत्पत्तिमान् नित्य देखे गए हैं, शब्द वैसा नहीं है अर्थात् अनुत्पत्ति धर्मक नहीं है। इस प्रकार अनुत्पत्तिधर्मकत्वरूप उपसंहार के प्रतिषेध से उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार किया जाता है। इस प्रकार दो प्रकार के उदाहरणों के आधार पर दो प्रकार से उपसंहार होता है। "तथा" और "न तथा।"

उपसंहार शब्द भी करणार्थक है **उपसंह्रियतेऽनेन इति उपसंहारः**। उपसंह्रियते का अर्थ है "**संज्ञाप्यते साध्यमिति उपसंहारः**।" अर्थात् जहां उदाहरण के आधार पर साध्य का संज्ञापन हो वह उपनय है। वार्तिककार के अनुसार दृष्टान्तगत हेतु में अव्यभिचारत्व सिद्ध होने पर उसकी तुल्यता पक्षगत हेतु में दिखलाना ही उपनय का कार्य है। अथवा उस अव्यभिचारी हेतु के अस्तित्व को बतलाना ही उपनय का प्रयोजन है। उदाहरण और हेतु के द्वारा मात्र व्याप्ति का बोध और हेतु का बोध होता है, पक्ष में हेतु का अस्तित्व है या नहीं इस बात को हेतु वचन या उदाहरण वचन व्यक्त नहीं करते, शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व है या नहीं यह उपनय से ही व्यक्त होता है।[4]

वाचस्पति मत

उपनय का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वाचस्पति[5] मिश्र लिखते हैं व्याप्ति स्मरण के पश्चात् लिङ्ग-परामर्श पूर्वक अनुमेय का बोध होता है उसी प्रकार दूसरों को अनुमेय का बोध करवाया जाता है। इस प्रकार से परामर्श ज्ञान के लिए आवश्यक उपनय का प्रयोजन सिद्ध होता है।

---

१. न्यायसूत्र १-१-३८
२. वात्स्यायनभाष्य १-१-३८
३. वही १-१-३८
४. न्या० वा० १-१-३८
५. न्या० वा० ता० टी० १-१-३८

जयन्तमत

आचार्य जयन्त[1] ने यह प्रश्न उपस्थित करके कि "**साध्यस्य**" शब्द उपनय में ठीक नहीं है क्योंकि हेतु का उपसंहार उपनय है न कि साध्य का, इसका समाधान किया है कि साध्य से यहां धर्मी विवक्षित है तथा साध्य शब्द के बाद षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सप्तमी के अर्थ में किया जाता है। जिसका अर्थ होता है साध्य अर्थात् धर्मी में हेतु का उपसंहार

आचार्य जयन्त[2] ने उपनय के प्रयोग की आवश्यकता परामर्शज्ञान की कारणता का प्रतिपादन करने के लिए स्वीकार की है। परन्तु प्रतिपत्ति के लिए अनुमान में भी परामर्श ज्ञान का प्रतिपादन उपनय वचन के द्वारा ही होता है। जो लोग परामर्श को नहीं मानते हैं उनको भी उपनय की उपयोगिता माननी पड़ेगी। दृष्टान्त में प्रदर्शित व्याप्तियुक्त हेतु ही समर्थ अनुमापक होता है इसलिए पक्षधर्म वचन से हेतु के सम्बन्ध मात्र का प्रतिपादन होता है किन्तु दृष्टान्त में अवगत व्याप्तियुक्त हेतु उसी प्रकार से पक्ष में है या नहीं यह शङ्का बनी ही रहती है उसका निराकरण उपनय वचन के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए "**तथा चायं**" रूप उपनय वचन का प्रयोग आवश्यक है।

निगमन

गौतम मत

गौतम महर्षि[3] के अनुसार हेतु के अपदेश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन है। यद्यपि प्रतिज्ञा और निगमन में पर्याप्त भेद है साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है जब कि सिद्ध का निर्देश निगमन है। तथापि प्रतिज्ञा में जो साध्य की कोटि में होता है निगमन में वही सिद्ध की कोटि में आ जाता है—इस प्रकार विषय की समानता से निगमम में प्रतिज्ञा का उपचार होता है। इसी को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने प्रतिज्ञा के पुनर्वचन को निगमन कहा है।

वात्स्यायन मत

वात्स्यायन[4] महर्षि सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि साधर्म्य के अनुसार तथा वैधर्म्य के अनुसार हेतु के कथन के पश्चात् उदाहरण के अनुसार जो साध्य का उपसंहार किया जाता है वह निगमन है। निगमन शब्द की व्युत्पत्ति

---

१. न्या० म० अव० प्र० १

२. न्या० म० अव० प्र० १

३. न्यायसूत्र १-१-३९

४. वात्स्यायन भाष्य १-१-३९

तत्त्व चार अवयवों से स्पष्ट नहीं होते हैं। पांच रूपों के बिना हेतु का अविनाभाव नहीं होता है। इसलिए अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व को सूचित करने के लिए निगमन का प्रयोग आवश्यक है।

प्रतिज्ञा और निगमन का अभिधेय समान होने पर भी वे दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि दोनों का प्रयोजन भिन्न है। प्रतिज्ञा का प्रयोजन साध्य प्रतिपादन मात्र है जबकि निगमन का प्रयोजन विपरीत शङ्का निवृत्ति है।[1]

जयन्त मत

जयन्त भट्ट[2] के अनुसार हेत्वपदेश का अर्थ है उपनय। उपनय से प्रेरित प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन है। यही कारण है कि साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से हेतु, उदाहरण और उपनय के दो भेद होने पर भी निगमन प्रतिज्ञा के समान एक ही प्रकार का है। प्रतिज्ञा और निगमन में विषयकृत भेद ही नहीं है। स्वबोधक समय परामर्श के बाद जो साध्यबुद्धि उत्पन्न हुई है उसे दूसरे के लिए कथन करना निष्प्रयोजन नहीं है। इससे साध्य के विषय में सन्देह का निराकरण होता है तथा भ्रमात्मक ज्ञान वाले का भ्रम दूर होता है, उसी के लिए परार्थानुमान को प्रस्तुत किया जाता है। इससे साध्य विपरीत प्रसङ्ग का भी निषेध हो जाता है।

इस प्रकार से प्रयोजन और विषय दोनों ही भिन्न होने से प्रतिज्ञा और निगमन एक नहीं हैं और दोनों ही परार्थानुमान के आवश्यक अङ्ग हैं।

प्रतिज्ञा हेतु आदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुगृहीत तथा अनुषक्त होकर स्वविषय का प्रतिपादन करते हैं। मुख्य रूप से ये अनुमान से ही अनुगृहीत होते हैं। प्रपञ्च के लिए प्रमाणान्तरों का अनुग्रह माना जाता है, जैसे प्रतिज्ञा का अनुग्राहक शब्द प्रमाण है, जैसे हेतु का अनुग्राहक अनुमान प्रमाण है। उदाहरण प्रत्यक्ष के द्वारा अनुगृहीत उपनय उपमान पर आधारित है। निगमन सभी अवयवों को एकत्रित करने वाला होने से सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुग्राह्य है।

प्रतिज्ञा के विना हेतु व्यर्थ है। इसलिए सबसे पहले प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाता है। प्रतिज्ञा के उच्चारण के पश्चात् दूसरा व्यक्ति उसके लिए हेतु की जिज्ञासा करता है। इसलिए हेतु का प्रयोग किया जाता है। हेतु के सुनने पर भी हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति का आधार क्या है ? इसका शमन करने के

---

१. एतेन निगमनं प्रतिज्ञायाः समानाभिधेयत्वेऽपि प्रतिज्ञार्थत्वेन प्रत्युक्तम्। प्रतिज्ञायाः साध्यपरत्वाद् निगमनस्य विपरीतशङ्कानिवृत्तिपरत्वादिति, न्या० वा० ता० टी० १-१-३९

२. न्या० म० अव० प्र० १

लिए उदाहरण का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के प्रयोग के पश्चात् भी यह आशङ्का रहती है कि पूर्वोक्त व्याप्ति युक्त हेतु यहां इस पक्ष में है या नहीं? उसके निराकरण के लिए उपनय का उपयोग किया जाता है। उसके पश्चात् इसी क्रम से साध्य का बोध हो इस अभिलाषा से सभी अवयवों का निगमन करने के लिए निगमन को उपस्थित किया जाता है। इनमें से एक भी अवयव के प्रयोग के बिना अभीष्टार्थ का प्रतिपादन सम्भव न होने से इनके निर्दिष्ट क्रम से ही इनका प्रयोग होना चाहिए।

हेत्वाभास

विभिन्न दर्शनों में अनुमान के अनेक दोष बतलाये गए हैं जो अनुमान के अनेक अङ्गों के दोषों के रूप में वर्णित हैं। मुख्यतः हेतु, पक्ष, और दृष्टान्त इन तीन अङ्गों के आभासों को अनुमान के दोष बतलाया जाता है। इस प्रकार से हेत्वाभास, पक्षाभास तथा दृष्टान्ताभास तथा कहीं-कहीं अवयवाभासों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

नैयायिक केवल हेत्वाभास को ही अनुमान का दोष मानते हैं। उनके विचार[1] से अन्य सभी आभासों का समावेश इन्हीं में हो जाता है। पक्षधर्मत्वादि जो हेतु के पाँच लक्षण बतलाए गए हैं उनमें से एक-एक न रहने से पांच प्रकार के हेत्वाभास होते हैं।

न्यायपरम्परा में हेत्वाभास का सर्वप्रथम विवेचन महर्षि गौतम ने किया है। महर्षि गौतम[2] ने अपने तत्त्वज्ञानोपयोगी सोलह पदार्थों में हेत्वाभास को स्थान दिया है। अन्य पन्द्रह पदार्थों की तरह ही हेत्वाभास का तत्त्वज्ञान भी निश्रेयस की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। तत्त्व का निर्माण सद् हेतुओं पर आधारित होने से सद् हेतुत्व की रक्षा के लिए और असद् हेतु अर्थात् हेत्वाभास का ज्ञान भी आवश्यक है।

हेत्वाभास का लक्षण

हेत्वाभास का सामान्य लक्षण महर्षि गौतम ने नहीं बतलाया है। प्रमाणों के समान ही उसके विभाजन को प्रस्तुत किया है। हेत्वाभास के लक्षण को उपस्थित

---

१. ये चैते प्रत्यक्षविरुद्धादयः पक्षदोषाः, ये च वक्ष्यमाणाः साधनविकलत्वादयो दृष्टान्तदोषास्ते वस्तुस्थित्या सर्वे हेतुदोषा एव प्रपञ्चमात्रं तु पक्षदृष्टान्तदोषवर्णनम्। न्या० म० अव० १

२. न्यायसूत्र १-१-१

करने का प्रयास भाष्यकार वात्स्यायन[1] ने किया है। हेतु के लक्षण से रहित अहेतु जो हेतु के सादृश्य से हेतु के समान प्रतीत होते हैं हेत्वाभास कहलाते हैं। इस प्रकार से **हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासा:** इस व्युत्पत्ति के आधार पर उपर्युक्त लक्षण निष्पन्न होता है।

वात्स्यायन मत

हेत्वाभास का यह व्युत्पत्तिमूलक लक्षण वार्तिककार तथा टीकाकार को भी मान्य है। हेतु और हेत्वाभास में सादृश्य क्या है—क्योंकि हेतु साधक होता है, हेत्वाभास असाधक होता है, इस विषय में वार्तिककार[2] ने दो उत्तर प्रस्तुत किए हैं १—हेतु और हेत्वाभास में एक सादृश्य यह है कि जिस प्रकार प्रतिज्ञा के बाद हेतु का प्रयोग होता है उसी प्रकार प्रतिज्ञा के बाद हेत्वाभासों का भी प्रयोग होता है। 2—दूसरा उत्तर यह है कि हेतु के किसी एक धर्म से हेत्वाभास भी युक्त होता है। इसीलिए वह हेतु के समान है। यह तो हुआ हेतु और हेत्वाभास का सादृश्य। उनमें भेदक तत्त्व क्या है? उनमें भेदक तत्त्व है साधकत्व और असाधकत्व। हेतु समस्त लक्षणों से युक्त होकर साधक होता है जबकि हेत्वाभास हेतु के समस्त लक्षणों से शून्य होकर असाधक होता है।

हेत्वाभास के प्रकार

महर्षि गौतम[3] ने हेत्वाभास के पांच प्रकार बतलाये हैं। सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत। भाष्यकार महर्षि के विभाजन को बिना किसी ननुनच के स्वीकार कर उसकी व्याख्या करते हैं। वार्तिककार[4] के अनुसार सूत्र द्वारा प्रतिपादन पांच हेत्वाभासों का वर्गीकरण नियमार्थ नहीं है। उनका अभिप्राय यह है कि सूत्रकार यह नियम नहीं बतला रहा है कि पांच ही हेत्वाभास हैं अपितु उनके प्रकारों में फैले हुए हेतु और हेत्वाभास के विस्तार का संक्षेप करते हैं। काल, पुरुष और वस्तु के भेद के आधार पर हेत्वाभास असंख्य हैं। सामान्य रूप से साध्य वस्तु के आधार पर हेत्वाभास के १७६ भेद हैं। उनमें साध्यव्यापक धर्म भेद १६, साध्य के

---

१. हेतु-लक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमाना:।

वा० भा० १-२-४

२. प्रतिज्ञानन्तरं प्रयोग: सामान्यं यथैव हेतव: प्रतिज्ञानन्तरं प्रयुज्यन्ते एवं हेत्वाभासा अपीत्येकं सामान्यम् अन्यतमलिङ्गधर्मानुविधानं वा। न्या० वा० १-२-४

३. "सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीता हेत्वाभासा:

न्या० सू० १-२-४

४. न्यायवार्तिक १-२-४

एक देश में रहने वाले १६ और साध्य अर्थात् पक्ष में न रहने वाले १६ तथा विशेषण विशेष्यासिद्धि के ६४, उसी प्रकार समर्थ और असमर्थ विशेषण विशेष्य ६४ इस प्रकार हेत्वाभास के १७६ भेद होते हैं। उनके प्रकारों का वर्णन उदाहरण के साथ वार्तिककार ने प्रस्तुत किया है। आगे चलकर इन्होंने असंकीर्ण विशेषण विशेष्य के भेद से दो सहस्र बत्तीस (२०३२) बतलाये हैं और असिद्धादि के समावेश से तो असंख्य हैं। इसका समर्थन वाचस्पति मिश्र[1] ने भी किया है।

इस प्रकार से विस्तृत हेत्वाभास के समाज को सूत्रकार ने पांच हेत्वाभासों में वर्गीकृत किया है। इसी वर्गीकरण के आधार पर हेत्वाभास के ५ भेद न्यायशास्त्र में अद्यावधि प्रचलित हैं।

सव्यभिचार

महर्षि गौतम[2] का सूत्र है कि **अनैकान्तकः सव्यभिचार**: अर्थात् एक साध्य अथवा साध्याभाव के अन्त अर्थात् अधिकरण में जो रहता है वह एकान्त है। उससे भिन्न अनैकान्त कहलाता है। वात्स्यायन ने व्यभिचार का अर्थ किया है **एक अव्यवस्था** अनिश्चित अवस्था को व्यवस्था कहते हैं। हेतु के भावाभाव का निश्चित न होना ही अव्यवस्था है। उस अव्यवस्था अर्थात् अनियम के साथ जो हेतु हो वह सव्यभिचार कहलाता है। उदाहरण **नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वत्**"। अस्पर्शवत्व हेतु नित्य आत्मा आदि में भी है और अनित्य घट में भी है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार होने से साध्य साधन भाव रूप व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है। भाष्यकार ने[3] अन्तपद से धर्मो को लिया है। नित्वत्व एक अन्त है जो एक अन्त में हो वह ऐकान्तिक अर्थात् जो एक धर्म के आश्रय में रहता हो उससे भिन्न अर्थात् जो एक ही धर्म का समानाधिकरण न होकर उभय धर्म का व्यापक होता है उसे सव्यभिचार कहते हैं। वार्तिककार ने अनैकान्तिक को सव्यभिचार मानते हुए सव्यभिचार का "**साध्यतज्जातीयान्तवृत्तित्वम्**"[4] जो हेतुपक्ष, सपक्ष तथा उससे भिन्न में रहता है वह व्यभिचारी कहलाता है "**तद्वृत्तित्व** व्यभिचार है लक्षण किया है इसके अनुसार

---

१. तदेवं प्रकृतिभूताष्टचत्वारिंशत् प्रक्षेपेण सम्पिण्डितं द्वात्रिंशे द्वे सहस्रे भवतः इति—न्या० वा० ता० टी० १-२-४

२. न्या० सू० १-२-५

३. नित्यत्वमपि एकोऽन्तः अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति एकोन्तिकः विपर्ययादनैकान्तिकः। उभयान्तव्यापकत्वात्। वा० भा० १-२-५

४ कः पुनरयं व्यभिचारः साध्यतज्जातीयान्यवृत्तित्वम्—यत् खलु साध्यतज्जातीयवृत्तित्वे सति अन्यत्र वर्तते तद्व्यभिचारि, तद्वृत्तित्वं व्यभिचारः।
न्या० वा० १-२-५

महर्षि के लक्षण का अर्थ यह निकलता है कि जो हेतु दो अन्तों के आधार पर साध्य साधन की ओर अग्रसर होता है वह अनैकान्तिक कहलाता है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि किसी शास्त्र में अनैकान्तिक वर्णित हो तो उसके आधार पर सव्यभिचार का लक्षण किया जाए। अनैकान्तिक शास्त्र में प्रसिद्ध ही नहीं है तो यह सव्यभिचार का लक्षण कैसे हो सकता है। वार्तिककार[1] और टीकाकार इसका समाधान करते हैं कि लोक प्रसिद्ध अनैकान्तिक को लेकर सव्यभिचार का लक्षण किया गया है। वाचस्पति मिश्र[2] का कथन है कि अनैकान्तिक और सव्यभिचार शब्द "अमरा निर्जरा देवा:" के समान पर्यायवाचक है, पुरुष भेद की अपेक्षा से लक्षण और लक्ष्य के रूप में वर्णित हैं। जिसके लिए अनैकान्तिक पदार्थ अज्ञात है और सव्यभिचार पदार्थ ज्ञात है— उसके लिए अनैकान्तिक लक्ष्य है और सव्यभिचार लक्षण है। जिसके लिए सव्यभिचार पदार्थ अज्ञात और अनैकान्तिक पदार्थ ज्ञात है उसके लिए सव्यभिचार लक्ष्य है और अनैकान्तिक लक्षण है। भाष्यकार सव्यभिचार को लक्षण और अनैकान्तिक को लक्ष्य मानकर सव्यभिचार की व्याख्या करते हैं।

वार्तिककार[3] ने प्रकरणसम को अनैकान्तिक में अन्तर्भाव करने वालों का विरोध इसलिए किया है कि वे न तो लक्षण-व्यभिचार जानते हैं और न उदाहरण-व्यभिचार। उदाहरण में व्यभिचार होने से लक्षण का व्यभिचार नहीं होता है। विद्वान् उदाहरण का आदर न करके लक्षण का आदर करते हैं। अनैकान्तिक के लक्षण से प्रकरणसम का संग्रह नहीं होता है इसलिए उदाहरण में व्यभिचार होने से लक्षण को दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।

आचार्य जयन्त[4] ने अनैकान्तिक के छः भेद मानने वाले दिङ्नाग[5] के मत का निराकरण किया है। सपक्ष में व्याप्त होना आदि व्यर्थ है और सम्भव नहीं है इसलिए यदि इसी प्रकार से अवान्तर भेद किया जाए तो अनन्त हेत्वाभास बन सकते हैं। विपक्षादि में रहने मात्र से ही हेतु सव्यभिचार बनता है। हेतु के पांच रूपों में से विपक्षावृत्तित्व न रहने से ही हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास बन जाता है और यह कहा ही है इसलिए अवान्तर भेदों के विचार की कोई आवश्यकता नहीं है।

---

१. न्या० वार्तिक १-२-५

२. न्या० वार्तिक ता० टी० १-२-५

३. न्या० वार्तिक, पृ० १-२-५

४. ननु षट्प्रकारा: परैरनैकान्तिका इष्यन्ते···किमवान्तरभेदपरिगणनेन न्या० म० प्रमेय० हेत्वा० प्र

५. बौद्धन्याय—श्चेरवास्की पृ० ३९९ से ४०१

इसीलिए अनैकान्तिक आदि के बौद्धों तथा नव्य नैयायिकों की तरह सूत्रकार, भाष्यकार, वार्तिककार तथा टीकाकार और जयन्त ने भी विभाजन नहीं किया है। असाधारण और विरुद्ध व्यभिचारी तो हेत्वाभास ही नहीं है। असाधारण गन्धत्वादि हेतुओं से संशय होता है। इसलिए असाधारण को भी हेत्वाभास मानना चाहिए, यह कथन उचित नहीं है उभय विशेष के साथ सहचर का दर्शन ही संशय का कारण होता है, असाधारण-धर्म, असाधारण होने से एक ही स्थान में रहेगा उभय विशेष का सहचर नहीं हो सकता इसलिए उसे संशय हेतु कैसे कहा जा सकता है ? गन्धवत्त्व हेतु न नित्य में और न अनित्य में किसी भी एक धर्म के साथ उपलब्ध न होने से "पृथ्वी नित्य है क्योंकि वह गन्धवती है" यहाँ गन्धत्व हेतु को असाधारण अनैकान्तिक कह सकते हैं।

विरुद्धाव्यभिचारी[1] हेतु नहीं हो सकता क्योंकि एक ही पक्ष में परस्पर विरोधी दो साध्यों के साधक दो हेतु एक साथ नहीं हो सकते। जैसे वायु प्रत्यक्ष है, क्योंकि स्पर्शवान् है और वायु अप्रत्यक्ष है, क्योंकि रूपरहित है, यहां हेतु एक पक्ष में रहते हैं, इसलिए यह विरुद्धाव्यभिचारी हेतु का उदाहरण[2] कहा जाता है। इसके विषय में जयन्त का कथन है कि प्रत्यक्ष वस्तु के सम्बन्ध में इस प्रकार के अनुमान की क्या आवश्यकता है ? दूसरी बात यह है कि इनमें से एक हेतु अवश्य ही सदोष होना चाहिए, ऐसी अवस्था में एक हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिवादी को उसके गुण-दोषों का विचार करना चाहिए। विरोधी हेतु को उपस्थित करने की क्या आवश्यकता है। विडम्बना के लिए प्रयुक्त हेतु का तो जात्युत्तर[3] में अन्तर्भाव हो जायेगा। उसको स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वास्तविक दृष्टि से विरुद्धाव्यभिचारी नामक कोई हेतुदोष नहीं है। एकत्र विरोधी दो हेतुओं का समावेश सम्भव नहीं है। किसी प्रकार संशय जनक होने से असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को हेत्वाभास नहीं कह सकते हैं अन्यथा इन्द्रियों को भी संशय के कारण होने से हेत्वाभास कहना होगा। इसलिए पक्ष द्वय में रहना ही अनैकान्तिक लक्षण है और पक्षद्वय में वृत्ति न होने से इनका अनैकान्तिक में समावेश नहीं हो सकता है।

---

१. असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणौ तु न सम्भवत एव हेत्वाभासाविति न व्याख्यायेते— न्या० म० हेत्वा०

२. न्या० म० हेत्वा० प्र० १

३. विडम्बनोपन्यासस्य जात्युत्तरप्रकारत्वात्······असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणोः कथञ्चित्संशयहेतुत्वेऽपि पक्षद्वयवृत्त्यभावान्नानैकान्तिकवर्गेऽन्तर्भावः।
तस्मादसाधारणसंज्ञकस्य हेतोर्विरुद्धाव्यभिचारिणो वा।
विपक्षवृत्तित्वमतर्कयन्तो वदन्त्यनैकान्तिकतां नयज्ञाः॥ न्या० म० हेत्वा० प्र०

विरुद्ध[1]

वात्स्यायन मत

स्वाकृत सिद्धान्त का जो हेतु विरोध करता है उसे महर्षि[1] ने विरुद्ध कहा है। इसी को उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार[2] वात्स्यायन कहते है कि स्वशास्त्र स्वीकृत सिद्धान्त का विरोधी हेतु ही विरुद्ध होता है। योगसूत्र के तृतीय पाद के १३वें सूत्र के भाष्य की पंक्ति को लेकर इसका उदाहरण स्पष्ट किया है। महदहङ्कारादि विकार अभिव्यक्ति रहित हो जाते हैं क्योंकि इनकी नित्यता का प्रतिषेध किया गया है। अभिव्यक्ति से प्रच्युत होकर भी उनका अस्तित्व है। नित्य विकार नहीं हो सकता यह हेतु स्वसिद्धान्त अभिव्यक्ति के पश्चात् भी विकार नित्य है इस सिद्धान्त से विरोध करता है। अस्तित्व और स्वरूप से प्रच्युत होना दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते। इस प्रकार **नित्यत्वप्रतिषेधात्** इस हेतु का जिस सिद्धान्त के आधार पर प्रयोग किया गया है उसी सिद्धान्त का वह खण्डन करता है। इसलिए यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

उद्योतकर मत

वर्तिककार[3] ने भाष्यकार के विरुद्ध के लक्षण का समर्थन करके विरुद्ध का अन्य लक्षण भी लिखा है। प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध विरुद्ध हेत्वाभास है। आगे चलकर नव्यनैयायिकों[4] ने इसे ही विकसित करके "**साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः**" यह विरुद्ध का लक्षण कहा है। प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध को विरुद्ध कहने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिज्ञा विरोध को तो निग्रहस्थान कहना है तो उसके साथ पौनरुक्त्य होगा। इस विषय में उद्योतकर[5] का मत है कि प्रतिज्ञा विरोध और प्रतिज्ञा और हेतु के मध्य विरोध में अन्तर है। प्रतिज्ञा विरोध मात्र प्रतिज्ञाविरोध है जबकि विरुद्ध हेत्वाभास में विरोध दोनों में है। जब प्रतिज्ञा के द्वारा हेतु का विरोध हो अथवा हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का विरोध हो तो विरुद्ध हेत्वाभास होता है। प्रतिज्ञा हेतु विरोध का उदाहरण है, गुण से द्रव्य भिन्न है, भिन्न रूप से उपलब्ध नहीं होता है।

---

१. सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः, न्या० सू० १-२-६

२. वा० भा० १-२-६

३. न्या० वा० १-२-६

४. त० सं० अनु० परि०

५. उभयाश्रितत्वाद्विरोधस्य, विवक्षातोऽन्यतरनिर्देशः। प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध इति प्रतिज्ञाहेतुम् आश्रित्य उभयाश्रितो भवति.........यदा प्रतिज्ञया हेतोर्विरोधः हेतोर्वा प्रतिज्ञाविरोधत्वं तदा विरुद्धो हेतुरित्यतः प्रतिज्ञाविरोधी हेतुविरोधो-वेत्यदोषः। न्या० वा० १-२-३

वाचस्पति[1] लिखते हैं कि प्रतिज्ञा पर आश्रित विरोध हो तो उसका अन्तर्भाव प्रतिज्ञाविरोध में होगा और हेतु पर आश्रित विरोध हो तो उसका अन्तर्भाव हेत्वाभास में होगा।

जयन्त भट्ट[2] का कथन है कि सपक्षवृत्तित्व और विपक्षावृत्तित्व हेतु का लक्षण बतलाया गया है। ये जिनमें अप्राप्त हो अर्थात् जो हेतु सपक्ष में न रहे और विपक्ष में रहे वह साध्याभाव का साधक होने से विरुद्ध है।

सव्यभिचार और विरुद्ध में आचार्य जयन्त[3] के अनुसार यह अन्तर है कि विपक्ष से व्यावृत्ति सव्यभिचार में भी नहीं रहती किन्तु सव्यभिचार सपक्षावृत्ति भी होता है। विरुद्ध में हेतु के दोनों लक्षण नहीं रहते हैं। विरुद्ध हेतु साध्य का विरोध ही नहीं करता अपितु साध्याभाव का साधक भी होता है, व्यभिचारी हेतु न साध्य साधक होता है और न साध्याभावसाधक।

यहां यह भी कहा जा सकता है कि सूत्रकार और भाष्यकार के विरुद्ध लक्षण के अनुसार अपसिद्धान्त और प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों का समावेश विरुद्ध हेत्वाभास में हो जायेगा। इस विषय में जयन्त[4] का कहना है कि निग्रहस्थानों का पृथक् उल्लेख होने से निग्रहस्थानों को इसमें नहीं मिलाया जा सकता। निग्रह-स्थानों का पृथक् उपयोग देखा जाता है जैसे यदि कोई मीमांसक यह कहे कि "शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है" इस अनुमान में हेतु विरुद्ध नहीं है किन्तु अपसिद्धान्त होने से ही उसकी पराजय होगी। इसलिए अपसिद्धान्त को विरुद्ध से पृथक् करने के लिए साध्य के अभाव के साधक को ही विरुद्ध कहना उचित है। और इसी अभि-प्राय से सूत्रकार ने "सिद्धान्तमभ्युपेत्य" कहा है अर्थात् सिद्धान्त स्वीकार जिसको है उसी से प्रयुक्त किया हुआ विरोधी हेतु विरुद्ध है।

इसीलिए आचार्य जयन्त[5] ने लिखा है कि प्रतिज्ञा के विपरीतार्थ का साधक होने से हेतु विरुद्ध होता है। विशेष बाधादि के कारण उसमें हेत्वाभासता नहीं है। इसी बात का समर्थन परिशुद्धकार ने भी किया है। प्रमाणान्तर से सिद्ध का विरोधी वचन अपसिद्धान्त है जबकि वाक्यांश में से एक अभाव विषयक और दूसरा भाव-विषयक होने पर विरोध होता है।

---

१. न्या० वा० ता० टीका १-२-६

२. न्यायमञ्जरी प्रमेय हेत्वा० प्र० १

३. वही

४. वही

५. अतः प्रतिज्ञाविपरीतसाधनाद्विरुद्धतामेति न हेतुरन्यथा।
विशेषबाधादिनिबन्धनं पुनर्बहुप्रकारत्वममुष्य नेष्यते॥ वही

प्रकरणसम "गौतमत"

जिस हेतु से प्रकरण विषयक चिन्ता प्रादुर्भूत होती है, उसे निर्णय के लिए प्रयुक्त करने पर प्रकरणसम हेत्वाभास होता है। यह महर्षि गौतम[1] का विचार है। महर्षि के सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन[2] लिखते हैं **वात्स्यायनमत** के अधिष्ठान जो अनिर्णीत पक्ष प्रतिपक्ष ही प्रकरण कहलाते हैं उनकी चिन्ता अर्थात् संशय से लेकर निर्णय तक आलोचना अर्थात् जिज्ञासा जिसके कारण उत्पन्न होती है, वही तत्त्वानुपलब्धि निर्णय के लिए प्रयुक्त की जाने पर उभय पक्ष की असाधकता का साधर्म्य होने से प्रकरण की निर्णायक न होने से, प्रकरणसम कहलाती है—जो पक्ष अथवा प्रतिपक्ष के निर्णय में बाधक होती है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि नित्य-धर्म की उपलब्धि उसमें नहीं होती है। जिसमें नित्य धर्म उपलब्ध नहीं होता है वह अनित्य होता है थाली आदि। नित्यपक्ष में अनित्यधर्मानुपलब्धि तथा अनित्य पक्ष में नित्यधर्मानुपलब्धि तथा अनित्यपक्ष में अनित्यधर्मानुपलब्धि। यह किसी एक तत्त्व की अनुपलब्धि प्रकरण के समान ही अनिश्चायक होती है।

प्रकरणसम का जो स्वरूप भाष्यकार ने व्यक्त किया है वह प्रकरणसम की शाब्दिक व्युत्पत्ति पर आधारित है। इसका लक्षण सत्प्रतिपक्षत्व ही है। सव्यभिचार और प्रकरणसम दोनों संशय के कारण हैं, इसलिए दोनों में भेद नहीं है, यह कहना उचित नहीं है, सव्यभिचार में समानधर्म का जो संशय कारण होता है, हेतु के रूप में उपयोग किया जाता है। सन्देह करने वाले पुरुष की विशेष दर्शन की इच्छा उभयपक्ष में प्राप्त होने वाले विशष धर्मों की अनुपलब्धि से प्रकरण को उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है कि नित्य धर्म की अनुपलब्धि वादी प्रतिवादी दोनों को सिद्ध नित्य में नहीं है और न अनित्यधर्मानुपलब्धि दोनों को सिद्ध अनित्य में है। इसलिए सव्यभिचार नहीं है, दोनों अनुपलब्धियां परस्पर विरोधी होने से सत्प्रतिपक्ष के रूप में ही हेत्वाभास हैं।

जयन्त मत

आचार्य जयन्त[3] लिखते हैं कि यह हेतु प्रतिपक्ष के द्वारा आहत होने से अपने साध्य की उपस्थिति में असमर्थ होता है इसलिए इसे सद्धेतु नहीं कह सकते। यह असिद्ध हेत्वाभास के अन्तर्गत नहीं है। शब्द में अनित्य धर्मानुपलब्धि हेतु विद्यमान है यह विरुद्ध भी नहीं है। साध्याभाव की सिद्धि के लिए अपेक्षित सपक्षवृत्तित्व का

---

१. यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः। न्या० सू० १-२-७

२. वा० भा० १-२-७

३. न्या० म० हेत्वा० १

अभाव इसमें नहीं है। इसे व्यभिचारी भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पक्ष तथा विपक्ष दोनों में विद्यमानता का निश्चय इनके विषय में नहीं है।

यहां प्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि हेतु में अन्वय व्यतिरेक विद्यमान हैं, तो इसे सद् हेतु ही क्यों न माना जाए ? दूसरा हेतु अन्वय और व्यतिरेक से युक्त होने के कारण उसको भी हेतु मानने में क्या आपत्ति है ? इस विषय में जयन्त[1] का उत्तर है कि वस्तु के दो रूप नहीं हो सकते। ये दोनों हेतु दोनों पक्षों में साध्य विषयक ज्ञान को उत्पन्न करते हुए साध्य के सन्देह को उत्पन्न करते हैं, किन्तु अनैकान्तिक की तरह विपक्षवृत्ति न होने से इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास ही मानना होगा—इसे कालात्ययापदिष्ट नहीं मान सकते हैं, क्योंकि इसका साध्य प्रत्यक्ष या अनुमान इसमें से किसी भी प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं है। परस्पर बाध की अपेक्षा से दोनों असिद्ध हैं यह भी कहना उचित नहीं है। दोनों में संशय की उत्पादकता का अनुभव सिद्ध है।

जयन्तमत

आचार्य जयन्त[2] सूत्रकार के लक्षण से असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सभी प्रकार के असिद्धों के संग्रह के लिए साध्याविशिष्ट इतना ही लक्षण पर्याप्त है। इस प्रकार से असिद्धत्व ही असिद्ध का लक्षण उचित है। पक्षधर्मता जिसमें नहीं है जो धर्मी में नहीं रहता है वही हेतु असिद्ध है। आचार्य जयन्त[3] के विचार से असिद्ध के अनेक भेद होते हैं, हेतु के विषय में वादी प्रतिवादी में से किसी एक को अथवा दोनों को अज्ञान, सन्देह और भ्रम होने पर, तथा हेतु के आश्रय के विषय में अज्ञान सन्देह और भ्रम होने पर, इसी प्रकार पक्ष की एक इकाई में रहने पर, आदि अनेक प्रकार से असिद्ध हेतु बन सकता है।

व्यधिकरणासिद्ध को भी असिद्ध का एक भाग मानने वालों के मत का निराकरण करते हुए जयन्त[4] लिखते हैं कि व्यधिकरणासिद्ध यथोक्त वर्गीकरण में समादिष्ट होने से उसको स्वतन्त्र इकाई नहीं माना है। जैसे "शब्द नित्य है, क्योंकि कौआ काला है" यहां कालापन शब्द में न रहने से यह हेतु स्वरूपासिद्ध के अन्तर्गत ही होना चाहिए।

---

१. न्या० म० हेत्वा० प्र० १

२. वही

३. वही

४. व्यधिकरणासिद्धस्तु"'काकस्य कार्ष्ण्यात् इति—वही

कालातीत:

कालातीत हेत्वाभास का लक्षण **कालात्ययापदिष्ट** सूत्रकार[1] ने उपस्थित किया है, जिसका अर्थ है कि जो हेतु पक्ष के काल का अतिक्रमण कर जाए वह हेतु कालातीत है। महर्षि का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन[2] कहते हैं कि जिसको हेतु के रूप में प्रयुक्त किया हो उसका एक भाग कालात्यय से युक्त होता है तो वह **कालात्ययापदिष्ट "कालातीत"** कहलाता है—जैसे "शब्द नित्य है क्योंकि संयोग से अभिव्यक्त होता है रूपवत्" इस अनुमान में शब्द की उपलब्धि के समय संयोग नहीं रहता है। भेरी और दण्ड का संयोग होने पर शब्द की अभिव्यक्ति होती है जिस समय की अभिव्यक्ति होती है उस समय हेतु के विशेषण के रूप में प्रस्तुत संयोग नहीं रहता है।

बौद्धों ने महर्षि के सूत्र की गलत व्याख्या करके कालातीत हेत्वाभास का निराकरण किया है। "प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु का काल है उसका अतिक्रमण करके हेतु को पश्चात् उपदेश करने पर कालातीत हो जाता है। प्रतिज्ञा के बाद हेतु का ही प्रयोग होना चाहिए जैसे "अनित्य: शब्द: घटवत्" इतना कहने पर **कस्मात्** यह प्रश्न करने पर कहा जाता है **कृतकत्वात्** यह हेतु कालातीत है। इस प्रकार की व्याख्या करके उसका खण्डन किया है। **कस्मात्** इस प्रश्न का उद्भव आकांक्षा के साथ है या बिना आकांक्षा के ? यदि आकांक्षा के बिना ही वादी को यह प्रश्न उत्पन्न होता है तो "**न्यूनम्**" नाम विग्रह स्थान है, हेत्वाभास नहीं। यदि साकांक्षा-वादी को प्रतिवादी का प्रश्न है तो पश्चात् प्रयोग होने पर भी यह हेतु ही है। इसलिए कालातीत नामक कोई हेत्वाभास नहीं है।

बौद्धों के इस सूत्रार्थ के प्रति अरुचि प्रकट करते हुए भाष्यकार[3] लिखते हैं कि "पञ्चावयव का विपर्यास कथन" सूत्र का अर्थ नहीं है—जिस पदार्थ का जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध है वे पद दूर होने पर भी उनका सम्बन्ध रहता ही है इसीलिए काल का उल्लंघन करके प्रयुक्त हेतु भी हेतु के लक्षण से युक्त होने से हेत्वाभास नहीं है, हां अवयवों का क्रम भंग करने पर अप्राप्त काल निग्रह स्थान होता है, हेत्वा-भास नहीं।

---

१. कालात्ययापदिष्ट: कालातीत: । न्या० सू० १-२-६

२. कालात्ययेन युक्तो यदर्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानस्य सकलात्ययापदिष्ट: कालातीत इत्युच्यते। निदर्शनम्—नित्य: शब्द: संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूप-वत्। वा० भा० १-२-६

३. वा० भा० १-२-६

वाचस्पति मिश्र[1] भाष्यकार तथा वार्तिककार उद्योगकर की सूत्र व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनके जैसे "**अनुष्णः अग्निः द्रव्यत्वात्**" "**अश्रवाणः शब्दो गुणत्वात् नरशिरःकपालः शुचिः प्राण्यङ्गत्वात्**" आदि सभी प्रमाणों से विपरीत निर्णय के जनक होने से सन्देह युक्त अर्थ का प्रतिपादन न करने से सन्देह काल का अतिक्रमण करते हैं इसलिए कालातीत हेत्वाभास है। तात्पर्य यह है कि न्याय प्रवृत्ति सन्दिग्ध अर्थ को स्पष्ट करने के लिए है, अनुपलब्ध अथवा अनिर्णीत के लिए नहीं। इन हेतुओं के साध्यों से विपरीत का निणय प्रमाणान्तरों से होने के कारण ये सन्देह काल से बाहर हैं अतः ये कालातीत हेत्वाभास हैं। आगे चलकर नव्यनैयायिकों ने भी वाचस्पति के मत का ही अनुसरण करके इसे बाधित हेत्वाभास की संज्ञा प्रदान की है।

वाचस्पति[2] का कहना है कि भाष्यकार ने स्वमत तथा पर मत दोनों के अनुसार सूत्र का भाष्य किया है और जो व्याख्यान वाचस्पति ने किया है वह भाष्यकार को अभीष्ट है तथा जिस हेतु का एक मार्ग "**विशेषण**" कालात्यय से युक्त हो वह कालात्ययापदिष्ट है यह व्याख्या परमत के अनुसार है तथा भाष्यकार का उदाहरण भी परमत का है। इस विषय में विचारणीय यह है कि कौन सी व्याख्या स्वमत के अनुसार है और कौन सी व्याख्या परमत के अनुसार है इसको सिद्ध करने की युक्ति क्या है? वाचस्पति अपनी व्याख्या को बलात् भाष्यकार पर आरोपित करते हैं जबकि यह कैसे सम्भव है कि भाष्यकार अपने मत का उदाहरण न दें परमत का दें। इसलिए उदाहरणानुसारी व्याख्या ही उनकी अपनी है। टीकाकार के अनुसार भाष्य का अर्थ पक्ष का बोधक है जबकि भाष्यकार के अनुसार हेतुबोधक है। क्योंकि हेतुवदाभासन्ते के अनुसार असद् हेतु ही हेत्वाभास है।

हेतु के विशेषण के असिद्ध होने से इसे विशेषणासिद्ध **भागासिद्ध** के अन्तर्गत क्यों न माना जाए? इस आपेक्ष के समाधान में यही कहना पर्याप्त है कि भागासिद्ध को ही कालातीत के अन्तर्गत क्यों न मान लिया जाए? वात्स्यायन और उनके समर्थकों ने भागासिद्ध नामक स्वतन्त्र हेत्वाभास को माना ही नहीं है इसलिए इसके समावेश की कल्पना व्यर्थ है।

आचार्य जयन्त[3] ने भी भाष्यकार के कालात्ययापदिष्ट की व्याख्या को अस्वीकार कर दिया है और इनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण को असिद्ध का ही उदाहरण

---

१. न्या० वा० ता० टीका० १-२-६

२. वही

३. अपर आह···एतदपि न सङ्गतमसिद्धत्वेनास्य हेत्वाभासान्तरत्वानुपपत्तेः न्या० म० भाग २ "चौ० १९६९ पृ० १६७ हेत्वा० प्र०

माना है। उनके विचार से भाष्यकार के लक्षण को स्वीकार करने पर इसका असिद्ध में समावेश हो जाने से इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं कहा जा सकेगा। उन्होंने प्रत्यक्षागमबाधित विषय में प्रयुक्त हेतु को ही कालात्ययापदिष्ट[1] कहा है। उसका उदाहरण वही वाचस्पति के समान ही **"अग्निरनुष्णः** ब्राह्मणेन सुरा पेया" आदि हैं। अग्नि उष्णता का अभाव प्रत्यक्षबाधित है तथा ब्राह्मण को सुरा पीनी चाहिए आगमबाधित है।

असिद्ध या साध्यसम

गौतम मत

असिद्ध का लक्षण महर्षि गौतम[2] ने इन शब्दों में किया है **"साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः"** जिसका अर्थ है कि साध्य अनिश्चय की तरह पक्ष में भी अनिश्चित हेतु साध्यसम अर्थात् असिद्ध होता है जिसका उदाहरण है। **"द्रव्यं छाया गतिमत्वात्"** यहां गतिमत्त्व हेतु भी साध्य के समान साधनीय होने से साध्यसम है। यहां छाया में द्रव्यत्व के समान ही गतिमत्त्व भी असिद्ध होने से साधनीय है। यह बात सिद्ध नहीं है कि पुरुष के समान छाया चलती है या आवश्यक द्रव्य के चलने से उसमें गति मालूम होती है। आवरण के कारण तेज का सान्निध्य न होना ही छाया है। इसलिए गतिशील द्रव्य के आवरण से जिस तेज अंश का आवरण होता है उसी का छाया के रूप में ग्रहण होता है। इस प्रकार से साध्य और हेतु दोनों ही असिद्ध हैं।

उद्योतकर मत

वार्तिककार[3] ने भाष्य के व्याख्यान का समर्थन करते हुए इसके तीन भेद किए हैं—प्रज्ञापनीय धर्मसमान **स्वरूपासिद्ध** आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध। इन तीनों असिद्धों का एक ही उदाहरण द्रव्यं छाया गतिमत्वात् है।[4] जिस प्रकार द्रव्यत्व साध्य है उसी प्रकार गतिमत्त्व भी साध्य होने से स्वरूपासिद्ध है। यदि देशान्तर में दर्शन से छाया में गति सिद्ध करें तो यह आश्रयासिद्ध हेतु है क्योंकि यदि छाया द्रव्य हो तो उसका देशान्तर दर्शन हो सकता है किन्तु छाया में द्रव्य भाव ही असिद्ध है इसलिए आश्रयासिद्ध है। उसी प्रकार छाया का देशान्तर में दर्शन अन्यथा भी अर्थात् गति के

---

१. न्या० म० हेत्वा० प्र० १

२. न्या० सू० १-२-८

३. सोऽयम् असिद्धस्त्रेधा भवति प्रज्ञापनीयधमसमानः आश्रयासिद्धः अन्यथासिद्धश्चेति। न्या० वा० १-२-८

४. न्या० वा० १-२-८

बिना भी हो सकता है। इसलिए देशान्तर में दर्शन निश्चित रूप से गति का साधक नहीं है इसलिए इसमें अन्यथासिद्धि भी है।

वाचस्पति मत

वाचस्पति मिश्र ने असिद्ध के चार भेद किए हैं—स्वरूपासिद्ध, एकदेशासिद्ध; आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध। अन्यथासिद्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र[1] कहते हैं कि औपाधिक सम्बन्ध कालातीत हेतु अन्यथासिद्ध हेत्वाभास है। हेतु की असिद्धि दो प्रकार से होती है, स्वरूपतः और हेतु के रूप में। स्वरूप से असिद्धि भी दो प्रकार की होती है स्वतः और आश्रय के असिद्ध होने पर। इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि औपाधिक सम्बन्ध सव्यभिचार में भी होता है तो उसे क्या असिद्ध के अन्तर्गत माना जाए। इसके विषय में आचार्य वाचस्पति मिश्र[2] का समाधान यह है कि सव्यभिचारत्व विशेषण होने से वे असिद्ध से भिन्न है अन्यथा सिद्ध में व्यभिचारत्व विशेषण के विना हेतुत्व की असिद्धि मात्र है इसलिए उसका अन्तर्भाव साध्यसम में ही उचित है।

आचार्य दिङ्नाग[3] ने सूत्रकार का लक्षण **नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वात्** इस हेत्वाभास में घटित न होने से तथा उसका पूर्वोक्त किसी भी असिद्ध में घटित न होने से सदोष माना है। उसका खण्डन करते हुए वार्तिककार[3] कहते हैं कि भदन्त सूत्रार्थ को नहीं जानते हैं। उन्होंने जो उदाहरण दिया है वह सव्यभिचार का है। सव्यभिचार का लक्षण इस सूत्र से नहीं किया गया है किन्तु साध्यसम का लक्षण सूत्रकार ने किया है जिसका अक्षरार्थ भी भदन्त समझ नहीं सके हैं। वृद्धिवद् इस दृष्टान्ताभास को ही हेत्वाभास कहने वाले को दृष्टान्ताभास और हेत्वाभास का भी ज्ञान नहीं है।

---

१. न्या० वा० ता० टी० १-२-८

२. वही १-२-८

३. न्या० वा० १-२-७

खण्ड—२

वैशेषिक दर्शन में अनुमान

अनुमान का स्वरूप

वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद[1] ने प्रभा का लक्षण करते हुए कहा है कि "अदुष्टं विद्या" जिसकी व्याख्या शंकर मिश्र[2] करते हैं कि "**अदुष्टम् अदुष्टेन्द्रियजन्यं यत्र यदास्ति तत्र तदनुभवो वा विशेषवृत्तिप्रकारकाऽनुभवो वा विद्येत्यर्थः तच्चाध्यक्षं लैङ्गिकं व द्वयमेव।** अर्थात्—अदुष्ट इन्द्रिय से उत्पन्न जहां जो हो उसका उसी प्रकार का अनुभव विद्या है। वह प्रत्यक्ष और लैङ्गिक भेद से दो ही प्रकार की होती है।

महर्षि कणाद[3] के अनुसार कार्यकारण संयोगी विरोधी समवायी आदि लिङ्गों को देखकर जो तत्सम्बन्धी लिङ्गी का ज्ञान होता है उसको लैङ्गिक अर्थात् अनुमान कहते हैं। लैङ्गिक की व्याख्या प्रशस्तपाद[4] ने इस प्रकार की है "**लिङ्गदर्शनात् संजाय-मानं लैङ्गिकम्**" अर्थात् लिङ्ग दर्शन से उत्पन्न ज्ञान अनुमान है। किरणावलीकार[5] का मत है कि अनुमान शब्द का प्रयोग भाव अर्थ में तथा कारण अर्थ दोनों में ही होता है। **अनुमितिः अनुमानम् अनुमीयते-इति अनुमानम्।**" किन्तु भाष्यकार ने भावप्रधान व्याख्यान करके **लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्** "**लिङ्ग जन्य अनुमिति रूप फल रूपं**" इसी व्याख्या को स्वीकार किया है।

भाष्यकार के द्वारा प्रयुक्त दर्शन शब्द मात्र प्रत्यक्ष का वाचक नहीं है। अपितु ज्ञानमात्र का वाचक है। हेतु का अनुमान, शाब्दिक ज्ञान, या स्मरण होने पर भी साध्य की अनुमिति होती है। इसी को किरणावलीकार[6] ने स्पष्ट किया है कि दृष्ट, अनुमित और स्मृत हेतुओं से अनुमिति होती है। आचार्य शंकर मिश्र[1] ने शब्द से ज्ञात हेतु का समावेश किया है।

---

१. वै० सू० ५
२. वै० उप० बुद्धि प्र० १
३. वै० सू०
४, प्रशस्त भा० अनु० प्र० १
५. प्र० भा० किरणा० अनु० प्र० १
६. वही

भाष्यकार[1] की लिङ्गदर्शनात् यह परिभाषा की त्रुटि का परिमार्जन न्यायकन्दलीकार श्रीधर ने किया है। भाष्यकार के लक्षण के अनुसार लिङ्गदर्शन से उत्पन्न होने वाले स्मृतिकारणीभूत संस्कार की भी अनुमानापत्ति होती है। उसका निवारण करने के लिए बुद्धि प्रकरणानुसार ज्ञान पद सन्निवेश आवश्यक है। संस्कार ज्ञान न होने से संस्कार में अनुमानापत्ति नहीं होती। यही कारण है कि किरणावलीकार, उदयन, श्रीधर और शङ्कर मिश्र ने **लिङ्गदर्शनजन्य ज्ञान** यह लक्षण किया है। किरणावली[2] कार का मत है कि **"सञ्जायमानम्"** भाष्यकार के इस शब्द का अर्थ सम्यक्ज्ञान है अतः लिङ्गदर्शन से उत्पन्न सम्यक्ज्ञान अनुमान है। इससे संशय, विपर्यय और स्मृति का निवारण हो जाता है। स्मृति अनुभवाश्रित होने से अर्थपरिच्छेदिका नहीं है।

शिवादित्य[3] के अनुसार अनुमिति प्रमा ही अनुमान है जो व्याप्ति पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु ज्ञान से उत्पन्न है; इसी का समर्थन करते हुए शंकर मिश्र ने व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्महेतु से उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहा है।

लिङ्ग शब्द की व्याख्या

लिङ्ग शब्द की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद[4] कहते हैं कि जो अनुमेय से सम्बद्ध हो तथा अनुमेय युक्त में प्रसिद्ध हो तथा तद्भाव अर्थात् विपक्ष में न हो वह हेतु अनुमापक कहलाता है। इस प्रकार आचार्य प्रशस्तपाद ने हेतु की त्रिरूपता का समर्थन किया है।

उदयनमत—किरणावलीकार[5] उदयन ने लिङ्ग शब्द की **"निरुपाधिकं साध्य सम्बन्धिशालि लिङ्गम्"** यह व्याख्या प्रस्तुत की है। जिसका तात्पर्य यह है कि साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु लिङ्ग है। किरणावली के अनुसार **यदनुमेयेन सम्बद्धं** इस कारिका के द्वारा यह प्रतीत होता है कि लिङ्ग ही अनुमापक अर्थात अनुमिति रूप प्रभा का कारण है। जिसका अभिप्राय है कि परामृश्यमाण लिंग ही अनुमान है। लिंग को परामर्शरूप अवान्तर व्यापार से युक्त होने के कारण **करण** मानना उचित है। जबकि न्याय के अनुसार लिङ्ग परामर्श ही अनुमान माना जाता है।

---

१. प्र० भा० अनु०प्र० १
२. प्र० भा० किरणा० अनु० प्र० १
३. सप्तपदार्थी, अनु०प्र०
४. प्रशस्त० भा० अनु०प्र० १
यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
५. प्र० भा० किरणा०अनु० प्र० १

शङ्कर मिश्र मत

आचार्य शङ्कर मिश्र[1] ने कणाद रहस्य में विकल्प से परामृश्यमाण लिङ्ग को भी अनुमितिकरणरूप अनुमान माना है। अतीतानागत स्थल में धूम के प्रागभाव और ध्वंस के विद्यमान होने से उन्हें भी कारण मानने से कोई हानि नहीं है। वे भी वह्नि के व्याप्य हैं। धूलि पटल आदि भी व्याप्यत्वेन परामृश्यमाण होने पर कारण होते हैं।

अनुमान के अङ्ग 'व्याप्ति'

कणाद और प्रशस्तपाद मत

जैसा कि पूर्व प्रकरणों में निरूपण किया जा चुका है अनुमान का मुख्य तार्किक अङ्ग व्याप्ति या साहचर्य दर्शन है। वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति का सर्व प्रथम सङ्केत महर्षि कणाद के[2] वैशेषिक सूत्र में उपलब्ध होता है। जो हेतु साध्य से सर्वथा अभिन्न अथवा भिन्न सम्बन्ध वाला होता है वह अपदेश नहीं हो सकता अर्थात् हेतु नहीं हो सकता। '**व्याप्तियुक्त**' जो हेतु प्रसिद्धि पूर्वक होता है वही सही हेतु होता है, हेतु अगृहीत व्याप्ति वाला होने पर अनुमिति का जनक नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्ति ग्रहण के प्रकार को व्यक्त करते हुए प्रशस्तपाद[3] कहते हैं कि विधि है जहां धूम है वहां अग्नि है, अग्नि के न रहने पर धूम नहीं रहता है, इस प्रकार प्रसिद्ध व्याप्ति '**समय**' वाले असन्दिग्ध धूम के दर्शन और साहचर्य स्मरण के पश्चात् अग्नि का अध्यवसाय होता है। इस प्रकार विधि को व्यक्त करते हुए आचार्य प्रशस्तपाद ने **समय** और साहचर्य पद के द्वारा व्याप्ति का उल्लेख किया है।

उदयनमत

प्रतिबन्ध '**व्याप्ति**' लक्षण करते हुए किरणावली में आचार्य उदयन[4] लिखते हैं, अनौपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इसका निश्चय अव्यभिचार के निश्चय के विना या उसके कारणीभूत उपाध्यभाव के निश्चय के बिना नहीं हो सकता है। कणाद रहस्यकार[4] ने अव्यभिचरित सम्बन्ध को व्याप्ति मानकर केवलान्वयी स्थल के लिए

---

१. कणादरहस्य अनु० प्र०—शङ्कर मिश्र—चौ० पृ० ९३

२. अन्यदेव हेतुः इत्यनपदेशः, प्रसिद्धोऽनपदेशः। वै० सू०

३. विधिस्तु यत्र धूमः तत्राग्निः अग्न्यभावे धूमो न भवति। एवं प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्ध धूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात्—तदनन्तरम् अग्न्यध्यवसायो भवति—प्र० भा० अनु० प्र० पृ० २९४।

४. ननु तत्रापि व्याप्तिरव्यभिचरितसम्बन्ध······केवलान्वयिनि सम्बन्धमात्रस्यैव व्याप्तित्वात् तदतिरिक्तस्थले त्वव्यभिचारस्योक्तत्वात्—कणादरहस्य अनु० प्र० —शङ्कर मिश्र चौ० ई० १९१७।

मात्र सम्बन्ध को व्याप्ति माना है। केवलान्वयी में साध्याभावयुक्त व्यभिचार का प्रदर्शन सम्भव नहीं है।

आचार्य उदयन के अनौपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति लक्षण की आलोचना करते हुए कणाद रहस्यकार कहते हैं कि साध्य का व्यापक होते हुए साधन का जो अव्यापक होता है उसे उपाधि कहते हैं। व्यापक का अर्थ है, स्वाश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियागी न होना। प्रतियोगी का अर्थ होता है विरोधी, एवं विरोधी का अर्थ है नियम से एक साथ न रहना। नियम का अर्थ है व्याप्ति। इस प्रकार चक्रकदोष होता है। अतः हेतुव्यभिचारी को व्यभिचरित करने वाले साध्य के सामानाधिकरण्य को व्याप्ति कहना चाहिए।

"**कात्स्न्र्येन[1] सम्बन्ध**" को व्याप्ति कहना भी उचित नहीं है क्योंकि कृत्स्न पद यदि साध्य के साथ सम्बन्धित मानें तो सम्पूर्ण साध्यों का हेतु के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। अयोगोलकीय वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार कृत्स्न का हेतु के साथ सम्बन्ध मानें तो भी सभी हेतुओं का साध्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। महानसीय धूम का पर्वतीय वह्नि रूप साध्य के साथ सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार कणादरहस्यकार[2] ने "हेतु के आश्रय में रहने वाले सभी धर्मों के आश्रय में रहने वाले साध्य के आश्रय में वर्तमान होने को व्याप्ति कहा है।"

व्योमशिवमत

व्योमशिवाचार्य[3] ने प्रशस्तपादभाष्य में प्रदर्शित "**विधि**" शब्द का अर्थ व्याप्ति अविनाभाव किया है। व्याप्ति का ग्रहण व्योमशिवाचार्य के अनुसार सामान्य से युक्तों का होता है। अग्नि विशेष और धूम विशेष अनन्त होने से विशेष में व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। विशेषों में रहने वाले अग्नित्व और धूमत्व रूप सामान्य के उपग्राहक होने से उनके आधार पर भूयोदर्शन के बल से अग्नि और धूम में व्याप्ति का ग्रहण होता है।

आचार्य व्योमशिवाचार्य[4] के अनुसार कार्य कारण भाव में भूयोदर्शन के आधार पर ही अविनाभाव का ग्रहण होता है अन्यथा कालान्तरीय देशान्तरीय धूम में अग्नि के बिना धूम के उत्पन्न होने की आशंका बनी ही रहेगी। दूसरी बात यह है कि अग्नि

१. कणादरहस्य अनु० प्र० १ पृ० ६५ चौ० १९१७ ई०
२. मैवं साधनसमनाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यस्य विवक्षितत्वात्—वही पृ० ९५।
३. व्योमवती अनु० प्र० १ चौ० २९८७ संवत् पृ० ५७०
४. व्योमवती अनु० प्र० १ चौ० १९८७ संवत् पृ० ५७१।

का असाधारण कार्य धूम नहीं है। क्योंकि गोपाल घुटिकादि में अग्नि की समाप्ति के पश्चात् धूम से ही धूम की उत्पत्ति होती है। इसलिए उस धूम से अग्नि का अनुमान कैसे कर सकते हैं—जबकि वहां कार्य कारण भाव नहीं है। अग्नि से उत्पन्न धूम से अग्नि का अनुमान मानने पर अग्नि के निश्चय के बिना उस धूम में अग्नि से उत्पन्न होने का निश्चय नहीं हो सकता है और यदि अग्नि का वहां निश्चय है तो अनुमान की क्या आवश्यकता। अत: भूयोदर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है। कार्यकारण भाव व्यर्थ है।

वृक्षत्व और शिंशिपात्व में तादात्म्य पर आधारित व्याप्यव्यापक भाव मानने पर उनमें साध्य साधन भाव नहीं हो सकता, धर्मी की उपलब्धि होने पर उसके साथ तादात्म्य होने से दोनों का ही एकसाथ ज्ञान हो जाने से उनमें साध्य साधनभाव कैसे ? इसी प्रकार रूप से स्पर्शानुमान आदि उदाहरणों में तादात्म्य तदुत्पत्ति न होने पर भी व्याप्ति का ग्रहण होता है आदि दोष व्योमशिवाचार्य ने भी उपस्थित किए हैं।

व्याप्ति का ग्रहण बाह्य इन्द्रिय जन्य सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही होता है क्योंकि बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध ग्रहण में मन का सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार वैशेषिकों के अनुसार भूयोदर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है।

व्याप्ति ग्राहक

उदयन मत

व्याप्तिग्राहक का विवेचन करते हुए किरणावली[1] में आचार्य उदयन कहते हैं कि यद्यपि तादात्म्य और तदुत्पत्ति का उपयोग सहचार के ज्ञान में अथवा व्यभिचार शङ्का के निवारण में है तथापि व्यभिचार शङ्का उपाधि के दर्शन से अथवा उपाधि की शङ्का से उत्पन्न होती है। इनमें सहचार का ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला होने से तदुत्पत्ति निश्चय के बिना भी हो सकता है। व्यभिचार शङ्का भी योग्य उपाधि की योग्यानुपलब्धि द्वारा समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार बौद्ध मत में तदुत्पत्ति लक्षण विशेष के सिद्ध होने पर वाधक प्रमाण के न रहने पर आशङ्का की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार वैशेषिक मत में भी स्वाभाविक सम्बन्ध की सिद्धि होने पर विपक्ष में वाधक प्रमाण के न रहने पर व्यभिचार शङ्का की समाप्ति हो जाती है। विशेष यह है कि स्वाभाविक सम्बन्ध व्यापक है जबकि तदुत्पत्ति आदि प्रत्येक सम्बन्ध अव्यापक हैं।

तादात्म्य की व्याप्तिग्राहकता का खण्डन न करते हुए आचार्य उदयन[2] लिखते

---

१. प्र० भा० किरणावली अनु० प्र० १।

२. वही।

हैं कि कार्य कारणभाव और तादात्म्य का ही व्याप्ति में पर्यवसान होता है यह नहीं कह सकते अन्यथा रस के द्वारा रूप का अनुमान नहीं होना चाहिए। एक सामग्री के आधीन रस के द्वारा रूप का अनुमान होता है। इस बौद्ध कथन की आलोचना करते हुए उदयनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धों ने स्वयं यह स्वीकार कर लिया है कि इनमें न तो तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति। व्याप्य-व्यापक भाव ही कार्य कारणभाव है। यह कथन बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव का कोई नियामक न होने से यह शङ्का ग्रस्त हो जाएगा। इस प्रकार उसका निश्चय सम्भव नहीं होगा। व्यभिचार शङ्का निवारण के लिए कार्यकारण प्रदर्शित किया जाता है, यही यदि व्याप्यव्यापकभाव रूप ही है तो उसके निश्चय से किस प्रकार व्याप्ति का निश्चय होगा। इस प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति की व्याप्तिग्राहकता के खण्डन में लगभग वे ही तर्क आचार्य उदयन ने किरणावली में भी उपस्थित किए हैं, जो तात्पर्यटीका की व्याख्या परिशुद्धि में उन्होंने प्रस्तुत किए हैं जिनका निर्देशन हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। इस प्रकार उदयन के विचार से स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति की स्वाभाविकत्व का नियामक अनौपाधिकत्व ही है। तादात्म्य और तदुत्पत्ति पर आधारित व्याप्य व्यापक भाव में निरुपाधिक ही बीज है। निरुपाधिकत्व का निश्चय के होने पर भी यदि शङ्का उपस्थित होती है तो कार्यकारणभावादि भी कार्य ही हैं। निरुपाधिकत्व का निश्चय किस प्रकार से हो, इस विषय में उदयन[1] लिखते हैं कि जहां व्यभिचार स्फुट व्यभिचार का प्रतिपादन उपाधि के अस्तित्व से किया जाता है, प्रमाणत. उपाधि सिद्ध न होने पर उपाध्य भाव का निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती है।

उपाधि का स्वरूप

अनौपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति होने से उपाधि का विवेचन यहां अप्रासङ्गिक नहीं होता। साध्य का व्यापक होते हुए जो साधन का अव्यापक हो वह उपाधि कहलाता है जैसे यह धूमवान् है क्योंकि वह्निमान् है। इस अनुमान में गीले ईन्धन का संयोग उपाधि है। जहां साध्य अर्थात् धूम रहता है, वहां गीले ईन्धन का संयोग अवश्य रहता है। किन्तु जहां अग्नि होती है वहां गीले ईन्धन का संयोग नहीं रहता है। तप्तलौह में बिना गीले ईन्धन के संयोग के भी अग्नि रहती है।

कणादरहस्य[2] में आचार्य शङ्कर मिश्र ने उदयनाचार्य के उपाधि लक्षण के **संशयानो मित्रानयत्वात् वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्** आदि स्थलों पर दोष दिखा कर **पक्षधर्मविशिष्टसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व** को उपाधि कहा है।

---

१. प्र० भा० किरणावली अनु० प्र० १ बनारस १८६७—पृ० ३००।
२. कणादरहस्य अनु० प्र० १ पृ० ६७।

उपाधि का प्रयोजन

साध्यव्यभिचार से व्याप्ति ज्ञान का प्रतिबन्ध करना उपाधि का प्रयोजन है। उपाधि के व्यभिचार से साध्य के व्यभिचार का अनुमान होता है। उपाध्यभाव से साध्याभाव का अनुमान होता है। जैसे '**धूमवान् अग्नेः**' यहां पर गीले ईन्धन का संयोग रूप उपाधि होने से गीले ईंधन का संयोग के अभाव से धूमाभाव का अनुमान होता है। जहां वह्नि है वहां धूम है। इस प्रकार की व्याप्ति अयोगोलक में न होने से प्रकृत अनुमान में साध्य धूम के साथ अग्नि का व्यभिचार स्पष्टतः प्रतीत होता है। इस प्रकार साध्य व्यभिचार को स्पष्ट करना ही उपाधि का प्रयोजन सिद्ध होता है। फलतः वैशेषिक मत में अनौपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति लक्षण उपलब्ध होता है।

श्रीधरमत

न्यायकन्दलीकार[1] श्रीधर ने भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति की आलोचना करके यह सिद्ध किया है कि स्वभाव के द्वारा ही किसी भी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जो सम्बन्ध होता है वही उपाधि शून्य होने के कारण नियम कहलाता है। उपाधिमूलक सम्बन्ध ही उपाधि के हटने पर समाप्त होता है, स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं। सहभाव विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्कार की सहायता से विरोधी शङ्का रहित अन्तिम प्रत्यक्ष से धूम सामान्य में अग्नि सामान्य का जो स्वाभाविक सामान्याधिकरण्य है उसके निश्चय से ही यह '**धूम**' इस वह्नि से नियत है इह प्रकार के व्याप्ति रूप नियम का ज्ञान होता है।

हेतु का स्वरूप

प्रशस्तपादमत

लिङ्ग अर्थात् हेतु के स्वरूप को आचार्य प्रशस्तपाद[2] ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि जो अनुमेय से सम्बद्ध हो तथा साध्यान्वित से प्रसिद्ध हो तथा अनुमेय से विपरीत में कभी भी न रहता हो वह हेतु अनुमापक होता है। इस प्रकार बौद्धों के समान ही त्रिरूपोपपन्नता को हेतु का स्वरूप प्रशस्तपाद ने बतलाया है। अनुमेय सम्बन्ध से तात्पर्य है व्याप्तिरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध[3] हो। इनमें विरुद्ध और असाधारण हेत्वाभास के निराकरण के लिए '**प्रसिद्धं च तदन्विते**' कहा गया है। अनैकान्तिक हेत्वाभास के निषेध के लिए '**तदभावे च नास्त्येव**' पद आया है। व्योमशिवाचार्य के अनुसार

---

१. न्या० कन्दली० अनु० प्र०।

२. प्रशस्तपादभाष्य अनु० प्र० १।

३. अतश्चानयोर्व्यवच्छेदार्थमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च समानतन्त्रगतमभ्यूह्यम् —व्या० अनु० प्र० चौ० पृ० ५७५।

प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट में त्रिरूपता होने से उसको भी हेतु मानना होगा। अतः समानतया अर्थात् न्यायदर्शन में प्रतिपादित असत्प्रतिपादितत्व और अबाधित-विषयत्व को भी हेतु का स्वरूप मानना चाहिए। 'च' शब्द से यह बात प्रशस्तपाद को भी मान्य है।

व्योमशिवमत

व्योमशिवाचार्य[1] ने प्रशस्तपाद के लक्षण वाक्य को न्यून बतलाया है। क्योंकि इस लक्षण के अनुसार केवलान्वयी में विपक्ष का अभाव होता है और केवलव्यतिरेकी में सपक्ष का अभाव होता है। व्योमशिवाचार्य के विचार से लक्षण के तीन खण्ड करके प्रशस्तपाद प्रतिपादित लक्षण में तीन प्रकार के हेतुओं को पृथक् लक्षण मानना चाहिए जो अनुमेय से सम्बद्ध हो विपक्ष का अभाव होने पर तदन्वित 'अनुमेय' में ही प्रसिद्ध हो वह केवलान्वयी है। जो पक्ष में रहता हो किन्तु सपक्ष न होने पर अनुमेय विपरीत में न रहता हो वह केवलव्यतिरेकी है। तीन अंशों को मिलाकर पूर्ण लक्षण अन्वय-व्यतिरेकी हेतु का है। हेतु का सामान्य लक्षण है—साधन के रहने पर साध्य का अवश्यम्भाव नियम जिसमें हो वह साध्य का साधक हेतु होता है। अन्तिम पद अनुमापक से भाष्यकार ने इसी को व्यक्त किया है।

उदयनमत

आचार्य उदयन ने भी प्रशस्तपाद के लिङ्ग लक्षण को अन्वयव्यतिरेकी हेतु का ही लक्षण माना है। यही कारण है कि उन्होंने लिङ्ग शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है **'निरुपाधिकसाध्यसम्बन्धशालि लिङ्गम्'** इस प्रकार आचार्य उदयन, व्योमशिव, श्रीधर आदि व्याख्याकार प्रशस्तपाद के हेतु के स्वरूप को हेतु सामान्य का स्वरूप नहीं मानते, हेतु विशेष का ही स्वरूप मानते हैं। शंकरमिश्र[2] के अनुसार व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्म लिङ्ग है।

श्रीधरमत

न्यायकन्दलीकार[3] इस प्रश्न का समाधान दो प्रकार से करते हैं। एक वही वाक्य भेद वाला है जो व्योमशिवाचार्य ने किया है। दूसरा समाधान यह है कि वैशे-

---

१. प्र० भा० किरणा० अनु० प्र० १।

२. वै० सूत्र अनु० प्र० १।

३. अत्रैके समानतन्त्रप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनः केवलव्यतिरेकिणश्च परिग्रह इति वदन्ति अपरे तु व्यस्तसमस्तं लक्षणं वदन्ति—न्या० कन्दली० अनु० पृ० पृ० ४८९।

षिकों को हेतु के ये भेद मान्य नहीं हैं। वे अन्वयव्यतिरेकी हेतु को ही 'हेतु' मानते हैं, केवलान्वयी आदि को नहीं। किन्तु प्रतीत होता है कि उन्हें भी केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी को 'हेतु' न मानने में सङ्कट उपस्थित होता है। क्योंकि केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी से सिद्ध होने वाले साध्य को अस्वीकार करना कठिन है। इसलिए उन्होंने भी आचार्य व्योमशिव के अनुसार ही समाधान प्रस्तुत किया।

हेतु के भेद

कणादमत

महर्षि कणाद[1] ने सूत्र में पांच प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया है। कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी और समवायी। प्रशस्तपाद ने **देशकालौ बिना भूतमितरस्य लिङ्गम्** कहकर देशाविनाभूत और कालाविनाभूत दो प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार सूत्र और भाष्य में विरोध होता है।

प्रशस्तपाद

आचार्य प्रशस्तपाद[2] ने इसका उत्तर यह कहकर दिया है कि व्याप्ति के आधार पर हेतु का वर्गीकरण दो ही प्रकार से होता है। क्योंकि व्याप्ति के दो ही प्रकार हैं दैशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति, किन्तु वैशेषिक सूत्र में जो व्याप्ति के लिए कार्यादि सम्बन्धों का उल्लेख है वह केवल उदाहरण के लिए ही हैं, अवधारण के लिए नहीं। ऐसे अनेक हेतु हैं जिनका सूत्र प्रतिपादित हेतुओं में संग्रह नहीं होता है। जैसे ओंकार को सुनाते हुए अध्वर्यु समूह अपने से व्यवहित हवनकर्ता का अनुमापक होता है। चन्द्रोदय समुद्र की वृद्धि और कुमुद पुष्प के विकास का अनुमापक होता है। शरद् ऋतु में जल की स्वच्छता अगस्त्य नामक नक्षत्र के उदय की अनुमापक होती है। अतः अवशिष्ट सभी सम्बन्धों पर आश्रित हेतुओं का संग्रह सूत्रकार ने **'अस्त्येदम्'** इस सम्बन्ध मात्र वाचक पद से किया है। किन्तु पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि सूत्रकार का तात्पर्य सभी सम्बन्धों वाले हेतुओं के ग्रहण में है तो उन्होंने 'अस्त्येदं कार्यम्' क्यों कहा ? जिसका उत्तर कन्दलीकार[3] ने दिया है कि शिष्यों को उदाहरण के द्वारा पूर्ण अभिज्ञ बनाकर यह समझाने के लिए कि साध्य का अव्यभिचारी ही उसका हेतु है कार्यादि हेतुओं का उल्लेख किया है। अतः सूत्र में कार्यादि सम्बन्ध का अभिप्राय यह नहीं है कि सूत्र में कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों से युक्त ही हेतु है। साध्य के अन्य सम्बन्धों से युक्त भी हेतु हो सकते हैं अगर वह सम्बन्ध अव्यभिचरित हो।

---

१. अस्येदं कार्य-कारण-संयोगि-विरोधि-समवायि चेति लैङ्गिकम्—वै० सू० ४८५।

२. प्रशस्तपादभाष्य अनु० प्र० १।

३. न्यायकन्दली अनु० प्र० १।

देशाविनाभूत और कालाविनाभूत हेतु—इस प्रकार का वर्गीकरण ही वैशेषिकों के अनुसार उचित प्रतीत होता है। व्याप्तिपरक सम्बन्ध अनेकानेक होने से उनके आधार पर वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

देशाविनाभूत का उदाहरण श्रीधर[1] ने इस प्रकार दिया है—कश्मीर देश में जब यह देखा जाता है कि यव की क्यारियों का संरक्षण सोने के खजाने के अधिकारी कर रहे हैं तब यह समझा जाता है कि यव की क्यारियों में केसर के अंकुर उग आए हैं। अतः कश्मीर देश की यव की क्यारियों का सोने के अधिकारियों द्वारा संरक्षण यव की क्यारियों में केसर के अंकुर का अनुमापक है।

कालाविनाभूत—प्राग्ज्योतिषपुर के राजगृह में प्रातःकालिक गायन वहां के राजा के जागरण का अनुमापक है।

कार्यकारणभावादि के आधार पर होने वाले अनुमानों के उदाहरण आचार्य शङ्कर मिश्र[2] ने इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं।

कार्यहेतु अनुमान—धूम से अग्नि का अनुमान। कारण—बहिरे को नगाड़े पीटने से शब्द का अनुमान। अथवा—यथाविधि यागस्नानादि धार्मिक कृत्यों से स्वर्गानुमान आदि।

संयोगी-शरीर को देखकर त्वगिन्द्रिय का अनुमान।

विरोधी—फुफकारते हुए सर्प को देख कर झाड़ी में छिपे हुए नेवले का अनुमान।

समवायी—जल की उष्णता से जल सम्बद्ध तेज का अनुमान आदि।

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि हेतुओं की इस प्रकार की गणना उचित नहीं है। व्याप्यता ज्ञान ही अनुमान का प्रयोजक है। सूत्र में कार्यकारण आदि का वर्णन केवल उदाहरण के आशय से किया गया है। हेतु के अनन्त भेद हैं।

व्योमशिव मत

'अन्ये तु' कहकर व्योमशिवाचार्य[3] ने यह मत उपस्थित किया है कि प्रशस्तपाद के मत से जिन अनुमानों का कार्यकारण आदि में समावेश नहीं होता है उनका भी कार्यकारण आदि अनुमानों में समावेश हो सकता है। होता के यज्ञभूमि पर उपस्थित होने से ही अध्वर्यु ॐ शब्द का उच्चारण करता है। उसके बिना नहीं; अतः होता

१. न्यायकन्दली अनु० प्र० १

२. वै० सूत्रोपस्कार पृ० २०४।

३. व्योमवती—अनु० प्र० १।

उसका कारण है। उसी प्रकार चन्द्रोदय समुद्र की वृद्धि का कारण है, क्योंकि उसमें अन्वय व्यतिरेक है। कुमुद विकास में रश्मि द्वारा संयोगित्व है, इसी प्रकार चन्द्रोदय को अगस्त्योदय भी रश्मि द्वारा जल प्रसाद का संयोगी है। अतः सभी हेतुओं का कणाद द्वारा प्रतिपादित हेतुओं में समावेश है। सर्वदेव[1] ने हेतु के भेद अन्वयी और व्यतिरेकी भेद से किए हैं तथा अन्वयी हेतु के अन्वय व्यतिरेक और केवलान्वयी ये दो भेद किए हैं।

परामर्श

उदयन मत

किरणावलीकार[2] का मत है कि भाष्यकार ने प्रसिद्ध समयस्य इत्यादि दृष्टान्त के द्वारा पहले एक लिङ्ग ज्ञान उसके पश्चात् द्वितीय लिङ्ग ज्ञान दिखलाया है। किन्तु इतना ही अनुमिति में कारण नहीं है क्योंकि द्वितीय लिङ्ग ज्ञान वस्तुतः लिङ्ग ज्ञान होने से ही व्याप्ति स्मृति में सहकारी है या लिङ्ग के रूप में उल्लेख होने से ही प्रथम कल्प इसलिए स्वीकार नहीं कर सकते कि इससे धूम का ज्ञान भी अन्य प्रकार से उत्पन्न व्याप्ति स्मृति में कारण हो जाएगा। लिङ्ग के रूप में द्वितीय हेतु दर्शन नहीं होता है। इसलिए तृतीय लिङ्ग दर्शन को स्वीकार करना होता है। तृतीय लिङ्ग दर्शन को स्वीकार करना चाहिए। '**अग्निरध्यवसीयते**' इस वाक्य में अध्यवसाय पद से परामर्श का संग्रह होता है।

दूसरी बात यह है, जो लोग सर्वथा परामर्श को नहीं मानते हैं उन्हें न्यायवाक्य का चतुर्थ अवयव का उपनय नहीं मानना चाहिए। परार्थानुमान में पक्षधर्मता का प्रतिपादन करने के लिए उसकी आवश्यकता है। किन्तु स्वार्थानुमान में पक्षधर्मता द्वितीय हेतु दर्शन द्वारा ही व्यक्त हो जाती है यह कथन ठीक नहीं है। पक्षधर्मता व्याप्ति के साथ मिलकर अनुमान के लिए उपयोगी है। व्याप्ति से युक्त पक्षधर्मता का प्रतिपादन उपनय के द्वारा ही हो सकता है। द्वितीय हेतु दर्शन केवल पक्षधर्मता को अभिव्यक्ति देता है। इसलिए यदि स्वार्थानुमान में भी उपनय का उपयोग है तो तृतीय हेतु दर्शन रूप परार्थानुमान में भी उपनय का प्रयोग व्यर्थ नहीं है।

व्योमशिव का मत

आचार्य व्योमशिव[3] ने भी परामर्श ज्ञान को अनुमिति में साधकतम होने से

---

१. प्रमाणमञ्जरी "राजस्थान—१९५३ पृ. ६३" अन्वयव्यतिरेक निरू०।

२. प्र० भा० किरणावली अनु० प्र० १ वाराणसी पृ० २९६-२९७।

३. परामर्शज्ञानं वा लिङ्गदर्शनायोत्पन्नविशेषणज्ञानमुत्पद्यते साधकतमत्वापेक्षयानुमानम्। व्यो० अनु० प्र० १ चौ० पृ० ५६३।

अनुमान कहा है। उन्होंने परामर्श को अनुमिति के कारण समूहों में समाविष्ट किया है। परामर्श की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए आचार्य व्योमशिव[1] लिखते हैं कि अविनाभाव का स्मरण अनियत होने से नियत स्थान में अग्नि का ज्ञान नहीं होगा। परामर्श उपनयार्थ होने से उसे स्वीकार न करने पर उपनय का वैयर्थ्य होता ही है। अतः अग्निरध्यवसाय पद से **अध्यवसीयतेऽनेनेत्यध्यवसायः**—इस व्युत्पत्ति के आधार पर परामर्श रूप ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए।

शङ्कर मिश्र मत

आचार्य शङ्कर मिश्रने परामर्श को व्यापार रूप में अनुमिति के लिए आवश्यक माना है। **अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते। तदभावे तु नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्** ।। इस कारिका के आधार पर उनका मत है कि हेतु ही अनुमिति का कारण है। उसका परामर्श नहीं। परामर्श निर्व्यापार होने से कारण नहीं हो सकता। परामर्श ही व्यापार है। यदि हेतु को कारण माना जाए तो वहां धूमादि अतीत या अनागत है वहां अनुमिति कैसे होगी ? इस आशङ्का का समाधान करते हुए शङ्कर मिश्र कहते हैं वहां पर अग्नि आदि साध्य की अतीतता या भविष्यता का ही अनुमान होता है क्यों कि उसी में व्याप्ति है अर्थात् धूम जहां अतीत है वहां अग्नि की वर्तमानता का अनुमान नहीं होता है किन्तु वह्नि की अतीतता का ही अनुमान होता है, वहां धूमादि हेतुओं की अतीतता का या भविष्यता का निश्चय नहीं है वहां अनुमिति कैसे होगी इस विषय में आचार्य शङ्कर मिश्र का मत है कि वहां अनुमिति नहीं होगी वहां साध्य सन्देह रहेगा ही।

पक्षधर्मता

पक्षधर्मता अनुमान का द्वितीय अङ्ग है। वैशेषिक भी पक्षधर्मता को आवश्यक अङ्ग मानते हैं। उदयनाचार्य[2] के अनुसार **यल्लिङ्गमनुमेयेन सम्बद्धं** इसका अर्थ है जो हेतु अनुमेय से सम्बद्ध है अनुमिति क्रिया व्याप्त के रूप में इष्ट है वह साधर्म्य से युक्त धर्मी से जो सम्बद्ध है संयुक्त है समवेत और विशेषण है उसमें रहता है। इससे पक्ष-

---

१. अविनाभावसम्बन्धस्य। नियतत्वानियतप्रदेशेऽग्निप्रतिपत्तिर्न स्यात्। उपनयवैयर्थ्यं चोपनयार्थस्यानभ्युपगमात्। वही पृ. ५७०।

२. यल्लिङ्गमनुमेयेन सम्बद्धम् अनुमतिक्रियाव्याप्तमिष्टं तत्साधर्म्यविशिष्टेन धर्मिणा यत्सम्बद्धसंयुक्तं समवेतं विशेषणीभूतं च तस्मिन्वर्तत इत्यर्थः। एतेन पक्षधर्मता लभ्यते। प्र० भा० किरणावली० अनु० प्र० १ बनारस पृ० २६०।

धर्मता का लाभ होता है। इस प्रकार उदयन ने पक्षधर्मता की आवश्यकता को पुष्ट किया है। पक्षधर्मता के रहने से ही भागासिद्ध आदि दोषों का परिहार होता है।

कणादरहस्य में आचार्य शङ्कर मिश्र[1] ने अनुमिति मात्र के लिए पक्षधर्मता ज्ञान को कारण माना है। वे लिखते हैं कि अनुमिति विशेष के लिए व्याप्ति विशेष कारण होती है। एक अनुगत व्याप्ति नहीं होती है। किन्तु अनुमिति मात्र के लिए पक्ष-धर्मताज्ञान अनुगत रूप से कारण होता है।

प्रमाणमञ्जरीकार सर्वदेव[2] ने हेतु का लक्षण करते हुए कहा है कि जो साध्य का अव्यभिचारी हो तथा पक्षधर्मता से युक्त हो वह हेतु है। पक्षधर्मता का प्रयोजन आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासों का निवारण है जो सभी तार्किक स्वीकार करते हैं।

व्योमशिवाचार्य[3] के अनुसार 'अनुमेयेन सम्बद्धं' यहां पुनः इस शब्द का अभि-धान करने से पक्ष में भी व्याप्ति का लाभ होता है। अतः पक्ष में व्याप्ति के लाभ के लिए पक्षधर्मता का ग्रहण आवश्यक है। यह कुछ लोगों का मत है।

अनुमान के भेद

दृष्टानुमान

प्रशस्तपाद[4] ने अनुमान के दो भेद स्वीकार किए हैं। दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट अनुमान का लक्षण करते हुए कहते हैं, 'प्रसिद्धसाध्ययोः **अत्यन्तजात्यभेदे अनुमानं यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरेऽपि सास्नाभावदर्शनात् गविप्रतिपत्तिः**" तात्पर्य यह है कि "प्रसिद्धसाध्ययोः पक्ष और सपक्ष में जातितः अभेद होने पर जो अनुमान किया जाता है वह दृष्टानुमान कहलाता है। जैसे नगर में गाय की सास्ना को देखकर अन्य स्थान झाड़ी आदि में छिपी गाय की सास्ना को देखकर गाय का अनुमान होता है कि यह छिपा प्राणी गाय है क्योंकि सास्ना है पूर्व देखी हुई गाय के समान।

---

१. अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति पक्षधर्मताज्ञानस्यैव जनकत्वात् अनुमितिविशेषं प्रति व्याप्तिविशेषस्य प्रयोजकत्वात्—। कणादरहस्य अनु० निरू० चौ० पृ० ९४।

२. प्रमाणमञ्जरी लैङ्गिकी बु० निरू०।

३. व्योमवती अनु० प्र० १।

४. प्रशस्तपादभाष्य अनु० वि० प्र० १

व्योमशिवाचार्य

व्योमशिवाचार्य[1] की दृष्टानुमान की व्याख्या इस प्रकार है "प्रसिद्धश्च साध्यश्चेति प्रसिद्धयोः प्रसिद्धसाध्ययोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्जात्यभेदे यदनुमानं तद्दृष्टम्" इनका अभिप्राय है कि अत्यन्त जात्यभेद का अर्थ है साध्यधर्म दृष्टान्त में ही जिस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य है उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में प्रत्यक्षार्ह है। यही साध्यधर्माभेद है जाति अर्थात् सामान्य का अभेद यहां विवक्षित नहीं है। अतः इसका उदाहरण है यह चित्रादि किसी कर्ता के द्वारा सम्पादित है क्योंकि चित्रादि के जैसे पूर्व में उपलब्ध चित्र आदि कार्य। इसका रहस्य यही है कि साध्य धर्म अनुमान में पूर्व और पश्चात् भी प्रत्यक्षादि हैं अतः जाति की भिन्नतः होने पर भी दृष्टानुमान सम्भव है। 'प्रसिद्धौ च तौ साध्यौ चेति प्रसिद्धसाध्यौ" इस प्रकार का समास करने वाले टीकाकार की आलोचना करते हुए व्योमशिवाचार्य[2] लिखते हैं—वहां दृष्टान्तधर्मी प्रसिद्ध होने से साध्य नहीं हो सकता है और दार्ष्टान्तिक प्रसिद्ध नहीं है अतः प्रसिद्धौ च तौ इत्यादि समास नहीं हो सकता।

किरणावलीकार[3] ने प्रशस्तपाद के दृष्ट अनुमान के लक्षण की दो प्रकार से व्याख्या की है। एक पूर्वोक्त ही है "**प्रसिद्धं साध्यं ययोः तथा पक्षसपक्षौ तदमुयोः पक्ष सपक्षयोः जात्यभेदे एकजातीयत्वे सति यदनुमानं तद्दृष्टम् 'गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरे गविप्रतिपत्तिः सा गौः सास्नावत्त्वात् दृश्यमानगोपिण्डवत्**' किरणावलीकार की दूसरी व्याख्या इस प्रकार है "**प्रसिद्धं यत्पूर्वलिङ्गेन सह दृष्टं साध्यं यत् सम्प्रत्यनुमेयं तयोरत्यन्तजात्यभेदे सति इत्यादि**" पूर्व में गोत्व जाति से युक्त व्यक्ति में सास्ना की उपलब्धि से अभी भी गोत्व जाति से युक्त व्यक्ति का अनुमान दोनों गोत्व व्यक्तियों में रहने वाले गोत्व में अत्यन्त जात्यभेद के कारण होता है। यह दूसरी व्याख्या श्रीधर की न्यायकन्दली में भी उपलब्ध होती है, श्रीधर के अनुसार पहले गोत्व जाति से युक्त गौ व्यक्ति में ही सास्ना की उपलब्धि हुई। अभी भी सास्ना से जो गौ की अनुमिति होती है वह गोत्व से युक्त गो व्यक्ति की ही होती है क्योंकि दोनों में रहने वाली गोत्व जाति एक ही है।

सामान्यतोदृष्ट

सामान्यतोदृष्टानुमान के स्वरूप को व्यक्त करते हुए प्रशस्तपाद कहते हैं जिस

---

१. व्योमवती—चौ० सं० १९३० पृ० ५७४ "अनु० वि० निरू०।

२. व्योमवती—अनु० वि० प्र० १ " चौ० सं० १९३० पृ० ५७४।

३. किरणावली अनु० वि० प्र० १।

हेतु के साथ में ज्ञात साध्य और उसी हेतु द्वारा वर्तमान में ज्ञात साध्य दोनों भिन्न जाति के हों, उस हेतु सामान्य से साध्य सामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान होता है उसे सामान्यतोदृष्टानुमान कहा जाता है। जैसे कृषक वणिक् और राजपुरुषों की सफल प्रवृत्तियों को देखकर वर्णाश्रमियों को उन धार्मिक प्रवृत्तियों के भी फल का अनुमान होता है—जिनका फल प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता है।[1]

भाष्य की व्याख्या करते हुए किरणावलीकार[2] ने सामान्यतोदृष्ट का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है "**पूर्वम् अत्यन्तं जातिभेदे सति लिङ्गं च अनुमेयधर्मश्च लिङ्गा-नुमेयधर्मौ तयोः सामान्यलिङ्गानुमेयधर्मे सामान्ये तयोरनुवृत्तितो लिङ्गसामान्यसाध्य-सामान्येन सह अविनाभावाद् यदनुमानं तत् सामान्यतोदृष्टम्।**"

इस प्रकार के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहने का तात्पर्य यह है साध्ये 'पक्ष' और दृष्टान्त अत्यन्त भिन्न जाति के हैं फिर भी उक्त दृष्टान्त के द्वारा अनुमान की उत्पत्ति उस सामान्य व्याप्ति के आधार पर होती है जो प्रवृत्ति सामान्य की फल सामान्य के साथ है। जहां-जहां प्रवृत्ति है वहां-वहां फल बना है। इस प्रकार व्याप्ति के भेदों सामान्य व्याप्ति और विशेष व्याप्ति को आधार बनाकर अनुमान का उक्त प्रकार से वर्गीकरण वैशेषिकों ने किया है।

न्यायकन्दलीकार श्रीधर[3] ने भी इस विषय में उदयनाचार्य की व्याख्या का अक्षरशः अनुसरण किया है। चार्वाक लोग जो वर्णाश्रमी लोगों की प्रवृत्ति का प्रयो-जन जीविकापार्जन रूप दृष्ट फल मानते हैं उनके अनुसार सामान्यतोदृष्टानुमान का उदाहरण सिद्ध साधन दोष ग्रस्त है। इस आक्षेप के समाधान में श्रीधर[4] लिखते हैं कि इस प्रकार के महापुरुष भी हैं जो वर्णाश्रमियों के लिए निर्दिष्ट अग्निहोत्रादि अनुष्ठानों का आचरण करते हैं जिनको जीविकादि दृष्टफलों के प्रति निस्पृहा है। अतः यह अनु-मानोदाहरण सिद्धसाधन दोष से दूषित नहीं है।

व्योमशिवाचार्य[5] ने सामान्यतोदृष्ट का लक्षण करते हुए लिखा है प्रसिद्ध साध्यों अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकों में सर्वथा जातिभेद अर्थात् साध्य धर्मभेद होने पर जो

---

१. प्रश॰ भा॰ अनु॰ प्र॰ १।
२. प्रभा॰ किरणावली अनु॰ वि॰ प्र॰ १
३. न्यायकन्दली अनु॰ वि॰ प्र॰ १ वा॰ सं॰ वि॰ त्रि॰ पृ॰ ५०६।
४. वही अनु॰ प्र॰ १ पृ॰ ५१०।
५. व्योमवती अनु॰ प्र॰ १ पृ॰ ५७५।

अनुमान होता है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। उदाहरण है वर्णाश्रमियों की प्रवृत्ति अभिप्रेत फल के द्वारा फलवती है क्योंकि प्रेक्षापूर्वकादि प्रवृत्ति है जैसे—कर्षक आदि की प्रवृत्ति।

परार्थानुमान

अनुमान का स्वार्थ और परार्थ रूप में वर्गीकरण सर्वप्रथम ब्राह्मण दार्शनिकों में प्रशस्तपाद ने ही किया है। आचार्य प्रशस्तपाद[1] के अनुसार पञ्चावयव वाक्य के द्वारा स्वनिश्चित अर्थ का प्रतिपादन करना परार्थानुमान है। परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्यों से ही संशयित विपर्यस्त और अव्युत्पन्न व्यक्ति के बोध के लिए स्वयं को निश्चित अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है।

किरणावलीकार मत

परार्थानुमान के स्वरूप को व्यक्त करते हुए उदयन[2] कहते हैं—परार्थनुमान पञ्चावयव वाक्य रूप ही है। 'वाक्येन' इस शब्द की तृतीया इत्थभूत लक्षण को व्यक्त करती है। अथवा प्रशस्तपाद की 'पञ्चावयव' की व्याख्या इस प्रकार से करके भी वाक्य को परार्थानुमान बतलाया जा सकता है। "**सुनिश्चितस्यानुमेयस्य प्रतिपादनं प्रतिपत्तियेन लिङ्गप्रतिपादनावान्तरव्यापारवता पञ्चावयवेन वाक्येन स्मतिसमारूढेन परार्थं भवति तत्तथाभूतं वाक्यं परार्थानुमानमिति।**" बौद्धमत से वैशेषिकमत में यही अन्तर है कि बौद्ध पञ्चावयवों को आवश्यक नहीं मानते हैं जबकि प्रशस्तपाद **पञ्चावयवेनैव** कहकर पञ्चावयवों से एक को भी छोड़ना नहीं चाहते हैं।

श्रीधरमत

न्यायकन्दलीकार[3] ने प्रशस्तपाद के आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

---

१. प्रशस्तपादभाष्य अनु० निरू०।

२. प्र० भा० किरणावली अनु० निरू०।

३. न्यायकन्दली अनु० निरू०।

४. यह वर्गीकरण प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के प्रभाव से किया है अथवा यह प्रशस्तपाद के प्रभाव से दिङ्नाग ने किया इसके विषय में मतभेद के प्रमाणों के अभाव में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु पांच अवयवों का न्यायसूत्रों में प्रतिपादन इस बात को इङ्गित करता है कि यद्यपि शब्द मात्र से सूत्रकार ने स्वार्थ और परार्थ अनुमान का कथन नहीं किया किन्तु इसका अभिप्राय उनके मस्तिष्क में अवश्य रहा अन्यथा पञ्चावयव का प्रयोजन ही नहीं था। यदि इस तर्क को माना जाता है तब प्रशस्तपाद का इस प्रकार का अनुमान विभाग गौतम से प्रभावित माना जाना चाहिए न कि दिङ्नाग से।

स्वयं साध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽर्थः इस व्युत्पत्ति के अनुसार साध्य की व्याप्ति से युक्त वस्तु ही स्वनिश्चित शब्द का अर्थ है। उस स्वनिश्चित का पञ्चावयव वाक्य के द्वारा जो प्रतिपादन अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट हेतु के बोध को उत्पन्न करने में समर्थ पञ्चावयव वाक्य प्रयोग परार्थानुमान है। हेतु के जितने रूपों में साध्य का अविनाभाव स्पष्ट होता है उतने रूपों से युक्त हेतु का प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य करता है उस वाक्य से प्रतिपादित हेतु साध्य का साधक होता है। इस प्रकार वाक्य से साध्य की सिद्धि न होने के कारण उस प्रमा को शाब्दबोध नहीं कहा जा सकता। बौद्धों[1] ने भी त्रिरूप हेतु के प्रकाशन को ही परार्थानुमान कहा है—उनके विचार से वाक्य को अनुमान गौण रूप से कहा जाता है। अतः परार्थानुमान के स्वरूप के विषय में त्रिरूप और पञ्चरूपवाला ही भेद दोनों के मतभेद का कारण है।

कन्दलीकार[2] ने 'अपरे तु' कहकर परार्थानुमान की एक अतिरिक्त व्याख्या प्रस्तुत की है जो अथवा इस विकल्प से किरणावली में आचार्य उदयन[3] ने प्रस्तुत की है जो कि आचार्य व्योमशिव की व्याख्या है—जिसका आशय है कि साध्य ही प्रकृत स्वनिश्चितार्थ शब्द से अभिप्रेत है। इसी साध्य का प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य से होता है। साध्य व्याप्य हेतु का ज्ञान बीच का अवान्तर व्यापार होने से पञ्चावयव वाक्य साध्य का ज्ञापक होने पर भी उसे शाब्दबोध नहीं कह सकते। क्योंकि केवलमात्र शब्द ही जहां ज्ञापक होता है वहीं शाब्दबोध होता है। त्र्यवयव[4] वाद और द्व्यवयव[5] के निराकरण के लिए ही पञ्चावयवेनैव यहां एवकार का प्रयोग प्रशस्तपाद ने किया है।

यहां न्यायकन्दलीकार[6] ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि वाक्य के द्वारा अर्थ के प्रतिपादन को परार्थानुमान कैसे कहा जा सकता है। हेतु अथवा हेतुजनित ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। हेतु और हेतु का ज्ञान परार्थ नहीं है। अनुमान वाचक शब्द परार्थ होने से अनुमान को परार्थ कहा जाय तो प्रत्यक्षवाचक शब्द के भी परार्थ होने से प्रत्यक्ष भी परार्थ कहा जाना चाहिए। ज्ञातव्य है बौद्धों ने त्र्यवयववाक्य को गौण

१. स्वेन दृष्टः स्वदृष्टः स्वदृष्टश्चासौ अर्थश्चेति त्रिरूपो हेतुः तस्य प्रकाशनं वचनं अनुमानहेतुरित्यर्थः—प्र० वा० मनो० टी० पृ० ३६३।
२. न्यायकन्दली अनु० प्र०।
३. न चैवं सत्यनुमेयप्रतिपत्तेः शाब्दत्वप्रसङ्गः केवलस्य शब्दस्यानिमित्तत्वात्—प्र०भा० किरणावली अनु० निरू०।
४. व्योमवती अनु० निरू०।
५. त्रयोऽवयवा इति मीमांसकाः वा० भा० खद्योत।—१-३४
६. ज्ञानाद्वा ज्ञानहेतोर्वा······कल्प्यते—न्यायकन्दली अनु० प्र०।

रूप से अनुमान कहा है, मुख्य रूप से हेतु का हेतु दर्शन ही अनुमान है, जैन तार्किक सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष के भी दो भेद स्वार्थ और परार्थ किये हैं।

इस विषय में न्यायकन्दलीकार[1] का समाधान यह है कि सभी शब्द परार्थ होने से उसके द्वारा होने वाला अनुमान परार्थ है। यह हमारा मत नहीं है किन्तु दूसरों को बोध कराने की इच्छा से प्रयुक्त पञ्चावयव वाक्य अपने द्वारा उपस्थित उपयुक्त हेतु की प्रतीति के द्वारा अनुमिति का कारण होता है। अतः वह परार्थानुमान है। इस प्रकार जहां हेतु का बोध प्रत्यक्ष के ज्ञापक शब्द के द्वारा होगा वहां प्रत्यक्ष वाचक शब्द को परार्थ कहना चाहिए। यह आपत्ति नहीं हो सकती ऐसे स्थलों में लोक में शब्द प्रयोग होते नहीं देखा गया है।

पञ्चावयव वाक्य से शाब्दबोध किस प्रकार से होता है इसकी चर्चा प्रशस्तपाद के तीनों टीकाकारों, व्योमशिव उदयन और श्रीधर ने की है। स्फोटादि वादों का निराकरण करके यह सिद्ध किया है कि पूर्व वर्ण के द्वारा अनुगृहीत अन्त्यवर्ण स्वानुभव के साथ अर्थ का प्रतिपादक होता है, एक वर्ण का ज्ञान होने पर उसका संस्कार उत्पन्न होता है। इस क्रम से अन्तिम वर्ण का ज्ञान होता है। उस ज्ञान से पूर्व सभी संस्कारों के द्वारा सभी वर्णों का स्मरण होकर अन्तिम वर्ण से अर्थ की प्रतीति होती है। इस विषय की सम्पूर्ण प्रक्रिया का दिग्दर्शन टीकाकारों[2] ने किया है।

न्यायावयव

प्रशस्तपादमत

प्रशस्तपाद[3] ने अवयवों का लक्षण न करके उनका विभाजन प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नाय के रूप में किया है। नैयायिकों के पञ्चावयवों से इनका नामतः ही भेद है वस्तुतः इनके स्वरूपों से कोई अन्तर नहीं है।

प्रशस्तपाद के टीकाकारों में से केवल आचार्य श्रीधर[4] ने अवयव की परिभाषा प्रस्तुत की है जिसपर भाष्यकार वात्स्यायन[5] की स्पष्ट छाप है। अवयव की परिभाषा

---

१. अत्र समाधिः नशब्दस्य परार्थत्वात्······न प्रसङ्गः तत्र लौकिकशब्दप्रयागाभावात्। न्या० क०

२. व्योमवती अनु०प्र०।

३. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः प्र० भा० अव० प्र०।

४. प्रतिपादनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे प्रतीतिः पर्यवस्यति, तस्य पञ्च भागाः समूहापेक्षयावयवा इत्युच्यन्ते। न्या० क० अब० प्र०।

५. साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते—वा० भा०—१-१-३४

करते हुए आचार्य श्रीधर कहते हैं अभीष्ट अर्थ की प्रतीति जिन शब्दों के समूह से सम्पन्न होती है, उसके पांच भाग होते हैं, वाक्य के वे ही पांच भाग वाक्यसमूह की इकाइयों के रूप में अवयव कहलाते हैं।"

प्रतिज्ञा

अनुमेय का अविरोधी कथन ही प्रतिज्ञा हैं।[1] अर्थात् जिस धर्म **'साध्य'** का प्रतिपादन पक्ष में अभीष्ट है उस धर्म से युक्त धर्मी में हेतु के सम्बन्ध को दिखलाने के लिए साध्य से युक्त पक्ष का कथन ही प्रतिज्ञा है जैसे वायु द्रव्य है। पूर्व में अनुमेयोद्देशी विरोधी की व्याख्या का प्रयोजन आचार्य उदयन ने स्पष्ट किया है जिसका आशय है कि यदि **अनुमेयोद्देशी विरोधी**, इतना ही लक्षण प्रतिज्ञा का होगा तो **"यत्कृतकं तदनित्यम्"** इस कथन को भी प्रतिज्ञा कहना होगा क्योंकि यह भी अनुमेयोद्देशो विरोधी है, इसलिए प्रशस्तपाद[2] ने **प्रतिपादयितुमिष्टेन धर्मेण विशिष्टो धर्मः पक्षः तस्योद्देशमात्रमभिधानमात्रं साधनरहितं प्रतिज्ञा'** अर्थात् जिसका प्रतिपादन अभीष्ट है ऐसे धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहा जाता है। बिना साधन वाक्य के उस पक्ष का संकीर्तन प्रतिज्ञा है। इसी व्याख्या का समर्थन आचार्य श्रीधर ने भी किया है।

व्योमशिवमत

आचार्य व्योमशिव[3] ने प्रशस्तपाद की व्याख्या इस प्रकार की है **'यो हि धर्मः प्रतिपादयितुमिष्टः तद्विशिष्टो धर्मी पक्षः तस्योद्देशमात्रं प्रत्यक्षाविरुद्धम् परेषामनिश्चितार्थाभिधायकं वचनं प्रतिज्ञेति'**। प्रशस्तपाद ने जो अपने लक्षण का विवरण किया था उसमें उन्होंने प्रत्यक्षाविरुद्ध को छोड़ दिया था इसलिए व्योमशिव ने उसका संग्रह करना आवश्यक समझा, अन्यथा आगे जो भाष्यकार ने अविरोधी ग्रहण का प्रयोजन प्रस्तुत किया है वह व्यर्थ हो जाता। दूसरों को निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करने वाली प्रतिज्ञा का असाधनाङ्गत्व होने से उसका निषेध करने के लिए व्योमशिव ने परेषामनिश्चितार्थाभिधायक शब्द का उपयोग किया है।

प्रतिज्ञा का प्रयोजन

प्रतिज्ञा का प्रयोजन व्यक्त करने के लिए भाष्यकार[4] ने **अपदेशविषयमापाद-**

---

१. तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा—प्र० भा० पृ० ५६६।

२. प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोपदेशेन विषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा प्र० भा० अव० प्र०।

३. व्योमवती अव० प्र०।

४. प्रशस्तपाद भाष्य अव० प्र०।

यितुम् यह वाक्य लिखा है जिसका तात्पर्य है कि किसी विशेषधर्मी में साध्य की सिद्धि के लिए ही हेतु का प्रयोग होता है वह विशेषधर्मी अगर प्रतिपादित न हो तो बिना आश्रय के हेतु का प्रयोग ही नहीं होगा और हेतु प्रयोग के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती। अतः प्रतिज्ञा वाक्य, पक्ष रूप धर्मी के ज्ञापक प्रमाण को उपस्थित करते हुए हेतु के आश्रय को समीप लाता है। इस प्रकार आश्रय के कथन से हेतु की प्रवृत्ति करने वाली प्रतिज्ञा अनुमान का अंग है।

व्योमशिवाचार्य[1] के अनुसार प्रतिज्ञा वाक्य के बिना संदिग्ध विपर्यस्त अव्युत्पन्न पुरुषों की प्रमेय विशेष के लिए आकांक्षा का ज्ञान न होने से पुरुष मात्र के लिए प्रमेय मात्र का प्रतिपादन करने वाला वादी उन्मत्त समझा जाएगा। अतः प्रतिज्ञा का प्रयोग परार्थानुमान में आवश्यक है। अपि च जिस प्रकार हेत्वर्थ साध्य के बोध में कारण है उसी प्रकार प्रतिज्ञार्थ कर्म है। इस प्रकार दोनों में कारणता एक ही प्रकार की होने से पक्ष का प्रयोग न करने का कोई उचित कारण नहीं है। कर्म की उपस्थिति से ही करणों की उपयोगिता देखी जाती है। अतः कर्म की उपस्थिति के लिए प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग करना ही चाहिए। यहां यह प्रश्न उठता है कि उपनय के द्वारा ही हेतु के आश्रय की उपस्थिति होती है तो प्रतिज्ञा वचन की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान श्रीधर[2] के अनुसार यह है कि प्रतिज्ञा वाक्य के बिना उपनय की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। उपनय से हेतु का पक्ष में अस्तित्व बतलाया जाता है। जिज्ञासु को साध्य के प्रति पहले आकांक्षा होती है पश्चात् हेतु के प्रति। अतः हेतु वचन के पहले साध्य वचन की अपेक्षा होती है। अतः प्रतिज्ञा वचन का प्रयोग सर्वप्रथम होना चाहिए।

प्रतिज्ञाभेद

प्रतिज्ञा लक्षण में **अविरोधी** पद के ग्रहण से प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, स्वशास्त्रविरुद्ध एवं स्ववचनविरुद्ध प्रतिज्ञाओं का निराकरण होता है क्योंकि इस प्रकार की प्रतिज्ञायें अनुमान की अंग नहीं हो सकती है।

प्रत्यक्षविरोधी प्रतिज्ञा	अग्नि अनुष्ण है।
अनुमानविरोधी प्रतिज्ञा	आकाश के अवयव घन हैं
आगमविरोधी प्रतिज्ञा	ब्राह्मण के द्वारा सुरा पी जानी चाहिए।

१. व्योमवती अव० प्र०।
२. न्यायकन्दली अव० प्र०।

स्वशास्त्रविरोधी प्रतिज्ञा	वैशेषिक दर्शन में कार्य सत् है।
स्ववचनविरोधी प्रतिज्ञा	शब्द अर्थ प्रतीति का कारण नहीं है।

वैशेषिक मत में दो ही प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान मान्य होने पर स्वशास्त्र विरोधी प्रतिज्ञा कैसे बन सकती है, शास्त्र नामक कोई प्रमाण नहीं है यह सत्य है किन्तु स्वशास्त्रविरोधी कहने का तात्पर्य है कि लोक में प्रमाण के रूप में प्रसिद्ध तथा वैशेषिकों द्वारा अनुमान के रूप में गृहीत शब्द प्रमाण विरुद्ध अथवा दूसरों द्वारा स्वयं स्वीकृत आगम प्रमाण विरोधी प्रतिज्ञा भी प्रतिज्ञाभास है।

श्रीधरमत

न्यायकन्दलीकार ने भी दूसरे प्रकार से यह प्रश्न प्रस्तुत किया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा निर्णीत तत्त्व का अन्वाख्यान ही शास्त्र कहलाता है, अतः शास्त्र विरोध वस्तुतः प्रत्यक्ष और अनुमान का ही विरोध है। उसी प्रकार वैशेषिक मत में शब्द की अर्थबोधकारणता अनुमान द्वारा ही निश्चित होती है अतः **शब्दो नार्थ-प्रत्यायकः** यह प्रतिज्ञा भी वस्तुतः अनुमानविरोधी है। इस प्रकार स्ववचनविरोध और स्वशास्त्रविरोध प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा विरोध में ही समाविष्ट हो जाते हैं। उसका पृथक् संगणन अनावश्यक प्रतीत होता है। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि प्रमाणाभास[1] मूलक भी बौद्ध आदि के शास्त्र हैं अतः बौद्ध मत में सब कुछ अक्षणिक है यह प्रतिज्ञा स्वशास्त्रविरोधी ही होगी। प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर क्षणिकता सिद्ध नहीं होती है अतः उसमें प्रत्यक्ष और अनुमान का विरोध नहीं है। उसी प्रकार कभी किसी का वचन अप्रमाण मूल भी हो सकता है अतः उसका विरोध भी प्रमाणविरोध नहीं कहा जा सकता, उसे स्ववचनविरोध ही कहना चाहिए।

वस्तुतः प्रत्यक्ष और अनुमान विरोधी प्रतिज्ञाओं को ही प्रतिज्ञाभास मानना उचित है। स्वशास्त्र का विरोध या स्ववचन का विरोध युक्ति के आधार पर वस्तु सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता है। गदाधर[2] भट्टाचार्य ने व्युत्पत्ति वाद में स्पष्ट कहा है कि किसी ग्रन्थकार का विपरीत लेखन युक्ति के आधार पर वस्तु सिद्धि में बाधक

१. न्यायकन्दली अव० प्र०।

२. नहि कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं युक्तिबलाद्वस्तुसिद्धौ बाधकम्। व्युत्पत्ति-वाद—प्रथमा०—गदाधर।

नहीं हो सकता है अत: स्वशास्त्रविरोधी और स्ववचनविरोधी प्रतिज्ञा भी वस्तुसिद्धि में बाधक नहीं हो सकती है।

अपदेश

हेतु बोधक वाक्य ही अपदेश है। जैसा कि कहा गया है जो अनुमेय में साध्य के साथ रहे एवं सभी तत्सजातीयों में अर्थात् सभी सपक्षों में सामान्य रूप से प्रसिद्ध हो एवं उसके विपरीत अर्थात् विपक्षों में कदापि न रहे वह हेतु है। उस हेतु का प्रतिपादक वाक्य अपदेश कहलाता है।[1] जैसे "**द्रव्यं वायु:**" इस प्रतिज्ञार्थ की सिद्धि के लिए **क्रियावत्त्वगुणवत्त्वाच्च** यह हेतुवचन है, गुणवत्व हेतु अनुमेय वायु में है सभी सपक्ष मूर्त द्रव्यों में हैं और यह सभी विपक्षी द्रव्य भिन्न पदार्थों में नहीं है उसी प्रकार कर्म भी अनुमेय वायु में है तथा सपक्ष मूर्तद्रव्यों मे है तथा विपक्ष द्रव्य भिन्न पदार्थों में नहीं है अत: ये दोनों प्रतिज्ञार्थ के साधक हेतु हैं। इसका वाचक तृतीयान्त अथवा पञ्चम्यन्त वचन अपदेश है। पञ्चावयवों का प्रयोग करते समय हेतु का पञ्चमी अथवा तृतीया विभक्ति के साथ प्रयोग किया जाता है।

निदर्शन 'उदाहरण'

प्रशस्तपादमत

प्रशस्तपाद[2] ने निदर्शन का कोई सामान्य लक्षण बतलाये बिना ही उसका विभाजन साधर्म्य निदर्शन और वैधर्म्य निदर्शन के रूप में किया है प्रशस्तपाद के टीका-कार व्योमशिवाचार्य ने निदर्शन शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर दो प्रकार के लक्षण बतलाये हैं—1—**निदर्श्यते साध्यसाधनयोर्वहिर्व्याप्तिरस्मिन्निति निदर्शनं दृष्टान्त:।** इस व्युत्पत्ति के आधार पर निदर्शन शब्द को दृष्टान्त वाचक बतलाया है जिसका अर्थ है साध्य और हेतु की वाह्य व्याप्ति का प्रदर्शन जिसमें होता है वह दृष्टान्त निदर्शन कहलाता है। 2—दूसरी व्युत्पत्ति है **निर्दिश्यते साध्यसाधनयोर्व्याप्तिरनेनेति निदर्शनं व्याप्तिप्रतिपादकदृष्टान्तवचनम्।** इस व्युत्पति के आधार पर व्याप्तिप्रतिपादक दृष्टान्त वचन। यह निदर्शन अवयव की परिभाषा बनती है।

---

१. लिङ्गवचनमपदेश:। यदनुमेयेन सहचरितं तत्समानजातीये सर्वत्र सामान्येन प्रसिद्धं तद्विपरीते च सर्वस्मिन्नसदेव तल्लिङ्गमनुमापकम्, तस्य वचनमपदेश:। प्र० भा० अनु० प्र०।

२. साध्यसाधनयोरनुगमो निदर्श्यते येन वचनेन तद्वचनं साधर्म्यनिदर्शनम्—प्र० भा० अव० प्र०।

साधर्म्य निदर्शन

अनुमेय[1] साध्य सामान्य के साथ हेतु सामान्य की व्याप्ति देखी जाय यह साधर्म्य निदर्शन है[2] जैसे जिसमें क्रिया देखी जाती है वह द्रव्य ही होता है जैसे तीर। तीर में क्रिया देखी जाती है और वह द्रव्य भी है। उपर्युक्त साधर्म्य निदर्शन का लक्षण वस्तु का है, वचन का नहीं और वचन ही अवयव होने से श्रीधर[3] ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है। साध्य और हेतु का एक स्थान पर रहना जिस वाक्य से प्रतिपादित हो उसे साधर्म्य निदर्शन कहते हैं।

वैधर्म्य-निदर्शन

अनुमेय के अभाव के साथ जहां हेतु का अभाव देखा जाय वह वैधर्म्य निदर्शन अर्थात् वैधर्म्य-दृष्टान्त है।[4] जैसे जो द्रव्य नहीं है उसमें क्रिया भी नहीं है। जैसे सत्ता। सत्ता जाति द्रव्य नहीं, उसमें क्रिया भी नहीं है। साधर्म्य निदर्शन से वैधर्म्य निदर्शन का भेद यही है कि जहां साध्य के अभाव से हेतु का अभाव बतलाया जाता है। निदर्शन व्याप्ति का प्रतिपादक होने से इसकी द्विविधता का आधार व्याप्ति की द्विविधता है अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक मूल रूप से निदर्शन के भेद के आधार हैं।

अनुसन्धान 'उपनय'

आचार्य प्रशस्तपाद[5] ने यहां पर भी साधर्म्यानुसन्धान और वैधर्म्यानुसन्धान के पृथक्-पृथक् लक्षण लिखे हैं। अनुसन्धान का लक्षण न्यायकन्दलीकार[6] ने इस प्रकार किया है। दृष्टान्त में साध्य सामान्य के साथ ज्ञात हेतु सामान्य का अनुमेय 'पक्ष' में

१. अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम्—प्र० भा० न्या० क० अव० प्र०।

२. तत्रानुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानं साधर्म्यनिदर्शनम्—प्र० भा० अव० प्र०।

३. साध्यसाधनयोरनुगमो निदर्श्यते येन वचनेन तद्वचनं साधर्म्य-निदर्शनम्—न्या० क० अव० प्र०।

४. अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम्—प्र० भा०न्या० क० अव० प्र०।

५. प्र० भा० अव० प्र०।

६. निदर्श्यते निश्चितासाध्यसाधनयोर्व्याप्तिरस्मिन्निति निदर्शनं दृष्टान्तः,···दृष्टान्ते साध्याविनाभूतत्वेन दर्शितं लिङ्गं पक्षेऽनुसन्धीयते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या। —न्या० क० अव० प्र०।

अस्तित्व का प्रदर्शन जिस वाक्य से किया जाता है वही अनुसन्धान है। **"अनुसन्धीयते अनेन"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर दृष्टान्त प्रदर्शन जिस वाक्य के द्वारा होता है वही अनुसन्धान है।

साधर्म्यानुसन्धान

निदर्शन **'दृष्टान्त'** में साध्य सामान्य के साथ हेतु सामान्य की सत्ता का पक्ष में बोध कराने वाला वाक्य ही साधर्म्यानुसन्धान है।[1] तात्पर्य यह है कि हेतु पक्ष में है इतना कहने मात्र से हेतु सामान्य में साध्य सामान्य का बोध कराने का सामर्थ्य उपलब्ध नहीं होता है, उसके लिए आवश्यक है कि उदाहरण में साध्य व्याप्त रूप से ज्ञात हेतु सामान्य का पक्ष में अस्तित्व बतलाया जाय। उसके लिए जो वाक्य प्रयुक्त होता है वही साधर्म्यानुसन्धान कहलाता है। जैसे—उसी प्रकार वायु भी क्रियावान है। तात्पर्य यह है कि वायु को द्रव्य सिद्ध करने के लिए तीर को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जाता है तथा जिस प्रकार क्रियावान् तीर द्रव्य है उसी प्रकार वायु भी क्रियावान् है। यह कह कर द्रव्यत्व की व्याप्त क्रिया का प्रदर्शन वायु में किया जाता है अतः यह वाक्य साधर्म्यानुसन्धान कहलाता है।

वैधर्म्यानुसन्धान

विपक्ष में अनुमेय **साध्य** के अभाव के रहने पर हेतु के अभाव का ज्ञापन जिस वाक्य के द्वारा किया जाता है वह **वैधर्म्यानुसन्धान है** जैसे कोई वायु में द्रव्यत्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त क्रिया हेतु की व्याप्ति समझाने के लिए वैधर्म्य निदर्शन वाक्य का प्रयोग करता है जो द्रव्य नहीं है उसमें क्रिया भी नहीं है जैसे सत्ता, वायु सत्ता के समान क्रिया शून्य नहीं है। इस प्रकार का प्रयोग वैधर्म्यानुसन्धान है।

अनुसन्धान 'उपनय' की आवश्यकता

उदाहरण के द्वारा गृहीत व्याप्ति वाले हेतु वचन से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है ऐसी अवस्था में अनुसन्धान की क्या आवश्यकता है, व्योमशिवाचार्य[2] का उत्तर है कि अनुसन्धान के बिना हेतु के अबाधित विषयत्व रूप धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। हेतु वाक्य केवल कारण को ही उपस्थित करता है, गृहीत साध्य व्याप्ति वाले हेतु की अन्तर्व्याप्ति "पक्ष में व्याप्ति" का प्रतिपादन नहीं करता है और अन्तर्व्याप्ति के ज्ञान के बिना पक्ष में अनुमिति संभव नहीं है। **'तथा च क्रियावान् वायुः'** कहने पर

---

१. अनुमेयाभावे च तस्यासत्त्वमुपलक्ष्य न च तथा वायुर्निष्क्रियः इति—प्र० भा० अव० प्र०।

२. प्र० भा० व्यो० अव० प्र०।

वायु में द्रव्यत्व और क्रियावत्व की व्याप्ति ज्ञात होती है। अतः अनुसन्धान अन्तर्व्याप्ति को व्यक्त करने के लिए आवश्यक है।

स्वार्थानुमान के अनुसार परार्थानुमान होता है। स्वार्थानुमान में व्याप्ति स्मरण के अनन्तर नियत स्थान में साध्य ज्ञान के लिए परार्थात्मक ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार परार्थानुमान में भी होनी चाहिए। परार्थानुमान में परामर्श का उपस्थापक उपनय वाक्य ही होता है। अतः उपनय '**अनुसन्धान**' की आवश्यकता असन्दिग्ध है।

आचार्य श्रीधर[1] के अनुसार भी पक्षधर्मता के बोध के लिए उपनय का प्रयोग आवश्यक है। यदि कहें कि हेतु वाक्य से हेतुत्व का बोध तब तक संभव नहीं है जब तक कि उसके द्वारा पक्षधर्मता का बोध नहीं हो जाता तो यह भी कहा जा सकता है कि हेतु वाक्य के हेतुत्व का बोध तब तक संभव नहीं है जब तक उससे व्याप्ति का बोध नहीं हो जाता। इस प्रकार उपनय के साथ निदर्शन की भी आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यदि हेतु वाक्य हेतुत्व रूप अन्यार्थ का बोधक होने से व्याप्ति के बोध का उसमें सामर्थ्य नहीं है तो यही बात उपनय के साथ भी है। हेतुवाक्य हेतुत्व का बोधक होने से पक्षधर्मता का बोध कराने का सामर्थ्य उसमें नहीं है अतः पक्षधर्मता का उपस्थापन करने के लिए अनुसन्धान को पृथक् रूप से परार्थानुमिति के लिए कारण मानना आवश्यक है। जिस प्रकार पक्षधर्मता के उपस्थापन के लिए उपनय वचन आवश्यक है उसी प्रकार हेतुत्व के उपस्थापन के लिए हेतु वचन भी आवश्यक है। हेतु वचन के बिना हेतु स्वरूप का पता न चलने से हेतु के सामर्थ्य के प्रति कोई जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होगी और फिर उदाहरणादि के प्रयोग की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः न तो उपनय का स्थान हेतु ग्रहण कर सकता है और न हेतु का स्थान उपनय[2] यह बात न्यायभाष्यकार ने भी कही है हेतु वचन के न रहने पर किसका साधन स्वरूप प्रदर्शित किया जायेगा।

प्रत्याम्नाय 'निगमन'

सर्व प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य से अनुमेय रूप में कथित होने पर भी जो अनिश्चित

१. उपनयेऽपि पक्षधर्मताग्राहकप्रमाणानुसारादेव तद्धर्मतानिश्चयो नावयवमात्रत्वात्। न्या० क० अव० प्र०।

२. असति हेतुवचने साधनस्वरूपानयबोधात्, तत्सामर्थ्यं जिज्ञासाया अनुपपत्तौ उदाहरणादिवचनानां प्रवृत्त्यभावात् —तथा च न्यायभाष्यम् —"असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्यते" इति—न्या० क० अव० प्र०।

है उस साध्य को दूसरों को निश्चय कराने के लिए प्रयुक्त प्रतिज्ञा वाक्य का पुन: कथन प्रत्याम्नाय कहलाता है ।[1] तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिज्ञा वाक्य से साध्य का निर्देश होने पर भी दूसरों को बोध नहीं होता है, अत: उन्हें हेत्वादि अवयवों से प्राप्त शक्ति वाले अन्तिम वाक्य के द्वारा निश्चय कराना होता है । एतदर्थ जो वाक्य प्रयुक्त होता है वही प्रत्याम्नाय है । जैसे **तस्मात्०** अर्थात् द्रव्यत्व की व्याप्ति से युक्त क्रिया का आश्रय होने से वायु द्रव्य है ।

प्रत्याम्नाय का प्रयोजन

इस प्रत्याम्नाय के बिना शेष चार अवयव वाक्य स्वतन्त्र रूप से या मिल कर भी प्रत्याम्नाय के तात्पर्य को उपस्थित नहीं कर सकते हैं । अत: उसकी स्वतन्त्रता रूप से उपस्थिति आवश्यक है । ज्ञात अर्थ का ही ज्ञापक होने से प्रत्याम्नाय की कोई आवश्यकता नहीं है, यह उचित नहीं है, क्योंकि फिर प्रतिज्ञा और हेतु को छोड़कर निदर्शन और अनुसन्धान भी व्यर्थ हो जायेंगे, प्रतिज्ञा वाक्य के पश्चात् हेतु के ही उच्चारण से अन्वय और व्यतिरेक का स्मरण होकर उदाहरण और उपनय के बिना भी व्याप्ति के ज्ञाता पुरुष को साध्य ज्ञान हो जायेगा और उससे अभीष्टार्थ की सिद्धि हो जायेगी । अत: प्रतिज्ञादि विचार अवयवों का उपयोग जिस कारण आवश्यक है उसी कारण प्रत्याम्नाय का प्रयोग भी आवश्यक है ।

प्रत्याम्नाय की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्रीधर[2] कहते हैं कि उदाहरणादि वाक्यों से हेतु की व्याप्ति और पक्षधर्मता ही ज्ञात होती है, किन्तु केवल व्याप्ति और पक्षधर्मता मात्र हेतु के धर्म नहीं हैं । उक्त सामर्थ्य के रहने पर सत्प्रतिपक्षित और बाधित हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं होती है अत: उन दोनों की निवृत्ति के लिए फलत: अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व का भी हेतु में प्रतिपादन करना आवश्यक है । प्रमाण के द्वारा जब तक इन दोनों सामर्थ्यों का प्रतिपादन नहीं होगा तब तक प्रतिपक्ष की सम्भावना बनी रहेगी । अत: इन दोनों सामर्थ्यों का प्रतिपादन करने के लिए प्रत्याम्नाय का प्रयोग आवश्यक है ।

---

१. अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः । प्र० भा० प्र० ।

२. वाक्यं लिङ्गसामर्थ्यमेव बोधयति न साध्यम् । किन्तु तस्य सामर्थ्यं व्याप्ति-पक्षधर्मतामात्रं सत्यपि तस्मिन् प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टयोरसार्थकत्वात्, अपितु अबाधित-विषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमपि सामर्थ्यम् तावत्प्रतिपक्षसम्भवशङ्काया अनिवर्तनात्—न्या० क० अव० निरु० ।

परार्थानुमान में सर्वत्र पञ्चावयवों का प्रयोग आवश्यक नहीं है, अव्युत्पन्नों के लिए ही सभी अवयव आवश्यक हैं। यह जैन मत पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है। न्यायकन्दलीकार[1] का मत है कि व्युत्पन्न के लिए परार्थानुमान का प्रयोग ही नहीं है। परार्थानुमान का प्रयोग अव्युत्पन्न के लिए ही है, क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्ति को समझना कठिन है, बोद्धा के सामर्थ्य के अनुसार वाक्यों का प्रयोग सम्भव नहीं है, प्रत्येक की समझने की शक्ति भिन्न होती है। अतः वस्तुस्थिति के अनुसार दूसरों को बोध कराने के लिए हेतु का जितना सामर्थ्य आवश्यक है, उतना जितने वाक्यों से स्पष्ट होता हो उतने वाक्यों का प्रयोग करना ही चाहिए। अतः ज्ञाता की शक्ति के अनुसार वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए। यह कथन समीचीन नहीं है। निगमन के विना विपरीत प्रमाण के अस्तित्व का अभाव ज्ञात नहीं होता है। अतः इसमें ही सद्धेतु के सामर्थ्य की परिसमाप्ति है।

अनुमान के दोष :

वैशेषिक दर्शन में बौद्ध दर्शन के समान ही अनुमान के तीन दोष प्रतिपादित किये गए हैं। प्रतिज्ञाभास, हेत्वाभास और निदर्शनाभास। प्रतिज्ञाभास के प्रत्यक्षादि विरुद्ध पांच प्रकार पूर्व में बतलाये जा चुके हैं। अतः यहां उनका विवेचन पुनरुक्ति ही होगा। इन आभासों के रहने पर या इनमें से किसी एक के रहने पर होने वाली अनुमिति भी आभास होती है अतः जिनके अस्तित्व का ज्ञान अनुमति को रोकता है वे सब अनुमान के दोष हैं।

हेत्वाभास

कणाद मत

महर्षि कणाद के **अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्च** इस सूत्र में प्रयुक्त **अनपदेश** शब्द का अपदेशो हेतुर्न भवति इस व्युत्पत्ति के अनुसार अहेतु अर्थात् हेत्वाभास अर्थ है।[2] ब्रजनारायण[3] शर्मा ने "जो प्रसिद्ध युक्त न हो वह अनपदेश अर्थात् हेत्वाभास कहलाता है।" यह कणाद का हेत्वाभास लक्षण दिया है वह उचित नहीं है। अप्रसिद्ध आदि हेत्वाभास के प्रकार हैं उनका लक्षण में समावेश नहीं हो सकता है। इसीलिए व्योमशिवाचार्य[4] ने अनपदेश का अर्थ किया है "**अपदेशवदाभासमानाः सम्यङ्मतावपदेशाभासाः**" अपदेश के समान सम्यक् मति में भासित होने वाले अपदेशा-

१. न्या० क० अव० निरू०।

२. अपदेशो हेतुर्न भवतीत्यनपदेशोऽहेतुरित्यर्थः—न्या० क० अव० प्र०।

३. भारतीय दर्शन में अनुमान पृ० ३१२

४. व्योमवती वृ० हेत्वा० निरू०।

भास हैं। आचार्य श्रीधर[1] ने भी इसी बात का समर्थन इन शब्दों में किया है "**अपदेशो हेतुर्न भवतीत्यनपदेशो हेतुरित्यर्थः।**"

प्रशस्तपाद मत

प्रशस्तपाद[2] ने काश्यप कारिका के आधार पर लिङ्ग और लिङ्गाभास के लक्षण को स्पष्ट किया है। सपक्ष सत्त्वादि तीन रूपों में से एक या दो लक्षणों से भी रहित हेतु को कश्यप ने असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध नाम का हेत्वाभास कहा है। इसी कारिका की व्याख्या में प्रशस्तपाद ने कहा है। पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष-सत्त्व रूप हेतु के तीन धर्मों में से एक या दो धर्मों से रहित हेतु साध्यानुमिति का कारण नहीं बन सकता है अर्थात् वह हेत्वाभास है।

व्योमशिवमत

व्योमशिवाचार्य[3] ने हेतुवदाभासमानत्व हेत्वाभास का लक्षण कहा है। जो हेतु की तरह साभास प्रकट करे वह हेत्वाभास है। "**अन्ये तु**" कहकर उन्होने दूसरा लक्षण इस प्रकार लिखा है "अहेतु जो पक्षधर्मता आदि धर्मों में से किसी एक धर्म से सम्बन्ध होने के कारण हेतु के समान ज्ञान होते हैं वे हेत्वाभास हैं। यहां अन्यतम शब्द से किसी एक धर्म का ग्रहण होने से यह लक्षण अव्याप्त है क्योंकि दो धर्मों से युक्त होने पर भी अहेतु हेत्वाभास कहलाता है।[3]

उदयन मत

प्रशस्तपादोक्त कारिका की व्याख्या करते हुए किरणावलीकार[4] कहते हैं उक्त लक्षणों में से एक या दो लक्षणों अथवा तीनों लक्षणों से रहित, तथा कालात्ययापदिष्टत्व और प्रकरणसमत्व से जो युक्त है उसे काश्यपात्मज कणाद ने लिङ्गाभास कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि उदयनाचार्य[5] हेतु के लक्षण में पाँच रूपों का समावेश करते

---

१. न्या० क० हेत्वा० निरू०।

२. यस्तु यथोक्तात् त्रिरूपाल्लिङ्गादेकेन धर्मेण द्वाभ्यां वा विपरीतं तदनुमेयस्याधिगमे लिङ्गं न भवति—प्र. भा. हेत्वा. प्र.।

३. अतो हेतुवदाभासमानत्वाद् हेत्वाभासा इति सिद्धं लक्षणम्। व्योम. हेत्वा. निरू.।

४. प्र. भा. किरणा. हेत्वा० निरू०।

५. अत उक्तं लक्षणालिङ्गात् कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमत्वरहितात् एकेन लक्षणेन द्वाभ्यां लिङ्गलक्षणाभ्यां वा शब्दात् त्रितयेन च यद्विपरीतं रहितं तदलिङ्गंसामान्यतो लिङ्गाभासं काश्यपात्मजः कणादोऽब्रवीत्—किरणा. हेत्वा.

हैं, जिनका उल्लेख प्रशस्तपाद और कणाद ने नहीं किया है। अन्यथा कालात्ययापदिष्ट और सत्प्रतिपक्षित हेतु को भी सदहेतु मानना होगा। यद्यपि सूत्र और भाष्य में कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम का कोई उल्लेख नहीं है, तो भी किरणावलीकार,[1] सूत्रकार का समर्थन प्राप्त करने के लिए सूत्रस्थ **'च'** पद का आश्रय लेते हैं। चकार से अनपदेश की पुनरावृत्ति करके कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम का संग्रह करना चाहिए।

अनपदेश शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर भी अनपदेश ही हेत्वाभास सामान्य का लक्षण है। **अपदिश्यते व्यपदिश्यतेनेनेति व्यपदेशो हेतुनापदेशोनपदेश: अहेतुस्तद्विरोधी हेत्वाभास इत्यर्थः।** जिसके द्वारा अपदेश अर्थात् व्यपदेश किया जाता है, वह अपदेश ही हेतु कहलाता है जो अपदेश नहीं है वह अनपदेश अर्थात् अहेतु है। हेतुविरोधी हेत्वाभास है।

शंकरमिश्र मत

उपस्कारकार ने त्रिरूपता या पञ्चरूपता पर कोई जोर नहीं दिया है, उनके अनुसार जिस हेतु के जितने रूप गमकता के उपयोगी होंगे उनमें किसी एक रूप से रहित हेतु हेत्वाभास है। इस प्रकार त्रिरूपता और पञ्चरूपता के विवाद में न पड़कर उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। सर्वदेव आदि ने हेत्वाभास सामान्य के इसी प्रकार से लक्षण किए हैं।

हेत्वाभास के भेद

कणादमत

महर्षि कणाद[2] के अनुसार अप्रसिद्ध, असत् और सन्दिग्ध तीन प्रकार के हेत्वाभाव हैं जिन्हें पदार्थ संग्रहकार ने विरुद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध कहा है।

उदयनमत

न्यायकन्दलीकार के अनुसार उक्त सूत्र के अप्रसिद्ध शब्द से विरुद्ध और असाधारण इन दोनों का संग्रह करना चाहिए। साध्यधर्म के साथ इनकी प्रसिद्धि न होने से इन हेतुओं में सपक्षसत्त्व नहीं है। फलतः ये अप्रसिद्ध हेत्वाभास हैं। असत् शब्द से असिद्ध नामक हेत्वाभास अभिप्रेत है। यह सपक्ष वृत्ति होने पर भी पक्ष वृत्ति नहीं होता है। **'सन्दिग्धश्च'** इस पद से अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा गया है। अनै-

---

१, चकारादनपदेशस्य च पुनरावर्तनादन्यापि कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमरूपो हेत्वाभासोऽस्तीति सूचितम्—वही पृ. २५८

२. अप्रसिद्धाऽनपदेशासन् सन्दिग्धश्चेति—प्रभा. हेत्वा. निरू.

कान्तिक यद्यपि पक्षवृत्ति होता है किन्तु यह सन्देह रहता ही है कि वह साध्य के साथ रहता है या साध्याभाव के साथ। अतः वह साध्य साधक न होने से हेत्वाभास है। इस प्रकार श्रीधर के अनुसार, विरुद्ध, असाधारण, असिद्ध और अनैकान्तिक ये चार प्रकार के हेत्वाभास सिद्ध होते हैं।

आचार्य प्रशस्तपाद[1] ने चार हेत्वाभासों का वर्णन किया है, असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध और अनध्यवसित। आचार्य शंकर मिश्र का कथन है कि वैशेषिक मत में सव्यभिचार विरुद्ध और असिद्ध तीन ही प्रकार के हेत्वाभास हैं। बाध और सत्प्रतिपक्ष काश्यपीय मत में स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं हैं। बाध का आश्रयासिद्ध या अनैकान्तिक में अन्तर्भाव होता है जैसा कि कहा गया है। '**बाधायाम् अपक्षधर्मो हेतुनैकान्तिको वा इति**" सत्प्रतिपक्ष भी एकत्र व्याप्त्यादि के संशय को उत्पन्न करते हुए अनैकान्तिक में ही पर्यवसित होता है।

उदयन के मत की आलोचना करते हुए शंकर मिश्र[2] कहते हैं '**अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्च**' इस सूत्र के चकार पद से बाध तथा सत्प्रतिपक्ष का ग्रहण होता है यह उदयन का मत ठीक नहीं है। प्रशस्तपाद भाष्य में '**विरुद्धासिद्ध सन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्**' इस कारिका में तीन प्रकार के ही हेत्वाभास कहे हैं। अतः हेत्वाभास तीन ही हैं। चकार सूत्र में समुच्चय के लिए आया है। कालात्ययापदिष्ट और सत्प्रतिपक्ष के संग्रह के लिए नहीं।

न्यायलीलावतीकार[3] ने भी स्पष्ट कहा है कि असिद्ध, विरुद्ध सव्यभिचार '**सन्दिग्ध**' और अनध्यवसित ये चार ही हेत्वाभास होते हैं। बाध और प्रतिरोध हेत्वाभास नहीं है किन्तु दोनों व्याप्तिग्रह और पक्षधर्मता के अपहारक होने से सिद्धसाधन के समान ही अनुमान के दूषक होते हैं, इनको हेत्वाभास मानने पर सिद्ध साधन को भी हेत्वाभास मानना होगा।

छः प्रकार के हेत्वाभास माननेवाला भी एक मत[4] वैशेषिक दर्शन में मिलता है। प्रमाणमञ्जरीकार सर्वदेव छः प्रकार के हेत्वाभास मानते हैं। उनके अनुसार असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक के अतिरिक्त असाधारण, अबाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष ये तीन अन्य भी हेत्वाभास हैं।

---

१. एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति। प्र. भा. हेत्वा. निरू.

२. वै. उप. हेत्वा. प्र.

३. न्याय. लीलावती हेत्वा० निरू.

४. ये तु षष्ठं हेत्वाभासमप्रयोजकमाहुस्तेषामप्रयोजकं व्याप्यत्वासिद्धावन्तर्भवति कणाद्-रहस्य हेत्वा. प्र.।

प्रशस्तपाद के भाष्य को हम वैशेषिकों का मानक ग्रंथ मानकर उनके विभाजन को स्वीकार करके हेत्वाभासों के प्रकारों का विवेचन करेंगे।

असिद्ध

प्रशस्तपादमत

भाष्यकार[1] ने असिद्ध का सामान्य लक्षण नहीं लिखा है। सीधे ही उनका विभाजन कर दिया है। आचार्य व्योमशिव[2] ने 'आशङ्क्यमान पक्षवृत्तित्व' यह असिद्ध का सामान्य लक्षण कहा है। आशंक्यमान पक्ष में सभी विशेषणासिद्धादि हेतु वृत्ति होने से सर्वव्यापी यह असिद्ध का सामान्य लक्षण है। आशङ्क्यमान पक्षावृत्तित्व यह लक्षण असमर्थ विशेषणासिद्धादि हेत्वाभासों में घटित नहीं हो सकता है अतः पूर्व लक्षण ही उचित है।

श्रीधर मत

न्यायकन्दलीकार[3] ने असिद्ध का लक्षण किया है सपक्ष में साध्य धर्म के साथ प्रसिद्ध होते हुए भी पक्ष में नहीं रहता है वह असिद्ध है, जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि चाक्षुष है यहां चाक्षुषत्व सपक्ष घटादि में रहते हुए भी पक्ष शब्द में नहीं रहता है।

वल्लभाचार्यमत

असिद्ध का लक्षण करते हुए वल्लभाचार्य[4] कहते हैं लिङ्ग के रूप अनिश्चित हेतु असिद्ध है। इनके इस लक्षण में सभी असिद्धों का समावेश होने पर भी अन्यों का समावेश होने से यह लक्षण उचित प्रतीत नहीं होता। प्रमाणमञ्जरीकार सर्वदेव ने पक्ष धर्म के रूप में अज्ञात हेतु को असिद्ध कहा है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि चाक्षुष है। इस अनुमान में चाक्षुषत्व पक्ष धर्म के रूप में अज्ञात होने से असिद्ध हेत्वाभास है, व्याप्यत्वासिद्ध में अव्याप्ति वारण के लिए ''व्याप्तिविशिष्ट' यह विशेषण पक्षधर्म में लगाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्म के रूप में जो अज्ञात है वह असिद्ध हेत्वाभास है। शंकर मिश्र[5] के अनुसार व्याप्ति और पक्षधर्मता का अभाव असिद्ध है।

---

१. तत्रासिद्धश्चतुर्विधः प्र.।

२. व्योमवती हेत्वा. प्र.।

३. असन् इति असिद्धस्यावरोधः, स हि सपक्षे साध्यधर्मेण सह प्रसिद्धोऽपि धर्मिणि वृत्त्यभावादहेतुः। न्या० क० हेत्वा० प्र०।

४. न्या० ली० हेत्वा० प्र०।

५. कणाद रहस्य अनु० प्र० पृ० १०१।

असिद्ध के भेद

आचार्य प्रशस्तपाद[1] के अनुसार असिद्ध के चार भेद हैं। उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तदभावासिद्ध और अनुमेयासिद्ध।

(क) **उभयासिद्ध**[2]—जो वादी प्रतिवादी दोनों के लिए असिद्ध हो वह उभयासिद्ध कहलाता है—जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि सावयव है। वादी नैय्यायिक प्रतिवादी मीमांसक दोनों शब्द को सावयव नहीं मानते हैं इसलिए यह उभयासिद्ध हेत्वाभास है।

(ख) **अन्यतरासिद्ध**[3]—जो वादी और प्रतिवादी दोनों में से एक के लिए असिद्ध हो वह हेतु हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि कार्य है' इस अनुमान में हेतु कार्यत्व प्रतिवादी मीमांसक के लिए असिद्ध है।

(ग) **तद्भावासिद्ध**[4]—जिस हेतुतावच्छेदक रूप से युक्त हेतु के द्वारा साध्य की अनुमिति अभिप्रेत हो हेतु का वह रूप जिस हेतु में न रहे वह हेतु तद्भावासिद्ध कहलाता है। जैसे—धूम से वह्नि की अनुमिति के अभिप्राय से अगर वाष्प को धूम समझकर उपस्थित करे तो वाष्प धूमत्व से युक्त न होने के कारण वह तद्भावासिद्ध हेत्वाभास है।

(घ) **अनुमेयासिद्ध**[5]—जिसका अनुमेय '**पक्ष**' असिद्ध हो वह हेतु अनुमेयासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे—'**तमद्रव्य**' पार्थिव है क्योंकि कृष्ण रूप से युक्त है। इस अनुमान का कृष्ण रूप हेतु अनुमेयासिद्ध हेत्वाभास है। तम में द्रव्यत्व सिद्ध न होने से द्रव्यत्व से युक्त तम स्वरूप पक्ष ही असिद्ध है अतः उसमें पार्थिवत्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त कृष्णरूप-हेतु हेतु न होकर हेत्वाभास है।

व्योमशिवाचार्य[6] ने यह प्रश्न उपस्थित करके अन्यत्र विशेषणासिद्ध विशेष्यासिद्ध आदि भी असिद्ध के भेद बतलाए हैं। उनका संग्रह न होने से उपर्युक्त विभाजन अयुक्त है। उसका समाधान किया है कि उनका उभयासिद्ध अथवा अन्यतरासिद्ध

---

१. प्रशस्तपादभाष्य—हेत्वा० पृ. ५७६-५७८
२. उभयोर्वादिप्रतिवादिनोरसिद्धः यथा अनित्यशब्दः सावयवत्वादिति। वही ५७
३. अनित्यः शब्दः कार्यत्वादिति। वही पृ. ५७८
४. धूमाभावेनाग्न्याधिगतौ कर्तव्यायामुपन्यस्यमानो वाष्पो धूमाभावेनासिद्धः। वही पृ. ५७८।
५. यथा पार्थिवं द्रव्यं तमः कृष्णरूपत्वादिति। वही पृ० ५७८
६. नन्वेवं विशेषणासिद्धादिप्रपञ्चग्यण्या सद्ग्रहणादयुक्तोऽयं विभागः न उभयासिद्धेन्यतरासिद्धे वान्तर्भावात्। व्योम. हेत्वा. निरू. पृ. ६०६

में अन्तर्भाव होता हैं। इसी का समर्थन आचार्य श्रीधर[1] ने भी किया है।

न्यायकन्दलीकार[2] के मत से प्रशस्तपाद का उपर्युक्त विभाजन युक्तियुक्त नहीं है। जैसे कि हेतुवादी और प्रतिवादी दोनों के लिए असिद्ध होने पर उभयासिद्ध हेत्वाभास होता है। एवं हेतुवादी प्रतिवादी दोनों में से एक के लिए असिद्ध होने पर अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास होता है वैसे ही आश्रय दोनों के असिद्ध होने पर उभयासिद्ध '**आश्रयासिद्ध**' और आश्रय दोनों में से एक के लिए असिद्ध होने पर अन्यतरासिद्ध '**आश्रय**' सिद्ध हेत्वाभास होना चाहिए। अतः जिस प्रकार विशेषणासिद्धादि हेत्वाभासों का उपर्युक्त दोनों हेत्वाभासों में अन्तर्भाव हो जाता है वैसे अनुमेयासिद्ध और तद्भावासिद्ध का भी होना चाहिए। आचार्य व्योमशिव[3] का कथन है कि उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध के अवान्तर भेद की अपेक्षा से तद्भावासिद्ध परार्थानुमान प्रस्तुत होने से अन्यतरासिद्ध और उभयासिद्ध भिन्न-भिन्न ही हैं।

आचार्य शंकर मिश्र[4] ने नव्यों के प्रभाव से असिद्ध के तीन भेद व्याप्यत्वासिद्ध स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध स्वीकार किए हैं।

व्याप्यत्वासिद्ध

जहां सहचार दर्शन और व्यभिचार दर्शन है, विपक्षबाधकता नहीं हैं वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। जैसे—मन विशेष गुण का आश्रय है क्योंकि मूर्त है जैसे—मन विशेष गुण का आश्रय है क्योंकि मूर्त है जैसे घट। इस अनुमान में मूर्तत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। मूर्तत्व के साथ विशेष गुण का सहचार घटादि में देखा गया है और मन में उसका व्यभिचार भी देखा गया है। विपक्ष में बाधक तर्क भी नहीं है। यदि मन में मूर्तत्व होते हुए भी विशेष गुण का अभाव माना जाए तो इस शंका का निवारक कोई तर्क नहीं है। अतः यह व्याप्यत्वासिद्ध हेतु है।

स्वरूपासिद्ध

पक्ष में न रहने वाला हेतु स्वरूपासिद्ध कहलाता है। जैसे—'शब्द नित्य है क्योंकि सावयव है' यह शब्द में सावयवत्व का अत्यन्ताभाव है।

---

१. विशेषणासिद्धादयः अन्यतरासिद्ध उभयासिद्धेष्वेवान्तर्भवन्तीति पृथङ् नोक्ताः। न्या. क. हेत्वा।

२. न्या. क. हेत्वा. निरू.

३. व्योम. हेत्वा. निरू.

४. असिद्धस्तु त्रिविधो व्याप्यत्वासिद्ध स्वरूपासिद्धः आश्रयासिद्धश्च। क. र. अनु. प्र

आश्रयासिद्ध

शंकरमिश्र[1] के अनुसार आश्रयासिद्ध के दो भेद हैं। आश्रयस्वरूपासिद्ध और आश्रयविशेषणासिद्ध।

आश्रयस्वरूपासिद्ध

जहां हेतु का आश्रय अप्रसिद्ध व अलीक हो वह हेतु आश्रय स्वरूपासिद्ध है। जैसे—गगनारविन्द सुगन्धी है, क्योंकि अरविन्द है इस अनुमान में गगनारविन्द रूप पक्ष अलीक है।

आश्रयविशेषणासिद्ध

जहां सिद्ध साधन होता है वहां आश्रय का विशेषण सन्देह अथवा सिषाधयिषा के अभाव होने से वह हेतु विशेषणासिद्ध होता है। जैसे महानस में अग्नि का प्रत्यक्ष होने पर भी कोई अनुमान करता है—महानस में अग्नि है क्योंकि धूम है। यहाँ संदेह अथवा सिषाधयिषा का अभाव होने से धूम हेतु आश्रय विशेषणासिद्ध है।

व्योमशिवमत

व्योम शिवाचार्य[2] ने असिद्ध के अन्य अवान्तर भेदों का भी सोदाहरण उल्लेख किया है। जैसे—विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, असमर्थविशेष्यासिद्ध, व्यधिकरण-विशेषणासिद्ध, व्यधिकरणविशेष्यासिद्ध, विरुद्धविशेषणासिद्ध, अन्यथासिद्धविशेषणासिद्ध आदि।

विरुद्ध[3]

जो हेतु अनुमेय के सभी सजातियों में न रहे एवं अनुमेय के विरोधी विपक्ष में रहे, वह हेतु साध्य के विपरीत साध्याभाव का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे यह अश्व है क्योंकि इसके सींग हैं। इस अनुमान में सींग हेतु न तो इस अश्व में है और न अश्व सजातीय में है अपितु अश्व से भिन्न गाय आदि में रहता है। इसलिए अश्व से विपरीत का साधक होने से यह विरुद्ध हेतु है। विषाण हेतु विपक्ष भाव में नहीं रहता है, यह विपक्ष की एक इकाई गाय आदि में रहता है अश्व आदि

१. कणादरहस्य पृ. १०२
२. व्योमवती, हेत्वा० निरू०
३. यो ह्यनुमेये विद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः, यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति। प्र० भा० हेत्वा० प्र० १८०।

में नहीं रहता अतः विपक्ष के एक देश में रहने वाले विरुद्ध का यह उदाहरण है—शब्द नित्य हैं क्योंकि कार्य है। यह उदाहरण विपक्षमात्रवृत्ति विरुद्ध हेतु का है।

व्योमशिवमत

व्योमशिवाचार्य ने विरुद्ध के चार भेद सोदाहरण प्रस्तुत किए हैं—१. विद्यमान सपक्ष विपक्ष व्यापक २. अविद्यमान सपक्ष विपक्ष व्यापक ३. विद्यमान सपक्ष विपक्षैकदेशवृत्ति ४. विपक्षैकदेशवृत्ति।

१. **विद्यमान सपक्ष विपक्ष व्यापक**—शब्द नित्य है क्योंकि कार्य है।

२. **अविद्यमान सपक्ष विपक्ष व्यापक**—सभी कार्यों का सर्वज्ञ कर्ता है क्योंकि प्रमेय है।

३. **विद्यमानसपक्ष विपक्षैकदेशवृत्ति**—जीवित शरीर सात्मक हैं क्योंकि कार्य हैं।

४. **विपक्षैकदेशवृत्ति**—यह अश्व हैं क्योंकि इसके सींग हैं।

सन्दिग्ध

जो पक्ष में रहते हुए उसके समान जातीय सपक्ष और असमान जातीय 'विपक्ष' दोनों में रहकर पक्ष में साध्य के सन्देह को उत्पन्न करता है वह सन्दिग्ध है। जैसे—यह गौर है क्योंकि इसके सींग है। सींग जैसे इस प्राणी के हैं वैसे ही गाय के हैं और महिष के भी हैं। इस प्रकार विषाण पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में समान रूप से रहने के कारण इस प्राणी के गाय होने का सन्देह उत्पन्न करता है। अतः यह सन्दिग्ध हेत्वाभास है।[1]

सन्दिग्ध हेत्वाभास के अन्य मत की व्याख्या का खण्डन भाष्यकार[2] ने किया है, एक ही पक्ष में दो विरुद्ध हेतुओं के रहने पर संशय उत्पन्न होता है। फलतः यह दूसरा हेतु सन्दिग्ध हेत्वाभास है, जैसे मन के मूर्तत्व और अमूर्तत्व के विषय में क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व दोनों के एक साथ रहने से सन्देह उत्पन्न होता है। मन क्रियाशील होने के कारण मूर्त है या अस्पर्शवान् होने के कारण अमूर्त है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि यह असाधारण है। अचाक्षुषत्व और प्रत्यक्षत्व के समान इन दोनों हेतुओं में से एक का निर्णय नहीं हो सकता अतः इसका अनध्यवसित में अन्तर्भाव कहा जाएगा। संशय की उत्पत्ति में विषयद्वैतदर्शन कारण होता है। दोनों हेतु यदि समान बल वाले होते हैं तो उन दोनों में परस्पर विरोध होने से किसी निर्णय को उत्पन्न नहीं करते किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे संशय का कारण होते हैं। पूर्वोक्त हेतुओं में तुल्य बल नहीं है, दोनों में से एक का अनुमेयोद्देश्य आगम के द्वारा बाधित है अतः यह विरुद्ध का ही भेद है।

---

१. यस्तु सन्ननुमेये तत्समानासमानजातीययोः साधारणः सन्नेव स सन्देहजनकत्वात् सन्दिग्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति—प्र० भा० पृ० ५८१

२. प्र० भा० हेत्वा० प्र०

सन्दिग्ध के भेद

सन्दिग्ध या अनैकान्तिक के भी व्योमशिवाचार्य[1] ने चार भेद व्यक्त किए हैं। १. **सपक्षव्यापकत्वे सति विपक्षैकदेशवृत्ति: २. सपक्षैकदेशवृत्तित्वे सति विपक्ष व्यापक ३. सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति ४- सपक्षविपक्ष व्यापक।**

१. **सपक्ष व्यापकत्वे सति विपक्षैकदेशवृत्ति:**—यह गाय है क्योंकि इसके सींग है।

२. **सपक्षैकदेशवृत्तित्वे सति विपक्ष व्यापक**—यह गाय नहीं है क्योंकि इसके सींग नहीं है।

३. **सपक्षैकविपक्षैकदेशवृत्ति**—शब्द नित्य है क्योंकि स्पर्श रहित है।

४. **सपक्षविपक्षव्यापक**—शब्द नित्य है क्योंकि प्रमेय है।

विरुद्धाव्यभिचारी सन्दिग्ध को जिसे कि प्रशस्तपाद ने विरुद्ध का ही प्रभेद बतलाया है व्योमशिबाचार्य[2] ने इसे कालात्ययापदिष्ट बतलाया है। प्रशस्तपाद के विरुद्ध भेद शब्द की व्युत्पत्ति इन्होंने इस प्रकार की हैं '**विरुद्धाद् भिद्यते इति विरुद्ध भेद: कालात्ययापदिष्ट:दुष्टपक्षोपन्यासानन्तरमुपन्यासात्।**' आचार्य श्रीधर के मत से '**अमूर्तं मन:**' यह आगम '**तदभावादणुमन:**' विरोधी प्रतिज्ञा भी हैं अत: यहां प्रतिज्ञाभास ही दोष हैं यह सन्दिग्ध हेत्वाभास नहीं है।

अनध्यवसित

प्रशस्तपाद के अनुसार कथित अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास ही यदि अनुमेय पक्ष में रहता हो किन्तु सपक्ष और विपक्ष में न रहे तो वही अनिश्चय का कारण होने से अनध्यवसित हेत्वाभास हैं। जैसे कार्य सत् हैं क्योंकि उत्पत्तिमान् हैं। इस अनुमान में हेतु उत्पत्तिमत्व अनिश्चय का कारण होने से—क्योंकि यह हेतु कार्यों का उत्पत्ति से पूर्व सत्त्व असत्त्व दोनों में से किसी भी पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकता। अत: अनध्यवसित नामक हेत्वाभास हैं। प्रशस्तपाद[2] का कथन है कि इसे सूत्रकार ने अप्रसिद्ध पद से दर्शाया है। श्रीधर[3] का मत है कि असाधारण नामक हेत्वाभास ही प्रशस्तपाद ने अनध्यवसित शब्द से कहा है।

अनैकान्तिक के समान असाधारण धर्म में संशय के कारण होते हैं जैसे कि '**तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दुष्टत्वात्**' इस सूत्र में कहा गया हैं

१. व्योमवती हेत्वा० निरू०

२. वही

३. प्र० भा० हेत्वा० पृ० ५९३

४. अनध्यवसित इत्यसाधरणो हेत्वाभास: कथ्यते—न्या० क० हेत्वा० पृ० ५९५

अतः अनध्यवसित हेत्वाभास असाधारण के उक्त लक्षण से युक्त होने के कारण संशय का जनक है अतः **सन्दिग्धश्चानपदेशः** इससे इसका संग्रह करना चाहिए। इस आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य प्रशस्तपाद[1] कहते हैं उक्त सूत्र का अर्थ भिन्न हैं। किसी ने आक्षेप किया था कि शब्द में श्रावणत्व रूप असाधारण धर्म देखा जाता है अतः शब्द के विषय में सन्देह नहीं होगा इसका समाधान उक्त सूत्र से किया गया है श्रावणत्व द्रव्य गुण और कर्म में से किसी का विशेष धर्म नहीं है। द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों में से प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण एवं प्रत्येक कर्म के अपने सजातीय के सामान्य धर्म के साथ ही रहते हैं। उक्त सूत्र में असाधारण धर्म को संशय का कारण नहीं कहा गया है। सामान्य प्रत्यय से ही संशय उत्पन्न होता है। असाधारण धर्म से संशय यदि उत्पन्न हो तो सभी पदार्थों में असाधारण-धर्म विद्यमान होने से संशय उत्पन्न होना चाहिए।

व्यभिचारादि और अनध्यवसित में भेद को स्पष्ट करते हुए न्यायलीलावतीकार[2] कहते हैं **पक्षैकदेशवृत्तिः अनध्यवसितः** इसमें व्याप्यत्वासिद्धि नहीं है। व्यभिचारी हेतु की तरह ही व्यतिरेक साहचर्य की प्रतीति होने से व्याप्यत्वा सिद्धि की संभावना नहीं रहती है। इसे व्यभिचार भी नहीं कहा जा सकता। सपक्ष और विपक्ष में ज्ञात न होना ही अनध्यवसाय का कारण होने से सपक्ष और विपक्ष उभय निरूप्य होने के कारण व्यभिचार की उद्भावना नहीं होती है। अतः व्यभिचार विलम्ब प्रतीति युक्त होने से अनध्यवसित से भिन्न हेत्वाभास है।

शंकर मिश्र[3] ने संदिग्ध के तीन भेद साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी बतलाए हैं। ये तीनों संशय का कारण होने से सन्दिग्ध हेत्वाभास हैं। अनध्यवसाय फलक को भी संशय फलक कहा गया है। अतः अनध्यवसित स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं है। लीलावतीकार ने अनध्यवसित को स्वतन्त्र हेत्वाभास कहा है। उसी प्रकार बाध और सत्प्रतिपक्ष भी स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं हैं अग्नि अनुष्ण हैं क्योंकि कृतक है। इस अनुमान में वहां हेतु युक्त पक्ष में साध्याभाव का ज्ञान है वहां अनैकान्तिक हेत्वाभास ही है। अथवा साध्य सन्देह या सिषाधयिषारुप पक्षता का अभाव होने से आश्रयासिद्धि रूप हेत्वाभास है। ह्रदो वह्निमान है क्योंकि धूम युक्त है। यहां स्वरूपा सिद्धि ही है। शंकर मिश्र[4] के मत से सत्प्रतिपक्षस्थल दोनों में से एक में अवश्य ही व्याप्ति भंग होने से व्याप्यता सिद्धि ही होगी। जो लोग अप्रयोजक नामक एक अन्य हेत्वाभास मानते हैं उनका खण्डन करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि अप्रयोजक का भी व्याप्यत्वासिद्ध में ही अन्तर्भाव होगा।

---

१. प्र० भा० हेत्वा० पृ० ५६५
२. न्या० ली० हेत्वा० निरू० पृ० ६२ चौ०
३. तच्च त्रिविधं साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्। त्रयाणामपि संशयफलकत्वेन सन्दिग्धत्वेनानुमानात्—अनध्यवसायफलकमपि संशयफलकत्वेनोक्तम्। तत्रानध्यवसितं हेत्वाभासान्तरमिति लीलावतीकृतः। कणादरहस्य अनु० निरु०। १०३
४. वही।

आचार्य सर्वदेव[1] ने भी न्यायकन्दलीकार का समर्थन करते हुए अनध्यवसित के स्थान में असाधारण का ग्रहण करके इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माना है। जो सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहता है और पक्ष में रहता है वह असाधारण है।[2] जैसे पृथ्वी नित्य है क्योंकि गन्धवती है। गन्ध नित्य और अनित्य पदार्थों से व्यावृत्त होकर पक्ष पृथ्वी में ही रहता है।

निदर्शनाभास 'दृष्टान्ताभास'

प्रशस्तपादमत

आचार्य प्रशस्तपाद ने साधर्म्य निदर्शनाभास के ६ भेद लिङ्गासिद्धि, अनुमेया-सिद्धि, उभयासिद्धि, आश्रयासिद्धि, अननुगत और विपरीतानुगत सोदाहरण प्रस्तुत किये हैं,[3] निदर्शन का लक्षण स्पष्ट करने के बाद स्वतः यह स्फुरित हो जाता है जो वस्तुतः निदर्शन नहीं है किन्तु निदर्शन रूप से प्रयुक्त होने के कारण निदर्शन के समान प्रतीत होते हैं वे निदर्शनाभास हैं। आचार्य व्योमशिव[4] ने निदर्शनाभास शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है **"निदर्शनवदाभासन्त इति निदर्शनाभासास्ते समान धर्माणः"**। जो निदर्शन के समान भासित होते हैं निदर्शन के समान धर्मों वाले निदर्शनाभास हैं। आचार्य श्रीधर[5] ने थोड़ा संशोधन करके कहा है कि जो निदर्शन होते हुए भी किसी साधर्म्य से निदर्शन के समान भासित होते हैं वे निदर्शनाभास हैं, व्योमशिवाचार्य के लक्षण में यह दोष था कि निदर्शन भी निदर्शन के समान भासित होता है अतः उसका निराकरण करने के लिए कन्दलीकार ने "जो निदर्शन न हो" यह संशोधन किया है।

साधर्म्य निदर्शनाभास—लिङ्गासिद्ध, अनुमेयासिद्ध, उभयासिद्ध, आश्रयासिद्ध-अननुगत और विपरीतानुगत।

लिङ्गासिद्ध

शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त है, जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है जैसे परमाणु। इस अनुमान में लिङ्गासिद्ध निदर्शनाभास है, परमाणु मूर्त होने से उसमें अमूर्तत्व हेतु ही नहीं है। अतः यह साधनरहित उदाहरण है।

---

१. ये तु षष्ठं हेत्वाभासमप्रयोजकमाहुस्तेषामप्यप्रयोजनं व्याप्यत्वासिद्धावन्तर्भवति मणिमयूखे वादिविनोदे व ग्राह्यम्—कणादरहस्य अनु० प्र०।

२. सपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षे वर्तमानोऽसाधारणः—प्र० म० हेत्वा० निरू०

३. लिङ्गानुमेयोभयाश्रयसिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः प्र० भा० हेत्वा० प्र० पृ० ६००।

४. व्योमवती हेत्वा० निरू० पृ० ६१२

५. अनिदर्शनान्यपि केनचित् साधर्म्येण निदर्शनवदाभासन्त इति निदर्शनाभासाः। न्या० क० हेत्वा० निरू०।

अनुमेयासिद्ध

जिस दृष्टान्त में साध्य अप्रसिद्ध हो वह अनुमेयासिद्ध दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है जैसे कर्म। कर्म यह दृष्टान्त साध्यविकल है क्योंकि कर्म सर्वदा अनित्य होता है।

उभयासिद्ध[1]

जिस दृष्टान्त में साध्य और हेतु दोनों का अभाव हो वह उभयासिद्ध निदर्शनाभास है। जैसे पूर्वोक्त अनुमान में थाली को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित करने पर उभयासिद्ध होता है क्योंकि थाली में साध्य नित्यत्व और हेतु अमूर्तत्व दोनों का भी अभाव है। अतः यह उभयविकल दृष्टान्त है।

आश्रयासिद्ध[2]

उसी अनुमान में तम को दृष्टान्त बनाने पर आश्रयासिद्ध निदर्शनाभास होता है। तम नामक कोई भाव पदार्थ ही नहीं है जिसमें साध्य और हेतु की व्याप्ति का प्रदर्शन हो।

अननुगत[3]

शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है "इसी अनुमान में उदाहरण के रूप में अम्बर वत् केवल इतना ही प्रयोग करे "जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है" इस अंश का प्रयोग न करे तो अननुगत निदर्शनाभास होता है। यद्यपि आकाश में अमूर्तत्व और नित्यत्व दोनों हैं किन्तु व्याप्ति का प्रदर्शन न होने से परार्थानुमान की प्रक्रिया में उदाहरण का जो महत्त्व है वह समाप्त हो जाता है। अतः उक्त निदर्शन अननुगत निदर्शनाभास है।

विपरीतानुगत[4]

वायु द्रव्य है क्योंकि क्रियावान् है। इस अनुमान के लिए जो द्रव्य होता है वह क्रिया से युक्त होता है। इस प्रकार निदर्शन करें तो वह निदर्शन न होकर विपरीतानुगत नामक निदर्शनाभास होता है। इस अनुमान में क्रिया हेतु है वही व्याप्त

---

१. यथा स्थालीत्युभयासिद्धः न स्थाल्यां साध्यं नित्यत्वमस्ति, नापि साधनममूर्तत्वम्—न्या० क० हेत्वा० निरू०।

२. यथा तम इत्याश्रयासिद्धः। परमार्थतस्तमो नाम न किञ्चिदस्ति, क्व साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः कथ्यते—न्या० क० हेत्वा० निरू० पृ० ६०१

३. अम्बरवदिति-अननुगतोयं निदर्शनाभासः—न्या० व० हेत्वा० निरू०पृ० ६०१

४. यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति विपरीतानुगतः—वही—पृष्ट ६०२

है एवं द्रव्यत्व व्यापक है। जो व्याप्य है' उसमें ही व्याप्ति का प्रदर्शन होना चाहिए। व्याप्ति संयोग के समान व्यासज्य वृत्ति नहीं है। व्यापक में सर्वत्र व्याप्य की व्याप्ति नहीं रहती है। साध्य हेतु के बिना भी रहता है। जहां समव्याप्त हेतुक स्थल में साध्य और हेतु में समान व्याप्ति होती है वहां भी दृष्टान्त में हेतु के रूप में गृहीत पदार्थ में ही व्याप्ति का प्रदर्शन होना चाहिए न कि व्यापक में। यदि वहां साध्य के व्यापक होने से व्याप्ति मानी जाय तो विषय व्याप्ति के स्थल में भी व्यापक में व्याप्ति माननी होगी तो भी व्यभिचारी स्थल में व्यापक में व्याप्ति मानने पर व्यभिचारित्व ही अनुपन्न होगा। अतः **'यत् क्रियावद् तद् द्रव्यं'** इस प्रकार से ही व्याप्ति का प्रदर्शन होना। चाहिए। इस प्रकार से व्याप्ति का प्रदर्शन न होने पर विपरीतानुगत निदर्शनाभास होता है।

निदर्शन दो प्रकार के होने के कारण निदर्शनाभास भी मूलतः दो प्रकार के होते हैं। वैधर्म्य निदर्शन के समान ही वैधर्म्य निदर्शनाभास होता है। **वैधर्म्य निदर्शनाभास**[1] वैधर्म्य निदर्शनाभास भी निम्नलिखित छः प्रकार के होते हैं। लिङ्गाव्यावृत्त, अनुमेयाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, आश्रयासिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त।

लिङ्गाव्यावृत्त[2]—

शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है 'इस अनुमान में जो अनित्य है वह मूर्त है जैसे कर्म। इस प्रकार कर्म को वैधर्म्य दृष्टान्त के रूप में उपस्थित करने पर लिङ्गाव्यावृत्त निदर्शनाभास होता है क्योंकि कर्म में नित्यत्व का अभाव तो है किन्तु हेतु अमूर्तत्व का अभाव नहीं है।

अनुमेयाव्यावृत्त[3]—उसी अनुमान में जो नित्य नहीं है वह अमूर्त नहीं है जैसे परमाणु। इस प्रकार से परमाणु को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित करें तो अनुमेया व्यावृत्त नामक दृष्टान्ताभास होता है, परमाणु में नित्यत्वरूप साध्य की व्यावृत्ति नही है, परमाणु नित्य है।

उभयाव्यावृत्त[4]—

उसी अनुमान में जो अनित्य है वह मूर्त है जैसे आकाश। इस आकाश

१. लिङ्गानुमेयोभया विपरीत-व्यावृत्तिश्चयासिद्धाव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति प्र० भा० हेत्वा० पृ० ६०४

२. नित्यः शब्दो मूर्तत्वाद्, यदनित्यं तन्मूर्तं, यथा कर्मेति। लिङ्गाव्यावृत्तो वैधर्म्य-निदर्शनाभासः कर्मणो मूर्त्यभावात्—न्या० क० हेत्वा०

३. यथा परमाणुरित्यनुमेयाव्यावृत्तः, अनुमेयं नित्यत्वं परमाणोरव्यावृत्तम्-वही—पृ ६०३

४. यथाकाशमित्युभयाव्यावृत्तः नाकाशादमूर्तत्वं नापि नित्यत्वं व्यावृत्तम्—न्या० क० हेत्वा० पृ० ६०४

दृष्टान्त में साध्य नित्यत्व और हेतु अमूर्तत्व दोनों में से किसी का अभाव नहीं है। आकाश नित्य भी है और अमूर्त भी है। अतः आकाश में साध्याभाव और हेत्वाभाव दोनों की ही व्यावृत्ति न रहने के कारण आकाश उभयाव्यावृत्त निदर्शनाभास है।

आश्रयासिद्ध[1]

उसी पूर्वोक्त अनुमान में तम को वैधर्म्य दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जाय तो आश्रयासिद्ध नामक निदर्शनाभास होता है। तम नामक कोई भाव पदार्थ नहीं जिसमें साध्याभाव के साथ हेत्वाभाव को निरूपित किया जा सके।

अव्यावृत्त[2] – 'शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है' इसी अनुमान में वैधर्म्य दृष्टान्त को इस प्रकार प्रस्तुत करें, घटवत् अर्थात् जो नित्य नहीं है वह अमूर्त नहीं है यह न कहें तो अव्यावृत्त नामक निदर्शनाभास होता है। यद्यपि घट में नित्यत्वाभाव और अमूर्तत्वाभाव दोनों ही हैं किन्तु उसकी व्याप्ति का प्रदर्शन न होने से साध्याभाव के साथ हेत्वभाव की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। अतः निदर्शन का प्रयोजन सिद्ध न होने से निदर्शनाभास होता है।

विपरीतव्यावृत्त[3]

वायु द्रव्य है क्योंकि क्रियावान् है। इस अनुमान की प्रक्रिया के अन्तर्गत कोई व्यक्ति जो क्रिया रहित है वह द्रव्य नहीं है इस प्रकार से व्याप्ति का प्रदर्शन होता है तो वहां विपरीत व्यावृत्त नामक निदर्शनाभास होता है। यहां "जो द्रव्य नहीं है वह क्रियावान् नहीं है इस प्रकार व्याप्ति का प्रयोग करना चाहिए। व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव व्याप्य और हेत्वभाव व्यापक है। व्याप्य के बोधक वाक्य का पहले और व्यापक के बोधक शब्द का प्रयोग पश्चात् करना चाहिए किन्तु पूर्वोक्त उदाहरण में इसके विपरीत प्रयोग होने से विपरीत व्यावृत्त नामक निदर्शनाभास होता है।

निदर्शनाभासों की उपयोगिता—

निदर्शनाभासों[4] के स्वरूप का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक अपने द्वारा किये जाने वाले पञ्चावयव प्रयोग में उसका वर्णन और दूसरे लोगों के वाक्यों में उनका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है। तत्त्वनिर्णय और विजय के लिए जिस प्रकार हेत्वाभास का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार निदर्शनाभास का भी आवश्यक

१, यथा तम इत्याश्रयासिद्धः— न्या० क० हेत्वा० पृ० ६०४
२. घटवदित्यव्यावृत्तः—वही
३. यन्निष्क्रियं तद्द्रव्यमिति विपरीतव्यावृत्तः। यथा साध्यंव्यापकं साधनं व्याप्यम् तथा साध्याभावो व्याप्यः साधनाभावश्च व्यापकः—वही पृ० ६०५
४. यावन्निदर्शनाभासानां स्वरूपं न ज्ञायते तावत् तेषां स्ववाक्यवर्णनं परवाक्ये चोपालम्भो न कर्तुं शक्यते— न्या० क० हेत्वा० निरू० पृ०६००

हैं। क्योंकि निदर्शनाभास भ्रामक तथ्य को ही प्रकट करेंगे। इसके लिए इनके स्वरूप परिज्ञान और इनको उपस्थित करने की क्षमता आवश्यक है।

श्रीधर[1] और उनके पूर्ववर्ती टीकाकार व्योमशिव[2] ने प्रशस्तपाद द्वारा वर्णित निदर्शनाभास के समस्त भेदों का समर्थन किया है। कणाद रहस्यकार ने निदर्शनाभासों का तथा प्रतिज्ञाभासों का कोई उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः वे नैयायिकों के समान इनका हेत्वाभासों में अन्तर्भाव करते हैं।

उपसंहार

अनुमान का प्रामाण्य और उसकी व्यापकता

अनुमान का प्रामाण्य प्रशस्तपाद के टीकाकार श्रीधर ने स्थापित किया है। जो लोग प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं उनसे पूछना चाहिए कि केवल स्ववृत्ति प्रत्यक्ष ही प्रमाण है या सभी प्रकार का प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक ही को केवल प्रमाण नहीं मान सकते जब सभी की सामग्री समान है, इसलिए अतीत अनागत दूसरे पुरुषों को होने वाला प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। यह निश्चय कैसे होता है ? स्वयं को प्रतीयमान प्रमाण व्यक्ति के सजातीय होने से यदि प्रमाण है तो स्वभावानुमान का प्रामाण्य आपने स्वीकार किया।[3]

अपिच अनुमान को अप्रमाण कहने वाला प्रत्यक्ष के द्वारा किसे समझाना चाहता है, अपने को तो वह समझा नहीं सकता, दूसरों को ही समझा सकता है वह दूसरा व्यक्ति अज्ञानी है या ज्ञानी है। यदि ज्ञानी है तो उसकी दृष्टि से प्रतिपादन व्यर्थ है। यदि अज्ञानी है तो दूसरे व्यक्ति में रहने वाले अज्ञान को कैसे जाना, क्योंकि प्रत्यक्ष से तो उसके अज्ञान का बोध नहीं होता है। अतः प्रमाणान्तर का आश्रय लेना ही होगा। वह प्रमाण शब्द हो सकता है। अतः वैशेषिक मत में शब्द का अनुमान में ही न्तर्भाव होने से अनुमान का प्रामाण्य सिद्ध हुआ।[4]

अनुमान का अप्रमाण्य भी किसी प्रमाण से ही सिद्ध करना होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो केवल भाव विषयक होता है। उससे अभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती। यदि अनुपलब्धि के द्वारा करते हैं तो इसका अर्थ हुआ अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान

---

१. न्या० क० हेत्वा० नि० पृ० ५६८-६०५

२. व्योमवती निदर्शना प्र० पृ० ६१२-६१३

३. ये तु प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्ति···अङ्गीकृतं स्वभावानुमानस्य प्रामाण्यम्-न्या० क० अनु० प्र० पृ० ६२१

४. वही पृ० ६२२

स्वीकार किया जाय। इस प्रकार वैशेषिक दार्शनिक अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करके उसकी सारी प्रक्रिया का अनुमोदन करते हैं। अनुमान सम्बन्धी विवेचन में वैशेषिकों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। कई स्थलों में इनका विवेचन मौलिक हैं। प्रशस्तपाद ने नव्य नैयायिकों को बहुत प्रभावित किया है। यही कारण है कि नव्य नैयायिकों ने प्रशस्तपाद के मतों को स्वशास्त्रीय मतों के सदृश ही आदर के साथ ग्रहण किया है। अनुमान के स्वार्थ और परार्थ के रूप में वर्गीकरण को व्याप्ति के आधारभूत अनेक प्रकार के सम्बन्धों का हेत्वाभास, पक्षाभास, निदर्शनाभास आदि का सोदाहरण विवेचन वैशेषिक दर्शन की मौलिक देन है।

वैशेषिक दर्शन की अनुमान के सम्बन्ध में मौलिक देन है उसकी व्यापकता।
शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि. सम्भव और ऐतिह्य आदि प्रमाणों को अनुमान के अन्तर्गत लाकर कणाद और उनके अनुयायियो ने अनुमान को एक व्यापक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है।

यह विवाद का विषय है कि वैशेषिक दर्शन में अनुमान का बिचार बौद्ध न्याय विशेषतः दिङ्नाग से प्रभावित रहा है। या बौद्ध न्याय वैशेषिक दर्शन से। ऐसा ज्ञात होता है कि दोनों कुछ अंशों में एक दूसरे से प्रभावित रहे हैं। बौद्धों के प्रति वैशेषिकों के दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए शेरवास्की[1] लिखते हैं कि बौद्धों के प्रति न्याय सम्प्रदाय का दृष्टिकोण वैशेषिकों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। वैशेषिक विनम्र और मितालापी हैं जब कि इसके विपरीत नैयायिक आलोचक और आक्रोशक हैं। उद्योतकर त्रिरूप लिङ्ग के दिङ्नाग के सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हुए कहते हैं कि यह सिद्धान्त ऐसा है जैसे किसी मूर्ख ने इसकी स्थापना की हो।

१. बौ० न्याय 'हिन्दी अनुवाद' पृ० ४१६

अध्याय—३

खण्ड—१

बौद्ध न्याय में अनुमान

अनुमान का स्वरूप

सैद्धान्तिक गरिमा के कारण बौद्ध न्याय के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया अन्य न्यायों के समान ही विवेचनीय है। अतः उसके अनुसार अनुमान का विचार किया जा रहा है। बौद्धों के विचार में 'विषय' प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से दो प्रकार का होता है। परस्पर एक दूसरे के भेदक पदार्थों में तृतीय प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष नहीं और जो परोक्ष है वह प्रत्यक्ष नहीं। तृतीय का स्थान ही कहाँ है ? तृतीय विषय की असत्ता का बोध भी प्रत्यक्ष से ही होता है। 'नील' इत्याकार प्रत्यक्ष नील को नील के रूप में प्रकट करता है उसी प्रकार अनील का निवारण भी करता है। क्योंकि नील की संवित् में अनील का प्रतिभास नहीं होता है। नील ज्ञान प्रतिभास नील है। उससे इतर अनील है। तृतीय वस्तु ही नहीं है। इस प्रकार बिषय दो ही प्रकार का सिद्ध होता हैं। स्वलक्षण और सामान्य-लक्षण। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्य लक्षण अनुमान का। प्रत्यक्ष स्वलक्षण का ज्ञान कराते हुए इतर निराकरण करता है। अनुमान सामान्यलक्षण का बोध करता है। इसलिए विषय[1] के द्वैविध्य से बौद्ध प्रमाण भी दो प्रकार के मानते हैं। प्रमाणों का वर्गीकरण करने का विषय के अतिरिक्त कोई अन्य आधार नहीं हो सकता जब दो ही विषय हैं तो किसलिए तृतीय प्रमाण को स्वीकार किया जाय।[2] सम्बन्ध ग्रहण 'व्याप्ति' सापेक्ष अनुमान का स्वलक्षण में सामर्थ्य नहीं है उसी प्रकार प्रत्यक्ष जो कि सद्वस्तु का ही निर्णायक होता है विकल्पारोपित सामान्य का ग्राहक नहीं हो सकता। इस प्रकार से एक दूसरे का क्षेत्र भिन्न होने से इनमें सम्प्लव की भी प्रसक्ति नहीं है। अतः कोई भी विषय नाना प्रमाणगम्य नहीं है। एक प्रमाण गम्य ही एक विषय है। इसलिए इन दो विषयों के अतिरिक्त कोई विषय न

---

१. ते हि प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधं जगुः।
नान्यः प्रमाणभेदस्य हेतुर्विषयभेदतः॥ न्या० म० आ० १ प्रमा० प्र०।

२. प्रमाणद्वयसिद्धे च विषयद्वयवेदने। वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यताम्। वही।

होने से इन दो प्रमाणों से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है। अतः बौद्ध दो ही प्रमाणों को स्वीकार कर अन्य सभी का निषेध करते हैं अर्थात् सभी का समावेश इन दो में ही कर लेते हैं।[1]

प्रमाणों की संख्या के विषय में विप्रतिपत्तियों का निराकरण करते हुए बौद्ध कहते हैं "प्रमाण दो प्रकार का है विषय के द्वैविध्य से" विषय स्वलक्षण और सामान्य लक्षण से दो प्रकार का होने के कारण ही प्रमाण दो होते हैं। विषय का द्वैविध्य क्यों है? इसको स्पष्ट करते हुए मनोरथनन्दी कहते हैं "स्वलक्षण अर्थ क्रिया में समर्थ होता है, और विजातीय के निषेध के लिए परिकल्पित सामान्य अर्थ-क्रिया समर्थ न होने से विषय का द्वैविध्य होता है।[2]

"**सदृशः असदृशत्वात् च**"[3] के द्वारा भी धर्मकीर्ति ने विषय के द्वैविध्य का प्रतिपादन किया है। सदृश से तात्पर्य सामान्य से है। असदृश पद से तात्पर्य स्वलक्षण से है। ये दोनों परस्पर विरोधी स्वरूप वाले होने से तीसरी राशि का निषेध करते हैं।

शब्द के विषयाविषयत्व के द्वारा भी विषय का द्वैविध्य सिद्ध होता है। शब्द का विषय जो हो वह सामान्य है और जो शब्द का विषय नहीं है वह स्वलक्षण है। इनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है अतः इन्हीं में सभी पदार्थों का संग्रह होता है।[4] इसके अतिरिक्त जहां विषय के अतिरिक्त अन्य निमित्त से सद्भाव "**अस्तित्व**" बुद्धि होती है वह सामान्य है और जहां नहीं होती है वह स्वलक्षण है। इस प्रकार विषय का द्वैविध्य प्रमाण के द्वैविध्य का प्रतिपादन करता है।[5] यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमान यदि सामान्य विषयक ज्ञान है—जिसमें अर्थ क्रिया कारित्व रूप अविसंवादकत्व नहीं हैं तो वह भ्रान्ति क्यों नहीं है? और भ्रान्ति है तो प्रमाण क्यों है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए प्रमाणवार्तिककार[6] कहते हैं

१, मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्-प्र० वा० २-१

२. स्वलक्षणञ्च अर्थक्रियाशक्तत्वात् विजातीय व्यावृत्त्युपकल्पितस्य सामान्यस्य अशक्तत्वाद् विषयद्वैविध्यम् प्र० वा० मनोवृ० २-१

३. प्र० वा० २-२

४. प्रमाणवार्त्तिक २-२

५. यत्र विषयव्यतिरिक्तनिमित्त सद्भावे भवति बुद्धिःतत्सामान्यं यत्र तु न भवति तत्स्वलक्षणम्। प्रकारान्तरं च न सम्भवति इति बुद्धिविषया-विषयत्वे सामान्यस्वलक्षणतया एवेति द्वैविध्यमेव विषयस्य—
प्रमा० वा० मनो० वृ० २-२

६, गतिश्चेत्पररूपेण न च भ्रान्तेः प्रमाणता।
अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता—प्रमा० वा० २-५५

कि अनुमान यदि सामान्य विषयक ज्ञान है तो वह भ्रान्ति ही है किन्तु भ्रान्ति होने पर भी अभिप्राय का अविसंवाद होने से उसमें भी प्रमाणत्व है। अर्थ क्रियार्थी अर्थ क्रिया साधन में समर्थ अर्थ के प्रापक को प्रमाण मानते हैं, इसलिए सामान्य विषयक ज्ञान भी अभिप्रेतार्थ का सम्पादक होने से प्रमाण है। क्वचित् स्थल में विपरीत ज्ञान भी अभिप्रेतार्थ का प्रापक देखा गया है। यदि भ्रान्त अनुमान भी प्रमाण हो तो सभी भ्रान्तियां प्रमाण हो जायें। इस विषय में प्रमाणवार्तिककार[1] का कथन है कि मणि और प्रदीप दोनों की प्रभा में यह मणि ही है इस प्रकार के निश्चय के कारण उसको प्राप्त करने के लिए दौड़ने वाले का मिथ्याज्ञान मिथ्या होने पर भी मणिसाध्य अर्थ क्रिया को प्राप्त करता है। दीपप्रभा में मणिप्रभा का अध्यवसाय करने वाला उसे प्राप्त नहीं करता। इसलिए त्रिरूप लिंग अन्य अनुमान अयथार्थ होने पर भी प्रमाण माना गया है। क्योंकि वह अर्थ क्रिया का प्रापक है। सामान्य लक्षण के विषय में दूसरा कोई प्रमाण नहीं है।[2] और सामान्य लक्षण विषयक ज्ञान ही अनुमान का स्वरूप है।

इस प्रकार से अनुमान और प्रत्यक्ष में भेद भी स्पष्ट हो जाता है। अनुमान सामान्य का ज्ञान प्राप्त कराता है। जबकि प्रत्यक्ष व्यक्ति विशेष का होता है। धर्मोत्तर के अनुसार अनुमान का विषय कल्पित होता है, अनुमान का विषय अनुपस्थित है उसका साक्षात् ग्रहण नहीं होता है उस वस्तु की केवल कल्पना की जा सकती है। किन्तु अनुमान की पद्धति उस कल्पित वस्तु को यथार्थ क्षण पर आरोपित करती है।

दिङ्नाग[3] के अनुसार अनुमान द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह न तो साध्य है और न पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध, किन्तु सत् का वह क्षण होता है जो अनुमिति के लक्षण से लक्षित होता है।

---

१. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्यज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोर्थक्रियां प्रति।
यथा तथा यथार्थत्वेऽप्यनुमानं तदोभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ प्रमा० वा० २-५७

२. प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तत्र सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥ हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक में प्रमाणसमुच्चय से उद्धृत पृ० २

३. बौद्धन्याय चौ० पृ० २८१

अनुमान का लक्षण 'वसुवन्धुमत'

आचार्य वसुवन्धु[1] ने वाद विधि में प्रमाणों का जो विवेचन किया है। वह प्रमाण समुच्चय के जैनेन्द्र बुद्धिकृत भाष्य में आंशिक रूप से उद्धृत है। उसमें अनुमान का लक्षण करते हुए कहा गया है कि अनुमान वही है जो प्रत्यक्ष के अवशिष्ट 'विषय' के प्रति आश्वस्त है।'

न्यायवार्तिक में उद्धृत **नान्तरीय कार्यदर्शनं तद्विदोनुमानम्** यह लक्षण वसुवन्धु का है। ऐसा **'बौद्धन्याय'** ग्रन्थ की टिप्पणी में श्चेरवास्की[2] लिखते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र[3] वार्त्तिककार के खण्डन को स्पष्ट करते हुए इसे दिङ्नाग की परिभाषा बतलाते हैं। वैसे इस लक्षण के खण्डन के प्रारम्भ में यही कहा है **'परेषामनुमान लक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति'** यहां दिङ्नाग का नाम नहीं लिया है। आगे जो "**नहि दिङ्नागमते**" कह कर जो दिङ्नाग का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय बौद्ध मत से है, दिङ्नाग विशेष व्यक्ति के मत से नहीं। **'यथाह'** कह कर जो मत व्यक्त किया है वह विज्ञानवाद का सिद्धान्त है। इसलिए "**नान्तरीयकार्थदर्शनं**" इस लक्षण को वसुवन्धु का मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस वसुवन्धु की परिभाषा में नान्तरीयकत्व से तात्पर्य उस व्याप्ति या अविनाभाव रूप सम्बद्ध से है जो अनुमेय को हेतु से सम्बन्ध करता है। जिसके बिना जिसकी स्थिति सम्भव नहीं वह उसका नान्तरीयक होता है। जैसे वह्नि के बिना धूम की स्थिति सम्भव नहीं है अतः धूम वह्नि का नान्तरीयक है। जिसे धूम में वह्नि की नान्तरीयकता का ज्ञान है वही धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान कर सकता है। इस प्रकार से अग्नि का ज्ञान उस अविनाभावरूप सम्बन्ध से जन्य है जो धूम को उसके कारण अग्नि के साथ सम्बद्ध करता है।

दिङ्नागमत

आचार्य दिङ्नाग[4] के अनुमान के लक्षण को वार्त्तिककार ने इस प्रकार

---

१. सेम्पादोर्जे आचार्य द्वारा केन्द्रीय तिब्वती उच्चशिक्षा संस्थान में सं० १९७६ मार्च में आयोजित परिसंवाद गोष्ठी में पढ़े गये "दिङ्नागपूर्व प्रमाण मीमांसा" शीर्षक निबन्ध से उद्धृत।

२ बौद्ध न्याय अनुवाद चौ० १९६९ पृ० २७९

३. नहि दिङ्नागमते किञ्चिदस्ति वस्तु यन्नान्तरीयकं सद्धेतुर्भवति। तथाह- सर्वोयमनुमानानुमेयभावो बुध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते इति। न्या० वा० ता० टी० १-१-५

४. अपरे तु मन्यन्ते अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसतीत्यनुमानम्। न्या० वा० १-१-५। यह वाक्य प्रमाणसमुच्चय के २ अध्याय का है— देखिये, हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक पृ० २८८

उद्धृत किया है। अनुमेय और उसके तुल्य अर्थात् सजातीय में जिसका अस्तित्व है और अनुमेय और इसक सजातीय से भिन्न में जो नहीं है वह अनुमान है। यह अनुमान का लक्षण हेतु की त्रिरूपता पर आधारित है।

धर्मकीर्तिमत

आचार्य धर्मकीर्ति[1] ने प्रमाणवार्त्तिक में अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है। सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्षानुभूति होती है वही अनुमान है। जब दो वस्तुओं में उपाधि रहित सम्बन्ध का ज्ञान होता है तब एक वस्तु को देखकर दूसरे के अस्तित्व का अनुमान होता है। आचार्य मनोरथ नन्दी ने दिङ्नाग के लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा है अन्वयी और व्यतिरेकी हेतु के द्वारा उसके आश्रय में जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है उसे अनुमान कहा जाता है। जैसे धूम के द्वारा अपने आश्रय में परोक्ष अग्नि का ज्ञान किया जाता है।

न्याय-बिन्दु में धर्मकीर्ति ने अनुमान के दो भेद बतलाये हैं किन्तु अनुमान का सामान्य लक्षण नहीं बतलाया है। धर्मोत्तराचार्य[2] ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि परार्थानुमान शब्दात्मक है। तथा स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है इन दोनों का अत्यन्त भेद होने से इनका एक लक्षण नहीं हो सकता है। इसलिए इनका पृथक् लक्षण बतलाने के लिए इनके प्रकार भेद कहे जाते हैं।

तत्त्व संग्रहकार[3] ने भी अनमान के दो भेद व्यक्त करके दोनों के पृथक् पृथक् लक्षण बतलाये हैं। इसी पद्धति का अनुसरण मोक्षाकर गुप्त ने भी किया है।

अनुमान के अंग

बौद्ध न्याय में अनुमान के अङ्ग व्याप्ति और हेतु बतलाये गये हैं।[4]

---

१. या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मिणि ज्ञायते। सानुमानं परोक्षाणामेकं न्तेनैव साधनम्। प्र० वा० २-६२

२. परार्थानुमानं शब्दात्मकं स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्। तयोरत्यन्तभेदान्नैकं लक्षणमस्ति ततस्तयोः प्रतिनियतं लक्षणमाख्यातुं प्रकारभेदः कथ्यते। न्या० वि० धर्मो० टी० २ परि०।

३. स्वपरार्थविभागेन त्वनुमानं द्विधेष्यते।
स्वार्थंत्रिरूपतो लिङ्गादनुमेयार्थदर्शनम्॥
त्रिरूपलिङ्गवदनं परार्थं पुनरुच्यते॥ तत्त्व संग्रह अनु० प० श्लोक १३६२

४. गौतमीय न्याय में व्याप्ति पक्षधर्मतापरामर्श आदि को अनुमान का अङ्ग माना गया है जैसा कि पूर्वकथित है।

क—व्याप्ति का स्वरूप

हेतु का लक्षण करते हुए प्रमाणवार्तिककार[1] कहते हैं कि जो पक्षधर्म हो और पक्षधर्म से अर्थात् साध्य से व्याप्त हो ऐसा हेतु अविनाभाव के नियम से तीन प्रकार का होता है—उससे भिन्न हेत्वाभास होते हैं। व्याप्ति के स्वरूप को उपस्थित करते हुए प्रमाणवार्त्तिककार[2] कहते हैं कि अबिनाभाव या अवश्यभाव व्याप्ति है जो कार्य कारणभाव या स्वभाव पर आधारित है।

न्यायबिन्दु में आचार्य धर्मकीर्ति[3] ने व्याप्ति के लिए स्वभाव प्रतिबन्ध शब्द काप्रयोग किया है स्वभाव प्रतिबन्ध रहने पर ही एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का गमक होता है—जो स्वभाव से प्रतिबद्ध नहीं होता है उनमें अव्यभिचार नियम रूप व्याप्ति नहीं होती है। धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए धर्मोत्तराचार्य[4] कहते हैं जो जिसके साथ स्वभाव से प्रतिबद्ध नहीं रहता है वह उसके साथ अव्यभिचरित नहीं रहता है। इसलिए जहां अव्यभिचार नियम होता है वहीं अविनाभाव रूप व्याप्ति रहती है। तत्त्वसंग्रहकार ने भी अविनाभाव को ही व्याप्ति कहा है। दिङ्नाग के मत का समर्थन करते हुए टीकाकार कहते हैं कि साध्यधर्मी ही साध्याविनाभावित्व हेतु का है, वही हेतु का लक्षण है।

व्याप्तिग्राहक

नैयायिक के समान भूयः सहचारदर्शन अथवा व्यभिचारादर्शन को व्याप्ति का ग्राहक न मानकर बौद्ध[5] नैयायिक तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं। अव्यभिचार का दर्शन प्रत्यक्ष की सामग्री की अनुपलब्धि से भी हो सकता है जहां अव्यभिचार का ज्ञान है वह कैसे हैं? इस शंका का निराकरण न होने से नैयायिक पक्ष उचित प्रतीत नहीं होता।

हेतु में व्याप्तिग्रह कार्यकारणभाव अथवा तादात्म्य के द्वारा होता है। विपक्ष में हेतु के अदर्शन अथवा सपक्ष में उसके दर्शन से व्याप्ति का निश्चय नहीं होता है। अन्यथा **स श्यामो मित्रातनयत्वात् विद्यमान मित्रातनयवत्** इस अनुमान में प्रामाण्यापत्ति हो जायेगी क्योंकि यहां सपक्ष में दर्शन तथा विपक्ष में अदर्शन है।

---

१. पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः
अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोपरे ।। प्र० वा० ३-१

२. कार्यकारणभावाद् स्वभावाद् वा नियामकात्
अविनाभाव नियमोऽदर्शनान्नतु दर्शनात् । प्र० वा० ३-३१

३. स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् । न्या० वि० २ परि०।

४. न्या० वि० धर्मो० २ परि० ।

५. प्रमाणवार्त्तिक ३-३३, ३४ ।

किन्तु यहां शाक पाक जन्यत्व रूप उपाधि होने से यह हेतु उपाधि रहित नहीं हो सकता है। मित्रा का यह पुत्र गौर वर्ण है। इस प्रकार से सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन व्यभिचारी हेतु में भी सम्भव है। यदि तादात्म्य या तदुत्पत्ति को आधार न माने तो किस आधार पर अवश्यंभाविता का निश्चय होगा। जिस प्रकार किसी अन्य कारण से उत्पन्न राग की वस्त्र में अवश्यंभाविता नहीं हो सकती है। अर्थात् जहां उत्पाद्य उत्पादनाभाव रूप सम्बन्ध या स्वभाव नहीं है वहां अवश्यंभाव नियम रूप व्याप्ति नहीं बन सकती है।

यदि हेतु का सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन अन्वय व्यतिरेक बुद्धि के लिए कारण न माने तो धूम अग्नि का व्यभिचार नहीं है इस प्रकार का ज्ञान कैसे सम्भव होगा ? इसके समाधान में वार्त्तिककार[1] लिखते हैं कि अग्नि का कार्य धूम, कार्य के धर्म "**कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्व**" की अनुवृत्ति से अव्यभिचारी ज्ञात होता है; यदि धूम अग्नि के बिना हो तो हेतुमत्ता का उल्लंघन होता है और यदि धूम अहेतुक हो तो आकाश की तरह नित्य है अथवा शशविषाण की तरह अत्यन्त असत् है। न तो धूम आकाश की तरह नित्य है। और न शशविषाण की तरह असत् है। धूम कदाचित् दर्शन वाला होने से उसकी हेतुमत्ता अनिवार्य हो जाती है। अग्नि के साथ अन्वय व्यतिरेक दर्शन से धूम की अग्नि कार्यता सिद्ध होती है। अग्नि का कार्य होने से ही धूम में अग्नि का व्यभिचार नहीं रह सकता। जो जिसका कार्य होता है वह उससे व्यभिचारित नही हो सकता जैसे कपाल का कार्य घट कपाल से व्यभिचरित नहीं होता है। इसी प्रकार स्वभाव तादात्म्य के आधार पर भी अविनाभाव का निश्चय होता है। इसकी स्थापना करते हुए प्रमाणवार्त्तिककार कहते हैं स्वभाव में भी अविनाभाव होता है जिसका जो स्वभाव है उसके न रहने पर स्वयंभाव का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि दोनों में तादात्म्य है।

तात्पर्य यह है कि स्वभाव के द्वारा भी अविनाभाव का निश्चय होता है। **शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्** यहां पर कृतत्व और अनित्यत्व में वस्तुतः तादात्म्य होने से व्यापक के न रहने से व्याप्यकृतकत्व का अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कृतक है वही अनित्य है तो प्रतिज्ञार्थ "**शब्दोऽनित्यः**" का एक भाग ही हेतु हो जायेगा ? इस विषय में प्रमाणवार्तिककार के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए मनोरथनन्दी[2] लिखते हैं कि पदार्थों में तादात्म्य होने पर भी उसमें रहने वाले विशेषावगाही जाति भेद को मानकर शब्द के द्वारा भिन्नता

---

१. प्रमाण वार्त्तिक-३-३३, ३४, ३५।

२. प्र० वा० मनो० व० ३-४०, ४१।

की कल्पना की जाती है। वृक्ष और शिशया में तादात्म्य होने पर भी विशेषावगाही शिशपात्व रूप जाति भेद को मानकर शिशपा शब्द के द्वारा भिन्नता की कल्पना की जाती है "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" यहां पर शब्द किन्हीं अर्थ क्रियाओं को करते हुए "अर्थ क्रिया को न करने वाले अशब्द, अकृतक और नित्य आदि से व्यावृत्त होता है। उस व्यावृत्ति का प्रतिपादन करने के लिए शब्दत्व, कृतकत्व अनित्यत्वादि जातियों की शब्द वाच्य के रूप में कल्पना की जाती है। स्वभाव भेद न होने पर भी नित्य की व्यावृत्ति अनित्य शब्द से ही होती है वह कृतक या अन्य किसी शब्द से नहीं हो सकती है। इसलिए प्रतिज्ञार्थ का एक देश हेतु नही है। साध्य और साधन के व्यवच्छेदक रूप भिन्न होने से उनकी स्थिति भिन्न ही है। तात्पर्य यह है कि स्वभाव हेतुक स्थल में परमार्थतः साध्य और साधन में अभेद होने पर भी व्यवहार दशा में कल्पित या आरोपित भेद के आधार पर सिद्ध साधन दोष का मार्जन किया जाता है।

बौद्धों का निष्कर्ष यह है कि कोई तथ्य उसी दशा में किसी अन्य के अस्तित्व को सूचित कर सकता है, जब दोनों अनिवार्यतया अन्योन्याश्रित हों। यह अन्योन्याश्रयत्व तादात्म्य या तदुत्पत्ति के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति पर आधारित होने के रूप में अनिवार्य सम्बन्धों का विभाजन इस प्रकार सर्वांगपूर्ण विभाजन है। क्योंकि धर्मकीर्ति[1] का कथन है कि जब किसी तथ्य का न तो सत्तात्मक दृष्टि से किसी दूसरे तथ्य के साथ तादात्म्य होता है और न वह दूसरे तथ्य का फल ही होता है तब वह उस पर अनिवार्यतः आश्रित नहीं हो सकता।

यद्यपि हेतु के तीन प्रकार हैं किन्तु उनमें व्याप्ति का ग्राहक तादात्म्य और तदुत्पत्ति ही है। स्वभाव प्रतिबद्ध हेतु ही साध्य का गमक होता है। यह स्वभाव प्रतिबद्धता हेतु की दो तरह से होती है प्रथम साध्य के साथ हेतु के वास्तविक तादात्म्य से तथा दूसरी साध्य से हेतु की उत्पत्ति से। इसलिए अनुपलब्धि हेतु भी स्वभावान्तर्गत ही है। कमशील[2] ने तत्व संग्रह की टीका में इसको स्पष्ट कर दिया है।

जिस वस्तु का जो नियत स्वभाव है, वह वस्तु उस स्वभाव से प्रतिबद्ध होती है, जैसे प्रयत्नान्तरीयकत्व से अनित्यत्व प्रतिबद्ध है। क्योंकि अनित्य का स्वभाव प्रयत्नान्तरीयकत्व है। यहां यह उपस्थित होता है, जो प्रयत्नान्तरीयकत्व है वही अनित्य है और जो अनित्य है वह प्रयत्नान्तरीयक है तो इनमें से किसे प्रतिबद्ध और किसे प्रतिबन्ध का विषय माना जाए। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मोत्तर कहते हैं कि गम्यगमकभाव निश्चय के आधीन है, प्रयत्नान्तरीयकत्व ही अनित्य का स्वभाव है यह बात निश्चित है अतः वही अनित्य से प्रतिबद्ध है।

स्वभाव प्रतिबन्ध हेतु का ही क्यों होता है अन्य वस्तु का क्यों नहीं होता

---

१. न्यायविन्दु २ परि०।

२. तत्व सं० पं० अनु० प०। १४०३-१४०४

इसका उत्तर है कि जिनका तादात्म्य होता है वही वस्तुएं एक दूसरे से प्रतिबद्ध होती हैं। किन्तु पुन: यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हेतु ही साध्य का गमक क्यों, साध्य हेतु का गमक क्यों नहीं ? हेतु स्वभाव यदि साध्य है तो साध्य स्वभाव हेतु है क्योंकि दोनों में अभेद हैं। इसका समाधान धर्मकीर्ति के टीकाकार[1] यह कहकर देते हैं कि परमार्थत: साध्य और साधन में अभेद होने पर भी उसका विकल्प विषय जो उनमें आरोपित स्वरूप है उसकी अपेक्षा से उनमें भेद हैं। निश्चय पर आधारित गम्यगमक भाव होने से निश्चित रूप के कारण उनमें भेद आरोपित किया जाता है वास्तव में उनमें अभेद ही है। तात्पर्य यह है कि उनमें से जिस रूप में प्रतिबद्धता का निश्चय होता है वही हेतु होता है जो जिसके स्वभाव वाला नहीं होता है वह उससे अप्रतिवद्ध रहता है। यदि कोई पदार्थ अपने स्वभाव विपरीत से अथवा अनुत्पादक से प्रतिबद्ध होता है तो दूसरे प्रकार से भी स्वभाव प्रतिबद्धता हो सक्ती है। परन्तु ऐसा कहीं होता नहीं। अत: बौद्ध नैयायिक तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही स्वभाव प्रतिबन्ध को अविनाभाव मानते हैं।

श्चेरवास्की[2] का कथन है कि बौद्ध यह मानते हैं कि अनिवार्य सिद्धान्तों की ऐसी श्रृंखला होती है जो अनुमान रूपी दीपक द्वारा प्रकट नहीं होती किन्तु स्वयं दीपक को ही व्यक्त करती है। विरोध का नियम तादात्म्य का और हेतुत्व का नियम तीनों ऐसे आयुध हैं जिनके द्वारा हमारी प्रज्ञा अवयवों के संग्रह का व्यवसाय करने से पूर्व सुसज्जित होती है।

किन्तु बौद्धों के इस सिद्धान्त की न्याय[3], वैशेषिक[4], जैन[5] तथा मीमांसकों[6] ने तीव्र आलोचना की है। इनका कहना है कि समस्त सहचार तादात्म्य या तदुत्पत्ति पर आधारित नहीं है। उदाहरण के लिए चन्द्रोदय से समुद्र वृद्धि का, सूर्योदय से कल के सूर्योदय का, जल की निर्मलता से अगस्त्य नामक नक्षत्र के उदय का अनुमान, कुमुदिनी के खिलने से चन्द्रोदय का अनुमान रूप से इसका अनुमान, आदि में ऐसे अनेक सहचार हैं जो न तादात्म्य पर आधारित हैं और न तदुत्पत्ति पर। जब हम वस्तु के रूप को देखकर उसके रस विशेष का अनुमान करते हैं तो रूप का रस के साथ सहचार मिलता है किन्तु रूप रस का न स्वभाव है और न कार्य है।

इसका उत्तर बौद्ध नयायिक दिङ्नाग[7] यह कह कर देते हैं कि इन सभी सहचारों को तदुत्पत्ति या तादात्म्य पर आधारित सिद्ध किया जा सकता है। अपने

१. न्या० वि० धर्मो० २ परि०।
२. बौद्ध न्याय
३. न्या० वार्तिक तात्पर्यटीका १-१-६
४. वै० उपस्कार चौ० पृ० २०४ से २०६
५. प्रमेय-रत्नमाला........पृ० १८३
६. वृहती-विमला टीका-चौ० पृ० ७३
७, प्रमाणसमुच्च तृतीय परि०।

पूर्ववर्ती रूप, रस गन्ध, स्पर्शक्षण से रस क्षण उत्पन्न होता है। वह रस क्षण अपने कारण पूर्व रूप क्षण का अनुमान कराते हुए जिस प्रकार के क्षण से उत्पन्न हुआ हैं उसी प्रकार का रस क्षण अनुमान कराता है। वह अनुमापक रसक्षण समान कालीन रूपक्षणान्तर जनक होने से अपने उसी कारण का अनुमान कराता है, इस प्रकार से कार्य समकालरूपानुमान की सिद्धि होती है। नैयायिक आदि जिसे वस्तु कहते हैं वही बौद्धों के लिए क्षण है। रूप के द्वारा रस का अनुमान वास्तव में समान हेतु द्वारा एक साथ उत्पत्ति पर आधारित होता है। बौद्ध हेतुत्व को सूक्ष्मरूप से कणों की क्षणिकता के अर्थों में ग्रहण करते हैं। प्रत्येक वस्तु को क्षणों के एक प्रवाह में निहित किया जा सकता है। और प्रत्येक वाद का क्षण गतक्षणों के समूह पर अनिवार्य रूप से निर्भर है। सभी यथार्थ वस्तुएं इसी परम हेतुत्व अथवा प्रतीत्य समुत्पत्ति का आधार हैं। "इस प्रकार से एक सामग्री के अधीन रूप से रस का अनुमान होता है।[1]

इस विषय में तत्त्वसंग्रहकारशान्ति रक्षित[2] तथा उनके टीकाकार[3] कमलशील का मत आचार्य धर्मकीर्ति से कुछ भिन्न है वे यहां तदुत्पत्ति के आधार पर ही सहचार मानते हैं किन्तु चन्द्रोदयादि को कुमदादिविकास का सहकारी कारण मानते हैं। चन्द्रोदय अपने कारण का अनुमान कराते हुए समकालोत्पन्न कुमुदादि विकास का भी अनुमान करते हैं। इस प्रकार यहां कल भी कार्य-कारण-भाव लक्षण व्याप्ति हैं।

तत्त्वसंग्रहकार[4] के विचार के वृत्तिका के उदय से रोहिणी की आसक्ति के अनुमान का वीज वायु है अर्थात् एक ही सामग्री के द्वारा दोनों की उत्पत्ति होने से यहां भी कार्य हेतु ही है। प्रतिबिम्ब से जो बिम्बानुमान है उसमें न कार्यकारण भाव है और रे स्वभाव यह बात सत्य है, तथापि उस स्थल में प्रतिविम्ब अवस्तु होने से उसका ज्ञान भ्रान्ति ही है। भ्रान्ति का कारण यह है कि एक ही स्थान में दो वस्तुएँ नहीं रहती।

जहां सीसे का स्वरूप दिखाई पड़ता है वहीं सुख का प्रतिबिम्व दिखलाई पड़ता है। एक ही स्थान में परस्पर विरोधी दो रूप नहीं रह सकते। इसलिए प्रतिबिम्ब अवस्तु है और अबस्तु का ज्ञान भ्रान्ति ही कहना चाहिए।

वाचस्पति आदि की आलोचना का उत्तर देकर धर्मकीर्ति के मत को ज्ञान

---

१. एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्॥ प्र० वा० ३-८।

२. तदत्र हेतुधर्मस्य तादृशोऽनुमतिर्यतः — तत्त्व सं० अनु० पं० १४२१

३. यदेव कारणं चन्द्रोदयादीनां कुमुदबोधादिसमानकालोत्पन्नानां। तदेन् कुमुदवोधादिषु सहकारिकारणतां प्रतिपद्यन इति—
न तु साक्षात् इत्येवं कार्यहेतावन्तर्भवतीति। तत्त्व सं० पं० अनु० पं० १४२१

४. तत्त्वसंग्रह अनु० पं० १४२३, २४

श्री मित्र[४] ने भी पुष्ट किया है। उनका कहना है सहचार के दर्शन या व्यभिचार के आग्रह से व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है। जब तक अनुमान के विषय को प्रत्यक्ष से जान न ले तब तक अव्यभिचार का निश्चय नहीं हो सकता और जब प्रत्यक्ष से अनुमान का विषय सिद्ध हो जायेगा तो अनुमान की आवश्यकता ही क्या रहेगी ?

इसी प्रकार यदि व्यभिचार का अदर्शन स्वाभाविक सम्बन्ध का नियामक है, और स्वाभाविक सम्बन्ध अव्यभिचार दर्शन का। इस प्रकार ये दोनों परस्पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय दोष होता है। इसलिए तादात्म्य या तदुत्पत्ति को स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चायक मानने पर उपरोक्त अन्योन्याश्रय दोष का परिहार हो जाता है।

वह्नि के साथ धूम का स्वाभाविक सम्बन्ध है, धूम के साथ वह्नि का औपाधिक सम्बन्ध है। इसलिए औपाधिकत्व या अनौपाधिकत्व ही व्याप्ति या व्यभिचार का आधार है। इस वाचस्पति के मत की आलोचना करते हुए आचार्य ज्ञानश्री[१] कहते हैं जैसे अग्नि गीले ईन्धन के बिना धूम से सम्बद्ध नहीं होती है वैसे धूम भी गीले ईन्धन के बिना अग्नि से सम्बद्ध नहीं होता है। इसलिए दोनों स्थानों में आर्द्र ईंधन संयोग रूप उपाधि समान है जैसे 'धूमवान् वन्हेः' औपाधिक हेतु है वैसे ही अग्निवान् धूमात् औपाधिक है। इसलिए उपाधि के आधार पर व्यभिचार का निश्चय अकिञ्चित्कर है। इसलिए तदुत्पत्ति को ही अव्यभिचार का निश्चयक मानना उचित है। धूम अग्नि से उत्पन्न होने के कारण अव्यभिचरित है। न कि सहचार के कारण। सहचार तो प्रत्येक का प्रत्येक में है।

व्याप्ति के भेद या प्रकार

भारतीय तर्कविद्या में व्याप्ति के कई प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। जैसे अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेक-व्याप्ति, सामान्यव्याप्ति, विशेषव्याप्ति, देशिकव्याप्ति, कालिकव्याप्ति, समव्याप्ति, असमव्याप्ति, अन्तर्व्याप्ति, बहिर्व्याप्ति आदि।

धर्मकीर्तिमत

धर्मकीर्ति[२] और उनके अनुयायी बौद्ध तार्किक व्याप्ति का वर्गीकरण अन्वय

---

१. अनुमानविषयेऽपि यावन्न साध्यं प्रत्यक्षेणोपस्थापयति तावन्नाव्यभिचारं प्रतीपादिति कृतमनुमानेन। किञ्च तदुत्पत्तिवादेर्ष्यया धूमस्थानेकान्त परिहाराय स्वभाविकवाद आश्रितः अनेकान्तश्च व्यभिचारशंकया। ततः स्वाभाविकत्वमिति इतरेतराश्रयः। ज्ञान श्री० मि० नि० पृ० १६६

२. प्रमाणवार्तिक ३-२६

और व्यतिरेक भेद से दो प्रकार का करते हैं। इस विषय में आचार्य धर्मकीर्ति न्याय-भाष्य की सारिणी का अनुकरण करते हुए कहते हैं कि साध्याभाव के रहने पर हेतु का अभाव है। ऐसा कहने पर भी साध्य का ज्ञान होता है। जहां वन्ह्यच भाव है वहां धूमाभाव—इस व्याप्ति के आधार पर भी साध्य की सत्ता सिद्ध होती है। मनोरथनान्दी[१] ने भी धर्मकीर्ति का समर्थन करते हुए कहा है "व्याप्ति दो प्रकार की है—व्यापक और व्याप्य धर्म के आधार पर" व्याप्य के रहने पर व्यापक का अवश्यंभाव व्यापक की व्याप्ति है। तथा व्याप्य का व्यापक के रहने पर रहना उसकी व्याप्ति है। इन्हीं दोनों व्याप्तियों को क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति कहा गया है। क्योंकि व्याप्य के रहने पर व्यापक का रहना अन्वय कहलाता है। तथा व्यापक के न रहने पर व्याप्य का अभाव व्यतिरेक कहलाता है।

न्याय-बिन्दु में आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रतिवन्धोपदर्शन '**व्याप्तिकथन**' अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार के वचनों के द्वारा व्यक्त होता है—यह कहा है। व्याप्ति के साधर्म्य और वैधर्म्य भेद के आधार पर ही परार्थानुमान के भी दो प्रकार प्रतिपादित किये हैं। साध्याभाव से साधना भाव की व्याप्ति को तत्त्व संग्रह[२] के टीकाकार कमलशील ने वैधर्म्यव्याप्ति कहा है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य कमलशील भी साधर्म्य दृष्टान्त तथा वैधर्म्य दृष्टान्त पर आधारित व्याप्तियों को क्रमशः अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति मानते हैं। साधर्म्य हेतु का प्रयोग करने पर भी अन्वय हेतु का ज्ञान होता है। उसी प्रकार वैधर्म्य हेतु का प्रयोग करने पर अन्वय हेतु का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य का प्रयोग धर्मोत्तराचार्य[३] को भी अभीष्ट है।

अन्तर्व्याप्ति और वहिर्व्याप्ति

पक्ष में गृहीत होने वाली साध्य और साधन की व्याप्ति को अन्तर्व्याप्ति (पक्ष पर आधारित होने से सम्भवतः) पक्ष तथा पक्ष और सपक्ष दोनों गृहीत होने वाली व्याप्ति को बहिर्व्याप्ति कहते हैं। "धर्मकीर्ति[४] ने पक्ष में गृहीत होने वाली अन्तर्व्याप्ति को ही महत्त्वपूर्ण माना है। सपक्ष में हेतु का दर्शन और विपक्ष में हेतु के अदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना है क्योंकि ये दोनों बातें अविनाभाव रहित हेतु में भी हो सकती हैं। इसलिए समक्ष में अविनाभाव का दर्शन ही

---

१. द्विविधाचेयं व्याप्तिः व्यापकव्याप्यधर्मतया। तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यंभावस्तस्य व्याप्तिः। व्याप्यस्य च व्यापक एव सतिभावो नाम कस्य व्याप्तिः आभ्यां यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुक्तौ— प्र० वा० मनो० वृ० ३"१

२. तत्त्व सं० पं० अनु० प० १४०३-१४०४।

३. न्या० वि० धर्मो० टी० २ परि०।

४. प्र० वा० ३-३०।

अनुमान के लिए कारण है। क्योंकि ऐसे भी अनुमान के सैकड़ों स्थल हो सकते हैं जिनमें सर्व पक्ष होता है अर्थात् वस्तु मात्र को पक्ष होने पर सपक्ष के लिए कोई स्थान नहीं रहता है जैसे "सर्वक्षणिकं, सर्वं शून्यम्" आदि। यहां सर्व पक्ष होने से "यत् सत् तत् क्षणिकम्" इस व्याप्ति का ग्रहण पक्ष में ही होता है। यहां व्याप्ति का ग्रहण विपक्षबाधक प्रमाण से होता है विपक्ष बाधक प्रमाण के आधार पर समक्ष में ही व्याप्ति का निश्चय किया जाता है। पर्वतो बह्निमान् धूमात् में पक्ष और सपक्ष दोनों का ही अस्तित्व होने से अन्तर्व्याप्ति तथा बहिर्व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है।

वैसे बौद्धमत में हेतु के तीन रूप पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्वादि में स्वीकार किये जाते हैं उनके आधार पर यह मानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि बौद्धों को बहिर्व्याप्ति भी मान्य है किन्तु बहिर्व्याप्ति का प्रयोग अव्युत्पन्न के लिए है, विद्वान् अन्तर्व्याप्ति के आधार पर भी अनुमान कर सकता है। बौद्धमत में समव्याप्ति और विषमव्याप्ति की कोई चर्चा उपलब्ध न होने से यह मानना पड़ता है कि यह व्याप्ति का भेद वस्तु की अपनी स्थिति के आधार पर होने से बौद्धों को भी दूसरे दार्शनिकों के सदृश मान्य होगा।

सामान्य और विशेषव्याप्ति

जब दो सामान्य पदार्थों में व्याप्ति का ग्रहण होता है तब उसे सामान्य व्याप्ति कहते हैं जैसे-जहां-जहां कार्यत्व है वहां-वहां अनित्यत्व है यह सामान्य व्याप्ति है उसी प्रकार जहाँ पर्वतीय धूम है वहां पर्वतीय अग्नि है यह विशेष व्याप्ति है। बौद्धों[1] के अनुसार अनुमान सामान्य विषयक होने से सामान्य की ही व्याप्ति होती है विशेष की नहीं, विशेष स्वलक्षण होने से उसका अनुमान नहीं होता है बौद्धों के इस मत का न्यायवार्तिक कार[2] टीकाकार वाचस्पति मिश्र[3] आदि ने खंडन करके विशेष व्याप्ति की स्थापना की है। मुख्य रूप से बौद्ध ग्रन्थों में व्याप्ति के अन्वय और व्यतिरेक रूप के आधार पर ही वर्गीकरण प्राप्त होता है।

हेतु एवं उसकी त्रिरूपता[4]

पक्षधर्मता

प्रमाणवार्तिककार आचार्य धर्मकीर्ति[5] की नैयायिकों के समान पक्षधर्मता को

१. अन्यत्सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः। न्या० वि० २ परि०

२. न्या० वा० १-१-५

३. न्या० वा० ता० टी० १-१-५

४. यस्मिन् प्रागुपलब्धश्च नोपलब्धश्च यत्र सः। अन्वयो व्यतिरेकों वा विस्पष्टं तत्र दृश्यते। तत्त्व सं० अनु० प० १४०७।

५. त्रिरूपो हेतु रित्युक्तं पक्षधर्मेतु संस्थितः रूढे रूपं द्वयं शेषं दृष्टान्तेन प्रदर्श्यते। प्रमाण समुच्चय-३ परि० द्वादशारनयचक्र में उद्धृत।

अनुमान का आवश्यक अंग मानते हैं[1] केवल हेतु में साध्य की व्याप्ति का ग्रहण होने से अनुमान नहीं हो सकता है। जब हेतु का पक्षधर्म के रूप में ज्ञान नहीं होता है वह हेतु अनुपयोगी होता है। इसलिए हेतु का लक्षण करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा है कि "पक्षधर्म, और पक्षधर्म "साध्य" से व्याप्त जो हो वह हेतु है।"

हेतु के तीन रूपों में पक्षधर्मता भी एक रूप धर्मकीर्ति मानते हैं। लिंग के अनुमेय में सत्त्व ही पक्षधर्मता कहलाता है। पक्षधर्मता का ज्ञान अनुमान के लिए आवश्यक है। इसलिए धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए आचार्य[2] कहते हैं। परोक्षार्थ के नान्तरीयक के रूप में निश्चय कराना ही हेतु का परोक्षार्थ प्रतिपादन व्यापार है। इसलिए अन्वय, व्यतिरेक, पक्षधर्मत्व निश्चय लिंग व्यापार रूप होने से वह अवश्यकर्तव्य है। पक्षधर्मत्व के इस प्रकार के लक्षण से चाक्षुषत्वादि रूप असिद्ध हेतुओं का निराकरण होता है। धर्मकीर्ति के "एव" से पक्षैकदेशासिद्ध हेत्वाभास का निराकरण होता है। जैसे वृक्ष चेतन है क्योंकि सोते हैं यहां पर सोने की क्रिया सभी वृक्षों में न होने से एकदेशासिद्ध है। सभी वृक्षों के पत्रों का सकोच रात में नहीं होता है। अनुमेये सावमेव "यहां सत्त्व के पश्चात् प्रयुक्त एवकार" से असाधारण धर्म का निषेध किया गया है। अन्यथा "शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्" यहां श्रावणत्व भी सद् हेतु होता है क्योंकि अनुमेय शब्द में ही रहने वाला धर्म श्रावणत्व है। धर्मोत्तर का कहना है कि धर्मकीर्ति का पक्षधर्मता लक्षण अपर्याप्त है क्योंकि वह लक्षण संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास में भी घटित होता है। इसलिए "अनुमेय में "सत्ता" ही निश्चित यहां से ही विपक्ष में व्यावृत्ति दिखलाई गई है यही पक्षधर्मता का स्वरूप ग्रहण करना चाहिए।

सपक्षसत्व

हेतु का दूसरा रूप है सपक्षधर्मत्व। जिस प्रकार हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है उसी प्रकार उसका सपक्ष में रहना भी आवश्यक है उसी प्रकार सपक्ष-सत्त्व का अर्थ है—सपक्ष में ही सत्व का निश्चय" सपक्षसत्व विरुद्ध हेत्वाभास का निराकरण करता है। न्यायबिंदुकार के "सपक्षे एव सत्व" में रहने वाला एवकार साधारण अनैकान्तिक का निराकरण करता है। साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास सपक्ष में ही नहीं रहता है अपितु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है। न्याय-बिन्दुकार ने सत्त्व के पूर्व एवकार का प्रयोग करके सपक्षमात्र में न रहने वाले प्रयत्नान्तरीयकत्व का भी हेतुत्व कहा है। धर्मोत्तर[2] के अनुसार न्यायबिन्दुकार के

---

१. प्र० वा० २ परि०
२. न्या० वि० धर्मो० टी० २ परि०

सपक्षवृत्तित्व के लक्षण में "निश्चित" शब्द का प्रयोग करने से संदिग्ध अन्वय वाले अनैकान्तिक हेत्वाभास का निराकरण होता है जैसे कोई व्यक्ति सर्वज्ञ है क्योंकि वक्ता है इस अनुमान वक्तृत्व हेतु सपक्ष में संदिग्ध है।

विपक्षासत्व

"असपक्षेनासत्वमेव निश्चितम्" के द्वारा आचार्य धर्मकीर्ति[1] ने असपक्षावृत्ति रूप का प्रतिपादन किया है जिसका तात्पर्य है कि असपक्ष "जिसमें साध्यभाव का निश्चय है" में जिसका अभाव निश्चित हो। "असत्व" कहने से विरुद्ध हेत्वाभास का निराकरण होता है विरुद्ध हेतु असपक्ष में विद्यमान होता है। "एवकार" का उपयोग साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास के निराकरण करने के लिए है। जैसे—शब्दः प्रयत्नान्तरीयकः अनित्यत्वात् यहां पर अनित्यत्व हेतु विपक्ष एक भाग विद्युत् में है और आकाश में नहीं है। इसलिए विपक्ष के एक इकाई में रहने के कारण यह हेतु साधारण हेत्वाभास है, उसका निषेध करने के लिए न्यायबिन्दुकार ने "एव" का ग्रहण किया है। उसी प्रकार निश्चित पद के प्रयोग से विपक्ष से व्यावृत्ति जिसमें संदिग्ध है—ऐसा अनैकांतिक हेत्वाभास का निराकरण होता है। इस प्रकार के लिंग को त्रिरूपता से अनेक हेत्वाभासों का निराकरण होकर उसका अविनाभावित्व स्थिर होता है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि सपक्ष में ही जो रहता हो ऐसा कहने से विपक्ष में न रहता हो यह ज्ञात ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में विपक्षासत्व का पृथक् विधान निरर्थक है ? इस आशंका का समाधान करते हुए धर्मोत्तर[2] कहते हैं कि अन्वय अथवा व्यतिरेक नियम वाले हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए यह कहने के लिए सपक्षसत्व और विपक्षासत्व दोनों का अनुविधान किया है। यदि अन्वय अथवा व्यतिरेक नियम का विधान न करें तो "स श्यामो मैत्रीतनयत्वात् "परिदृश्यमानमैत्रीतनयवत्" इस अनुमान में भी सपक्ष में सत्व तथा विपक्ष में असत्व होने से इसको भी प्रमाण मानना होगा इसलिए अन्वय अथवा व्यतिरेक नियम वाले हेतु का प्रयोग करना चाहिए जिससे साध्य से हेतु की व्याप्ति स्पष्ट हो जाय।

इस प्रकार से धर्मकीर्ति के मत में तीन ही हेतु के रूप हैं। नैयायिकादि सम्मत पञ्चारूपत्वादि का न्यायबिंदु अथवा धर्मोत्तर टीका में यद्यपि निषेध उपलब्ध नहीं है तथापि धर्मोत्तर प्रदीपकार[3] दुर्विवेक मिश्र ने अबाधित विषयत्व आदि के योग से चतुर्लक्षणत्व अथवा पञ्चलक्षणत्व मानने वालों के मत का निषेध किया है।

---

१. न्या० वि० २ परि०।

२. न्या० वि० धर्मो० टी२ परि०।

३. धर्मोत्तरप्रदीप २ परि०। इस पुस्तक से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध नैयायिक अबाधितविषयत्व असत्प्रतिपक्षितत्व का साध्यव्याप्ति में ही समावेश मान लेते हैं।

पात्र स्वामी "जैन" के मत को उपस्थित करते हुए आचार्य शान्तिरक्षित[1] कहते हैं कि अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतु का एकमात्र लक्षण उचित है। अन्यथानुपपन्नत्व न रहने पर हेतु की त्रिरूपता व्यर्थ है। स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्" यहां हेतु में त्रिरूपता होने पर भी वह अनुमेयार्थ का गमक नहीं है। त्रिरूपता न होने पर भी अन्वयानुपपन्नत्व रहने पर हेतु की सद्हेतुता देखी जाती है इसलिए त्रिलक्षणत्व व्यर्थ है।

अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का एकमात्र लक्षण उचित है। कहीं-कहीं एक लक्षण और द्विलक्षण हेतु भी अनुमेयार्थ का ज्ञापक होता है। जहां अन्यपानुपपन्नत्व नहीं है वहां त्रिरूपता से क्या लाभ? उसी प्रकार जहां अन्यथानुपपन्नत्व है वहां त्रिरूपता से क्या लाभ?

त्रिरूप से युक्त होने पर भी अविनाभाव सम्बन्ध न रहने से वह अनुमापक नहीं होता है। जैसे— "स श्यामः तत्पुत्रत्वात्" इत्यादि स्थल में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व तीनों ही हैं। किन्तु अविनाभाव "अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है। कहीं पर एक लक्षण हेतु भी साध्य का साधक होता है जैसे—भावाभावौ तदात्मकौ कथञ्चिदुपलभ्यत्वात्" इस अनुमान में भाव और अभाव दोनों ही पक्ष होने से सपक्ष तथा विपक्ष नहीं हैं। इसलिए पक्षधर्मत्व मात्र हेतु में है। दो लक्षण वाला हेतु भी गमक होता है जैसे—नाचन्द्रः शशी चन्द्रत्वेनापदिष्टत्वात्" यहां पर पक्ष-सत्त्व और विपक्षासत्त्व मात्र ही है सपक्ष सत्त्व नहीं है। इसी प्रकार "आत्मघट आदि कथञ्चिद् असद् है क्योंकि कथञ्चिद् अनुपलभ्यमान हैं। 'खर विषाण के समान' इस अनुमान में विपक्ष नहीं है। इसलिए त्रिरूपता हेतु की सद्हेतुता के लिए अनिवार्य नहीं है।

उपर्युक्त पात्र स्वामी "जैन" मत की आलोचना करते हुए आचार्य शान्तिरक्षित[2] कहते हैं क्या यह हेतु का लक्षण हेतु सामान्य का लक्षण है अथवा जिज्ञासित विशेष हेतु का अथवा धर्मि में रहने वाले हेतु का या दृष्टान्त में रहने वाले हेतु का? इनमें से प्रथम पक्ष की आलोचना करते हुए आचार्य शान्तिरक्षित कहते हैं कि केवल अविनाभाव रहने से हेतु गमक नहीं हो सकता जैसे "शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्" यहां पर अविनाभाव होने पर भी चाक्षुषत्व हेतु पक्ष शब्द में न होने से अनुमापक नहीं है, यदि अन्यथानुपपन्नत्व के साथ पक्षवृत्तित्व आवश्यक मानते हैं तो हेतु में त्रिरूपता स्पष्ट रूप से आ जाती है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति से अन्वय-व्यतिरेक का बोध होता है एवं अन्वय सपक्ष सत्त्व का और व्यतिरेक विपक्षासत्त्व का प्रतिपादक है।

---

१. तत्त्वसंग्रह अनु० प० १३६२-१३६३।

२. वही १३७६।

यदि अन्यथानुपपन्नत्व यह लक्षण साध्य धर्मिवृत्ति हेतु का माने तो जिस प्रमाण से हेतु का साध्याविनाभावित्व सिद्ध होगा उसी से साध्य की भी सिद्धि हो जाएगी इसलिए हेतु का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा। यदि साध्य सिद्ध नहीं है तो साध्यधर्मि हेतु में साध्याविनाभावित्व भी सिद्धि नहीं होता इस प्रकार हेतु असिद्ध हो जाएगा। किसी अन्य प्रमाण से साध्य की सिद्धि होने पर हेतु का अविनाभावित्व सिद्ध होता है तो हेतु की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? अपिच साध्य सिद्धि के आधार पर हेतु की सिद्धि और हेतु की सिद्धि होने पर साध्यसिद्धि इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो जाता है।

दृष्टान्त में हेतु का अविनाभावित्व सिद्ध होता है यह पक्ष मानें तो सभी साध्याश्रयों में साध्याविनाभावित्व सिद्ध न होने से साध्यधर्मि में अविनाभावित्व कैसे सिद्ध होगा ? यदि साध्यधर्मि 'पक्ष' में हेतु का साध्याविनाभावित्व नहीं है तो उस हेतु के द्वारा पक्ष में साध्य का बोध कैसे होगा, और जो यह "कथञ्चिदुपलभ्यतः" हेतु दिया गया है वह निष्फल है। साध्य संदिग्ध नहीं है किंतु निश्चित है साध्य संदेहरहित हेतु व्यर्थ हो जाता है। यदि साध्य संदेहयुक्त हेतु ही यहां है ऐसा मानें तो प्रश्न होता है कि भावों की सदात्मकता जब निश्चित ही है तो कथञ्चिद् सदात्मक भाव है यह कथन कहां तक उचित है। भावों को कथञ्चिद् सदात्मक सभी मानते हैं ?

"कथञ्चिदुपलभ्यमानत्वात्" यह हेतु भी समीचीन नहीं है। साध्य असिद्ध है। यदि व्यवहार को साध्य करें तो जहां पूर्व में व्यवहार किया गया है वह उदाहरण होने से हेतु की त्रिरूपता सिद्ध हो जाती है। अन्यथा उदाहरण के बिना उस व्यवहार की सिद्धि नहीं होती है।

द्वितीय अनुमान[1] "अचन्द्रः शशी" इत्यादि में असाधारणत्व होने से वह हेतु दोषयुक्त है। "आत्मघटादयः कथञ्चिदसदात्मानः" इस अनुमान में यह जो कहा गया है कि वैधर्म्य दृष्टान्त नहीं है क्योंकि विपक्ष नहीं है यह कथन उचित नहीं है क्योंकि जिस रूप में घटादि पदार्थ उपलब्ध होते हैं उस रूप में सदात्मकत्व जब उनमें इष्ट ही है तब वही स्वभाव वैधर्म्य दृष्टान्त होगा क्योंकि उस स्वरूप में अनुपलभ्यमानता नहीं है।

"स श्यामः[2] तत्पुत्रत्वात्" इस अनुमान में त्रिरूपता होने पर भी हेतु गमक नहीं होता है यह कथन असाध्य है क्योंकि भावि मैत्री का तनय श्याम नहीं होगा उसमें कोई विरोध नहीं है फलस्वरूप विपक्षव्यावृत्ति न होने से इस अनुमान

---

१. तत्त्व सं० अनु० प० १३९४-१४०७।

२. वही।

में त्रिरूपता नहीं है ।

इस प्रकार धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी अविनाभाव के साथ ही हेतु की त्रिरूपता को ही अनुमान का आवश्यक अंग मानते हैं ।

प्रो० श्चेरवास्की[१] के अनुसार पर्याप्त हेतु नियम को ही त्रिरुपलिंग नियम कह सकते हैं, यह हेत्वाश्रित निश्चय में व्यक्त होता है और उसका अर्थ है कि हेतु के होने पर फल अनिवार्यतः हो और अनिवार्य फल की अनुपस्थिति में हेतु भी उसी प्रकार अनुपस्थित हो । इस नियम का दूसरा नाम अन्वय-व्यतिरेक नियम है। यह मिश्रित हेत्वाश्रित न्याय वाक्य के विधायक तथा विघातक रूपों के अनुरूप है। इसके नियमों के सूत्र के रूप में ये तीन बातें हैं। उद्देश्य में उपस्थिति "पक्षसत्त्व" सपक्ष में सत्त्व, और विपक्ष में असत्त्व। यह Nota Notice Bst Nota Rcl Ipsus तथा Dictum Dommi" के समान है ।

हेतु के भेद

त्रिरूप से सम्पन्न हेतु के तीन प्रकार बौद्ध[२] स्वीकार करते हैं—१. कार्य २. स्वभाव ३. अनुपलम्भ। जैसे यहां अग्नि है। क्योंकि धूम है। यह कार्य हेतु है। यह वृक्ष व्यवहार योग्य है क्योंकि शिंशपा है यह स्वभाव हेतु है । इस प्रदेश में घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि योग्य होते हुए उपलब्ध नहीं है ।[३] हेतु के उक्त तीन प्रकार ही क्यों हैं ? इसके विषय में प्रमाण वार्तिककार का उत्तर है कि साध्याविनाभाव रूप व्याप्ति उक्त तीन हेतुओं में ही रहती है इसलिए तीन प्रकार के ही हेतु हैं। वैशेषिकों के द्वारा प्रतिपादित संयोगी समवायी और हेतुओं में अविनाभावित्व नियत न होने से वे हेतु नहीं हैं। इनका बौद्ध निम्न प्रकार से खण्डन करते हैं। आचार्य दिङ्नाग[४] के अनुसार संयोग का ज्ञान न रहने पर भी धूम के द्वारा अग्नि का ज्ञान होता है तथा संयोग द्विनिष्ठ होने से अग्नि भी धूम के ज्ञान का कारण हो । उसी प्रकार संयोग सम्बन्ध मानने पर अग्नि में रहने वाले तीक्ष्णता दीप्ति आदि का भी बोध हो क्योंकि धूम का सम्पूर्ण रूप से अग्नि के साथ संयोग है न कि अंशतः । जहां धूम से अग्नि का अनुमान करते हैं वहां धूम के द्वारा अग्नि की सत्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता है । अपितु जिस देश में धूम का सामीप्य है उस देश को अग्निमान के रूप में सिद्ध किया जाता है। अन्यथा "अत्र" यह कथन निरर्थक होगा इसलिए धूमे अग्निः ऐसा कहें तो प्रतिज्ञा का एक देश ही हेतु होगा

---

१. बौद्ध न्याय-श्चेरवास्की अनु० चौ० पृ० ३७६ ।

२. त्रिधैव स :—प्र० वा० ३-१

३. प्र० वा० मनो० ३-१

४. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति-३ परि० द्वादशारनयचक्र में उद्धृत-सं०जम्बुविजय-सम्वत् २०२२

अतः हेतु और साध्य गमक सम्बन्ध संयोग न होकर अविनाभावित्व ही है।

उसी प्रकार गाय और विषाण का समवाय सम्बन्ध भी अनुमान का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह अप्रत्यक्ष है। सम्बन्ध की प्रतीति न होने से वह कारण नहीं हो सकता। अनुपलब्ध सम्बन्ध को अभिव्यञ्जक मानना उचित नहीं है। समवाय के प्रतीत न होने पर भी अविनाभावित्व के आधार पर अनुमान देखा जाता है। उसी प्रकार एकार्थ समवायी भी हेतु नहीं हो सकता। समवाय के समान ही एकार्थ समवाय भी अप्रत्यक्ष है। एकार्थ समवाय का ज्ञान होने के बिना भी अविनाभाव की उपलब्धि होती है। एवं जिस प्रकार एकार्थ समवाय होने से रूप से स्पर्श की उपलब्धि होती है उसी प्रकार स्पर्श से भी रूप की उपलब्धि हो, सम्बन्ध में समानता है।

विरोधी का निषेध करते हुए दिङ्नाग[1] कहते हैं कि जो विरोधी है वह लिंग नहीं हो सकता क्योंकि उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता है। वायु और अभ्र संयोग का वर्षा कर्म के साथ विरोध नहीं है। वर्षा कर्म हेतु नहीं अपितु उसका अभाव हेतु है और उसका वायु और मेघ के संयोग के साथ कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार वैशेषिकों के हेतु के प्रकारों में अविनाभाविता सिद्ध न होने से वे हेतु नहीं है।

दिङ्नाग[2] ने सांख्य मत का भी खण्डन किया है। सांख्य[3] वध्यघातक भाव सम्बन्ध को भी अविनाभाव का नियमक मानते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे स्थान पर सर्पों की अनुपस्थिति का अनुमान होता है, जहां पर नकुलों की बहुलता होती हो। दिङ्नाग[4] कहते हैं कि कभी-कभी नकुलों के साथ संघर्ष में सर्प विजयी हो सकता है, तब अनुमान असफल होगा। किन्तु कृतकत्व से अनित्यत्व का अनुमान निश्चित है क्योंकि वह उसी प्रकार तादात्म्य पर आधारित होता है जिस प्रकार किसी वस्तु की सत्ता में गतक्षण निश्चित होता है। यह हेतु अनिवार्यता पर आधारित होता है।

हेतु के विभाजन के आधार जो तादात्म्य तदुत्पत्ति तथा अनुपलब्धि है उनके विषय में धर्मोत्तर[5] प्रश्न करते हैं कि यदि सम्बन्धों के भेद से प्रकार हो सकते हैं। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति[6] कहते हैं अनुमानात्मक ज्ञान या तो विधि

---

१. प्रमाणसमुच्चय वृत्ति—३ परि० द्वादशारनय चक्र में उद्धृत
२. वही
३. न्या० वा० तात्पर्य टीका १-१-५।
४. बौद्धन्याय-श्चेरवास्की- अनु० चौ० १९६८ पृ० ३१७
५. ननु त्रिरूपत्वादेकमेव लिङ्गं युक्तम्। अथ प्रकारभेदादभेदः। एवं सति स्वभाव हेतोरेकस्यानन्तप्रकारत्वात् त्रित्वमयुक्तम्। धर्मो० का० जा० १९५५ पृ० १०८
६. अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ। एकः प्रतिषेधहेतुः। न्या० वि० का० जा० पृ० १०८

अथवा निषेध होता है। विधि द्विविध है वह या तो स्वभाव हेतु पर आधारित है या कार्य पर और प्रतिषेध अनुपलब्धि पर।

आचार्य धर्मकीर्ति[1] ने सर्वत्र तीन प्रकार के ही हेतु बतलाये हैं। अनुपलब्धि स्वभाव और कार्य। अनुपलब्धि स्वरूप हेतु का उदाहरण देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं "इस प्रदेश में घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि योग्य होते हुए अनुपलब्ध है। उपलब्धि लक्षण प्राप्त का अर्थ धर्मोत्तराचार्य[2] ने किया है। क्योंकि घट दृश्य है इसलिए उसे उपलब्ध होना चाहिए। इस प्रकार घटाभाव का अनुमान अनुपलब्धि हेतु के द्वारा होता है।

स्वभाव हेतु का लक्षण करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि जो साध्य अपने हेतु की सता की अपेक्षा से ही विद्यमान रहता है हेतु सत्ता से भिन्न किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता है वह साध्य स्वसत्ताभावी साध्य कहलाता है। उस साध्य के लिए जो हेतु हो वह स्वभाव हेतु है जैसे वृक्षोऽयं शिशपात्वात्" अर्थात् यह वृक्ष व्यवहार योग्य है क्योंकि शिशपा व्यवहार योग्य है।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कोई व्यक्ति शिशपा को जानते हुए उसके वृक्षत्व के विषय में सन्दिग्ध हो सकता है ? इस विषय में धर्मोत्तराचार्य[3] का कथन है कि जहां प्रचुर मात्रा में सीसम के वृक्ष हैं परन्तु कोई जड़ व्यक्ति शिशपा की पहचान नहीं रखता है उसी को कोई अन्य सज्जन ऊंचे शीशम वृक्ष को दिखलाकर कहता है कि यह वृक्ष है तब वह व्यक्ति शीशम की ऊंचाई को भी वृक्ष व्यवहार का निमित्त मानकर किसी नाटे कद के शीशम को देखता है तो उसे वृक्ष नहीं मानता है उसके लिए शिशपात्व ही वृक्षव्यवहार का कारण होता है।

तात्पर्य यह है कि शिशपा और वृक्ष दोनों से यद्यपि एक ही समान विषयक तात्पर्य है तथापि स्वयं इन दोनों में तादात्म्य नहीं है। ये अन्योन्याश्रित है—जिससे इनमें से एक अर्थात् आश्रित भाग के उपस्थित होने पर दूसरा स्वतन्त्र भाग भी अनिवार्यतः उपस्थित रहता है किंतु स्थिति इसके विपरीत नहीं होती है, वृक्ष शिशपा पर आश्रित नहीं है। ऐसे भी वृक्ष हो सकते हैं जो शिशपा नहीं हैं किंतु सभी शिशपा अनिवार्यतः वृक्ष होते हैं।

कार्य हेतु का स्वरूप धर्मकीर्ति इस प्रकार व्यक्त करते हैं जैसे "यहां अग्नि है क्योंकि धूम है" धूम अग्नि का कार्य होने से उनका अनुमापक होता है।

इन तीन प्रकार के हेतुओं में दो हेतु स्वभाव और कार्य, वस्तु के साधक

---

१. अनुपलब्धिः स्वभावे कार्ये चेति—न्या० वि० चौ०

२. उपलब्धिर्ज्ञानम्—तत्प्राप्तोऽर्थो जनकत्वेन सामग्र्यान्तर्भावादुपाधिलक्षण-प्राप्तो दृश्य इत्यर्थः धर्मोत्तरटीका चौ० पृ०

३. न्या० बि० धर्मो० टीका २ परि०

होते हैं तथा एक अनुपलब्धि हेतु प्रतिषेध का ज्ञापक होता है। हेतु की भिन्नता का मूल कारण साध्य की भिन्नता है। साध्य कहीं विधिरूप है तो कहीं निषेधरूप है।

प्रतिषेध की सिद्धि बौद्धमत[1] में दृश्यानुपलब्धि से होती है। क्योंकि वस्तु की विद्यमानता में दृश्यानुपलब्धि नहीं होती है, अविद्यमानता में ही होती है इसलिए दृष्टानुपलब्धि से ही प्रतिषेध "अभाव" की सिद्धि होती है।

अभाव की निश्चायक अनुपलब्धि प्रयोग की विभिन्नता से ग्यारह प्रकार की होती है।[2] प्रयोग भेद से तात्पर्य है वाचक व्यापार का भेद। इसके कारण ही अनुपलब्धि में भेद होता है स्वरूपतः उनमें कोई भेद नहीं है।

१. **स्वभावानुपलब्धि**[3]—प्रतिषेध का जो स्वभाव उसकी अनुपलब्धि। जैसे "यहां धूम नहीं है, क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त "दृश्य" होने पर भी अनुपलब्ध है।

२. **कार्यानुपलब्धि**[4]—प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि। जैसे यहां अप्रतिबध्य सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं है, क्योंकि यहां धूम का अभाव है।

३. **व्यापकानुपलब्धि**[5]—प्रतिषेध्य व्याप्य के व्यापकधर्म की अनुपलब्धि। जैसे यहां शिशपा नहीं है क्योंकि इस स्थान में वृक्ष का अभाव है।

४. **स्वभावविरुद्धोपलब्धि**[6]—प्रतिषेध्य के स्वभाव से विरुद्ध की उपलब्धि। जैसे यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहां अग्नि है।

५. **विरुद्ध कार्योपलब्धि**[7]—प्रतिषेध्य से विरुद्ध कार्य की उपलब्धि। जैसे यहां शीत स्पर्श नहीं है क्योंकि यहां धूंआ है।

६. **विरुद्धव्याप्तोपलब्धि**[8]—प्रतिषेध्य से विरुद्ध के व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि। जैसे उत्पन्न वस्तु का विनाश अवश्यंभावी नहीं है क्योंकि वह हेत्वन्तर की अपेक्षा रखता है।

७. **कार्यविरुद्धोपलब्धि**[9]—प्रतिषेध्य के कार्य के विरुद्ध की उपलब्धि। जैसे यहां पर अप्रतिवद्ध सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं है क्योंकि यहां अग्नि है।

८. **व्यापकविरुद्धोपलब्धि**[10]—प्रतिषेध्य के व्यापक से विरुद्ध की उपलब्धि। जैसे यहां तुषार स्पर्श नहीं है क्योंकि यहां अग्नि है।

९. **कारणानुपलब्धि**[11]—प्रतिषेध्य के कारण की अनुपलब्धि। जैसे यहां पर धूम

---

१. न्या० वि० पृ० २ परि०
२. न्या० वि० २ परि०
३. वही
४. वही
५. वही
६. वही
७. वही
८. वही
९. वही
१०. वही
११. वही

नहीं है क्योंकि यहां अग्नि का अभाव है।

१० **कारणविरुद्धोपलब्धि**[1]...प्रतिषेध्य के कारण के विरुद्ध की उपलब्धि। जैसे इस पुरुष को रोम हर्ष आदि नहीं हो रहे हैं क्योंकि उसके पास अग्नि विशेष है।

११. **कारणविरुद्धकार्योपलब्धि**[2]—प्रतिषेध्य कारण के विरुद्ध के कार्य की उपलब्धि। जैसे इस प्रदेश में रोम हर्ष आदि से युक्त पुरुष नहीं है, क्योंकि यहां धूम है।

आचार्य धर्मकीर्ति[3] न्यायबिन्दु में लिखते हैं कि ये सब कार्यानुपलब्धि आदि, इस प्रकार की अनुलब्धियां हैं उनका अन्तर्भाव स्वभावानुपलिब्ध में होता है। यद्यपि कार्यानुपलब्धि और स्वभावानुपलब्धि आदि में विधि और प्रतिषेध से प्रयोग-भिन्नता है तथापि परम्परा से स्वभावानुपलब्धि में इनका अन्तर्भाव हो जाता है। प्रयोगों के अभ्यास से स्वयं ही प्रतिषेध "अभाव" की प्रतीति होती है। इसलिए ये शब्दात्मक होते हुए भी इनका स्वार्थानुमान में प्रदर्शन किया गया है।

तत्त्व संग्रहकार आचार्य शान्तिरक्षित[4] ने भी हेतुओं के इन्हीं तीन प्रकारों का समर्थन किया है। इनसे भिन्न हेतुओं में अव्यभिचारिता नहीं होती है।

अनुमान के भेद

दिङ्नाग मत

आचार्य दिङ्नाग[5] ने अनुमान के दो भेद स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के रूप में प्रदर्शित किये हैं। अनुमान में इन दो भेदों का स्पष्ट प्रतिपादन सर्व प्रथम दिङ्नागादि बौद्ध नैयायिकों ने ही किया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के पूर्ववर्ती जैन न्याय ग्रंथों में कहीं इनका उल्लेख नहीं है। न्यायदर्शन के जयन्त भट्ट के पूर्ववर्ती ग्रंथों में इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। न्याय के प्राचीन ग्रंथों में तथा सांख्यकारिका आदि ग्रंथों में अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद प्रतिपादित किये गये हैं।

---

१. न्या० वि० २ परि०
२. वही।
३. न्यायबिन्दु २ परि०
४. नायं स्वभावः कार्यं वा दृश्यस्यादृष्टिरेव वा। न च तद्व्यतिरिक्तस्य भवत्यव्यभिचारता॥ तत्त्व सं० अनु० प० १४१७।
५. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति-४ परि० "द्वादशारनयचक्र।

स्वार्थानुमान

स्वार्थानुमान का लक्षण करते हुए आचार्य दिङ्नाग[1] कहते हैं कि जो त्रिरूप-लिङ्ग के द्वारा अनुमेयार्थ का दर्शन है वह स्वार्थानुमान है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष का फल दो प्रकार का होता है विषय संविति और स्वसंविति। उसी प्रकार अनुमान का भी होता है किन्तु प्रत्यक्ष अनुमान के विषय तथा स्वरूप भिन्न हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्पष्ट 'स्वलक्षण' होता है। और अनुमान अस्पष्ट 'सामान्य' होता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने न्यायबिंदु में दिङ्नाग के लक्षण का समर्थन करते हुए ही अपना स्वार्थानुमान का लक्षण उपस्थित किया है। जो ज्ञान अनुमेय में त्रिरूप लिंग से उत्पन्न होता है। स्वार्थानुमान स्वयं प्रतिपत्ति के लिए की जाने वाली अधिगति है। इस लिए स्वार्थानुमान को बौद्ध ज्ञानात्मक मानते हैं। आचार्य शान्तिरक्षित[2] तथा उनके टीकाकार कमलशील[3] तथा तर्कभाषाकार मोक्षाकर गुप्त ने भी अनुमान के इन भेदों को स्वीकार करते हुए आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के लक्षणों का समर्थन किया है।

"स्वार्थ" का तात्पर्य है कि "त्रिरूप लिंग" का ज्ञान जिसके सन्तान में उत्पन्न होता है उसके लिए जिससे अन्य को बोध नहीं होता है इसलिए वह स्वार्थ कहलाता है। क्योंकि कोई भी ज्ञान किसी पुरुष विशेष में नियत नहीं होता है।

परार्थानुमान

बौद्ध परार्थानुमान को वचनात्मक मानते हैं। दिङ्नाग के अनुसार परार्थानुमान स्वदृष्ट अर्थ का प्रकाशन है। तात्पर्य यह है कि जब त्रिरूप लिंग के द्वारा स्वयं को लिंग विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसे दूसरे को कराने की इच्छा से त्रिरूपलिंग का आख्यान किया जाता है तो परार्थानुमान कहते हैं यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमान 'प्रमाण' जब बौद्धों के अनुसार ज्ञानात्मक है तब वचन को कैसे अनुमान कहा जाएगा ? इसका उत्तर आचार्य दिङ्नाग[4] और धर्मकीर्ति[5] ने एक ही प्रकार से दिया है। कारण में कार्य का औपचारिक प्रयोग है अर्थात् अनुमान के कारण त्रिरूप लिंगज्ञान को भी औपचारिक रूप से अनुमान कहा गया है।

१: प्रमाणसमुच्चय वृत्ति ४ परि० "द्वादशारनयचक्र"।
२. तत्त्व सङ्ग्रह अनु० प्र० १४६६।
३. तत्त्व सङ्ग्रह पंजिका अनु० प० १४६३-१४६६।
४. प्र० वा० ४-१, १२।
५. न्या० बि० ३ परि०

यहां प्रश्न यह होता है कि 'त्रिरूपलिंगज्ञान' यही परार्थानुमान का लक्षण आचार्य दिङ्नाग ने क्यों नहीं कहा, स्वदृष्ट का ग्रहण क्यों किया है ? इस विषय में प्रमाणवार्तिककार[1] कहते हैं कि परार्थानुमान के द्वारा दूसरों के लिए प्रतिपत्ति अभीष्ट होने से स्वयं अदृष्ट भी प्रतिवादी के द्वारा आगम से ज्ञात भी लिंग प्रयुक्त होता है ऐसा सांख्यों का मत है। उसका निराकरण करने के लिए स्वदृष्ट पद का ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी के मत में सिद्ध हेतु अनुमान का जनक नहीं होता है बल्कि उभयसिद्ध हेतु ही अनुमान का कारण होता है। दूसरी बात यह है कि आगम के द्वारा प्रतिवादी के लिए साधन सिद्धि ठीक नहीं है। शब्दार्थ का सम्बन्ध सिद्ध न होने से आगम का प्रामाण्य नहीं है।

"स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्" इस कारिका में अर्थ ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए प्रमाण वार्तिककार कहते हैं कि अर्थ का ग्रहण शब्द अथवा कल्पना के द्वारा आरोपित पक्ष सपक्ष अन्यतरत्वादि को अहेतुत्व सिद्ध करने के लिए किया गया है। वास्तविक अर्थ के द्वारा ही साध्य रूप अर्थ की सिद्धी होती है। शब्द अथवा कल्पना के द्वारा गृहीत हेतु व्यभिचारी होते हैं। "स्वदृष्टार्थ प्रकाशनं वाक्यम्" के द्वारा त्रिरूप लिंग वचन का प्रतिपादन किया है। किन्तु पक्ष वचन का प्रतिपादन करना चाहिए था। इस विषय में वार्तिककार का कथन है कि साक्षात् अथवा परम्परा से पक्ष वचन साध्य सिद्धि के लिए उपयोगी नहीं है। साक्षात् पक्ष का अभिधान साध्यसिद्धि में उपयोगी इसलिए नहीं है कि वचन प्रतिपाद्य अर्थ के द्वारा साक्षात् साध्य सिद्धि होती है, वचन के द्वारा नहीं। इसीलिए पक्ष वचन या हेतुवचन स्वतः साधन नहीं हैं। उसी प्रकार परम्परा से भी साध्य की सिद्धि में हेतु वचन समर्थन ही है। इसलिए परार्थानुमान के लक्षण में अर्थ प्रकाशन शब्द से पक्षवचन का ग्रहण नहीं किया है।

परार्थानुमान के लक्षण में स्वयं शब्द के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि एक ही 'शब्द' रूप धर्मी के नानाधर्म होने पर भी अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त साधन के उपन्यास काल में इष्ट धर्म को ही साध्य करना चाहिए। अन्य को नहीं, इस बात को बतलाने के लिए आचार्य दिङ्नाग ने 'स्व' शब्द का ग्रहण किया है।

प्रो० श्चेरवास्की के अनुसार परार्थानुमान ज्ञान का साधन नहीं है। यह ऐसे तर्क वाक्यों से निर्मित होता है—जिसके उपलब्ध ज्ञान का दूसरे से सूचित करने के लिए उपयोग किया जाता है। जब किसी अनुमान को दूसरे व्यक्ति को सूचित किया जाता है तब वह उसके बुद्धि में दोहराया जाता है और लाक्षणिक अर्थ में

१. प्र० वा० ४-१३-१४।

२. बौद्धन्याय हिन्दी अनुवाद—चौखम्बा

वह अनुमान कहा जाता है। परार्थानुमान वह हेतु है जो श्रोता के मन में अनुमिति उत्पन्न करता है। इसीलिए इसकी यह परिभाषा है त्रिरूप लिंगकथन परार्थानुमान है।

निम्नलिखित तीन उदाहरण स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भेद को स्पष्ट करते हैं :[१]

स्वार्थानुमान

(१) शब्द अनित्य है क्योंकि उसकी यदृच्छा से उत्पत्ति होती है, जैसे घट आदि। यह अनुमान अनित्यता और उत्पत्ति दो विकल्पों के तादात्म्य पर आधारित है।

(२) पर्वत पर अग्नि है क्योंकि वहां धूम है, जैसे पाकशाला आदि में। यह दो वस्तुओं के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध पर आधारित अनुमान है।

(३) इस स्थान पर घट नहीं है, क्योंकि हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, जैसे हमें गगन कुसुम का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यह अनुपलब्धि पर आधारित अनुमान है।

इन अनुमानों का परार्थ स्वरूप इस प्रकार होगा—

(१) जिसकी भी यदृच्छा से उत्पत्ति होती है वह अनित्य होता है जैसे घटादि और शब्द इसी प्रकार का है।

(२) जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि अवश्य होगी जैसे पाकशाला आदि में और पर्वत पर इसी प्रकार का धूम है।

(३) जब हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो उसकी उपस्थिति को अस्वीकार करते हैं जैसे हम आकाश पुष्प की उपस्थिति को अस्वीकार करते हैं। और इस स्थान पर किसी घट का प्रत्यक्ष नहीं कर रहें हैं यद्यपि प्रत्यक्ष की सब सामग्री विद्यमान है।

धर्मकीर्तिमत

न्यायबिन्दु में प्रतिपादित धर्मकीर्ति के लक्षण त्रिरूप लिंग प्रतिपाद/ा में त्रिरूप पद से आचार्य धर्मोत्तर[१] ने अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मत्व का ग्रहण किया है जो अन्ततः व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का सूचक है।

न्यायबिन्दुकार[२] ने परार्थानुमान के दो भेद किये हैं साधर्म्यवत् और

१. बौद्ध न्याय—अनु० चौ०

२. त्रीणि रूपाण्यन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वसंज्ञकानि यस्य तत्त्रिरूपम्।
न्या० बि० धर्मो ३ परि०।

३. न्या० वि० ३ परि०।

वैधर्म्यवत् । शब्द व्यापार के भेद से परार्थानुमान के भी भेद हो जाते हैं। साधर्म्यवत् वाक्य और वैधर्म्यवत् वाक्य के भेद से दो प्रकार के वाक्य प्रयोग होते हैं। जिस साधन वाक्य का साधर्म्य अभिधेय होता है वह वाक्य साधर्म्यवत् वाक्य कहलाता है। जैसे जो कृतक है वह अनित्य है जैसे घट। यहां पर कृतकत्व के द्वारा दृष्टान्त और साध्यधर्मी 'पक्ष' का सादृश्य बतलाया गया है जिस हेतु वाक्य का वैधर्म्य अभिधेय हो वह वैधर्म्यवत् कहलाता है। जैसे जो नित्य है वह अकृत्रिम है जैसे आकाश और शब्द कृत्रिम हैं। यहां पर कृतकत्व और अकृतकत्व के द्वारा शब्द और आकाश का वैधर्म्य बतलाया गया है।

यहां पर प्रश्न हो सकता है कि यदि दोनों प्रयोगों का प्रतिपाद्य भिन्न है जैसे कि ऊपर बतलाया गया है तब दोनों का एक प्रकाश्य नहीं है। ऐसी अवस्था में दोनों का त्रिरूप लिङ्गस्वरूप कैसे हो सकता है? इस विषय में न्यायविन्दु-टीकाकार[3] का यह मन्तव्य है कि प्रतिपाद्य भिन्न होते हुए भी दोनों का प्रयोजन एक ही है। दोनों ही त्रिरूप लिङ्ग का प्रकाशन करते हैं। इसलिए दोनों में प्रयोजन भेद नहीं है। अन्वय के कथन से व्यतिरेक का ज्ञान होता है और व्यतिरेक के कथन से अन्वय का ज्ञान होता है। जिस प्रकार स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता है और स्थूल देवदत्त रात्रि में खाता है, इन दोनों वाक्यों का अभिधेय भिन्न होने पर भी इनका गम्य एक ही है।

साधर्म्यवत् तथा वैधर्म्यवत् दोनों ही प्रकारों के अनुमानों का प्रयोग अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य तीनों ही हेतुओं में होता है।

अनुपलब्धिहेतुक[1]

उपलब्धि योग्य होते हुए जो उपलब्ध नहीं है वह असद् व्यवहार योग्य है। यहां पर दृश्य और अनुपलब्ध असद् व्यवहार योग्य ही होता है, ऐसा कहकर साधन का साध्य के साथ नियत रहना 'व्याप्ति' कहा गया है। उदाहरण — शश विषाण में असद व्यवहार का कारण दृश्यानुपलब्धि है।

साधर्म्यवत्-स्वभाव हेतुक के तीन प्रयोग धर्मकीर्ति ने उपस्थित किये हैं, शुद्ध, अतिरिक्त विशेषण तथा व्यतिरिक्त विशेषण। "यत्सतंत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति" यह शुद्ध स्वभाव हेतु का प्रयोग है। इसी प्रकार विशेषण से युक्त "अव्यतिरिक्त विशेषण" स्वभाव हेतु का भी प्रयोग होता है। जैसे—"यदुत्पत्तिमत् तदनित्यमिति" यहां पर स्वभावात्मक धर्म की भिन्नता से हेतु और साध्य में कल्पित भेद स्वीकार किया जाता है।

---

१. न्या० वि० धर्मो० ३ परि०।
२. न्या० वि० ३ परि०
३. वही

उपाधिभेद से भी स्वभाव हेतु का प्रयोग होता है जैसे—"यत्कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन" अर्थात् वस्तु से भिन्न उपाधि से युक्त होता है जैसे कभी देवदत्त यह शब्द शुद्ध देवदत्त का बोधक होता है। लम्बकर्ण यह उससे अभिन्न कर्णद्वय विशिष्ट का बोधक होता है। चित्रगु व्यतिरिक्त चित्रगौ विशिष्ट का वाचक है। उसी प्रकार सत्त्व शुद्ध है। उत्पत्तिमत्त्व व्यतिरिक्त विशेषण है। कृतकत्व व्यतिरिक्त विशेषण हेतु का उदाहरण है।

चित्रगु शब्द में व्यतिरिक्त विशेषण को बतलाने वाले चित्र आदि शब्द हैं जब कि कृतक शब्द में भिन्न विशेषण का वाचक कोई शब्द नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति[1] और धर्मोत्तर[2] कहते हैं कि जिसके लिए दूसरे के व्यापार की अपेक्षा होती है उसे ही कृतक कहा जाता है इसलिए कृतक को व्यतिरिक्त विशेषण से युक्त स्वभाव वाला कहा जाता है। यद्यपि यहां दूसरा विशेषण पद नहीं है तथापि कृतक शब्द में ही दूसरा विशेषण पद अन्तर्भूत है। जहां विशेषण अन्तर्भूत होता है वहां विशेषण शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती है।

कार्य हेतु में भी साधर्म्यवत् का प्रयोग होता है जैसे जहां पर धूम होता है वहां अग्नि होती है, जैसे पाकशाला आदि में, यहां भी धूम है। इसलिए यहां भी अग्नि सिद्ध है। अग्नि कारण और धूम कार्य होने से धूम हेतु और अग्नि साध्य होता है।

वैधर्म्यवत् प्रयोग भी अनुपलब्धि स्वभाव और कार्य इन तीनों हेतुओं में उसी प्रकार से होता है जैसे साधर्म्यवत् प्रयोग होता है।

१. अनुपलब्धि हेतु के प्रयोग[3]

जो सत् और उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता है वह अवश्य उपलब्ध होता है जैसे नील आदि वस्तुविशेष। उसी प्रकार यहां उपलब्धि लक्षण युक्त सत् घट की उपलब्धि नहीं है। इसलिए यह अनुपलब्धि प्रयोग है।

२. स्वभाव हेतुक प्रयोग[1]

अनित्यत्व के न रहने पर सत्त्व कृतकत्व या उत्पत्तिमत्त्व नहीं रहता है, शब्द सत् होते हुए उत्पत्तिमान् तथा कृतक है। यह स्वभाव हेतु का प्रयोग है।

---

१. न्या० वि० ३ परि०

२. न्या० वि० धर्मो० टी० ३ परि०

३. न्या० वि० ३ परि०।

४. वही

३. कार्य हेतुक प्रयोग[2]

अग्नि के न रहने पर धूम भी नहीं रहता। यहां भी उसी प्रकार है अर्थात् अग्नि के न रहने से धूम भी नहीं है। यह कार्य हेतु का प्रयोग है। यहां व्याप्य वन्ह्यभाव का अभाव होने से साध्य वह्नि का ज्ञान होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि साधर्म्यवत् प्रयोग में व्यतिरेक का तथा वैधर्म्य-वत् प्रयोग में अन्वय का समावेश नहीं होता है। ऐसी स्थिति में त्रिरूपता हेतु में कैसे ? इसका उतर देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति[3] कहते हैं कि साधर्म्य के प्रयोग में वैधर्म्य 'व्यतिरेक' अर्थात् ही आ जाता है। क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेक के बिना हेतु का साध्य के साथ अन्वय नहीं हो सकता उसी प्रकार वैधर्म्य (व्यतिरेक) से भी अन्वय स्वयं आ जाता है। क्योंकि व्यतिरेक के न रहने पर साध्याभाव के रहने पर हेत्वाभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है, मात्र प्रयोगभिन्नता है। दोनों ही प्रयोगों में दोनों का समावेश किया गया है। हेतु के रहने पर साध्य का ज्ञान अन्वय-ज्ञान है इसलिए साधनाभाव नियत साध्याभाव के अभिधान सामर्थ्य से व्यतिरेक वाक्य से भी अन्वय का बोध होता है। इसलिए दोनों ही प्रयोगों में त्रिरूप "अन्वय-व्यतिरेक और पक्षधर्म के समावेश में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

गौतम मत खण्डन

आचार्य दिङ्नाग[1] ने नैयायिकों के अनुमान के भेद पूर्ववत् शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट की तीव्र आलोचना की है। उनका विचार है कि पूर्ववत् का अर्थ "पूर्वेण तुल्यं पूर्ववत्" इस विग्रह के आधार पर "पूर्व के समान" यह अर्थ होगा अथवा "पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्" इस विग्रह के आधार पर "मतुप्" होगा इनमें पहला पूर्व के समान यह अर्थ सर्वत्र सम्भव नही क्योंकि सभी अनुमानों में पूर्व में अनुभूत के समान ही पश्चात ज्ञान होता है। इसलिए किसी एक ही अनुमानको पूर्ववत नहीं कह सकते। सभी को पूर्ववत् कहना चाहिए। अविनाभाव सम्बन्ध के सामर्थ्य से पूर्ववत् अर्थ की प्रतीति करें तो सम्बन्ध का निर्देश न होने से अनुमान का निर्देश भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्ववत् का अर्थ (पूर्व के समान) ठीक नहीं है।

मतुपार्थक 'वत्' भी ठीक नहीं है। यदि मतुप् को लेकर पूर्व अर्थात् कारण इस कार्य के पूर्व है इसलिये यह पूर्ववत् है। अर्थात् पूर्ववत् का अर्थ कारण से कार्य का ज्ञान" यह कहें तो कारण के रहने पर भी प्रतिबन्धक के रहने पर अथवा अन्य कारण के न रहने से कार्य उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए पूर्ववत् का अर्थ कारण से कार्यानुमान करना ठीक नहीं है।

---

१. न्या० वि० ३ परि०
२. वही
३. प्रमाणसमुच्चय-स्वार्थानुमान परिच्छेद "द्वादशारनयचक्र में उद्धृत"

उसी प्रकार शेषवत्[1] में भी वत् का अर्थ "इव" (समान) ठीक नहीं है। शेषवत् का शेष के समान यह अर्थ करने पर शेष अर्थात् प्रत्यक्ष के तुल्य जिसका विषय हो वह ज्ञान शेषवत् है। यह व्यभिचार होने से उचित नहीं है। तुल्य रूप से तुल्य रसादि की उत्पत्ति सर्वदा नहीं होती है। इसलिए शेषवत् में इव 'तुल्य' अर्थ ठीक नहीं है।

यदि शेषवत्[2] में मतुप् का ग्रहण करते हैं तो "शेषं कार्यमस्तीति शेषवत् कारणं तद्विषयज्ञानमपि शेषवत्" अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान यह अर्थ निकलता है किन्तु जहां कार्य का ज्ञान नहीं है वहां भी हेतु में अविनाभाव के ज्ञान से अनुमान होता है। वह नहीं होना चाहिए। उसी प्रकार कृतकत्व से जो अनित्यत्व का अनुमान होता है वह भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि कृतकत्व न तो अनित्यत्व का कार्य है और न कारण।

जिस प्रकार[3] पूर्ववत्, शेषवत् ठीक नहीं है उसी प्रकार सामान्यतोदृष्ट भी ठीक नहीं है क्योंकि वह भी कार्य कारण सम्बन्ध के आधार पर ही होने वाला अतिपरोक्ष विषय का अनुमान है।

कुमारिलमतखण्डन

तत्व-संग्रह-कार शान्तिरक्षित[4] ने आचार्य कुमारिल के अनुमान के वर्गीकरण का खण्डन किया है। आचार्य कुमारिल[5] के अनुसार अनुमान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष-दृष्ट-सम्बन्ध और सामान्य-दृष्ट-सम्बन्ध। प्रत्यक्ष-दृष्ट-सम्बन्ध अनुमान है, धूमाकृति को देखकर अग्न्याकृति का अनुमान और सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। देवदत्त की अन्य देश में प्राप्ति गतिपूर्वक होती है यह समझकर आदित्य की गति का अनुमान।

आचार्य शान्तिरक्षित[6] ने बौद्धों के मूल सिद्धान्त क्षणभङ्गवाद के आधार पर आचार्य कुमारिल के प्रत्यक्ष दृष्ट सम्बन्ध अनुमान का खण्डन किया है जो क्षणभङ्गवाद नहीं मानते उन पर यह खण्डन कहां तक लागू होता है यह विचारणीय है। शान्तिरक्षित के अनुसार यह जो कहा गया है। जिस पुरुष में गोमयेन्धन प्रभावो एतावग्निधूमो" यह बुद्धि उत्पन्न हुई है वही तद्देशस्थ उसी धूमादि हेतुओं के द्वारा

---

१. प्र० समुच्चयवृत्ति ३ परि० "द्वादशारनयचक्र में उद्धृत"

२. वही

३. "श्रीमल्लवादिसूरिप्रणीतं द्वादशारनयचक्रम्। प्रथमो विभागः। संवादिक —मुनि जम्बूविजय—भावनगर श्री जैन आत्मानन्दी सभा वि० सम्वत् २०२२ ई० सं० १९६६।

४. तत्त्वसंग्रह अनु० प्र० श्लो० १४४६-१४५४

५. तत्त्वसंग्रह पंजिका श्लो० १४४६-१४५४।

६. तत्त्वसंग्रह श्लो० १४४६-१४५४

उसी अग्नि का बोध करता है—उचित नहीं है क्योंकि धूमादि सकल पदार्थ क्षणिक होने से उसी धूम से उसी वह्नि का ग्रहण सम्भव नहीं जिस धूम और अग्नि में अविनाभाव का दर्शन हुआ था उसका लोप होकर दूसरा ही तत्स्थानापन्न है अतः उसी धूम से अग्नि का अनुमान सम्भव नहीं है। यदि कल्पित एकत्व को आधार मानें तो कल्पित एकत्व पारमार्थिक न होने से परमार्थतः उसका अस्तित्व नहीं है। इसलिए "तद्देशस्थितेनैव" यह युक्त नहीं है। और निर्विषय ज्ञान मीमांसक मानते नहीं इसलिए कल्पित विषय मानने पर ज्ञान निश्चित रूप से निर्विषय होगा। यदि यह माने कि व्यक्ति का विनाश होने पर उसकी जाति रहती है, यह कथन उचित नहीं है क्योंकि मीमांसक के अनुसार जाति और व्यक्ति एक होने से व्यक्ति के विनाश होने पर जाति नहीं रह सकती है इसलिए उसका क्षणभङ्ग आवश्यक है। और यदि किसी वस्तु का अनुमान से ज्ञान हो और पुनः उसे ही हेतु के द्वारा जाने तो उसे विशेषतोदृष्ट क्यों न कहा जाय? प्रत्यक्षतोदृष्ट विशेषण की क्या आवश्यकता है? इसलिए सर्वत्र क्षणिक पदार्थों का अनुमान सामान्यतोदृष्ट ही अनुमान है। वित्यज्ञतोष्ट अनुमान कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग से लेकर कमलशील[1] तक सभी बौद्ध विचारक अनुमान का स्वार्थ और परार्थ के रूप में ही वर्गीकरण उचित मानते हैं अन्य सभी प्रकार के वर्गीकरण निराधार तथा अव्यापक तथा अतिव्यापक होते हैं इसलिए वे ग्राह्य नहीं हैं। दिङ्नाग के पूर्व अनुमान का स्वार्थ तथा परार्थ के पूर्व में वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता। किन्तु दिङ्नागोत्तर प्रायः सभी सम्प्रदायों की तर्कशास्त्रीय कृतियों में अनुमानों के ये भेद उपलब्ध होते हैं।

न्यायावयव

परार्थानुमान के अङ्ग के रूप में न्यायावयवों का प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में भारतीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र में स्थूल रूप से छः परम्परायें उपलब्ध होती हैं—१. पञ्चावयवी २. दशावयवी ३. त्रि-अवयवी ४. द्वि-अवयवी ५. एकावयवी ६. चतुर्अवयवी परम्परा। मीमांसक वेदान्ती तथा बौद्ध अवयवत्रयी की परम्परा को ही स्वीकार करते हैं।

दिङ्नाग मत

बौद्ध परम्परा में आचार्य दिङ्नाग[2] को मीमांसक के समान पक्ष, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवों का प्रयोग ही मान्य है। उन्होंने साधन पद से पक्ष, हेतु

---

१. अनुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्—तत्त्व सं० पं० अनु० प्र० १३६१

२. पक्ष हेतु-दृष्टान्त-वचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोर्थः प्रतिपाद्यत इति न्या० प्र० सू० २।

तथा दृष्टान्त का ग्रहण किया है। धर्मकीर्ति तथा उनके समर्थक आचार्यों ने प्रतिज्ञा हेतु आदि नैयायिकों के पञ्चावयवों में से केवल दो अवयवों, उदाहरण और उपनय का तथा व्युत्पन्नों के लिए केवल एक हेतु का ही ग्रहण किया है। श्चेरवास्की ने धर्मकीर्ति के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि "वास्तव में प्रत्येक परार्थानुमान में प्रमुख बात साध्य आधार वाक्य में व्यक्त रूप में दो पदों के अनिवार्य अन्तर सम्बन्ध का तथ्य है। दूसरी बात के अन्तर्गत अन्वयवाक्य का किसी विशेष के प्रति उपनय आता है। यही अनुमान का वास्तविक उद्देश्य है अर्थात् किसी विषय का लिङ्ग ज्ञान के आधार ज्ञान को जब इन दो चरणों में सम्पन्न किया जाता है तब परार्थानुमान की सिद्धि हो जाती है।"

वास्तव में अनुमान के दोनों अंगों अविनाभाव तथा पक्षधर्मता का समावेश इन्हीं दो अवयवों में हो जाता है। साध्यवाक्य अर्थात् प्रतिज्ञा की व्यर्थता को धर्मकीर्ति[1] ने कहा है "जिसके विषय में विवाद होने पर साधन का उपन्यास किया जाता है उसकी सिद्धि की इच्छा करने वाले द्वारा साध्य का अर्थात् प्रतिज्ञा का उच्चारण न करने पर भी उसके विषय में विवाद होने से वही साध्य होता है। साध्य के उल्लेख के लिए प्रतिज्ञा अनावश्यक है क्योंकि जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है जैसे महानस आदि "यहां भी धूम है" इन दो वाक्यों से उदाहरण और उपनय के आधार पर ही "पर्वतो वह्निमान्" यह अनुमिति होती है।

धर्मकीर्तिमत

आचार्य धर्मकीर्ति के समान ही प्रतिज्ञादि पञ्चावयवों के प्रयोग से उत्पन्न अनुमान को परार्थानुमान कहने वाले नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए शान्तिरक्षित कहते हैं कि प्रतिज्ञा साधनाङ्ग न होने से अनावश्यक है अतः उसका प्रयोग परार्थानुमान में नहीं करना चाहिए। बौद्धमत में शब्द का अर्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से प्रतिज्ञा साध्य की सिद्धि में न तो साक्षात् उपयोगी है और न "हेतुवचन" की तरह परम्परा से उपयोगी है।

साध्य और साधन के धर्मों को कहने के लिए दृष्टान्त पद के समान ही प्रतिज्ञा का भी प्रयोग करना चाहिए। दृष्टान्तपद स्वतन्त्र अवयव न होने पर भी पक्षधर्म से भिन्न में दोनों रूपों को प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त होता है। इस कथन का खण्डन करते हुए शान्तिरक्षित[2] कहते हैं कि अभ्यनुज्ञावाक्य में बिना प्रतिज्ञा के भी साध्यसिद्धि होती है। जैसे "यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यम्"। "कृतकश्च शब्दः" इस वाक्य से भी शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

---

१. तत् पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने।
"प्रमाणं संशयोत्पत्तेः स्वतः साक्षान्न साधनम्" प्र० वा० ४-१६

२. तत्त्वसंग्रह अनु० १४१०-१४१६

यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग न करें तो सपक्षादि व्यवस्था का समर्थन कैसे किया जायेगा। इसका समाधान इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है कि सपक्षादि के प्रयोग को न जानने वाले लोग भी—जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है "और धूम यहां है इतना कहने मात्र से ही साध्य की अनुमिति कर लेते हैं, तब प्रश्न होता है कि सपक्ष आदि का व्यवहार कहां होता है ? शास्त्र में व्यवहार के लिए उसका विभाग किया जाता है, साधन का प्रतिपादन करते हुए प्रकृत साध्य का प्रयोग हमारे प्रतिकूल नहीं है। जिज्ञासित विशेष में ही धर्मी का विचार होने से पक्षधर्मता तथा उसकी समानता के कारण सपक्ष का और उसकी भिन्नता के कारण विपक्ष का विचार भी हो जाता है। अतः पक्षधर्मता आदि की सिद्धि के लिए प्रतिज्ञा प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। आचार्य कमलशील[1] एवं मोक्षाकर गुप्त[2] ने भी धर्मकीर्ति का समर्थन करते हुए प्रतिज्ञा को साधनाङ्ग नहीं माना है।

हेतु और उपनय में से एक के प्रयोग का समर्थन करते हुए आचार्य शान्तिरक्षित कहते हैं कि उपनय साधनाङ्ग है ऐसा भाविविक्त[3] मत है क्योंकि पक्षधर्मता का प्रकाशन प्रतिज्ञा के बाद आने वाले हेतु वचन से सम्भव नहीं है, हेतु वचन कारणमात्र का वाचक है यह ठीक है कि कृतकत्व होने से शब्द अनित्य होता है किंतु वह कृतकत्व शब्द में है या नहीं इसका निश्चय उपनय से ही होता है। अथवा प्रतिविम्बन के लिए उपनय का प्रयोग है। पूर्व में हेतु वचन से निर्विशेष कृतकत्व का अस्तित्व शब्द में बतलाया गया है। पश्चात् दृष्टान्त में प्रदर्शित कृतकत्व की साध्य के साथ व्याप्ति का उपनय के द्वारा प्रतिबिम्बन दिखलाया जाता है—तथा च कृतकः शब्दः" इस कारण विशेष का प्रकाशन होने से उपनय में पुनरुक्तता नहीं है।[4] इसका खण्डन करते हुए आचार्य शांतिरक्षित[5] कहते हैं कि द्वितीय हेतुवचन की तरह ही उपनय द्वितीय हेतुवचन होने से निरर्थक है। प्रतिज्ञा का प्रयोग पूर्वोक्तरीत्या खण्डित होने से उसके पश्चात् होने वाला कृतकत्वादि कारणों का प्रयोग भी अनावश्यक है। उसके पश्चात् हेतु के साथ उपनय का उच्चारण भी नहीं करना चाहिए। पक्षधर्मता के प्रतिपालन के लिए भी उपनय का प्रयोग आवश्यक नहीं है क्योंकि यह कार्य केवल हेतु द्वारा भी सम्पन्न हो सकता है कारण बौद्ध मत में हेतु के स्वरूप के अनुसार हेतु का पक्ष में रहना तथा साध्याविनाभावी होना आवश्यक है। अतः हेतु वचन का फल पक्षधर्मता से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। इसलिए हेतुवचन से पक्षधर्मता का प्रतिपादन होने के पश्चात् पुनः उपनय से उसी का प्रति-

१. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका अनु० प० १४३०-१४३६
२. बौद्ध तर्कभाषा पृ० १४
३. तत्त्व संग्रह अनु० प० १४३७-१४३८
४. तत्त्व संग्रह पञ्जिका—अनु० प० १४३७-३८
५. वही १४३७-३८

पादन पुनरुक्ति ही होगी।

निगमन को "अनुमान-साधनानि" मानने वाले उद्योतकरादि के मत का खण्डन करते हुए शांतिरक्षित[1] कहते हैं कि साध्यविपर्यय की शंका की निवृत्ति के लिए निगमन का प्रयोग आवश्यक नहीं है क्योंकि त्रिरूप हेतु के निर्देश से ही साध्य की सिद्धि हो जाने पर साध्य विपर्यय की शंका का अवसर ही नहीं रह जाता है। और शंका रहने पर भी निर्युक्तिक वचन से उसका निराकरण नहीं हो सकता है अतः निगमन का प्रयोग निरर्थक है।

आचार्य कमलशील[2] भी निगमन की व्यर्थता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचन निगमनम्" इस निगमन लक्षण के अनुसार प्रतिज्ञा का ही पुनः कथन निगमन है जब प्रतिज्ञा के प्रयोग को ही निरर्थक सिद्ध किया जा चुका है तो उसी का अनुवाद निगमन सार्थक कैसे सिद्ध हो सकता है इसलिए निगमन साधन का अंग नहीं है।

आचार्य दिङ्नाग'[3] ने भी निगमन को पुनरुक्ति होने से साधनाङ्ग नहीं माना है। मोक्षाकर गुप्त और अर्चट आदि ने भी इसी बात का समर्थन किया है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने हेतु और उदाहरण का प्रयोग सामान्य व्यक्ति के बोध के लिए आवश्यक माना है। व्युत्पन्न व्यक्ति को एकमात्र हेतु के प्रयोग से ही साध्यानुमिति होती है। उसके लिए दृष्टान्तवचन की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। न्यायबिन्दु[4] में भी दृष्टान्त को साधनांग नहीं माना गया है। न्यायबिन्दुकार के अनुसार त्रिरूप हेतु के कथन मात्र से ही जब साध्य की प्रतीति हो जाती है तब दृष्टान्त को पृथक् अवयव मानने की आवश्यकता ही क्या है? इसलिये दृष्टान्त का पृथक लक्षण नहीं किया गया है, क्योंकि हेतु में ही गतार्थ है। इसी का समर्थन करते हुए धर्मोत्तर[5] ने कहा है कि अदृष्टान्तक हेतु का प्रयोग नहीं होता है यह कहना नहीं है अपितु हेतु से पृथक् दृष्टान्त नामक कोई अवयव नहीं है, दृष्टान्त हेतु के अन्तर्गत ही होता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी अनुमान बिना हेतु के प्रयोग के सम्भव नहीं है, हेतु का लक्षण त्रिरूपोपन्नत्व होने से प्रत्येक हेतु में पक्षधर्मता और व्याप्ति "अन्वय व्यतिरेक" निहित रहता है। इसलिए पक्षधर्मता अथवा व्याप्ति के प्रदर्शन के लिए

१. त्रिरूपहेतुनिर्देशः सामर्थ्यादेव सिद्धितः।
न विपर्यय शङ्कास्ति व्यर्थं निगमनं ततः—
तत्त्व सं० अनु० प० १४३७।

२. तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका अनु० प० १४३९

३. न्या० प्र० मू० प्र-१२। तत्त्व सं० प० अनु० प० १४३९

४. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिर्न पृथक् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते। गतार्थत्वात्। न्या० वि० पृ० ९१

५. न्या० वि० धर्मोत्तर टीका ३ परि०।

अन्य किसी भी अवयव की आवश्यकता नहीं रहती है। एकमात्र हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त है। इसलिए आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन आदि को असाधनाङ्ग मानकर निग्रहस्थान में सम्मिलित किया है। वादन्याय की टीका में आचार्य शान्तिरक्षित ने भी आचार्य धर्मकीर्ति का अनुसरण किया है।

अवयवों के प्रयोग क्रम के विषय में बौद्धों को कोई आग्रह नहीं है। हेतु के प्रयोग के पश्चात् उदाहरण का प्रयोग अथवा उदाहरण के पश्चात् हेतु का प्रयोग किया जा सकता है इससे अनुमान की निष्पत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आचार्य शांतिरक्षित ने भी इस बात का समर्थन किया है कि व्याप्ति प्रतिपादन के लिए पहले उदाहरण, तत्पश्चात् पक्षधर्मता के प्रदर्शन के लिए हेतु अथवा पहले पक्षधर्मता के प्रदर्शन के लिए हेतु का, पश्चात् व्याप्तिप्रदर्शन के लिए उदाहरण का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं है।

बौद्धमत[1] में न्यायावयवों का प्रयोग निम्न प्रकार से है।

स्वभावहेतु साधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण :—जो सत् होता है वह अनित्य होता है जैसे घट।

उपनय—शब्द सत् है।

वैधर्म्यवत् प्रयोग—

उदाहरण—जो अनित्य नहीं होता है वह सत् नहीं होता जैसे आकाश।

उपनय—शब्द सत् है। कार्यहेतु—

साधर्म्यवत् प्रयोग—

उदाहरण—जहां धूम होता है वहां अग्नि होती है जैसे महानस में

उपनय—यहां धूम है

वैधर्म्यवत् प्रयोग—

उदाहरण—जहां अग्नि नहीं होती है वहां धूम भी नहीं रहता है जैसे जलद में

उपनय—यहां धूम है।

अनुपलब्धि हेतु—

साधर्म्यवत् प्रयोग—

उदाहरण—जो उपलब्धि योग्य होते हुए उपलब्ध नहीं है वह असद् व्यवहार का विषय होता है जैसे खरगोश के सींग।

उपनय—इस प्रदेश विशेष में उपलब्धि लक्षण प्राप्त घट उपलब्ध नहीं होता।

वैधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण—जो सत् और उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता है वह अवश्य उपलब्ध होता है जैसे नील आदि।

---

१. न्या० बि० ३ परि०।

उपनय—उसी प्रकार यहां उपलब्धि लक्षण प्राप्त सद् घट की उपलब्धि नहीं है।

अनुमान के दोष[1]

जिस अनुमान में कोई दोष रहता है वह अनुमान यथार्थ ज्ञान का जनक नहीं होता है। उस अनुमान को मिथ्यानुमान या अनुमानाभास कहते हैं। अनुमान के अङ्गों में त्रुटि रह जाने पर उससे उत्पन्न अनुमान भी त्रुटियुक्त होता है। अनुमान के मुख्य अङ्ग पक्ष, हेतु, दृष्टान्त हैं। दोष इन तीन मे उत्पन्न होता है। इसलिए बौद्ध मत के अनुसार अनुमान के दोष भी तीन प्रकार के होते हैं। पक्षाभास, हेत्वाभास, और दृष्टान्ताभास।

पक्षाभास

न्यायबिन्दु में आचार्य धर्मकीर्ति[2] ने पक्षाभास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस अर्थ को सिद्ध करना चाहते हैं उसमें उपर्युक्त सब लक्षणों के होने पर भी यदि वह प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति और स्ववचन से निराकृत हो तो वह पक्ष नहीं हो सकता।

आचार्य धर्मकीर्ति[3] ने चार प्रकार के पक्षाभास स्वीकार किये हैं, प्रत्यक्ष निराकृत, अनुमान निराकृत, प्रतीति निराकृत, तथा स्ववचन निराकृत।

प्रत्यक्षनिराकृत[4]

जिस पक्ष का प्रत्यक्ष के द्वारा निराकरण होता हो वह प्रत्यक्ष निराकृत पक्षाभास कहलाता है जैसे शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं है। यहां शब्द का श्रवणेन्द्रिय का विषय होना सर्वप्रसिद्ध होने से पूर्वोक्त कथन प्रत्यक्ष द्वारा बाधित हो जाता है। अतः यह प्रत्यक्ष निराकृत पक्षाभास है।

अनुमाननिराकृत[5]

अनुमान निराकृत वह पक्षाभास है जिसमें पक्ष अनुमान के द्वारा बाधित होता है जैसे—"शब्द नित्य है" यहां शब्द की नित्यता "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" इस अनुमान से वाधित है।

---

१. ब्राह्मण न्याय में इसका विश्लेषण हेत्वाभास शीर्षक से किया गया है।
२. न्या० वि० ३ परि०
३. न्या० वि० ३ परि०
४. न्या० वि० ३ परि०।
५. वही

प्रतीतिनिराकृत[1]

शशी चन्द्र शब्द का वाच्य नहीं है। यह कथन प्रतीति के द्वारा निराकृत होता है। प्रतीति का अर्थ है विकल्प विज्ञान का विषय। विकल्प विज्ञान विषयत्व रूप से शशी का चन्द्र शब्द वाच्य होना सिद्ध है। जो वस्तु विकल्प ज्ञान का विषय होती है वह शब्दाकार संसर्ग योग्य होती है, अर्थात् सांकेतिक शब्द के द्वारा ग्राह्य होती है। इसलिए विकल्प ज्ञान के विषय के रूप में सिद्ध चन्द्र शब्द की वाच्यता उसके अचन्द्र होने में बाधक है।

स्ववचननिराकृत[2]

प्रतिज्ञार्थ वाचक शब्द से निराकृत पक्ष स्ववचन निराकृत पक्षाभास कहलाता है। प्रतिज्ञार्थ है, जैसे साध्य नहीं है। अनुमान प्रमाण नहीं है। यहां अनुमान के प्रामाण्य का निषेध प्रतिज्ञार्थ है। जो साध्य नहीं है वह अनुमान प्रमाण नहीं है इस स्ववाचक वाक्य से ही बाधित होता है इस प्रकार से प्रयुक्त वाक्य वक्ता का शाब्द प्रत्यय की सहार्थता इष्ट है यह सूचित करता है। ऐसी अवस्था में उसका अनुमान "शाब्द" प्रमाण नहीं है। यह प्रतिज्ञा उसी के वाक्य से निराकृत हो जाती है।

न्यायप्रवेश में आचार्य दिङ्नाग ने नौ प्रकार के पक्षाभास प्रदर्शित किये हैं।

१. **प्रत्यक्ष-विरुद्ध**[3]

जैसे शब्द श्रावण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

२. **अनुमान-विरुद्ध**[4]

जैसे घट नित्य है; यह प्रतिज्ञा, घट अनित्य है क्योंकि कृतक है इस अनुमान के विरुद्ध है।

३. **आगम-विरुद्ध**[5]

वैशेषिक का कथन शब्द नित्य है, वैशेषिक के मत में शब्द अनित्य होने से उसका यह प्रतिज्ञार्थ उसके सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।

४. **लोक-विरुद्ध**[6]

नरकपाल पवित्र है। यह प्रतिज्ञा लोकविरुद्ध है। लोक में नरकपाल अशुचि के रूप में प्रसिद्ध है।

---

१. न्या० वि० ३ परि
२. वही।
३. १. से ७ तक—न्यायप्रवेश पक्षा० प्र० पृ० २।

५. स्ववचनविरुद्ध

मेरी माता वन्ध्या है; यहां प्रतिज्ञार्थ, प्रतिज्ञार्थ वाचक शब्द से ही बाधित है क्योंकि जो मेरी माता है वह वन्ध्या नहीं हो सकती और जो वध्या है वह मेरी माता नहीं हो सकती।

६. अप्रसिद्ध विशेष्य

साङ्ख्यों का बौद्धों के प्रति कथन आत्मा चेतन है।

७. अप्रसिद्ध विशेषण

बौद्धों का साङ्ख्यों के प्रति यह कथन-शब्द विनाशी है।

(८) अप्रसिद्धोभय[1]

वैशेषिक का बौद्धों के प्रति यह कथन—आत्मा सुख आदि का समबायी कारण है।

(९) प्रसिद्ध सम्बन्ध

शब्द श्रावण है।

प्रमाणवार्तिककार ने अप्रसिद्ध विशेष्यादिकों की पक्ष दोषों में गणना नहीं की है। इसलिए हेतु-दोषों एवं पक्ष-दोषों का विचार करते हुए टीकाकार मनोरथ[3] नांदी[2] प्रश्न करते हैं कि वार्तिककार ने कुछ दूसरे प्रकार के पक्षाभासों की गणना क्यों नहीं की है—जैसे बौद्ध के लिए अप्रसिद्ध विशेष्य वाला पक्ष होता है आत्मा यहां पर आत्मा बौद्ध के लिए अप्रसिद्ध है इसलिए यह पक्षाभास हो सकता है। कहीं पर विशेषण अप्रसिद्ध रहता है जैसे सांङ्ख्य के लिए "विनाशी शब्द" यहां पर विनाश अप्रसिद्ध है। कहीं विशेषण और विशेष्य दोनों ही अप्रसिद्ध होते हैं जैसे बौद्ध के लिए "समवायिकारण आत्मा" यहां समवायिकारण और आत्मा दोनों ही अप्रसिद्ध हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार मनोरथ नन्दी कहते हैं कि ये हेतुदोष है पक्षदोष नहीं। उसी प्रकार शब्द में अनित्पत्व विशेषण अप्रसिद्ध है यह उसके लिए गुण ही है, पक्षदोष नहीं है। क्योंकि यहां अप्रसिद्ध को ही साध्य किया गया है।

विपर्यय सिद्ध के आधार पर भी यह असिद्ध नहीं है। क्योंकि मूढ व्यक्ति के लिए विपर्यय की सिद्धि होने पर भी यह पक्षदोष नहीं है। यह विरोध नामक हेतु दोष ही है। तब पक्षदोष क्या है? इस प्रश्न के समाधान में प्रमाण वार्तिक

---

१. न्या० प्रवेश पक्षा० प्र० पृ० २।
२. प्र० वा० मनो० पृ० ४-१४६।
३. वही पृ० ४-१५०।

के आशय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते[1] हैं कि सभी असिद्ध आदि हेतुदोषों के द्वारा पक्ष का ही उपरोध होता है फिर भी प्रतिज्ञा मात्र से होने वाले दोष को ही पक्ष दोष कहना ठीक है। जैसा कि कहा गया है कि हेतु दृष्टान्तादि की अपेक्षा से जो दोष होता है वह हेतु आदि से ही सम्बद्ध होता है। इसलिए आश्रयासिद्धि आदि हेतु दृष्टान्त आदि की अपेक्षा रखते हैं फलस्वरूप वे हेतुदोष हैं। पक्षदोष नहीं।

अतएव पक्षदोष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्ति[2] कहते हैं कि सभी हेतु आदि दोषों से पक्ष ही बाधित होता है इसलिए जो मात्र पक्ष से ही सम्बन्धित दोष हैं वे ही पक्ष दोष है। इसलिए प्रत्यक्षादि विरोध के समान अन्य अवयवान्तरों से सम्बन्धित दोष पक्षदोष नहीं है। इसी बात का समर्थन आचार्य कमलशील[3] ने भी किया है।

पक्षाभासों को प्रतिज्ञाभासों के रूप में वैशेषिक, न्याय तथा मीमांसकों ने वर्णित किया है। जैन ग्रंथों में पक्षाभासों के दो भेद प्रतिपाद्यसिद्ध और बाधित तथा बाधित के कई अवान्तरभेद प्रदर्शित किये गए हैं।

हेत्वाभास—

तत्त्व निर्णय के लिए जिस प्रकार सद् हेतु का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार उसके विरोधी दुष्ट हेतुओं का ज्ञान भी आवश्यक है। सद् हेतुओं के सद् हेतुत्व ज्ञान की तरह असद् हेतुओं का हेत्वाभासत्व ज्ञान भी वादिप्रतिवादी के बीच के विवाद का निर्णायक होता है। असद् हेतुओं के प्रयोग पर आधारित अनुमान अनुमान न रहकर अनुमानाभास बन जाता है इसलिए स्वानुमान को अनुमानाभास होने से बचाने के लिए तथा परोक्तानुमान में दोषोद्भावन के लिए हेत्वाभास का ज्ञान आवश्यक है।

हेत्वाभास का लक्षण करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति[4] कहते हैं कि त्रिरूप लिंग के आख्यान को परार्थानुमान कहा है। उसके तीन रूपों में से एक रूप के न कहने पर एक रूप के असिद्ध होने पर या उसके विषय में सन्देह होने पर हेत्वाभास होता है। अविनाभाव (व्याप्ति) विषयपूर्वक होने पर तथा पक्षधर्म होने पर हेतु सद् हेतु कहलाता है। उससे भिन्न हेतुओं को हेत्वाभास कहते हैं।

---

१. प्र० वा० मनो० पृ० ४-१५०।

२. सर्वे पक्षस्य बाधातः तस्मात् तन्मात्र सङ्गिनः पक्षदोषा मता नान्ये प्रत्यक्षादिविरोधवत् प्र० वा० ४८३।

३. तत्त्वसङ्ग्रह पञ्जिका, अनु० परि०।

४. न्या० बि० ३ परि०।

साध्य व्याप्त हेतु में हेतु के तीन रूप पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व अवश्य रूप से पाये जाते हैं। इन तीन रूपों में से एक-एक अथवा दो-दो रूपों के असिद्ध अथवा संदिग्ध होने पर यथायोग असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास होते हैं।

हेत्वाभासों का वर्गीकरण-व्युत्पत्तिमूलक अर्थ—

हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है।— "हेतोराभासाः हेत्वाभासाः अर्थात् हेतु के आभासों को हेत्वाभास कहते हैं। हेतु के आभास अर्थात् हेतु के दोष हैं व्यभिचार, असिद्ध आदि। दूसरी व्युत्पत्ति है "हेतुवद् आभासन्ते" इति हेत्वाभासाः अर्थात् जो हेतु न होते हुए हेतु की तरह प्रतीत होते हैं उन्हें हेत्वाभास कहा जाता है। यह हेत्वाभास का लक्षण दोष युक्त हेतुपरक होता है जिसका तात्पर्य है जो हेतु हेतुओं के तीन रूपों से युक्त नहीं होते वे हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभासों का वर्गीकरण

नागार्जुन मत

बौद्ध परम्परा में हेत्वाभासों का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचार्य नागार्जुन[1] के उपाय-हृदय में मिलता है। आचार्य नागार्जुन ने आठ प्रकार के हेत्वाभास माने हैं: १—वाक् छल २—सामान्य छल ३—संशयसम ४—कालातीत ५—प्रकरणसम ६—वर्ण्यसम ७—सव्यभिचार ८—विरुद्ध। इनमें वस्तुतः चार ही हेत्वाभास माने जा सकते हैं जिन्हें आगे चलकर अन्य दार्शनिकों ने अपनाया है।

वसुबन्धु मत

आचार्य वसुबन्धु ने अपनी वाद विधि में तीन प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन सोदाहरण किया है। (१) असिद्ध—जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि चाक्षुष है। (२) अनिश्चित—जैसे शब्द नित्य है क्योंकि रूप रहित है। (३) विरुद्ध—वैशेषिक के द्वारा शब्द नित्य है क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है। साङ्ख्ययोग के द्वारा कार्य कारण में निहित है क्योंकि उत्पत्तिमान् है। आचार्य वसुबन्धु के तीन हेत्वाभासों को उत्तरवर्ती सभी बौद्ध तर्क शास्त्रियों ने स्वीकार किया है।

प्रो० श्चेरबास्की[3] के अनुसार हेत्वाभासों के दो प्रमुख वर्ग मिलते हैं एक तो यथार्थता के विरुद्ध हेत्वाभासों का, दूसरा संवादित्व के विरुद्ध हेत्वाभासों का। यह द्वितीय वर्ग ही विशुद्ध आशय में हेत्वाभास है, और उनकी संख्या तथा पद्धति की स्थापना के लिए आचार्य दिङ्नाग ने व्यवस्थित तालिका का निर्माण किया है जिसे वह हेतुचक्र कहते हैं। सपक्षों और असपक्षों के भी हेतु की समस्त सम्भाव्य स्थितियों का इस तालिका में गणितीय सिद्धान्त के अनुसार परिकलन किया गया है।

---

१. उपाय-हृदय।

२. बौद्धन्याय पृ०।

३. बौद्धन्याय अनु० चौ० पृ० ३८५।

परिणाम यह है कि हेतु की केवल नौ ही स्थितियां हैं। इनमें से केवल दो सिद्ध हेतु को व्यक्त करती हैं, शेष सात हेत्वाभास हैं। उन सात में भी दो अपने चरम रूप में हेत्वाभास को व्यक्त करती हैं और उन्हें विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

विङ्नाग मत

आचार्य दिङ्नाग[1] के हेतु चक्र प्रमाण से हेत्वाभास दो प्रकारों अनैकान्तिक तथा विरुद्ध तथा उनके अवान्तर भेदों का ज्ञान होता है। असिद्ध तथा उनके अवान्तर भेदों का ज्ञान नहीं होता है। असिद्ध के अवान्तर भेदों का वर्णन न्याय प्रवेश[2] में उपलब्ध होता है। डॉ० विद्याभूषण के अनुसार आचार्य दिङ्नाग ने चौदह प्रकार के हेत्वाभास अवान्तर भेद सहित स्वीकार किये हैं। इस प्रकार से असिद्ध के चार भेद के विरुद्ध के पांच भेद तथा संदिग्ध के छः भेद होते हैं।

असिद्ध 'दिङ्नाग मत'

आचार्य दिङ्नाग[3] ने असिद्ध के चार प्रकार उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध संदिग्धासिद्ध एवं आश्रयासिद्ध प्रदर्शित किये हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी इन्हीं चार भेदों का समर्थन किया है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी लक्षण उदाहरण सहित असिद्ध के ये चार भेद स्वीकार किए गए हैं।

धर्मकीर्ति मत

आचार्य धर्मकीर्ति[4] के अनुसार प्रतिपाद्य और प्रतिपादक में से धर्मी संबंधी एक रूप "पक्षधर्मत्व" के सिद्ध न होने पर अथवा उसमें सन्देह होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है।

जब वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए हेतु पक्ष में असिद्ध होता है तो उसे उभयासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अनित्य है। क्योंकि चाक्षुष है। शब्द में चाक्षुषत्व दोनों में से किसी को भी मान्य नहीं है।

जब वादी और प्रतिवादी में से किसी एक के लिए पक्ष में हेतु का अभाव

---

१. तत्र च। सन् सजातीये द्वेधा चासन् तदव्यये।
सहेतुर्विपरीतोऽस्माद्, विरुद्धोऽन्यस्त्वनिश्चितः॥ प्रमाणसमुच्चय, अध्याय ३ न्याय वा० ता० टी० में उद्धृत पृ० २८९ चौ०

२. न्या० प्र० हेत्वा० प्र०।

३. वही।

४. न्यायबिन्दु ३ परि०।

५. न्या० बि० धर्मो० टीका ३ परि०।

हो तो वह अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। मीमांसक के अनुसार शब्द कृतक नहीं है इसलिए कृतकत्व हेतु उसके लिए असिद्ध है। आचार्य धर्मकीर्ति ने इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं एक में प्रतिवादी के लिए पक्ष में हेतु की असिद्धि दिखलाई गई है दूसरे में वादी के लिए हेतु की असिद्धि प्रदर्शित की गई है।

धर्मकीर्ति[1] के अनुसार वृक्ष चेतन है क्योंकि त्वक् के अपहरण से मरण होता है। त्वचा के अपहरण से मरण होता है यह जैनियों का मत है, बौद्ध के लिए यह असिद्ध है। बौद्ध के अनुसार विज्ञान इन्द्रिय और आयु का विरोध मरण है। इस प्रकार का मरण वृक्षों में संभव नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु का निरोध सत्ता पूर्वक होता है जहां जिस वस्तु की सत्ता है वहीं उसका निरोध हो सकता है। तरु में विज्ञान की सत्ता मान्य न होने से वहां उसका निरोध भी संभव नहीं है। शोष भी मरण है वह तरु में सिद्ध है। किन्तु यहां विज्ञान सत्ताव्याप्त जो मरण है उसके हेतु होने से वह मरण हेतु में असिद्ध है इसलिए यह प्रतिवादी के लिए असिद्ध हेतु होने से अन्यतरासिद्ध है।

आचार्य धर्मकीर्ति[2] ने वादी के लिए असिद्ध हेतु का पृथक् उदाहरण दिया है। सुख आदि अचेतन हैं क्योंकि उत्पत्तिमान् या अनित्य है। जो उत्पत्तिमान् या अनित्य है वे चेतन नहीं है इसलिए ये अचेतन भी होने चाहिएं। किंतु सांख्य के लिए उत्पत्तिमत्त्व और अनित्यत्व दोनों ही असिद्ध है क्योंकि सांख्य सत्कार्यवादी है। फिर प्रश्न उठता है कि जो हेतु वादी के लिए ही असिद्ध है उस हेतु को वादी प्रस्तुत ही क्यों करता है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य धर्मोत्तर[3] कहते हैं कि हेतु का उपन्यास दूसरों के लिए किया जाता है। इसलिए दूसरे के लिए जो सिद्ध हो वह हेतु प्रस्तुत करना चाहिए। बौद्ध के लिए असत् से उत्पत्ति और सत् का विनाश 'अनित्यत्व' सिद्ध है। यह दोनों बातें सांख्य के लिए असिद्ध होने से यह भी अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास है।

संदिग्धासिद्ध का लक्षण करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति[4] लिखते हैं कि हेतु में विषय में या उसके आश्रय के विषय में सन्देह होने पर हेतु संदिग्धासिद्ध कहलाता है। जैसे पर्वत अग्निमान् है क्योंकि वहां भाप या धूम है। यहां भाप अग्नि से जन्य हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। इसलिए भाप के रूप में धूम का सन्देह होने से यह हेतु संदिग्धसिद्ध है।

---

१. न्या० बि० ३ परि०।

२. वही।

३. न्या० बि० धर्मो टीका ३ परि०।

४. न्या० बि० ३ परि०।

आश्रय के विषय में संदेह का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है, इस कुंज में मयूर है क्योंकि मयूर ध्वनि वहां हो रही है। इस अनुमान में हेतु अर्थात् मयूर-ध्वनि के आश्रय के विषय में विभ्रम है। अनेक निकुञ्ज होने पर किस कुंज से मयूर ध्वनि आ रही है यह निश्चय न होने से यह सन्देह पैदा हो जाता है कि इस निकुंज से मयूर ध्वनि आ रही है या उस निकुंज से। इस प्रकार यह आश्रय के विषय में सन्देह होने से हेतु भी संदिग्धासिद्ध है।

आश्रयासिद्ध[1]

धर्मी अर्थात् आश्रय के असिद्ध होने पर भी असिद्ध हेत्वाभास होता है जैसे आत्मा सर्वव्यापी है क्योंकि सर्वत्र उपलब्ध होने वाले गुण उसमें हैं। इस अनुमान में बौद्ध नैरात्म्यवादी होने से उसके लिए आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है जिसमें सर्वत्र उपलभ्यमान गुण रहें। इसलिए आश्रय के असिद्ध होने से आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास है। संदिग्धाश्रयासिद्ध और आश्रयासिद्ध में यह अन्तर है कि संदिग्धासिद्ध में आश्रय के विषय में अनिश्चय या सन्देह रहता है किन्तु यहां धर्मी असिद्ध होता है। इस प्रकार धर्मी से सम्बन्धित एक रूप 'पक्षधर्मत्व' के असिद्ध होने से असिद्ध प्रकार के हेत्वाभास होते हैं।

अनैकान्तिक[2]

असिद्ध के समान ही एक रूप असपक्षासत्त्व के बाधित होने से अनैकांतिक नामक हेत्वाभास होता है। एकान्त का अर्थ है निश्चय, वह प्रयोजन जिसका हो उसे ऐकांतिक कहते हैं। जो ऐकांतिक नहीं है अर्थात् साध्य अथवा साध्याभाव का निश्चय नहीं कराता है उसे अनैकांतिक कहते हैं। इस प्रकार साध्य और साध्याभाव के संशय का जनक होता है ऐसा हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।

जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है इस अनुमान में प्रमेयतत्त्व रूप हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में वर्तमान होने से साध्य संशय का जनक होता है। सर्वत्र रहने पर या विपक्ष की एक इकाई में रहने पर या विपक्षासत्त्व के सन्देह होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। आचार्य धर्मोत्तर ने इसके अनेक प्रकार कहे हैं।

विपक्षासत्त्व के सन्देह से होने वाले अनैकान्तिक को प्रस्तुत करते हुए धर्मकीर्ति[3] कहते हैं—जैसे कोई पुरुष असर्वज्ञ है या रागादिमान् है क्योंकि वक्ता है। यहां वक्तव्य हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि विपक्ष से व्यावृत्ति इसकी संदिग्ध है। असर्वज्ञत्व को साध्य करने पर उसका विपक्ष है, सर्वज्ञ उसमें वक्तव्य है या नहीं यह सन्देह है इसलिए यह अनुमान सम्भव नहीं है कि वक्ता सर्वज्ञ होता है या असर्वज्ञ।

---

१. न्या० बि० ३ परि०
२. वही।
३. वही।

सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए सन्देह उत्पन्न होता है क्योंकि इस प्रकार की अनुपलब्धि सन्देह का कारण सिद्ध होती हैं। दूसरी बात है वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व में कोई विरोध भी नहीं है। इसलिए असर्वज्ञाभाववान् से वक्तृत्व की व्यावृत्ति संदिग्ध है। इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

न्यायप्रवेशकार[1] ने अनैकान्तिक के छः भेद स्वीकार किये हैं : १—साधारण २—असाधारण ३—सपक्षैकदेशवृत्ति विपक्ष व्यापक ४—विपक्षैकदेशवृत्तिपक्षव्यापी ५—उभयपक्षैकदेशवृत्ति एवं ६—विरुद्धाव्यभिचारी। जबकि आचार्य धर्मकीर्ति ने दो भेदों का ही विवेचन किया है। आचार्य धर्मोत्तर ने न्यायप्रवेशकार के छः भेदों का समर्थन किया है।

विरुद्ध[2]

हेतु के तीन रूपों में से दो रूपों का अभाव होने पर विरुद्ध होता है। अर्थात् हेतु का सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में असत्त्व न होने पर हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होता है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक है या प्रयत्नजन्य है। ये दोनों हेतु सपक्ष अर्थात् नित्य पदार्थों में नहीं रहते हैं और अनित्य विपक्ष में विद्यमान रहते हैं। इस लिए ये दोनों विरुद्ध हेत्वाभास हैं। क्योंकि ये साध्याभाव के साधक होते हैं।

दिङ्नाग मत

आचार्य दिङ्नाग[3] ने विरुद्ध के चार भेद प्रदर्शित किये हैं जिनमें धर्म विशेष विपरीत साधन या प्रच्छन्न विरुद्ध को एक हेत्वाभास माना है। जिसका उदाहरण इस प्रकार है, नेत्र आदि दूसरों के उपयोग के लिए हैं क्योंकि यह संघातरूप हैं जैसे शयन आसन आदि, यहां साङ्ख्य दार्शनिक यह सिद्ध करना चाहता है कि इन्द्रियां किसी अन्य के लिए उपयोगी हैं यही अन्य आत्मा है। आत्मा एक द्रव्य है जबकि इन्द्रियां संघात रूप भौतिक निकाय हैं अतः वहां इस सामान्य सिद्धान्त की स्थापना करता है कि संघातों की सत्ता दूसरों के लिए है। अतः इन्द्रियों की सत्ता आत्मा के लिए है।

यहां साध्य (दूसरे के लिए) अनिश्चित या संदिग्ध है, क्योंकि वह संघात (शरीर) असंघात (जीव) दोनों को ही बतला सकता है। यदि वक्ता दूसरे के लिए (परार्थ) शब्द को असंघात अर्थ में प्रयोग करे जिसको श्रोता संघात अर्थ के रूप में ग्रहण करे तो उस समय साध्य हेतु के विरुद्ध हो जाएगा। इसे आचार्य दिङ्नाग ने इष्ट विघातकृत विरुद्ध नाम दिया है।

---

१. न्या० प्र० हेत्वा० प्र०

२. न्या० वि० ३ परि०

३. न्या० प्र० हेत्वा० प्र०।

धर्मकीर्ति मत

आचार्य धर्मकीर्ति[1] इसे स्वतंत्र हेत्वाभास नहीं मानते उनका विचार है कि अनुमान वाक्य में प्रयोग किये गए साध्यवाचक शब्द का एक ही अर्थ हो सकता है। यदि प्रयुक्त साध्य के अर्थ के विषय में सन्देह हो तो प्रमाण से पहिले वास्तविक अर्थ का निश्चय कर लेना चाहिए। यदि प्रयोग किया गया अर्थ यथार्थ हो तो साध्य और हेतु में विरोध होगा। ऐसी परिस्थिति में इसका पूर्वोक्त विरुद्ध हेतुओं में ही अन्तर्भाव होगा अतः इष्ट विघातकृत को स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं मानना चाहिए। यह दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित विरुद्ध हेतुओं के दो प्रकारों से सम्मिलित और उनके हेतु-चक्र के दूसरे तथा आठवें स्थान पर स्थिति है।

विरुद्धाव्यभिचारी

दिग्नाग मत

आचार्य दिङ्नाग[2] ने एक और हेत्वाभास विरुद्धव्यभिचारी माना है। विरुद्ध व्यभिचारी भी संशय का जनक होता है। जो हेत्वन्तर सिद्ध किए हुए के विरुद्ध होता है वह व्यभिचारी नहीं होता है। इसलिए वह विरुद्धाव्यभिचारी है। अथवा जो विरुद्ध होते हुए अन्य साधन से सिद्ध किए हुए धर्म विरुद्ध के साधन करने से व्यभिचारी होता है इसमें दो विरुद्ध परिणाम एक ही हेतु से पुष्ट किए जाते हैं। उदाहरण के लिए एक वैशेषिक दार्शनिक कहता है शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है मीमांसक कहता है, शब्द नित्य है क्योंकि वह श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है।

उपर्युक्त दोनों हेतु दोनों के सिद्धान्तों के अनुसार होने से उन शास्त्रों में ठीक माने जा सकते हैं किन्तु दो विरुद्ध स्थितियों के द्योतक होने से संशयोत्पादक हैं, अतः हेत्वाभास हैं।

धर्मकीर्तिमत

आचार्य धर्मकीर्ति[3] ने न्याय बिन्दु में विरुद्धव्यभिचारी हेत्वाभास का खडन किया है। उनका कथन है कि अनुमान का विषय प्रमाणसिद्ध त्रैरूप्य है। प्रमाण-सिद्ध त्रैरूप्य से ही अनुमान का अस्तित्व है इसलिए वही अनुमान का विषय है। प्रमाणसिद्ध हेत्वाभास वही हो सकता है त्रिरूपता के प्रस्तुत होने पर जो प्रमाण सिद्ध हो। विरुद्धा व्यभिचारी[4] का कोई प्रमाण सिद्ध स्वरूप नहीं है। इसलिए वह हेत्वाभास सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि यतः सभ्यम् अनुमान मात्र ही हमारा विषय होता है। हम किसी ऐसे हेतु का विषय विवेचन नहीं कर सकते जो एक साथ ही सिद्ध और असिद्ध है। एक द्विविध हेतु जो सिद्ध और विरुद्ध दोनों हों,

---

१. न्या० बि० ३ परि०।

२. न्या० प्र० हेत्वा० प्र० पृ० २।

३. न्या० बि० ३ परि०।

४. विरुद्धाव्यभिचारी—ना० श० रामनुजाचार्य—विश्वसंस्कृतम् मई १९६०।

ऐसा नहीं हो सकता। हेतु कार्य, स्वाभाव या अनुपलब्धि रूप होने पर वह अपने स्वरूप को छोड़कर विरुद्ध कैसे होगा। इन तीन प्रकार के हेतुओं से भिन्न कोई हेतु अव्यभिचारी नहीं हो सकता है। किन्तु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दिङ्नाग ने इसे हेतु दोष कैसे कहा। इसका उत्तार देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि अवस्तु के दर्शन से प्रवृत्ति हुए आगमाश्रय अनुमान के आधार पर उसके अर्थ के विचार में विरुद्धाव्यभिचारी साधन दोष कहा है। तात्पर्य यह है कि जिस अनुमान में 'हेतु" का त्रैरूप्य आगम सिद्ध होता है उस अनुमान का आश्रय आगम होता है। वहां उसके अर्थ के विचार में उपयुक्त साधन दोष होता है। आगम के आधार पर भी अनुमान क्यों होता है। इसका उत्तार देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि शास्त्रकारों को पदार्थ के विषय में भ्रान्ति होने से विपरीत स्वभाव का उपसंहार सम्भव है। भ्रान्त शास्त्रकारों के द्वारा सत् पर असत् स्वभाव का आरोपण होता है। किन्तु सामान्य स्थिति में परस्पर विरोधी दो परिणामों के सिद्ध करने में दो शास्त्र उसी प्रकार सहायता नहीं कर सकते जिस प्रकार एक शास्त्र प्रत्यक्ष और अनुमान को पुष्ट नहीं कर सकता और वह केवल प्रत्यक्षातीत विषयों में ही प्रमाण होता है। इसलिए विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास का कोई प्रकार नहीं है।

आचार्य दिङ्नाग[1] का विरुद्धाव्यभिचारी प्रमुखतया तत्त्व मीमांसा तथा धर्म के क्षेत्र में सम्भव है। इस संसार में साक्षात्प्रत्यय की शक्ति और धर्म ग्रंथ के प्रामाण्य को किसी भी अन्य तर्क से अधिक शक्तिशाली माना जाता है।

अर्चट मत

आचार्य अर्चट[2] ने दिङ्नाग की आलोचना करते हुए कहा है कि किसी भी अनुमान में साध्य निश्चय के लिए एक ही हेतु का उपादान किया जाता है। इसलिए इसके विरुद्ध दूसरा हेतु व्यर्थ है। "शब्दो नित्यः कृतकत्वात्" एवं शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्" इन दोनों अनुमानों में प्रयुक्त हेतुओं से दोनों साध्यों की सिद्ध कदपि नहीं हो सकती है जिसमें साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता होगी वही हेतु अपने साध्य निश्चयजनक होगा दोनों में व्याप्ति और पक्षधर्मता का अस्तित्व सम्भव नहीं हैं। इसलिए दोनों हेतु एक ही धर्मी में परस्पर विरोधी साध्यों को सिद्ध करने में असमर्थ है। इसलिए यहां विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास है यह कहना समीचीन ही है।

इस प्रकार आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार केवल तीन प्रकार के अर्थात् असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक हेत्वाभास होते हैं। ये क्रमशः उस समय उत्पन्न होते हैं जब हेतु का एक रूप अथवा दो रूप एक ही साथ असिद्ध अथवा संदिग्ध होते हैं। धर्मोत्तार[3] का कथन है कि क्रमशः का अर्थ यह है जो असिद्धत्व अथवा संदिग्धता तत्सम्बन्धी नियम के सम्बन्ध में निहित होती है। विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास इस प्रणाली के बाहर होने के कारण प्रतिपाद्य नहीं।

---

१. न्या० बि० ३ परि०।
२. न्या० पु० हेत्वा० प्र० पृ० ३।
३. न्या० बि० धर्मो० ३ परि०।

आचार्य धर्मकीर्ति दिङ्नाम के द्वारा स्वीकृत विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास का निषेध करने पर भी दो अतिरिक्त हेत्वाभासों के रूप में उसे पुन: प्रविष्ट कराते हैं। इनका विचार है कि इन दोनों अतिरिक्त हेत्वाभासों की स्वीकृत प्रणाली के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण देते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं, जो सर्वदेशावस्थित (सर्वत्र रहने वाले) अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित होता है वह सर्वगत है-जैसे-आकाश सर्वदेशावस्थित स्वसम्बन्धियो से एक साथ ही सम्बन्धित होता है। इसलिए वह सर्वगत है। उसी प्रकार सामान्य भी सर्वदेशस्थित सम्बन्धियों से एक साथ सम्बद्ध होता है इसलिए वह सर्वगत है जबकि सामान्य एक और निष्क्रिय है।
यह हेतु स्वभाव हेतु है क्योंकि सर्वदेशास्थित द्रव्यो का सम्बन्धी होना सामान्य का स्वभाव है। वही तत्सम्बधा स्वभाव है जिसका सर्वदेश सम्बन्धी होने का स्व भाव है बह नियम पूर्वक उन स्थानों म रहेगा। इसलिए सामान्य का तत्सम्बन्धित्वानुवन्धिनी तद्देशसन्निहितता है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जो जिसका सम्बन्धी होता है वह उस देश में स्थित है। ऐसा नियम मानें तो गाय का स्वामी गोसम्बन्धी होकर भी तद्देश स्थित नहीं है तो यह व्याप्ति कैसे बनेगी ? इसका समाधान करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि जो जिस देश में नहीं है वह उस प्रदेश को अपने द्वारा व्याप्त नहीं करता है। गो स्वामी गाय में स्थित नहीं है इसलिए गो रूप प्रदेश उससे व्याप्त नहीं है। यहां सामान्य का उसके आश्रय के साथ समबाय रूप सम्बन्ध है। वह अभिन्न देशवालों का होता है इसलिए जो यह समवेत होता है वह उस देश में व्याप्त होकर उस देश के साथ सन्निहित होता है। इसलिए सामान्य समवेत होने से तद्देश सन्निहित है यह स्वभाव हेतु का प्रयोग है।

विरुद्धाब्यभिचारी का दूसरा भी उदाहरण धर्मकीर्ति[1] ने प्रदर्शित किया है जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता है वह वहां पर नहीं है जैसे—कहीं अविद्यमान घट। तात्पर्य यह है कि जहां-जहां दृश्यानुपलब्धि है वहां-वहां असद् व्यबहार्यत्व है। जैसे अवर्तमान घट में। व्यक्ति के अन्तराल में उपलब्धि लक्षण प्राप्त सामान्य उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए वह विद्यमान नहीं है, यह सिद्ध होता है। पूर्वोक्त दोनों हेतु बिरुद्धाव्यभिचारी क्यों है ? इसको स्पष्ट करते हुए

---

१. न्या० वि० ३ परि०

आचार्य धर्मकीर्ति[1] और धर्मोत्तर[2] कहते हैं कि यह अनुपलब्धि रूप हेतु तथा पूर्वोक्त स्वभाव हेतु परस्पर विरोधी अर्थों को सिद्ध करने वाले होने से संशय को उत्पन्न करते हैं। एक ही वस्तु परस्पर विरोधी स्वभावों वाली नही हो सकती। एक के द्वारा व्यक्त्यन्तर में तथा व्यक्ति शून्य आकाश में सत्ता बतलाई जाती हैं। दूसरे अनुपलम्भ से असत्ता सिद्ध की जाती है। सत्ता और असत्ता जो कि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं एक स्थान में नहीं रह सकते। इसलिए आगम (शास्त्र) सिद्ध सामान्य में सर्वगतत्त्व तथा असर्वगतत्व सिद्ध होने से ये हेतु दोनों विरुद्धा व्यभिचारी हैं। क्योंकि सामान्य एक साथ सभी वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होने से सर्वगत है वही दृश्य भी है और दृश्य होने से व्यक्ति के न रहने पर उपलब्ध नहीं होता है इसलिए असर्वत्र है। इस प्रकार एक ही शास्त्रकार "वैशेषिक" विरुद्ध व्याप्तता को जाने बिना विरुद्ध व्याप्त धर्मों को कहकर विरुद्धाव्यभिचारी को स्थान देता है।

इस प्रकार धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिघारी हेत्वाभास को अनेकान्तिक में स्थानान्तरित करने का प्रयास किया है। किन्तु धर्मकीर्ति के द्वारा प्रस्तुत हेत्वाभासों के इन दो नये प्रकारों का दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी से भेद नगण्य है।

दृष्टान्ताभास

आचार्य धर्मोत्तर[3] ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि साधनावयव होने से हेतुओं के स्वरूप को उपस्थित किया गया और उसी प्रश्न में हेत्वाभासों का भी वर्णन किया गया तो साधनावयव होने से उदाहरण या दृष्टान्त का लक्षण क्यों नहीं बतलाया गया ? और उसी प्रसंग में दृष्टान्ताभास क्यों नहीं बतलाये गये ? उसके समाधान में धर्मकीर्ति[4] का कथन है कि हेतु की त्रिरूपता से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिए दृष्टान्त नामक भिन्न कोई न्यायावयव नहीं है। इसलिए इसका पृथक् लक्षण नहीं बतलाया गया। हेतु के लक्षण में ही दृष्टान्त का समावेश होता है दृष्टान्त का प्रयोजन व्याप्ति प्रदर्शन हेतु की त्रिरूपता से ही सिद्ध हो जाता है। त्रिरूपता के प्रदर्शन से ही दृष्टान्त प्रदर्शित हो जाता है।

किन्तु हेतु के अन्तर्भूत दृष्टान्त के दो भेद साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त माने जाते हैं। व्याप्ति साधक प्रमाण प्रदर्शन साधर्म्य दृष्टान्त का और साध्य

---

१. न्या० बि० ३ परि०
२. न्या० बि० धर्मो ३ परि० पृ० ६०।
३. न्या० बि० धर्मों० टीका ३ परि० पृ० ६१
४. न्या० बि० ३ परि० पृ० ६१।

की निवृत्ति होने पर साधन की निवृत्ति प्रदर्शन, वैधर्म्य दृष्टान्त का प्रयोजन है। वह प्रयोजन, हेतु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए जब हेतु के आख्यान से दृष्टान्त चरितार्थ हो जाता है तो हेत्वाभास से दृष्टान्ताभास भी व्यक्त हो जाते हैं। इसलिए आचार्य धर्मकीर्ति ने दृष्टान्ताभास का सामान्य लक्षण नहीं बतलाया।

आचार्य धर्मोत्तर[1] ने दृष्टान्ताभास का लक्षण करते हुए कहा है कि "पूर्वोक्त सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया गया दृष्टान्त जब अपने कार्य की सिद्धि में समर्थ नहीं होता तब वह दृष्टान्त दोष है।"

दृष्टान्ताभास के मुख्यत: दो भेद साधर्म्य दृष्टान्ताभास और वैधर्म्य दृष्टान्ताभास होते हैं। साधर्म्य दृष्टान्ताभास में होने वाले दोष को साधर्म्म दृष्टान्ताभास और वैधर्म्य दृष्टान्त में होने वाले दोष को वैधर्म्य दुष्टान्ताभास कहते हैं।

दिङ्नाग मत

न्यायप्रवेश[2] में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों के पांच-पांच भेद व्यक्त किये हैं १. साधनधर्मासिद्ध २ साध्यधर्मासिद्ध ३. उभयधर्मासिद्ध ४. अनन्वय और ५. विपरीतान्वय ये पाँच साधर्म्य दृष्टान्ताभास हैं। उसी प्रकार १. साध्याव्यावृत्त २. साधनाव्यावृत्त ३. उभयाव्यावृत्त ४. व्यतिरेक ५. विपरीत व्यतिरेक। ये पांच वैधर्म्य दृष्टान्ताभात है।

धर्मकीर्तिमत

आचार्य धर्मकीर्ति[3] ने दिङ्नाग के दस दृष्टान्ताभासों के अतिरिक्त अन्य आठ भेद बतलाये हैं, इतसे धर्मकीर्ति के अनुसार १८ प्रकार के दृष्टान्ताभास होते हैं. जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

---

१. पूर्वोक्तसिद्धये च उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तो न समर्थः स्वकार्यं साधयितुं सदृष्टान्तदोष इति-न्या० वि० धर्मो ३ परि० पृ० १५

२. न्यायप्रवेश दृष्टा० प्र० पृ० ५

३. न्या० बि० ३ परि०

१. **साध्य विकल**[1]—शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है। कर्मवत् (कर्म के समान)

२. **साधन विकल**[2]– उपर्युक्त अनुमान में परमाणु दृष्टान्त।

३. **उभय विकल**[3]—उपर्युक्त अनुमान में घट दृष्टान्त।

पहला उदाहरण—कर्म में नित्यता न होने से वह साध्य से रहित है। दूसरा उदाहरण—परमाणु नित्य होते हुए भी मूर्त है। तीसरा उदाहरण घट न तो नित्य है और न अमूर्त है? इसलिए यह उदाहरण उभयविकल है।

४. **सन्दिग्धसाध्य**[4]—यह पुरुष रागादिमान् है क्योंकि वक्ता है-रथ्या पुरुष अर्थात् वेश्यागृह की ओर जाने वाले पुरुष के समान।

५. **सन्दिग्धसाधन**[5]—यह व्यक्ति मरण धर्मा है क्योंकि रागादिमान् है—रथ्या पुरुष के समान।

सन्दिग्धोभय[6]—यह पुरुष असर्वज्ञ है क्योंकि रागादिमान् है। रथ्या पुरुष के समान।

इन तीन अनुमानों में से पहले का रथ्या पुरुष इस दृष्टान्त में साध्य रागादिमत्व सन्दिग्ध है। दूसरे अनुमान का साधन रागादिमत्व सन्दिग्ध है और तीसरे अनुमान के साध्य और साधन असर्वज्ञत्व और रागादिमत्त्व सन्दिग्ध है।

७. **अनन्वय**[7]—जिस अनुमान में दृष्टान्त में साध्य और हेतु की संभावना मात्र हो, साध्य से व्याप्त हेतु न हो वह दृष्टान्त अनन्वय दृष्टान्ताभास कहलाता है।

जैसे—वह रागादि से युक्त है वक्ता होने से, इष्ट पुरुष के समान। यहां पर जो वक्त है वह रागादिमान् है यह व्याप्ति इष्ट पुरुष में सिद्ध है, किन्तु जो-जो वक्ता है वह-वह रागादिमान् ही हो, यह व्याप्ति सिद्ध नहीं है।

८. **अप्रदर्शितान्वय**[2]

जिस अनुमान के दृष्टान्त मे विद्यमान अन्वय व्याप्ति का वक्ता के द्वारा प्रदर्शन नहीं होता है वह अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास कहलाता है।

जैसे—शब्द अनित्य है क्योकि कृतक है, घट के समान। यहां पर अनित्यत्व कृतकत्व में तादात्म्य होने के कारण अन्वय है किन्तु वक्ता द्वारा प्रदर्शित नहीं है इसलिए दृष्टान्ताभास है।

९. **विपरीतान्वय**[3]

पूर्वोक्त उदाहरण में जब विपरीत रूप से अन्वय का प्रदर्शन होता है तब

---

१ से ७-न्याय बि० परि० पृ० ९४-९६

२ से ३ न्या० बि० ३ परि०।

विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास होता है। जैसे जो-जो कृतक है वह-वह अनित्य है, उसके स्थान पर यदि कहें जो-जो अनित्य है वह कृतक है तो वह विपरीतान्वय हो जाता है। कृतकत्व को अनित्यत्व व्याप्त दर्शाना अभीष्ट है। उसी से अनित्यत्व का अनुमान होता है कृतकत्व का व्याप्त अनित्यत्व अभीष्ट नहीं है। किन्तु यहां जिस प्रकार विपरीत रुप से व्याप्ति का प्रदर्शन किया गया है उससे अनित्यत्वानुमिति सम्भव नहीं है। यद्यपि वस्तु स्थिति के अनुसार कृतकत्व अनित्यत्व व्याप्त है पर वक्ता के द्वारा उस रूप में उसका प्रदर्शन न होने से उसमें विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास होता है। इसलिए यह दृष्टान्त वस्तुगत्यादुष्ट न होने पर भी वक्ता के दोष से दूषित होता है। परार्थानुमान में वक्ता का दोष भी विचारणीय होता है।

इस प्रकार ये साधर्म्य दृष्टान्त के नौ साधर्म्य दृष्टान्ताभास हैं। वैधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ प्रकार इस प्रकार हैं:

१. साध्याव्यतिरेकी—	शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है
२. साधनाव्यतिरेकी—	परमाणु के समान
३. उभयाव्यतिरेकी—	कर्म के समान
	आकाश के समान

इन उदाहरणों में से परमाणु में नित्यत्वाभाव नहीं है, कर्म में अमूर्तत्वाभाव नहीं है तथा आकाश में नित्यत्व का अभाव नहीं है। परमाणु नित्य है कर्म अमूर्त है तथा आकाश नित्य और अमूर्त दोनों ही है।

४. सन्दिग्ध साध्य व्यतिरेक[1]

कपिल आदि असर्वज्ञ और अनाप्त हैं, क्योंकि उनमें सर्वज्ञता का लिङ्गभूत प्रमाणातिशय शासन विद्यमान नहीं है। जो जो सर्वज्ञ या आप्त होते हैं वे ज्योतिष आदि ज्ञानों के उपदेष्टा होते हैं जैसे ऋषभ वर्धमान आदि

यहां दृष्टान्त ऋषभ और वर्धमान में सर्वज्ञता और आप्तता का व्यतिरेक "**अभाव**" सन्दिग्ध है क्योंकि जो ज्योतिष आदि बतलाता है वह भी असर्वज्ञ या अनाप्त हो सकता है। ज्योतिष ज्ञान और असर्वज्ञता में कोई विरोध नहीं है। अतः साध्य व्यतिरेक का निश्चय न होने से यह सन्दिग्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है।

५. सन्दिग्ध साधन व्यतिरेक[2]

कोई पुरुष त्रयीवित् ब्राह्मण के द्वारा ग्राह्य वचन (ब्रह्मण योग्य वचन

---

१. न्या० बि० ३ परि०

२. वही।

वाला) नहीं है, क्योंकि रागादि से युक्त है। जिन-जिन का वचन ग्रहण करने योग्य होता है, वे-वे रागादियुक्त नहीं होते हैं जैसे धर्मशास्त्र के प्रणेता गौतम आदि।

यहां दृष्टान्त के रूप में गृहीत गौतम आदि त्रयीवित् ब्रह्मण के द्वारा ग्राह्य वचन है किन्तु उनमें रागादि की निवृत्ति सन्दिग्ध है वे रागयुक्त है या नही इस प्रकार का सन्देह होने से रागादिमत्त्व के अभाव का निश्चय नहीं है इसलिए यह सन्दिग्ध साध्ल व्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास है।

६. सन्दिग्धोभयव्यतिरेक[1]

कपिल आदि वीतराग नहीं हैं, क्योंकि उनमें परिग्रह है। जो जो वीतराग होते हैं वे वे अपरिग्रही और अनाग्रही होते हैं – जैसे ऋषभ आदि।

यहां पर ऋषभ आदि में साध्य अवीतरागत्व तथा साधनपरिग्रहत्व आग्रहत्व का व्यतिरेक सन्दिग्ध है क्योंकि वे वीतरागी एवं परिग्राही एवं अनाग्राही है इसका कोई निश्चय नहीं है इसलिए इसे सन्दिग्ध उभय व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा जाता है।

७. अव्यतिरेक[2]

यह पुरुष अवीत राग है, क्योंकि वक्ता है। जो-जो अवीतराग नहीं है वह वक्ता भी नहीं है जैसे उपलखण्ड '**पत्थर**'।

यद्यपि पाषाण खण्ड में अवीतरागत्व ओर वक्तत्व दोनों ही नहीं हैं तथापि "सभी वीतराग वक्ता नहीं होते" इस व्याप्ति से व्यतिरेक के सिद्ध न होने से अव्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास है।

न्याय प्रवेश में[3] अव्यतिरेक का उदाहरण और लक्षण आचार्य धर्मकीर्ति के लक्षण और उदाहरण से भिन्न है। न्याय प्रवेश[3] के अनुसार जिस दृष्टान्त में साध्य-साधन की निवृत्ति के बिना, सम्भावना के आधार पर दोनों का असहभाव प्रदर्शित किया जाता है उसे अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहते हैं। जैसे "**शब्दो नित्यः अमूर्तत्वाद्-घटवत्**" इस अनुमान के दृष्टान्त घट में नित्यत्व और अमूर्तत्व के असहभाव को प्रदर्शित किया गया है।

८. अप्रदर्शित व्यतिरेक[4]

शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है—आकाशवत्। यहां पर आकाश व्यतिरेक

१-२ न्या० बि० ३ परि०।

३. अव्यतिरेको यत्र बिना साध्यसाधननिवृत्त्या तद्विपक्षभावो निदर्श्यते। यथा घटे मूर्तत्वमनित्यत्वं च दृष्टमिति—न्या० प्र० दृष्टा० प्र० पृ० ७

२. न्या० बि० ३ परि०।

दृष्टान्त है जो स्वतः शुद्ध है। किन्तु वह जैसा है उसको प्रकाशित नहीं किया गया है। और जैसा उसको प्रदर्शित किया गया है वह वैसा नहीं है। दृष्टान्त के साथ अन्वय या व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि उसी को प्रदर्शित करने के लिए दृष्टान्त का अनुमान में प्रयोग किया जाता है। यहां व्यतिरेक वाक्य प्रयुक्त नहीं है. इसलिए यह अप्रदर्शित व्यतिरेक नामक दृष्टान्ताभास है। परार्थानुमान में यह वक्ता का अपराध है उसीके अपराध से ठीक दृष्टान्त भी दूषित हुआ है।

९. विपरीत व्यतिरेक[1]

शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है, जो-जो अकृतक है वह-वह नित्य है जैसे आकाश।

जिस दृष्टान्त में विपरीत व्यतिरेक होता है वह विपरीत व्यतिरेक दृष्टान्ताभास होता है। अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा साध्य व्याप्त हेतु का प्रदर्शन किया जाता है। जब साध्य व्याप्त हेतु व्यतिरेक के द्वारा कहना हो तो "साध्याभाव जहां-जहां वही साधनाभाव है" यह कहना होता है। साध्यभाव व्याप्त साधनाभाव का प्रदर्शन न होने पर साधन के रहने पर भी साध्याभाव के अस्तित्व की सम्भावना हो सकती है। इसलिए साध्याभाव की व्याप्ति साधनाभाव में कहनी चाहिए। विपरीत व्यतिरेक से साधनाभाव की व्याप्ति साध्य भाव में प्रदर्शित की जाती है, साध्याभाव की नहीं। यहां पर जो अकृतक है वह नित्य है कहकर साधनाभाव से सहकृत साध्याभाव प्रदर्शित किया गया है। इसलिए साध्य नियत हेतु नहीं है। अतः विपरीत व्यतिरेक प्रदर्शन भी वक्ता का दोष होने से परार्थानुमान भी दूषित हो जाता है।

दृष्टान्ताभास को दोष क्यों कहा जाता है ? इसके विषय में धर्मकीर्ति[2] का विचार है कि साध्य नियत हेतु के प्रदर्शन के लिए दृष्टान्तों का उपयोग किया जाता है। जब दृष्टान्त दूषित होता है तो उसके द्वारा हेतु का सामान्य लक्षण सपक्ष में ही रहना और विपक्ष मात्र में न रहना निश्चित रूप से दिखाया नहीं जा सकता है। हेतु के विशेष लक्षण का प्रदर्शन न हो सकने, से उसके सामान्य लक्षण का प्रदर्शन दूषित दृष्टान्त में सम्भव नहीं होता है।

ज्ञातव्य है कि जहां न्याय मत में इन सभी प्रकार के आभासों को स्पष्ट रूप से हेत्वाभासों के अन्तर्गत माना है वहां बौद्धों ने अस्पष्टरूप से इन्हें हेतु दोष मानकर भी इनका हेत्वाभासों से भिन्न रूप से विवेचन किया है।

---

१. न्या० बि० ३ परि०।

२. वही

आचार्य धर्मकीर्ति ने हेतु और हेत्वाभासादि विवेचन करने के पश्चात् बाद में उपयोगी दूषित का भी विवेचन किया है। न्यूनता को कहना दूषित है। जो असिद्ध 'विरुद्ध' अनेकान्तिक आदि न्यूनतायें है उनको प्रकट करना दूषण है। इनको प्रकट करने से प्रतिवादी के अभीष्टार्थ की सिद्धि न होने से प्रतिवादी की पराजय होकर वादी के अभीष्टार्थ की सिद्धि होती है।

किन्तु जब दूषण न हो तब दूषण की उद्भावना करें तो दूषणाभास होता है। जिसे जात्युत्तर कहा जाता है। इसे जात्युत्तर कहने का तात्पर्य यह है कि ये भी उत्तर के सदृश होते है, वास्तविक उत्तर नही होते हैं।

यद्यपि बौद्ध न्याय की अनुमान के क्षेत्र म अपनी भी कई देनें उल्लेखनीय है तो भी इन सबकी प्रेरणा उन्हें ब्राह्मण न्याय से प्राप्त हुई है।

खण्ड २

जैनन्याय में अनुमानविचार

अनुमान का स्वरूप एवं लक्षण

प्राचीन जैन साहित्य में अनुमान के लिए अभिनिबोध शब्द का प्रयोग किया गया है। लघीयस्त्रयीकार[1] कहते हैं कि चिन्ता अभिनिबोध रूप अनुमानादि का कारण है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक "में आचार्य विद्यानन्द[2] लिखते हैं" साध्यविषयक निश्चय जो कि हेतु के द्वारा इन्द्रिय के बिना उत्पन्न होता है उसे अभिनिबोध कहते है. इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्द[3] लिखते हैं कि साध्य के साथ अविनाभाव रखने वाले हेतु से जिस शब्द, सिषाधयिषित तथा असिद्ध साध्य का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं।

"आचार्य श्रुतसागर[4] के अनुसार" साधन से होने वाला साध्य विज्ञान रूप स्वार्थानुमान ही अभिनिबोध स्वरूप विशिष्टमति ज्ञान है। इस प्रकार आचार्य श्रुतिसागर ने भी अनुमान के लिए अभिनिवोध शब्द का प्रयोग किया है।

षट् खण्डागमसूत्र के व्याख्याकार वीरसेन[5] ने अभिनिबोध का मतिज्ञान-सामान्य अर्थ किया है। जब कि अकलङ्क, विद्यानन्द आदि आचार्य अनुमान को मति-ज्ञान का एक विशेष भेद मानते हैं।

---

१. लघीयस् एत्रयी श्लोक १२
२. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १-१३-१२०
३. त० श्लो० वा० टी० १-१३-१२०
४. जैन त० अनु० पृ० ७६
५, षट्खण्डागम सू० धवला० मति ज्ञान प्र०।

षट् खण्डागम[1] में श्रुतज्ञान में ४१ पर्याय शब्द बतलाये गये हैं जिनमें १ हेतुवाद शब्द भी है। इस हेतुवाद शब्द की व्याख्या आचार्य वीरसेन ने की है। "साध्य का अविनाभावी लिङ्ग है जो कि अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षण से लक्षित होता है। उसमें अपने पक्ष के समर्थन में प्रयुक्त हेतु साधन हेतु कहलाता है तथा दूसरों के खंडन में प्रयुक्त हेतु दूषण हेतु कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य कहते हैं "**हिनोति गमयति परिच्छित्तम् अर्थमात्मानं चेति प्रमाणपञ्चकं वा**"। तात्पर्य यह है कि जो स्वयं को तथा अन्यार्थ को प्रस्तुत करता है अथवा पांचवें प्रमाण के रूप में संगृहीत है उसे हेतु कहा जाता है वह हेतु जिसके द्वारा कहा जाता है वह है हेतुवाद अर्थात् श्रुतज्ञान।

आगम में श्रुतज्ञान के दो भेद बतलाये गये हैं १. शब्द लिङ्गज तथा २. अशब्दलिङ्गज। अशब्दलिङ्गज श्रुतज्ञान ही अनुमान है जिसका उदाहरण है धूम के द्वारा अग्नि का ज्ञान।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकार से अनुसान प्रमाण की चर्चा प्राचीन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है तो भी स्पष्ट रूप से अनुमान का लक्षण और प्रक्रिया का वर्णन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की कृति (**छठी शती**) के न्यायावतार में ही प्राप्त होता है। अनुमान का उपयोग आचार्य समन्तभद्र[2] ने आप्त मीमांसा में अनुमेयत्व हेतु से सर्वज्ञत्व सिद्धि के लिए किया है। अनेक स्थलों पर रूपादि चतुष्टयात्, विशेषणत्वात् आदि अनेक हेतुओं द्वारा स्याद्वाद की स्थापना की है। इसी प्रकार उदाहरण, हेतु आदि न्यायाङ्गों का उल्लेख भी है। किन्तु परिभाषायें उनके भेद आदि का निर्देश प्राचीन जैन दर्शन के ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता।

सिद्धसेन मत

आचार्य सिद्धसेन[3] के अनुसार साध्य के अविनाभावी लिङ्ग द्वारा, साध्य का जो निश्चयात्मक, तथा अभ्रान्त ज्ञान है उसे अनुमान कहा जाता है। इसी लक्षण का अनुसरण करते हुए अकलक[4] ने लघीयस्त्रयी तथा न्यायविनिश्चय में अनुमान की

---

१. षट् खण्डागम सू० धवला टीका श्रुत प्र०।
२. आ० मी०।
३. न्याय वा १२
४. लघीयस्त्रयश्लो० १२

परिभाषा दी है कि साध्याविनाभूत लिङ्ग के द्वारा जो साध्य का ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं। तथा हान उपादान आदि अनुमान के फल हैं।

अकलंकमत

अकलङ्क के इस सुस्पष्ट लक्षण का उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों जैसे विद्यानन्द[1] माणिक्य नन्दी,[2] वादिराज[3], प्रभाचन्द्र[4], हेमचन्द्र[5], धर्मभूषण[6] आदि ने अक्षरशः अनुगमन किया है।

आचार्य धर्मभूषण[7] ने "लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्" इस नैयायिकों के लक्षण की आलोचना करते हुए कहा है कि यदि लिङ्ग परामर्श को अनुमान माना जाये तो उससे साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। क्योंकि लिङ्गपरामर्श का अर्थ है लिङ्ग विषयक ज्ञान जिससे लिङ्गविषयक अज्ञान का निराकरण हो सकता है। साध्य विषयक अज्ञान का नहीं। इसलिए "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्" यह लक्षण ही उचित है। साध्यविज्ञान साध्यविषयक अज्ञान का निराकरण कर सकता है। अनुमान का अर्थ है अनुमेयसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति पूर्वक अनुमेयार्थ का ज्ञान, अनुमेय सम्बन्धी अज्ञान निवृत्ति साध्य ज्ञान से ही हो सकती है। हेतुज्ञान या परामर्श से नहीं। इसलिए अनुमिति का साक्षात् करण साध्य विषयक ज्ञान ही है।

वादिदेवसूरि[8] ने धर्मकीर्ति के समान ही अनुमान के प्रथमतः दो भेद स्वार्थ और परार्थ करके प्रत्येक के भिन्न लक्षण दिये हैं क्योंकि स्वार्थ अनुमान तथ परार्थानुमान अपने आपमें इतने भिन्न हैं कि इनका सामान्य लक्षण सम्भव नहीं है।

इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैन मत में साध्य विज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। वही अनुमिति रूप फल का कारण है। फल के रूप में बौद्धों

---

१. त० श्लोक वा० १-१३-१२०
२. प० मु० सू० ३-१०
३. प्र० न० तत्व० ३.६-१०
४. प्र० क० मा० ३-१०
५. प्र० मा० १-२७
६. न्या० दी० पृ० ६५
७. वही० पृ० ६५
८. प्रमा० न० तत्व ३-६-१०

एवं नैयायिकों के एकदेशीयों के समान हान उपादानादि बुद्धि भी है। जैन तार्किकों के अनुसार प्रमाण के दो प्रकार के फल होते हैं, साक्षात् और परम्परया। वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान उपादान आदि पारम्पर्य फल हैं। यह प्रमेय के निश्चय के पश्चात् होते हैं।[1]

प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न होता है ऐसा नैयायिक मानते हैं तथा बौद्ध फल प्रमिति को ही प्रमाण कहते हैं किन्तु जैन तार्किक फल को प्रमाण से भिन्न तथा अभिन्न दोनों ही मानते हैं।[2] अभिप्राय यह है कि जिस आत्मा में प्रमाण के अनुसार प्रमिति होती है उसमें ही फल रूप से परिणाम देखा जाता है। इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करणरूप परिणाम है तथा फल क्रियारूप परिणाम है। इस प्रकार करण और क्रिया रूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेद कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने से परीक्षा मुख सूत्रकार ने पृथक् रूप से नहीं कहा है। ऐसा लघु अनन्तवीर्य[3] का मत है।

बौद्धों की मान्यता है कि अनुमान एक विकल्प है क्योंकि वह सामान्य का ग्रहण करता है। अनुमान में जो धर्म और धर्मी का ग्रहण होता है वह विकल्प बुद्धि द्वारा ही होता है और विकल्प बुद्धि वासना के प्रभाव से अर्थ के बिना भी उत्पन्न होती है। अतः अनुमान-अनुमेय के व्यवहार में बाह्य पदार्थ की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् बाह्य वस्तु की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा के बिना ही विकल्प बुद्धि से गृहीत धर्म और धर्मी के द्वारा अनुमान और अनुमेय का व्यवहार होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धमतानुसार धर्मी का प्रतिभास विकल्प बुद्धि से होने के कारण उसकी सत्ता वास्तविक नहीं है।

जैन मत[4] से धर्मी प्रमाण से सिद्ध होता है वह बौद्धों के समान काल्पनिक नहीं है। जैन मत से प्रमाणासिद्ध तथा उभयासिद्ध धर्मी में साध्य धर्म विशिष्टता साध्य होती है—जैसे **अग्निमान् अयं देशः** परिणामी शब्द इति।

---

१. यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तथा दानोपदानोपेक्षाबुद्धयः फलम्। वा० भा० १-१-३

२. प्रमाणात् फलं कथञ्चिद् भिन्नमभिन्नं चेति जैनाः। प्र०र०भा०टि० १-४-१३

३. यस्यैवात्मनः प्रमाणाकारैकपरिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येक-प्रमाणापेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः। करणं क्रिया परिणामभेदाद्भेद सामर्थ्य सिद्धत्वान्नोक्तम्। पु० र० मा० ५-३

४. प्रसिद्धोधर्मी—परी० मु० सू० ३-२३

इससे स्पष्ट है कि अनुमिति का असाधारण कारण अनुमान है इसकी व्याख्या विभिन्न तार्किकों ने विभिन्न प्रकार से की है। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य वादिराज[1] ने लिखा है अनु अर्थात् व्याप्ति निर्णय के पश्चात् उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान है। यशोविजय[2] ने माणिक्यनन्दी का अनुसरण करके साधन से होने वाले साध्य विज्ञान को अनुमान कहा है तथा उसके स्वार्थ और परार्थ भेद करके स्वार्थ अनुमान को ही हेतु ग्रहण और सम्बन्ध स्मरण कारणक माना है।

अनुमान के अङ्ग

व्याप्ति

अन्य तार्किकों के समान ही जैन तार्किक भी अनुमान का मुख्य आधार व्याप्ति मानते हैं। दो वस्तुओं के सर्वदा नियत रूप से साहचर्य सम्बन्ध स्वीकार किये बिना एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। व्याप्ति शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर वि आप्ति के योग से निष्पन्न होता है—जिसका अर्थ है विशेष रूप से आप्ति या सम्बन्ध।

माणिक्यनन्दी मत

जैन तार्किकों के अनुसार भी अविनाभाव सम्बन्ध ही व्याप्ति है। आचार्य माणिक्यनन्दी[3] ने व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार उपस्थित किया है "इस वस्तु के रहने परयह वस्तु रहती है, इसके न रहने पर नहीं रहती है, जैसे अग्नि के रहने पर ही धूम रहता है। अग्नि के न रहने पर नहीं रहता है।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य अन्वय और व्यतिरेक को ही व्याप्ति का आधार मानते हैं। इस प्रकार आचाय माणिक्यनन्दी[4] का यह वचन सुसङ्गत होता है, सहभाव-नियम और क्रमभाव नियम ही अविनाभाव है। सहचारी और व्याप्य व्यापक भूत पदार्थों में सहभाव नियम तथा पूर्वचर, उत्तरचर और कार्य-कारणभूत पदार्थों में क्रमभाव नियम पाया जाता है।

व्याप्ति के स्वरूप को प्रकट करते हुए न्याय विनिश्चयकार[5] कहते है कि जो यहां वहां असिद्ध जिसके बिना जिसका ज्ञान नहीं होता है वह वहां उसका गमक होता है।

---

१. अनुव्याप्तिनिर्णयस्वपश्चाद्भाविभानम् अनुमानम्—प्र० न० तत्व० ३।१०
२. जै० त० भा० प्र० परि०।
३. परीक्षामुख सूत्र ३-१२
४. वही ३-१२-१३
५. न्या० वि० २-२६

अनन्तवीर्य मत

आचार्य अनन्तवीर्य[1] सहभाव नियम की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि रूप, रस आदि में वृक्षत्व शिशपात्व आदि व्याप्यव्यापक पदार्थों में क्रमभाव नियम होता है। जैसे यह रूप वाला है रस होने से, इस अनुमान में जहां-जहां रस होता है वहां-वहां रूप होता है। यह व्याप्ति है। परन्तु जहां रूप होता है वहां-वहां रस होता है। यह व्याप्ति नहीं बन सकती है। तेज में भी रूप होता है किन्तु रस वहां नहीं रहता है। इसलिए रस से रूप के अनुमान में, रस में, रूप की व्याप्ति है यही सहभाव नियम है। इसी प्रकार "वृक्षोऽयं शिशपात्वात्" इस अनुमान में शिशपात्व व्याप्य है और वृक्षत्व व्यापक है जहां-जहां शिशपात्व होता है वहां-वहां वृक्षत्व होता है किन्तु जहां-जहाँ वृक्षात्व होता है वहां वहां शिशपात्व नहीं रहता है। इसलिए वृक्षत्व व्यापक है और शिशपात्व व्याप्य है यही व्याप्यव्यापक भाव जैनों के अनुसार सहभाव नियमहै। बौद्ध यहां सहभाव का आधार तादात्म्य मानते हैं परन्तु जैन दार्शनिक मात्रव्याप्य व्यापक भाव को ही उसका आधार मानते हैं।

क्रमभाव का उदाहरण देते हुए जैन तार्किक कहते हैं कि पूर्व तथा उत्तर चर कृत्तिकोदय तथा शकटोदय में कार्य और कारण धूम और अग्नि में क्रम भाव नियम रूप व्याप्ति है। कृत्तिकोदय तथा शकटोदय में क्रम भाव नियम इसलिए है कि आकाश में कृत्तिकानक्षत्र का उदय शकट नामक नक्षत्र के उदय के मुहूर्त पूर्व हो जाता है और शकट नक्षत्र का उदय कृत्तिका नक्षत्र के उदय हो जाने के एक मुहूर्त पश्चात् होता है। अत: पूर्व और पश्चात् उदय होने से इनमें नियत क्रमभाव है इसलिए कृत्तिकोदय से एक मुहूर्त पश्चात् उदित होने वाले शकट नक्षत्र का अनुमान होता है तथा शकटोदय से उसके पूर्व उदित हुए कृतिका नक्षत्र का अनुमान होता है। इस प्रकार नियमत: पूर्व तथा पश्चात् भाव होने से इनमें क्रमभाव नियम पाया जाता है। इसी प्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होने से उनमें भी क्रमभाव पाया जाता है क्योंकि धूम कार्य हैं अग्नि कारण है। इसलिए जहां-जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है यह व्याप्ति सिद्ध होती है। क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं रह सकता। जहां अग्नि होती है वहां-वहां धूम होता है। यह व्याप्ति असिद्ध है। क्योंकि धूम के बिना भी अग्नि अयोगोलक में रहती है इसलिए यह नियत सहभाव नहीं है।

प्रमेय रत्नमाला कार[3] ने भी तर्क को ही व्याप्तिग्राहक सिद्ध किया है।

---

१. प० र० माला ३-१२ पृ०

२. वही ३-१३-१४ पृ० ४७

३. वही ३-१५ ।

आचार्य अकलङ्क तर्क का लक्षण करते हुए कहते हैं प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाला सम्भावनात्मक ज्ञान तर्क है । इसी को भाष्यकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि साध्य और साधन के सम्बन्ध के अज्ञान की निवृत्ति रूप साक्षात् स्वार्थ निश्चयात्मक फल का जो साधक तर्क है वही तर्क है।

माणिक्यनन्दी[1] ने तर्क का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—उपलब्धि के निमित्त से जो व्याप्तिज्ञान होता है उसे ऊह या तर्क कहा जाता है। जैसे साध्य अग्नि के होने पर धूम का होना उपलब्धि है तथा अनुपलब्धि है अग्नि के न होने पर धूम का न होना । इस अनुपलब्धि और उपलब्धि के आधार पर व्याप्ति का ज्ञान ही तर्क है । इसके आधार पर साध्य और हेतु में अविनाभाव का सार्वकालिक सार्वदेशिक सर्वत्रिक ग्रहण होता है ।

वादिदेव सूरि[2] ने उपलब्धि और अनुपलब्धि से उत्पन्न, भूत भविष्य तथा वर्तमान कालिक साध्य साधन विषय को ग्रहण करने वाले 'अस्मिन्' सत्येव भवत्यसति न भवत्येव" इस प्रकार के ज्ञान को ऊह या तर्क प्रमाण कहा है ।

सिद्धर्षिगणि, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्म, हेमचन्द्र, धर्म भूषण, यशोविजय आदि सभी जैन तार्किकों ने तर्क को व्याप्तिग्राहक प्रमाण माना है । तथा अन्य तार्किकों द्वारा प्रतिपादित व्याप्ति ग्रहण के उपायों का निषेध किया है।

नैयायिकों का कथन है कि तर्क मात्र व्यभिचार शङ्का निवर्तक नहीं हो सकता है क्योंकि तर्क का कारण भी व्याप्ति शंका है उसी से व्यभिचार शंका का निवारण हो जाता है । तर्क शंका विरह का सम्पादक मात्र है वह व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है। तर्क आहार्यारोप विषयक होता है इसलिए अनिश्चित ज्ञान होने से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। दूसरे तर्क का आधार मूलतः व्याप्ति हैं, इसलिए व्याप्ति को तर्क पर आधारित माना जाये तो अनवस्था होती है ।

हेमचन्द्रमत

आचार्य हेमचन्द्र[4] ने आचार्य माणिक्यनन्दी की तरह ही अविनाभाव को व्याप्ति स्वीकार किया है। आचार्य धर्मभूषण के अनुसार साध्य और साधन में गम्यगमक भाव को सिद्ध करने वाला व्यभिचार से रहित जो सम्बन्ध है उसी को अविनाभाव कहा जाता है ।

---

१. तर्कात्तन्निर्णयः :—प० मु० मू० ३, १५ र० मा० पृ० १४७

२. न्या० वि० २।३२६

६. तत्त्वार्थ श्लोक वा० पृ०

४. प्र० र० मा० पृ० १४८ ।

जैन तार्किकों का सहभाव नियम और क्रमभाव नियम रूप अविनाभाव रूप सम्बन्ध में गौतम और कणाद के अनुयायियों से कुछ भिन्नता नहीं है। लगभग शब्दान्तर से व्याप्ति का यही स्वरूप उन्हें भी मान्य रहा है। नैयायिकों ने दैशिक और कालिक सम्बन्ध के आधार पर भी सहभाव रूप व्याप्ति का विचार किया है।

व्याप्तिग्राहक

विभिन्न तार्किकों में व्याप्ति ग्राहक के विषय में मत भेद है जैसा कि हम पूर्व अध्यायों में विवेचन कर चुके हैं कि गौतमीय तार्किक सहचर्यग्रह, व्यभिचारा ग्रह भूयोदर्शन, सामान्यलक्षण, तर्क को तथा बौद्ध तादात्म्य तथा तदुत्पति को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं किन्तु जैन तार्किकों के मत से तर्क नामक प्रसाधन से ही व्याप्ति का निर्णय होता है।[1]

अकलंकमत

आचार्य अकलंक के अनुसार अन्वय विज्ञान के रहने पर भी वह तर्क पर आधारित अविनाभाव सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप से अवधारित होता है।

जैन तार्किकों ने आरम्भ से ही तर्क को व्याप्ति का ग्राहक कहा है। जैन आगमों में भी अनुमान की सामग्री के रूप में भी चिंता का वर्णन किया गया है। चिंता तर्क का ही दूसरा नाम है। चिन्ता, तर्क ऊह आदि शब्द पर्यायवाची है।

विद्यानन्द मत

आचार्य विद्यानन्द[3] ने भी तर्क को ही अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्राहक माना है। जिस प्रत्यय के ज्ञान से साध्य और साधन की व्याप्ति का सम्बन्ध निश्चित होकर अनुमान के लिए प्रवृत होता है उस तर्क को सम्वादि होने से प्रमाण मानते है।

व्याप्ति के भेद—१. अन्वयव्याप्ति २. व्यतिरेकव्याप्ति

जैन तार्किकों ने हेतु को तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के आधार पर दो प्रकार का कहा है। इसमें तथोपपत्ति तथा अन्यथानुपपत्ति क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति के परिचायक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र[1] ने व्याप्ति के दो रूप प्रदर्शित किये है प्रथम रूप में आयोग व्यवच्छेद रूप से व्याप्ति की प्रतीति होती है और दूसरे रूप में अन्ययोग व्यवच्छेद रूप से व्याप्ति की प्रतीति होती है। व्याप्ति के ये दो रूप अन्य किसी भी जैन तर्क शास्त्री ने स्वीकार नहीं किये हैं।

---

१. प्र० मीं अनु० परि०।

आचार्य प्रभाचन्द्र[1] ने व्याप्ति के तीन भेदों का उल्लेख किया है, बहिर्व्याप्ति, साकल्य व्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति। बहिर्व्याप्ति का निषेध करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि यदि वहिर्व्याप्ति को स्वीकार करें तो भग्न घट से भिन्न सर्व क्षणिक है क्योंकि सत् है कृतक है जैसे घट। विवादास्पद प्रत्यय निरालम्बन हैं क्योंकि प्रत्यय है जैसे स्वप्न प्रत्यय, ईश्वर कुछ-कुछ जानने वाला है अथवा रागादिमान् है क्योंकि वक्ता है रथ्या पुरुष की तरह। इत्यादि अनुमान भी गमक होने लगेंगे क्योंकि केवल अन्वय-व्याप्ति यहां सुलभ है।

सकलव्याप्ति भी सम्भव नहीं है क्योंकि कहीं पर धूम सामान्य के साथ अग्नि सामान्य का एक अनुमान में सम्पूर्णतः ग्रहण नहीं होता। सकल धूम के साथ सकल व्याप्ति का ग्रहण न प्रत्यक्ष से सम्भव है और न अनुमान से क्योंकि अनुमान से ग्रहण मानने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा। दूसरी बात है कि यदि अग्नि सामान्य साध्य है तो सकल व्याप्ति ग्रहण काल में ही उसका ग्रहण हो जाने से अनुमान की प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जाती है।

आचार्य प्रभाचन्द्र[2] इसी पूर्वोक्त दोष के आधार पर अन्तर्व्याप्ति का भी निराकरण करते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान के आधार पर इसकी भी सिद्धि नहीं होती। किंतु व्याप्ति के अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति ये भेद आचार्य सिद्धसैन दिवाकर को मान्य है किन्तु अन्वय को वे व्याप्ति के भेद के रूप में ग्रहण करना नहीं चाहते हैं। इन विविध व्याप्तियों में अन्तर्याप्ति के आधार पर साध्य की सिद्धि होती है। ऐसा सिद्धसेन का विचार है।

जब पक्ष में साध्य और हेतु के नियत साहचर्य का ग्रहण होता है तो उसे अन्तर्व्याप्ति कहते हैं जैसे पर्वतो वन्हिमान् धूमात् इस अनुमान में पर्वत में ही जब किसी को व्याप्ति ग्रह होता है तो उसे उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। इसी प्रकार जब सपक्ष में व्याप्ति का ग्रहण करके अनुमान किया जाता है तो उसे वहिर्व्याप्ति कर आधारित अनुमान कहते हैं। जैसे महानस में अग्नि और धूम के साहचर्य नियम के ग्रहण से पर्वत में अग्नि का अनुमान। जब पक्ष और सपक्ष दोनों में ही व्याप्ति को गृहीत किया जाता है, तो उसे साकल्य व्याप्ति कहते हैं। इसलिए सकल व्याप्ति पर यह आक्षेप किया जाता है कि सामान्य को साध्य करने पर साधक की विफलता हो जाती हैं क्योंकि व्याप्ति ग्रहण के समय ही साध्य सामान्य की पक्ष में सिद्धि हो जाती है। यदि ऐसा न मानें तो किस प्रकार कहा जायेगा कि व्याप्ति साकल्य रूप से गृहीत है।

---

१. तर्कात्तन्निर्णयः—प०मु०सू० ३, १५ र० मा० पृ० १४७
२. न्या० वि० २।३२६
३. तत्वार्थ श्लोक वा० प०
४. प्र०र० मा० प०

अन्तर्व्याप्ति भी सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के आधार पर उसकी सिद्धि नहीं है। क्योंकि पर्वत में वन्हि के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष के होने से उसकी और धूम की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। और अनुमान को व्याप्ति पर ही आधारित होने से अनवस्था होगी। अतः अन्तर्व्याप्ति भी ठीक नहीं है। ऐसा आचार्य प्रभाचन्द्र[1] का मत है।

किंतु आचार्य अकलंक[2] को साकल्य-व्याप्ति स्वीकार है। उनका कहना है कि अन्वय-ज्ञान रहने पर तर्क पर आधारित अविनाभाव सम्बन्ध का साकल्येन ग्रहण होता है।

जैनों ने व्याप्ति के नियामकों के आधार पर अविनाभाव का वर्गीकरण नहीं किया है। अविनाभाव रूप एक सामान्य सम्बन्ध ही पर्याप्त माना है। अविनाभाव के नियामक की संख्या नियत नहीं की है।

आचार्य माणिक्य नन्दी का अनुसरण करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र[3] तथा लघु अनन्तवीर्य[4] ने व्याप्ति के सहभाव नियम और क्रमभाव नियम के रूप में दो भेद स्वीकार किये हैं।

न्यायावतार वार्तिक सूत्र वृत्तिकार आचार्य शान्तिसूरि भी व्याप्ति के अन्वय और व्यतिरेक भेद नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अन्यथानुपपत्ति रूप व्यतिरेक ही एक मात्र व्याप्ति है क्योंकि अन्वय के बिना क्षणिकत्व सत्त्व का साधक होता है जबकि वहां अन्वय दृष्टांत नहीं है। क्षणिकता सर्व पदार्थ व्यापी होने से सपक्ष का अभाव है। इस स्थलमें व्याप्ति का ग्रहण पक्ष मेंही होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि जैनविवेचन अन्यथानुपपन्नत्व को ही व्याप्ति का स्वरूप मानते हैं जो कि परिभाषा के अनुसार अन्तर्व्याप्ति ही है। वादिभसिंह के अनुसार अन्यथानुपपन्नत्व ही अन्तर्व्याप्ति है जो व्यतिरेकव्याप्ति का ही दूसरा नाम है।

आचार्य प्रभाचन्द्र तथा अनन्तवीर्य के अनुसार सहचारी और व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभाव रूप व्याप्ति होती है जैसे साथ में रहने वाले रूप और रस में सहभाव नियम है क्योंकि आम आदि फलों में रस रूप को छोड़कर नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार व्याप्य और व्यापक जो वृक्षत्व और शिशपात्व है उनमें भी सहभाव नियम है क्योंकि शिशपात्व वृक्षत्व के बिना नहीं रहता है।

---

१ प्र० मु० सू० ३।७ प्र० २ भा० पृ० १३८।

२. हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः। प्र०न०त० ३२१ पृ०५५९

३. प्र० मी० अनु० प्र०

४. प्र० क० मा० ३-१५ पृ० ३३४

इस प्रकार जैन तार्किकों के द्वारा प्रदर्शित व्याप्ति के ये दो प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव नियम के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो सकते हैं। मौलिक तत्व हैं अविनाभाव या व्याप्य-व्यापक भाव और उसका आधार कार्य-कारणभाव, पूर्वचरोत्तराभाव, व्याप्य-व्यापक भाव आदि कुछ भी हो सकता है। इस प्रकार जैन मत नैयायिक तथा वैशेषिक मत से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होता है।

निष्कर्ष यह है कि व्यभिचार-शून्य सम्बन्ध व्याप्ति है। उसको विभिन्न तार्किकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति, अविनाभाव, अव्यभिचार, सहचर्यनियम, सहक्रमभाव नियम, अनौपाधिक सम्बन्ध आदि अनेक नाम दिये हैं।

हेतु का स्वरूप

जैन तार्किकों ने हेतु का एक ही स्वरूप अन्यथानुपपन्नत्व अविनाभावित्व माना है। पात्रस्वामी के मत को उपस्थित करते हुए आचार्य शांतिरक्षित तत्त्वसङ्ग्रह में कहते हैं अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतु का लक्षण ठीक है। अन्यथानुपपन्नत्व के बिना हेतु की त्रिरूपता या पञ्चरूपपन्नता व्यर्थ है, "स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्" आदि हेतु में त्रिरूपता होने पर भी वह गमक नहीं होता है।

समन्तभद्रमत

"जैन तर्कशास्त्र के इतिहास में समन्तभद्र ने सबसे पहले हेतु का स्वरूप प्रदर्शित किया है।" पात्र स्वामी से लेकर चारुकीर्ति तक सभी जैन तार्किकों ने इसी लक्षण का समर्थन किया है।

वीरसेन मत

वीरसेन ने हेतु का लक्षण इस प्रकार किया है। साध्य का अविनाभावी लिंग जो कि अन्यथानुपपत्ति रूप एक ही लक्षण से युक्त है, जो कि साधन और दूषण के भेद से दो प्रकार का होता है, जो सपक्ष की स्थापना के लिए प्रयुक्त होता है वह साधन हेतु है और जो परपक्ष निषेधार्थ प्रयुक्त होता है वह दूषण-हेतु कहलाता है। यह वर्गीकरण इनका स्वतंत्र है।

सिद्धसेन मत

आचार्य सिद्ध सेन के अनुसार भी अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतु का लक्षण है उसकी प्रतीति न होने पर अथवा सन्देह होने पर या उसका भ्रम होने पर हेत्वा-

---

१. प्र० क० मा० ३।१७-१८ पृ० ३६६।

२. तत्त्व संग्रह का० १२६१ पृ० ४१५ परीक्षा मु० सू० ३।१५।

भासिता उत्पन्न होती है। आचार्य माणिक्यनंदी के अनुसार जिसका साध्याविनाभाव निश्चित है वह हेतु है। उन्होंने अविनाभाव का नियामक तादात्म्य और तदुत्पत्ति के स्थान में सहभाव और क्रमभाव को कहा है। जिनमें तादत्म्य या तदुत्पत्ति नहीं है उनमें भी सहभाव या क्रमभाव होता है तो अविनाभाव रहता है।

माणिक्यनन्दीमत

आचार्य माणिक्य नंदी के पूर्वोक्त लक्षण का समर्थन करते हुए प्रभाचन्द्र ने बौद्धों की त्रिरूपता और नैयायिकों की पञ्चरूपता का तीव्र निषेध किया है। उनका कथन है कि असाधारण धर्म लक्षण होता है। त्रिरूपता हेतु का असाधारण धर्म नहीं है। क्योंकि वह हेतु और हेत्वाभास दोनों में ही रहता है। "बुद्धि असर्वज्ञ है क्योकि वक्ता है" इस अनुमान में पक्षधर्मत्व सपक्ष सत्त्वादि तीनों रूप होने पर भी बौद्ध लोग अन्यथानुपपन्नता के न रहने से गमकत्व नहीं मानते हैं। दूसरी ओर पक्षधर्मता आदि तीन रूपों के न रहने पर भी "शकट नक्षत्र का उदय होगा क्यों कि कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो चुका है।" इस प्रकार का अनुमान होता है। एवं 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' यहां पर सपक्षवृत्तित्व न रहने पर भी हेतु सद् हेतु माना जाता है। नैयायिक सम्मत अवाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व भी व्यर्थ है। क्योंकि साध्याविनाभावित्व के न रहने पर न तो अवाधित-विषयत्व आ सकता है और न असत्प्रतिपक्षितत्व। इसलिए उसे ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए। पञ्च रूपों की कल्पना व्यर्थ है। प्रमाण सिद्ध त्रैरूप्य का और वाधितत्व का विरोध है।

साध्य के रहने पर ही हेतु के धर्मी में रहने का नाम ही त्रैरूप्य है। साध्य के न रहने पर हेतु का रहना ही वाधा है। ऐसी दशा में त्रैरूप्य और बाधा एक साथ रह ही नहीं सकती हैं। इसलिए अवाधितत्वादि पञ्चरूपोपपन्नता व्यर्थ है।

प्रभाचन्द्रमत

आचार्य प्रभाचन्द्र असत्प्रतिपक्षितत्व का यह प्रश्न करके निराकरण किया गया है कि प्रतिपक्ष तुल्यबल वाला है अथवा अतुल्य वल वाला। यदि तुल्य वल वाला है तो एक बाधक और दूसरा बाध्य क्यों माना जाय? यदि कहें कि एक में पक्षधर्मता आदि विशेषता है तो फिर तुल्य वलत्व कैसा? यदि अतुल्य वलत्व है तो या तो वह पक्षधर्मता आदि के न रहने से होना चाहिए अथवा अनुमान की

१. प्र० क० मा० ३।१५ पृ० ३५४

२. पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व विपक्षासत्त्व

३. पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व विपक्षासत्त्व अव्याधितत्व, और असत्प्रतिपक्षित्व।

बाधा से उत्पन्न होना चाहिए। प्रथम पक्ष तो स्वीकार्य ही नहीं है क्योंकि दोनों हेतुओं में पक्षधर्मता आदि को स्वीकार किया जाता है। द्वितीय पक्ष विवाद ग्रस्त होने से असिद्ध है। क्योंकि विचारणीय तो अनुमान बाधा ही है। दोनों में त्रैरूप्यादि विशेषतायें समान होने से एक में बाध्यत्व और दूसरे में बाधकत्व का व्यवस्थापन सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि अतुल्य बलत्व होने पर अनुमान की बाधा और अनुमान बाधा होने पर अतुल्य बल तो इस प्रकार अन्योन्याश्रय उपस्थित होता है। अतः असत्प्रतिपक्षितत्व रूप भी अनुपयुक्त है। आचार्य प्रभाचन्द्र अनेक युक्तियों के द्वारा असत्प्रतिपक्षितत्व का निराकरण करके हेतुओं के मात्र स्वरूप अन्यथानुपपन्नत्व का समर्थन करते हैं। इसी में त्रिरूपोपपन्नता और पञ्चरूपोपपन्नता आदि सभी समाविष्ट हैं।

हेतु के बौद्ध सम्मत त्रैरूप्य लक्षण का निषेध करते हुए अनन्तवीर्य[1] कहते हैं त्रैरूप्य यह हेतु का लक्षण ठीक नहीं है अविनाभाव नियम निश्चय से हेतु के तीन दोषों का परिहार हो जाता है। अविनाभाव अन्यथानुपपन्नत्व है वह असिद्ध हेतु में नहीं रह सकता उसी प्रकार विरुद्ध हेतु में भी नहीं रह सकता। विरुद्ध हेतु का साध्य विपरीत के साथ अविनाभावी होता है। व्यभिचारी हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व रूप अविनाभावित्व नहीं रह सकता है इसलिए अन्यथानुपपत्ति न रहने पर हेतु में गमकत्व नहीं रहता है। जैसे किसी व्यक्ति के अनेक पुत्रों को देखकर अनुमान किया जाय कि उस व्यक्ति की स्त्री के गर्भ में जो पुत्र है वह भी श्याम ही होगा क्योंकि वह अमुक व्यक्ति का पुत्र है जो उस अमुक व्यक्ति का पुत्र है वह सांवला है जैसे यह उसका पुत्र। जो सांवला नहीं है वह उस व्यक्ति का पुत्र नहीं है जैसे अमुक व्यक्ति का गोरा पुत्र। इस प्रकार से अनुमान में तत्पुत्रत्वरूप हेतु त्रैरूप्य है किन्तु यह हेतु अपने साध्य का गमक नहीं है क्योंकि सम्भव है गर्भस्थ गौरवर्ण हो, अतः त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण न मानकर अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए।

---

१. प्र० क० मा० पृ० ३।१५ पृ० ३।५७

२. तदयुक्तम्, अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्ते अविनाभावो हि अन्यथानुपपन्नत्वम्, तत्त्वसिद्धस्य न सम्भवत्येव अन्यथानुपपन्नत्व मसिद्धस्य नसिद्ध्यति इत्यभिभाषानात्। नापि विरुद्धस्य तल्लक्षणत्वो पपत्तिर्विपरीतनिश्चिताविनाभावेतियथोक्तिसाध्याविनाभावनियमलक्षणस्यानुपपत्ते र्विरोधात्। व्यभिचारिण्यपपि न त्रिरूपता—न्या० वमा० ३।१० पृ० १४२

विपक्ष से व्यावृत्ति को ही अविनाभावित्व अनन्तवीर्य कहते हैं "पक्षसत्त्व[1] और सपक्ष सत्त्व के रहने पर भी विपक्षासत्त्व के न रहने पर हेतु साध्य का बोधक नहीं है अतः विपक्षासत्त्व को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए क्योंकि उसके न रहने पर अन्य दो रूपों के न रहने पर भी हेतु में साध्य की साधकता आ जाती है। "जैसे माता पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र के ब्राह्मण होने के अनुमान अथवा नदी के नीचे की ओर पूर "बाढ़" दिखाई देने पर ऊपर की ओर वर्षा का अनुमान आदि ऐसे अनुमान हैं जहां न पक्षधर्मत्व है और न सपक्षसत्त्व है फिर भी माता पिता का ब्राह्मणत्व और निम्न देश में नदीपूर ये दोनों हेतु क्रमशः पुत्र ब्राह्मणत्व तथा जल वर्षा के अनुमापक हैं।

बौद्ध सम्मत तीन रूपों में दो रूपों को मिलाकर नैयायिक पञ्चलक्षणत्व हेतु का लक्षण मानते हैं। अनन्तवीर्य लिखते हैं कि ये सभी लक्षण अविनाभाव के विस्तार रूप ही हैं क्योंकि जिस हेतु का विषय प्रमाण से बाधित है और जिस हेतु के प्रतिपक्ष का साधक हेत्वन्तर है, उन दोनों ही में अविनाभाव का अभाव है। दूसरे साध्याभाव[2] उसका विषय होने से वह समीचीन हेतु नहीं है। वह यथोक्त पक्ष विषय न होने से पक्ष के दोष से ही दूषित है। अतः साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो वही हेतु है।

बौद्ध नैयायिक तथा ब्राह्मण नैयायिक[3] त्रिरूपता तथा पञ्चरूपता के आधार पर ही हेतु के सद् हेतुत्व वा असद् हेतुत्व का विचार करते हैं जबकि जैन तार्किक इनके आधार पर हेतु का विचार न करके अविनाभावित्व के आधार पर ही उसका निर्धारण करते हैं। यही दोनों प्रकार के तार्किकों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। यद्यपि विचार किया जाय तो मानना होगा कि दार्शनिकों की दृष्टियों में केवल मात्र वचन भेद है तात्पर्य एक ही है।

हेतु के भेद

जैन तर्कशास्त्र की परम्परा में हेतुओं का कई प्रकार से वर्णन किया गया

---

१. इतररूपसद्भावेऽपि तदभावे हेतोः स्वसाध्यसिद्धिप्रतिगमकत्वानिष्टो सव प्रधानं लक्षणमुपलक्षणीयमिति। तत्सद्भावे चेतररूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेश्च। ३।१५ न्या० र० मा० पृ० १४३।

२. न्या० वि० ३ परि०

३. तत्र परोक्षोऽर्थो गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्, तच्च पञ्चलक्षणम्। न्या० म० प्रभा० आ० १।

है। पात्रस्वामी[1] ने अन्यथानुपपत्ति के आधार पर एक ही प्रकार का हेतु बतलाया है। षट्खण्डागम के व्याख्याकार वीरसेन[2] ने हेतु के दो भेद कहे हैं। साधन हेतु और दूषित हेतु। स्थानाङ्ग सूत्र में हेतु का चार प्रकार से विभाजन किया गया है।

१. विधि-विधि २. निषेध-निषेध
३. विधि-निषेध ४. निषेध-विधि

आचार्य अकलङ्क ने मूलरूप से हेतु के दो भेद स्वीकार किये हैं। उपलब्धि और अनुपलब्धि। उपलब्धि के भी छः भेद किये हैं: स्वभाव, स्वभावकार्य, स्वभाव कारण, सहचर, सहचरकार्य, उत्तरचरकारण।

सिद्धिविनिश्चय[4] के अनुसार उपलब्धि हेतु के छः भेद इस प्रकार हैं। स्वभाव, कार्य, कारण, सहचर, पूर्वचर, और उत्तरचर। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने हेतु को अन्यथानुपपत्ति तथा तथोपपत्ति के आधार पर ,दो प्रकारों में विभाजित किया है।

विधि और निषेध के रूप में हेतुओं का स्पष्ट विभाजन आचार्य माणिक्य-नन्दी और विद्यानन्द के ही ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आचार्य अकलङ्क के पथ का अनुसरण करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी[6] ने भी हेतु के मूल भेद स्वीकार किये हैं। उपलब्धि तथा अनुपलब्धि। उपलब्धि और अनुपलब्धि प्रत्येक के इन्होंने दो-दो भेद स्वीकार किये हैं। उपलब्धि के दो भेद हैं: अविरुद्धोपलब्धि। विरुद्धोप-लब्धि तथा अनुपलब्धि के भेद हैं "अविरुद्धानुपलब्धि" और विरुद्धानुपलब्धि।[5]

अविरुद्धोपलब्धि रूप हेतु के माणिक्यनन्दी[7] ने छः भेद किये हैं:—व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। विरुद्धोपलब्धि के भी अविरुद्धोप-

---

१. तत्त्व संग्रह १३६३ पृ० ४६५
२. धवल टीका पृ०
३. स्थानाङ्ग सूत्र पृ०
४. प्रमाण विनिश्चय अनु० परि०
५. हेतोस्तथोपपत्या वा स्याद् प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्य सिद्धिर्भवेदिति ॥ न्या० व० का० १७ पृ० २
६. स हेतु द्विधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्—परीक्षामुख सू० ३।५३
७. अविरुद्धोपलब्धि विधौषोढा-व्याप्यकार्य कारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्-परीक्षामुख सू० ३।५५

लब्धि के समान ही छ: भेद हैं। विरुद्ध-व्याप्य-विरुद्ध कार्य, विरुद्ध-कारण, विरुद्ध-पूर्वचर विरुद्ध-उत्तरचर, और विरुद्ध-सहचर।

इसी प्रकार अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेध रूप साध्य को सिद्ध करने की अपेक्षा सात प्रकार की कही गई है। १. अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि २ व्यापकानुपलब्धि ३. कार्यानुपलब्धि ४ कारणानुपलब्धि ५. पूर्वचरानुपलब्धि ६. उत्तरचरानुपलब्धि और ७. सहचारानूपलब्धि। विरुद्धानुपलब्धि रूप हेतु जब विधिरूप साध्य का साधक होता है तो उसके तीन प्रकार होते हैं १. विरुद्ध कार्यानुपलब्धि २. विरुद्ध कारणानुपलब्धि और ३. विरुद्धस्वभावनुपलब्धि। इस प्रकार आचार्य माणिक्यनन्द, ने ६+६+७+३—२२ हेतु भेदों को मान्यता प्रदान की है।

आचार्य प्रभाचन्द्र तथा लघु अनन्तवीर्य ने इन भेदों को स्वीकार कर इनका विशद विवेचन किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र कारण को न मानने वाले बौद्धों का मत खण्डन करते हुए लिखते हैं[1] कि यह बात असंगत है कि कारण कार्य का अनुमापक हेतु नहीं होता है। कार्य के साथ जिसका अविनाभाव रूप सम्बन्ध है ऐसे छत्रादि हेतुओं से छायादि कार्य का अनुमान होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[2] ने बौद्धों की मान्यता के अनुसार यह सिद्ध किया है कि बौद्ध लोग भी कारण हेतु को मानते हैं। बौद्धों के अनुसार वर्तमान कालवर्ती रस से उसकी एक सामग्री का अनुमान होता है और एक सामग्री के अनुमान से रस समानाधिकरण तत्कालीन रूप का अनुमान होता है। उत्तर रस क्षण और उत्तर रूप क्षण दोनों की सामग्री एक ही है, दोनों ही पूर्वरसक्षण और पूर्वरूपक्षण से उत्पन्न होते हैं। उत्तररूपक्षण की उत्पत्ति में पूर्वरूपक्षण उपादान कारण और रसक्षण सहकारी कारण हैं। इसी प्रकार उत्तर रसक्षण उपादान कारण और पूर्व रसक्षण सहकारी कारण है। इस प्रकार से एक सामग्री के अनुमान से रूपानुमान मानने के लिए कारणरूपी हेतु इष्ट ही है।

पूर्वचर और उत्तर हेतुओं का भी बौद्ध प्रतिपादित, स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि इन तीन हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं होता है। पूर्वचर और उत्तर चर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध नहीं है। जो वस्तु जिस

---

१. इत्यसङ्गतम् कार्याविनाभावितया वधारितस्यानुमानकालप्राप्तस्य छत्रादेर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्। ३।५९

२. रसादेक सामग्र्यनुमानेन रूपानुमान मिच्छद्भिरिष्टमेव:
किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरा वैकल्पे॥ ३।६० प० र० सू० प०

वस्तु के काल में नहीं है अथवा जो जिसके अनन्तर नहीं उस वस्तु का उसके साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता है। तात्पर्य जो वस्तु जिस वस्तु काल में रहती है उसी के साथ उसका तादात्म्य सम्बन्ध मान सकते हैं किन्तु जो भिन्न कालिक है उनका तादात्म्य कैसा ? उसी प्रकार जिस वस्तु के अनन्तर जो वस्तु है उसमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो सकता है जैसे वन्हि के अनन्तर भावी धूम का वन्हि के साथ है। किन्तु शकटोदय के काल में अथवा उसके अनन्तर कृत्तिकोदय न होने से उनके बीच न तो तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति फलतः पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं को इनसे भिन्न मानना आवश्यक है। एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है यह पूर्वचर हेतु का उदाहरण है। एक मुहूर्त पूर्व ही भरणी का उदय हो चुका है क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है यह उत्तर चर हेतु का उदाहरण है। स्पष्ट है कि दोनों ही हेतुओं का साध्य के साथ कालव्यवधान है। अतः बौद्ध प्रतिपादित दोनों सम्बन्धों का अभाव है।

भावी रोहिणी का उदय कार्य के रूप में कृत्तिकोदय का गमक होता है इसलिए इसका कार्य हेतु में ही अन्तर्भाव होता है यह कथन समीचीन नहीं है क्योंकि फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर कृत्तिका के उदय से भरणी के उदय का अनुमान कैसे होता है। यदि भरणी का उदय कृत्तिका के उदय का कारण है इसलिए दोष नहीं है तो विचारणीय है। जिस स्वभाव के भरणी के उदय से कृत्तिका का उदय हुआ उसी स्वभाव से रोहिणी का भी उदय है तो भरणी उदय के पश्चात् कृतिका से उदय के समान रोहिणी का भी उदय हो अथवा जैसे रोहिणी के पूर्व होता है, वैसे भरणी के उदय के पूर्व में भी हो' इसलिए बौद्ध के अनुसार अतीत अथवा एककालिक का ही ज्ञान हो सकता है। अनागत का नहीं। अतः पूर्वचर और उत्तर चर हेतुओं का अन्तर्भाव उनके हेतुओं में सम्भव नहीं है।

बौद्ध कहते हैं कि काल का व्यवधान रहने पर भी कार्यकारणभाव रहता है—जैसे जाग्रत दशा और प्रबुद्ध दशाभावी प्रबोध में मरण और अरिष्ट में काल का व्यवधान होने पर भी कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। इस आक्षेप का निराकरण आचार्य माणिक्यनन्दी[1] और उनके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने किया है।[2] आचार्य माणिक्य नन्दी के अनुसार अरिष्ट और बोध भावी मरण अतीत जाग्रत बोध का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि कारण के व्यापार पर आश्रित है, कारणभाव भावित्व, तात्पर्य यह है कारण के व्यापार के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है,

१, परीक्षा मु० सू० ।३।६१-६२-६३ प्र० क० मा० पृ० ६८१
२ प्र० क० मा० ३।६२,५६ ।

और कारण का व्यापार कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है अत: बौद्ध का यह कथन कि कालव्यवधान रहने पर भी कार्य कारण भाव होता है अनुचित है।

बौद्धों के पक्ष का निषेध करते हुए प्रभाचन्द्र[1] भी कहते हैं कि जहां तादात्म्य या तदुत्पत्ति नहीं है वहां भी अविनाभाव के आधार पर किए एक के दर्शन से अन्य का अनुमान होता है इसीलिए **"स श्यामः तत्पुत्रत्वात्, सर्वज्ञः वक्तृत्वात्"** इत्यादि स्थलों में तादात्म्य तदुत्पत्ति के रहने पर भी साध्यानुमान नहीं होता है। तादात्म्य और तदुत्पत्ति के न रहने पर अविनाभाव के प्रसाद से कृत्तिकोदय, चन्द्रोदय, पपीलिकाण्डदर्शन आदि हेतुओं से शकटोदय, समुद्रवृद्धि, भाविवृष्टि आदि का अनुमान होता है।

यही कारण है कि शरीर के उत्पादक अदृष्टादि कारण समुदाय से अरिष्ट हाथ की रेखायें उत्पन्न होती हैं जो कि भावी मरण, राज्यप्राप्ति आदि की अनुमापक होती हैं।

जैसे पूर्वोत्तर चारी हेतु तादात्म्य और तदुत्पत्ति के विना भी अनुमापक होते है उसी प्रकार सहचारा हेतु भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति के अनुमापक होते हैं जो परस्पर की अपेक्षा के विना रहते हैं उनमें तादात्म्य नहीं हो सकता है और एककालिक होने से उनमें तदुत्पत्ति भी नहीं रहती जैसे गाय के दोनों सींगों में न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति। रस से रूप का अनुमान जो होता है वहां सहचारी हेतु ही है। जहां बौद्ध सम्मत यह प्रक्रिया नहीं देखी जाती कि रस से उसकी सामग्री का अनुमान और फिर उससे रूप का अनुमान होता है। यहां रस से रससमान-कालीन रूप का अनुमान होता है। अत: यहां सहचार मात्र है तदुत्पत्ति नहीं है। और सामग्री के रूप का अनुमान मानकर कारण से कार्य का अनुमान मानना होगा, जो बौद्ध को अभीष्ट नहीं है।

आचार्य अनन्तवीर्य ने भी आचार्य माणिक्यनन्दी[2] का अक्षरश: समर्थन किया है। उनका भी यही विचार है कि फलादिक में एक साथ उत्पन्न होने वाले रूप और रस से भी कार्य कारणभाव नहीं माना जा सकता। यदि एक साथ उत्पन्न होने वाले रूप और उसमें कार्यकारणभाव माना जाय तो फिर कार्यकारण के प्रति नियम रूप व्यवस्था की ही भग प्रसङ्ग हो जायेगा। यह कार्य है और यह कार्य कारण है यह

---

१. परीक्ष मुख सूत्र ३।६४

२. प्रमेयरत्नमाला पृ० १८७ ३।६१

व्यवस्था ही नहीं बनेगी इसलिए सहचर हेतु को भिन्न मानना होगा एवं मानना चाहिए।

अकलङ्क[1] कृत हेतुभेद के उदाहरण :—

१. **स्वभावोपलब्धि—** आत्मा है, उपलब्ध होने से
२. **स्वभावकार्योपलब्धि—** आत्मा थी, स्मरण होने से
३. **स्वभावकारणोपलब्धि—** आत्मा होगी, सत् होने से
४. **सहचरोपलब्धि—** आत्मा है, स्पर्श विशेष "शरीर में" होने से
५. **सहचरकार्योपलब्धि—** कार्य व्यापार हो रहा है, वचन प्रवृत्ति होने से।
६. **सहचरकारणोपलब्धि—** आत्मा सप्रदेशी है सावयवशरीर प्रयास होने से।

आचार्य अकलङ्क[2] ने असद् व्यवहार साधन के लिए छः अनुपलब्धियां बतलाई हैं।

१. **स्वभावानुपलब्धि—**
क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होने से।

२. **कार्यानुपलब्धि—**
क्षणक्षयैकान्त नहीं है, क्योंकि उसका कार्य नहीं पाया जाता।

३. **कारणानुपलब्धि**
क्षण क्षयैकान्त नहीं है क्योंकि उसका कारण प्राप्त नहीं है।

४. **स्वभाव-सहचरानुपलब्धि**
आत्मा नहीं है क्योंकि रूप विशेष प्राप्त नहीं होता है।

५. **सहचर-कार्यानुपलब्धि**
आत्मा नहीं है, व्यापार, आकार विशेष तथा वचन विशेष की अनुपलब्धि होने से।

सद्व्यवहार के निषेध के लिए तीन उपलब्धियां बताई हैं।

१. स्वभाव-विरुद्धोपलब्धि— पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होने से।
२. कार्य-विरुद्धोपलब्धि— लक्षण विज्ञान, प्रमाण नहीं है विसंवादी होने से।
३. कारणविरुद्धोपलब्धि— इस व्यक्ति को परीक्षा का फल प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि इसने अभावैकान्त का ग्रहण किया है।

---

१. प्रस्तावना—अकलङ्क ग्रन्थत्रयम्—पं० महेन्द्रकुमार जैन, पृ० ६०-६१
२. प्रमाण वि० अनु० प्र०।

इस प्रकार से सद्भाव साधक छः उपलब्धियां तथा अभाव साधक छः उपलब्धियों को कहकर अन्य भेद प्रभेदों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है—जिनका विस्तार आचार्य माणिक्य नन्दी[1], विद्यानन्द[2], तथा वादिदेवसूरि[3] ने किया है।

माणिक्यनन्दीकृत हेतु भेद

आचार्य माणिक्य नन्दी ने हेतुओं के प्रयोग को निम्न प्रकार से दर्शाया है।

व्याप्य हेतु[4]

शब्द परिणामी है "**प्रतिज्ञा**" क्योंकि वह कृतक है। जो कृतक होता है वह परिणामी देखा जाता है, जैसे घट "**अन्वय दृष्टान्त**" यह शब्द कृतक है "**उपनय**" इसलिए परिणामी है '**निगमन**" जो परिणामी नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता हैं। जैसा वन्ध्या पुत्र "**व्यतिरेक दृष्टान्त**" यह शब्द कृतक है। "**उपनय**" अतः वह परिणामी है निगमन।

कृतकत्व का परिणामित्व के साथ व्याप्य व्यापक भाव सम्वन्ध है। कृतकत्व केवल पुद्गल द्रव्य में रहने से व्याप्त है तथा परिणामित्व आकाशादि सभी द्रव्यों में प्राप्त होने से व्यापक है। कृतकत्व जहां-जहां रहता है वहां परिणामित्व रहता है। जो पदार्थ पूर्व आकार को त्याग कर नूतनाकार को ग्रहण करते हैं उन्हें परिणामी कहा जाता है। जैन सिद्धान्तानुसार जहां कृतकत्व होता है वहां परिणामित्व भी होता है। शब्द में कृतकत्व होने से उसमें भी परिणामित्व होना चाहिए। इस प्रकार यह व्याप्य हेतु का उदाहरण है।

कार्यहेतु[5]

इस देही "**प्राणी**" में बुद्धि है। क्योंकि वुद्धि के कार्य वचनादि पाये जाते हैं।

कारण हेतु[6]

यहां छाया है क्योंकि छाया का अविरोधी कारण छत्र विद्यमान है।

पूर्वचर[7]

एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिकानक्षत्र का उदय हो रहा है।

---

१. परीक्षा मुख सूत्र ३।६५ से ९३
२. वही
३. प्र० न० तत्त्व०।
४. परीक्षा मुख सूत्र ३।६१ पृ० १८७
५. वही पृ० १८८
६. वही पृ० १८८
७. वही पृ० १८९

प्रतिदिन क्रम से एक-एक मुहूर्त के पश्चात् अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रों का उदय होता है। जब जिसका उदय विवक्षित हो तब उसके पूर्व उदित होने वाले नक्षत्र को पूर्वचर और पश्चात् उदित होने वाले नक्षत्र को उत्तर चर कहा जाता है। उपर्युक्त उदाहरण पूर्वचर हेतु का है। रोहिणी के उदय को उसके पूर्वभावी कृत्तिका के उदय से सिद्ध किया जाता है।

उत्तरचर[1]—

भरणी का उदय एक मुहूर्त पूर्व हो चुका है, क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है।

भरणी से कृत्तिका नक्षत्र उत्तर चर है अतः यह उत्तरचर हेतु का उदाहरण है।

सहचर[2]

इस आम्र में रूप है क्योंकि इसमें रस है। रुप और रस सहचर होने से यह सहचर हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धोपलब्धि[3]

१. साध्य-विरुद्ध व्याप्योपलब्धि—यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता विद्यमान है। इस अनुमान में शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि की व्याप्य उष्णता की प्रतीति होने से शीत स्पर्श का निषेध सिद्ध होता है।

विरुद्धकार्योपलब्धि[4]

यहां पर शीत स्पर्श नहीं क्योंकि धूम है।

शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि के कार्य धूम की उपलब्धि से शीत स्पर्श का अभाव सिद्ध होता है।

विरुद्ध कारणोपलब्धि[5]

इस प्राणी में सुख नहीं है क्योंकि हृदय शल्य विद्यमान है। सुख विरोधी दुख के कारण हृदय शल्य की उपलब्धि होने से सुखाभाव की सिद्धि होती है।

---

१. परीक्षा मुख सूत्र ३।६५ प्रमे० माला पृ० १८६
२. वही ३।६६ वही पृ० १९०
३. वही ३।६८ वही पृ० १९०
४. वही ३।६९ वही पृ० १९१।
५. वही ३।७४ पृ० ३८५

विरुद्ध पूर्वचर[1]

एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होता क्योंकि रेवती का उदय हो रहा है।

रोहिणी के उदय का विरोधी है अश्विनी का उदय। उसका पूर्वचर रेवती नक्षत्र है। उसका उदय होने से रोहिणी के उदय का निषेध सिद्ध होता है।

विरुद्धोत्तर चर[2]

एक मुहूर्त पहिले भरणी का उदय नहीं हुआ है, क्योंकि अभी पुष्यनक्षत्र का उदय हो रहा है। यहां पर भरणी के उदय का विरोधी पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है, उसका उत्तर चर पुष्यनक्षत्र का उदय पाये जाने से यह विरुद्धोत्तर-चरोपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

विरुद्ध सहचर[3]

इस दिवाल के दूसरी ओर के भाग का अभाव नहीं है, क्योंकि इसका सामने का भाग दिखलाई पड़ रहा है।

इस अनुमान में दिवाल के पर भाग के अभाव का विरोधी उसका सद्भाव है उसका सहचारी सामने का भाग उपलब्ध है।

अविरुद्धानुपलब्धि के जो सात भेद आचार्य माणिक्यनन्दी ने स्वीकार किये हैं क्रमशः उनका उदाहरण इस प्रकार है।

स्वभावानुपलब्धि[4]

इस भूतल पर घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि योग्य होते हुए भी अप्राप्त है।

पिशाच परमाणु आदि में व्यभिचार का निवारण करने के लिए उपलब्धि लक्षण प्राप्त यह विशेषण हेतु में जोड़ना अनिवार्य है।

अविरुद्ध-व्यापकानुपलब्धि[5]

यहां पर सीसम नहीं है क्योंकि वृक्ष की उपलब्धि नहीं है।

इस अनुमान में शिशपात्व वृक्षत्व व्याप्य हैं, जब यहां वृक्षत्व का अभाव है तब उसके व्याप्य शिशपात्व का भी अभाव होना ही चाहिए। इस तरह यह हेतु शिशपात्वाभाव का साधक होता है।

---

१. परीक्षा मुख सूत्र ३।७५ ,,
२. वही ३।७६ ,,
३. वही ३।७७ ,,
४. वही ३।७८ पृ० १९३।
५. वही ३।७९ पृ० १९४

कार्यानुपलब्धि[1]

यहां पर अप्रतिवद्धसामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम की उपलब्धि नहीं है।

जिसका सामर्थ्य अप्रतिवद्ध है वह कारण अपने कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति वाला होता है। यहां पर अप्रतिहत सामर्थ्यशाली अग्नि का अभाव उसके कार्य धूम के उपलब्ध न होने से सिद्ध होता है।

कारणानुपलब्धि[2]

यहां पर धूम नहीं है, क्योंकि धूम का अविरुद्ध कारण अग्नि का अभाव है। यहां अग्नि की अनुपलब्धि से धूम का अभाव सिद्ध होता है।

पूर्वचरानुपलब्धि

एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं हुआ है।

यहां पर रोहिणी के उदय का अविरोधी जो कृतिका का उदय है उसके उपलब्ध न होने से एक मुहूर्त के बाद रोहिणी के उदय के अभाव का अनुमान होता है।

उत्तरचरानुपलब्धि[3]

एभ मुहूर्त से पहिले भरणी का उदय नहीं हुआ है, क्योंकि अभी उसके उदय के अविरोधी उत्तरचर कृत्तिका का उदय नहीं हुआ है।

यहां पर कृत्तिका के उदय का अभाव उसके पूर्ववर्ती भरणी के उदय के अभाव को सिद्ध करता है। फलत: यह अविरुद्धोत्तर चरानुपलब्धि का उदाहरण है।

सहचरानुपलब्धि[4]

इस समतुला तराजू में एक ओर ऊंचापन नहीं है, क्योंकि ऊंचापन का अविरोधी सहचर नीचापन उपलब्ध नहीं होता है।

आचार्य माणिक्य नन्दी ने विधि साधक विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद बतलाये हैं जिनके क्रमश: उदाहरण इस प्रकार हैं।

---

१. परीक्षा मुख सूत्र ३।७७ पृ० १६४
२. वही ३।७८ पृ० १६४।
३. वही ३।८० प्र० र० मा० पृ० १६५
४. वही ३।८१ ,,

विरुद्धकार्यानुपलब्धि[1]

इस प्राणी में व्याधिविशेष है, निरामय चेष्टा उपलब्ध नहीं है।

व्याधिविशेष के अस्तित्व का विरोधी उसका अभाव है। व्याधि के अभाव का कार्य हैं निरागम चेष्टा। वह इस पुरुष में न होने से व्याधि विशेष की सत्ता सिद्ध होती है।

विरुद्धकारणानुपलब्धि[2]

इस अनुमान में दुःख विरोधी सुख के कारण इष्ट वस्तु के संयोग की उपलब्धि न होने से दुःख का अस्तित्व प्राणी में सिद्ध होता है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि[3]

वस्तु अनेकान्तात्मक है क्योंकि वस्तु का एकान्त स्वरूप उपलब्ध नहीं है।

अनेकान्तात्मक साध्य का विरोधी नित्यत्व आदि एकान्त हैं न कि एकान्त-पदार्थ को विषय करने वाला विज्ञान, क्योंकि मिथ्याज्ञान के रूप से उसकी उपलब्धि सम्भव है। नित्यादि स्वरूप अवास्तविक है। अत: उसकी अनुपलब्धि है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[4] ने परम्परा से होने वाले कार्यादि हेतुओं का पूर्व प्रतिपादित कार्यादि हेतुओं में अन्तर्भाव माना है। तथा उपलक्षण के लिए सोदाहरण प्रदर्शित किया है।

जैसे—इस चक्र पर शिवक हो गया है क्योंकि स्थास पाया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जब कुम्हार घड़े को बनाता है, तब घड़ा बनने से पहले शिवक, छत्रक, स्थास कोश, कुशूल आदि अनेक पर्याय पैदा होते हैं। अन्त में अन्सावयवी घड़ा बनता है। उनमें से सबसे पहले कुम्हार मिट्टी के पिण्ड को चाक पर रखता है, उस पिण्डाकार पर्याय का नाम शिवक है, उसके पश्चाद्वर्ती पर्याय का नाम छत्रक है और उसके पश्चात् होने वाली आकृति का नाम स्थास है। इस प्रकार शिवक का कार्य छत्रक है, और उसका कार्य स्थास है, अतः यह स्थास शिवक का परम्परया कार्य है साक्षात् नहीं। इसलिए इसका अन्तर्भाव भी अविरुद्ध कार्योपलब्धि रूप हेतु में होता है।

---

१. परीक्षा मूल सूत्र ३।८३ ,,
२. वही ३।८४ पृ० १९६
३. वही ३।८५ पृ० १९७
४. वही ३।८६-८७ पृ० १९८

आचार्य माणिक्य नन्दी का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—पर्वत की गुहा में मृग की क्रीड़ा नहीं है, क्योंकि मृग के शत्रु सिंह का गर्जन सुनाई दे रहा है। यह कारण विरुद्ध कार्य रूप हेतु है इसलिए इसका विरुद्ध कार्योपलब्धि में अन्तर्भाव होता है।

साध्यस्वरूप[1]

जैन न्याय परम्परा में आचार्य सिद्धसेन[2] दिवाकर ने साध्य का लक्षण प्रदर्शित करते हुए कहा है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न होने वाला साध्य "जैसे अग्नि पर्वत में प्रत्यक्ष बाधित नहीं है। आचार्य अकलङ्क[3] ने अभिप्रेत और अप्रसिद्ध ये दो और विशेषण दिये हैं।" जिनके अनुसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अनिराकृत जो वादी को अभिप्रेत हो तथा जो अनिश्चित "**अप्रसिद्ध**" हो वह साध्य है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[4] ने भी अकलङ्क के समान ही तीन विशेषण इष्ट अबाधित तथा असिद्ध लगाकर साध्य का लक्षण कहा है जो इष्ट अबाधित तथा असिद्ध हो वह साध्य है।

इस साध्य के लक्षण में वादी यह दूषण उपस्थित करते हैं कि यदि इष्ट को साध्य कहा जाय तो शयन, आसन, भोजन आदि को भी साध्य कहना होगा क्योंकि वह प्राणिमात्र का इष्ट है। इस विषय में आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उनके टीकाकार लघु अनन्तवीर्य लिखते हैं कि यहां साधन का प्रकरण होने से साधन के विषय के रूप में इच्छित वस्तु को ही इष्ट कहा गया है।

अपने लक्षणोक्त पदों की सार्थकता को व्यक्त करते हुए आचार्य[5] ने कहा है कि सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के संग्रह के लिए लक्षण में असिद्ध पद का उपयोग किया है। तात्पर्य यह है कि **स्थाणुर्वा पुरुषो वा** इस प्रकार के सन्देह का विषय होने वाला पदार्थ सन्दिग्ध होता है। सन्देह होने पर वह साध्य होता है उसी प्रकार शुक्ति में रजत का ज्ञान विपर्यास है। इसलिए विपर्यस्त वस्तु भी यथार्थ ज्ञान

---

१. जैनों ने जिस साध्य की चर्चा यहां की है इसी को ब्राह्मण न्याय में प्रतिज्ञा के अन्तर्गत साध्य के रूप में रखा गया है।
२. साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः। न्या० व० का० १४ पृ० २
३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्। न्या० वि० का० १०२ पृ० ५३
४. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्—प० सू० ३।२० प्र० क० मा० पृ० २३९
५. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्—प० सूत्र० ३।२१ प्र० क० मा० पृ० ३६६

की अभिलाषा से साध्य हो सकती है। तथा नाम जाति संख्या आदि के विशेष परि-ज्ञान के अभाव में अनिर्णीत विषय भी असिद्ध होने से साध्य के रूप में संगृहीत होते हैं।

अनिष्ट और बाधित के साध्यत्व का निषेध करने के लिए आचार्य[1] ने इष्ट और अबाधित विशेषणों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए जैनों के यहां शब्द की नित्यता सर्वथा अनिष्ट है। इसलिए उसे साध्य नहीं मान सकते हैं। उसी प्रकार शब्द का अश्रावणत्व प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है इसलिए वह भी साध्य नहीं हो सकता है। आचार्य प्रभाचन्द्र[2] का विचार है कि प्रत्यक्षादि यहां आदि पद से अनुमान आगम और लोकबाधित का संग्रह करना चाहिए। फलस्वरूप "शब्द नित्य है" यह अनुमान बाधित होने से तथा "मृत के लिए धर्म सुखप्रद नहीं है" एवं "नरशिर का कपाल शुचि है। ये दोनों साध्य क्रमशः आगम तथा लोक वाधित होने से साध्य कोटि में नहीं आ सकते।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि ये जो दो विशेषण असिद्ध और इष्ट दिये हैं ये वादी और प्रतिवादी में से किसी की अपेक्षा से दिये हैं क्योंकि कोई बात प्रतिवादी की इष्ट हो सकती है जब कि वादी के लिए अनिष्ट, उसी प्रकार कोई बात वादी को इष्ट तथा प्रतिवादी को अनिष्ट, ऐसी अवस्था में इसका स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है कि ये दो विशेषण किसको लक्ष्य में रखकर प्रयुक्त किये गये हैं "इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य माणिक्य नन्दी[1] कहते हैं कि असिद्ध यह विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा स प्रयुक्त है। प्रतिवादी को जो असिद्ध है उसी को वादी हेतु के द्वारा सिद्ध करता है। इष्ट यह विशेषण वादी के लिए है, क्योंकि वादी के लिए जो इष्ट है वह साध्य है। प्रतिवादी का इष्ट वादी के अनुमान का साध्य नहीं हो सकता है। वही वादी का इष्ट या अभिप्रेत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित होना चाहिए। इच्छा का विषय जो होता है वही इष्ट कहलाता है। स्वाभिप्रेत का प्रतिपादन करने की ही वक्ता की इच्छा होती है। अतः स्वाभीष्ट ही साध्य होना चाहिए।

साध्य शब्द का प्रयोग आचार्य वात्स्यायन के समान ही आचार्य माणिक्य-नन्दी ने भी पक्ष एवं साध्य दो अर्थों मे किया है। साध्य कभी धर्म होता है, कभी साध्य विशिष्ट धर्मी।

आचार्य के अभिप्राय को प्रभाचन्द्र[2] ने स्पष्ट किया है। व्याप्ति ग्रहण काल में धर्म साध्य होता है उसी की हेतु में व्याप्ति गृहीत होती है। प्रयोग समय में

---

२. परीक्षामुख सूत्र ३।२२ प्र० क० भा० पृ० ३७०

१. वही ३।२३-२६ प्र० क० मा० पृ० ३७०-३७१

२. प्र० क० मा० प० ३७०

साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी होता है। साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी ही साध्य के रूप में अभीष्ट होने से उसमें भी साध्य शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार गौतमानुयायी तथा जैन तार्किक दोनों ही साध्य शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में स्वीकार करते हैं। इसी साध्यधर्म विशिष्टधर्मी का पक्ष शब्द से भी व्यवहार किया जाता है।

साध्य पक्ष भेद

साध्यधर्म विशिष्ट धर्मी रूप साध्य अर्थात् पक्ष कहीं विकल्प "**शब्द प्रत्यय**" के द्वारा कहीं प्रत्यक्ष के द्वारा कहीं दोनों के द्वारा प्रसिद्ध होता है। विकल्प सिद्ध[1] सर्वज्ञ है क्योंकि सुनिश्चित असम्भावना के वाधक प्रमाण हैं।
१ – खर विषाण "**खरहे के शृङ्ग**" नहीं क्योंकि उनका अभाव है।

इन दोनों अनुमानों में पक्ष सर्वज्ञ और खरहे के शृङ्ग विकल्प, अर्थात् शब्द प्रयोग द्वारा सत्ता और असत्ता दोनों की सिद्धि की गई है। इन्द्रियों के व्यापार न रहने से प्रत्यक्ष सिद्धता उनमें नहीं है।

प्रत्यक्ष सिद्ध[2]—

पर्वतोऽग्निमान्धूमात् यहां साध्यविशिष्टधर्मी पर्वत प्रत्यक्ष सिद्ध है।

उभयसिद्ध

शब्द परिणामी है। इस अनुमान में पक्ष शब्द प्रत्यक्ष तथा विकल्प दोनों के द्वारा सिद्ध होने से यह उभयसिद्ध है। देश कालान्तरित ध्वनि में प्रत्यक्ष की उपयोगिता नहीं है। वह विकल्प के द्वारा ही सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष सिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी साध्य धर्म से विशिष्टता अर्थात् संयुक्तता ही साध्य होती है। शब्द परिणामी हैं। यहां पर नियत दिग्देशवर्ती वर्तमान काल वाले शब्द की परिणाम-शीलता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है किन्तु अनियत दिग्देश में उत्पन्न होने वाले तथा भूत भविष्यकाल में उत्पन्न होने वाले शब्दों की परिणमनशीलता विकल्प **शब्दव्यवहार** से ही सिद्ध होती है।
अतः शब्द को उभयसिद्ध धर्मी ही मानना चाहिए।

आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार व्याप्ति काल में कहीं पर धर्म भी साध्य कहलाता है। धर्मी नहीं, यदि व्याप्ति के समय धर्म को साध्य न मानकर धर्मी को

१. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्त्वेतरे साध्ये—प० मु० सू० ३।२४ न्या० र० पृ० १५५

२. प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता।
अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा—प० मु० सू० ३।२६-२७ न्या० र० पृ० १५६।

साध्य माना जायेगा तो व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं होगा। जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्निमान् पर्वत होगा यह व्याप्ति नहीं है। इसलिये जहां-जहां धूम होता है वहां अग्नि होती हैं। यही व्याप्ति बन सकती है। अत: व्याप्ति काल में धर्म को ही साध्य मानना उचित है।

बौद्ध तार्किकों का कथन है कि अनुमान में पक्ष का प्रयोग सम्भव नहीं है अत: प्रसिद्धोधर्मी यह कथन अनुचित है, पक्ष का ज्ञान हेतु सामर्थ्य से प्राप्त होता है पुन: पक्ष का उच्चारण पुनरुक्ति दोष का कारण बनता हैं। इसका समाधान आचार्य प्रभाचन्द्र[1] ने इस प्रकार उपस्थित किया है। साध्य धर्म के आधार में उत्पन्न सन्देह को दूर करने के लिए गम्यमान पक्ष का भी प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी को सन्देह हो कि साध्य का आश्रय पर्वत है या महानस उस अवस्था में सन्देह का निवारण करने के लिए गम्यमान पक्ष का भी प्रयोग किया जाता है। इसलिए पुनरुक्ति सकारण होने से दोषावह नहीं है। इसलिए साध्य व्याप्त हेतु के दर्शन के पश्चात् उसके आधार का ज्ञान हो जाने पर भी पुनः निश्चित पक्ष के साथ हेतु के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए पक्ष में हेतु के उपसंहार रूप उपनय का प्रयोग परार्थानुमान की प्रक्रिया में किया जाता है।

इस प्रकार जैन तार्किकों के पक्ष सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयायिकों से पूर्ण प्रभावित परिलक्षित होते हैं। वात्स्यायन, वाचस्पति, उद्योतकर तथा आचार्य प्रशस्तपाद के पक्ष के लक्षण और उदाहरणों को जैन तार्किकों ने आत्मसात् कर लिया है।

अनुमानप्रयोग काल में पक्ष का प्रयोग अनावश्यक मानने वाले बौद्धों का खण्डन करते हुए आचार्य लघु अनन्तवीर्य[2] कहते हैं कि पक्ष के प्रयोग के बिना साध्य के आश्रय के विषय में सन्देह हो सकता है। इसका निराकरण करने के लिए पक्ष प्रयोग की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि बौद्ध विचारक हेतु प्रयोग के पश्चात् उसके सपक्ष सत्त्वादि लक्षणों से उसका समर्थन करते हैं, समर्थन करने से ही हेतु स्वत: सिद्ध है उसका भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। जिस हेतु को प्रयोग के बिना उसका समर्थन नहीं हो सकता उसके प्रकार पक्ष के प्रयोग के बिना हेतु का अस्तित्व नहीं समझाया जा सकता है। इसलिए अनुमान की प्रक्रिया में हेतु के समान ही पक्ष का प्रयोग भी आवश्यक है।

आचार्य माणिक्यनन्दी के समान देवसूरि[3] हेमचन्द्र[4] आदि ने भी धर्मी "पक्ष"

---

१. प्र० क० मा० ३।२५ पृ० २७१।
२. प्र० र० मा० पृ० १६१
३. प्र० न० तत्त्व० अनु० प्र०
४. प्रमा० मी० अनु० प्र०

प्रसिद्धता को अनुमार प्रक्रिया का आवश्यक अङ्ग माना है। न्याय प्रवेशकार[1] ने माणिक्यनन्दी के समान पक्ष से विकल्प सिद्ध तथा प्रमाण विकल्पोभय सिद्ध नहीं माना है, उसे उन्होंने प्रत्यक्षादि प्रमाणों के सिद्ध होने वाला कहा है।

अनुमान के भेद

जैन परम्परा में अनुयोगद्वार[2] सूत्र में अनुमान के तीन भेद किये गये हैं :—

१. **पूर्ववत्** २. **शेषवत्** ३. **दृष्टसाधर्म्यवत्**

प्रथम दो भेद प्राचीन न्याय[3], साङ्ख्य[4], चरक[5] आदि द्वारा जो स्वीकार किये गये हैं वे ही हैं। तृतीय उनसे भिन्न है। प्राचीन न्याय एवं साङ्ख्य में तृतीय को सामान्यतोदृष्ट कहा है जबकि अनुयोगद्वार सूत्र उसे दृष्ट साधर्म्यवत् कहता है।

परन्तु जैन तार्किकों ने अनुयोग सूत्र द्वारा स्वीकृत उक्त तीन अनुमान भेदों को प्रश्रय न देकर आचार्य प्रशस्तपाद एवं आचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित स्वार्थ और परार्थरूप भेदों को भी अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। आचार्य सिद्धसेन[6] आदि जैन तार्किकों ने उक्त तीन भेदों की स्थापना की है।

पूर्ववत् की व्याख्या अनुयोग सूत्र में इस प्रकार की गई है। पूर्व परिचित किसी लिङ्ग के द्वारा पूर्व परिचित वस्तु का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। यह परिभाषा आचार्य वात्स्यायन माठर आदि की पूर्ववत् की व्याख्या से भिन्न है। माठर ने कार्य से कारण के अनुमान को पूर्ववत् कहा है। अनुयोगद्वार के मत से कारण से कार्य का अनुमान शेषवत् अनुमान का एक प्रकार है। उसी प्रकार धूम से वह्नि का ज्ञान भी शेषवत् अनुमान का पांचवाँ प्रकार है।

अनुयोगद्वार[7] सूत्र में शेषवत् अनुमान के पांच प्रकार बतलाये गये हैं, १—कार्येण, २—कारणेन, ३—गुणेन, ४—अवयवेन, ५—आश्रयेण।

१. **कार्येण**—कार्य से कारण का अनुमान। जैसे शब्द से शङ्ख का।

---

१. न्या० प्र० पक्षा० पृ० २।
२. प्रस्तावना—न्यायावतार वार्तिकवृत्ति-सं० दलसुख भा०-भा० वि० भवन सं० २००५ पृ० ७१
३. तस्त्रिविधं पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च न्या० सू० १-१-५
४. त्रिविध अनुमानमाख्यातम्-सां० का० ५
५. चरकसंहिता अध्याय ११ श्लो० २१-२२
६. न्या० वृ० सा० १०-१३
७. प्रस्तावना—न्या० व० वा० वृ० सं० दलसुख भा० भा० वि० भ० संवत् २००५

२. **कारणेन**—कारण से कार्य का अनुमान। तन्तु से पट का।

३ **गुणेन**—गुण से गुणी का अनुमान। जैसे निकष से सुवर्ण का।

४. **अवयवेन**—अवयव से अवयवी का अनुमान। जैसे सींग से महिष का।

५. **आश्रयेण**—आश्रित वस्तु से अनुमान। जैसे धूम से अग्नि का।

न्याय भाष्य[1] में मतान्तर से परिशेषानुमान को ही शेषवत् कहा है। जब कि अनुयोग में इसको सर्वथा भिन्न रूप में ही रखा गया है।

अनुयोगद्वार[2] में दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के दो भेद किये गये हैं—१. सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट।

१. सामान्यदृष्ट—

किसी एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओं का साधर्म्य ज्ञान करना या अनेक वस्तुओं को देखकर किसी विशेष में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। उदाहरण जैसा एक पुरुष है वैसे ही अनेक पुरुष हैं या अनेक पुरुष जैसे हैं वैसा ही एक पुरुष है। जैसा एक कार्षापण है अनेक कार्षापण भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक कार्षापण हैं एक भी वैसा ही है।

२. विशेषदृष्टसाधर्म्यवत्

जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके वस्तु का परिज्ञान करना ही विशेषदृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान कहलाता है। उदाहरण—जैसे अनेक पुरुष हैं वैसे ही एक पुरुष है जैसे अनेककार्षापण हैं वैसे ही एक कार्षापण है। मनुष्य समुदाय में से कोई व्यक्ति विलक्षण आकृति आदि के कारण अपने मित्र को अन्य व्यक्तियों में से पहचान लेता है। यही विशेष दृष्ट अनुमान का स्वरूप है।

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण भी आर्यरक्षित ने किया है। इसका आधार काल का भेद है। काल भेद से अनुमान तीन प्रकार का होता है। १. अतीतकाल ग्रहण २. प्रत्युत्पन्न-काल-ग्रहण और अनागत काल ग्रहण।

१. अतीतकाल ग्रहण

उत्तृणवन, निष्पन्नसस्या पृथ्वी, जलपूर्णकुण्ड-सर-नदी दीर्घिका तड़ाग-इत्यादि देखकर सिद्ध किया जाय कि सुवृष्टि हुई है तो वह अतीत काल ग्रहण अनुमान है।

---

१. वात्स्यायन भाष्य पृ० १-१-५

२. प्रस्तावना न्या० व० वा० वृ० सं दलसुख भा० वि० भ० सं० २००५ पृ० ७२

२. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण

भिक्षाचर्या में प्रचुर भिक्षा मिलती देखकर सिद्ध किया जाय कि सुभिक्ष है तो वह प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण अनुमान कहलाता है।

३. अनागतकाल ग्रहण

बादल की निर्मलता, कृष्णपहाड़, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन वातोद्गम, रक्त और प्रस्निग्ध संध्या, वारुण या महेन्द्र सम्बन्धी या और कोई उत्पात देखकर सिद्ध किया जाय कि सुवृष्टि होगी यह अनागत काल ग्रहण अनुमान कहलाता है। कालभेद से अनुमान का वर्णन चरक ने भी किया है।

वादिराज[1] ने गौण और मुख्य के भेद से अनुमान के द्वैविध्य का निरूपण किया है। वादिराज कहते हैं कि अनुमान दो प्रकार का है गौण और मुख्य भेद से। गौण अनुमान के तीन भेद हैं स्मरण, प्रत्यभिज्ञा और तर्क। गौण अनुमान उत्तरवर्ती मुख्य अनुमान का कारण होने से अनुमान कहा गया है। किन्तु वादिराज के इस प्रकार के वर्गीकरण को उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने मान्यता नहीं दी। उत्तरकालीन जैन तार्किकों ने अनुमान के स्वार्थपरक भेदों पर ही विशेष बल दिया है।

आचार्य सिद्धसेन[2] ने तो अनुमान के ही नहीं, प्रत्यक्ष के भी दो भेद स्वार्थ और परार्थ प्रतिपादित किये हैं। उनके अनुसार स्वनिश्चय के समान दूसरों को निश्चय कराने वाले अनुमान को विद्वानों ने परार्थानुमान कहा है। परार्थानुमान वाक्य रूप है जो उपचारत: अनुमान कहा जाता है। साध्याबिनाभावी हेतु का प्रतिपादक जो वाक्य हैं उन्हें परार्थानुमान कहा जाता है जो पक्षादि वचन रूप हैं। न्यायावतारवार्तिक वृत्तिकार शान्तिसूरि[3] ने अनुमान परिच्छेद में अनुमान के द्वैविध्य का निषेध किया है। शान्तिसूरि कहते हैं। स्वार्थ परार्थ भेदेन द्वैविध्यं प्रतिपन्नं तन्निरासार्थमाह तदेकधा इति। आचार्य शान्तिसूरि ने अनुमान के द्वैविध्य का किस आधार पर निषेध किया यह विचारणीय है। जबकि दिवाकर स्पष्ट रूप से परार्थानुमान एवं स्वार्था-

---

१. प्रस्तावना—न्या० व० वा० वृ० सं० दलसुख भा० वि० भ० सं० २००५ पृ० ७५

२. प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्यं तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ।। न्या० व० का० ११ पृ० २

३. लिङ्गाल्लिङ्गिनि यज्ज्ञानमनुभावं तदेकधा।
प्रत्येति हि यथावादी प्रतिवाद्यपि तत् तथा ।। न्या० व० वा० वृत्ति ३।४१ पृ० १०१

नुमान का प्रतिपादन करते हैं। प्रतीत होता है कि शान्तिसूरि आचार्य जयन्त भट्ट से प्रभावित है। आचार्य जयन्त[1] ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वास्तविक रूप से परार्थानुमान नामक कोई वस्तु नहीं है। दो प्रकार के बोध हैं एक स्वयं गृहीत व्याप्तिक तथा दूसरा इसके विपरीत। स्वतः गृहीत व्याप्ति वाले को उपदेश की आवश्यकता नहीं जिसने स्वतः व्याप्ति का ग्रहण नहीं किया है उसको व्याप्ति का निश्चय कराया जाता है, वह व्याप्ति प्रतिपादक वाक्य ही परार्थानुमान कहा जाता है। अतः दूसरा व्याप्ति को दूसरे द्वारा निश्चय करवाकर स्वयं अनुमान करता है। इसलिए सभी अनुमान स्वार्थ ही है, परार्थानुमान कोई नहीं है। आचार्य शान्तिसूरि का यही विचार परिलक्षित होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[2] ने अनुमान के दो भेद स्वार्थ और परार्थ स्वीकार किये हैं—परार्थानुमान की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि स्वार्थानुमान के दो विषय व्याप्ति विशिष्ट हेतु का प्रतिपादन करने वाले वचनों से उत्पन्न ज्ञान परार्थानुमान है।

यहां आचार्य माणिक्यनन्दी ने आचार्य धर्मकीर्ति[3] के इस कथन को अक्षरशः स्वीकार किया है कि वचन साक्षात् प्रमिति के कारण हो सकते हैं, उनके मुख्य रूप से प्रमाण का अभाव है, ज्ञान रूप मुख्य अनुमान के हेतु होने से उनको गौण अनुमान की संज्ञा दी गई है। तात्पर्य यह है कि परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचन को भी परार्थानुमान कहते हैं। यह बात आचार्य धर्मकीर्ति[4] ने भी कही है।

आचार्य देवसूरि[5] ने भी अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद किये हैं—उनके अनुसार हेतु का ज्ञान तथा "व्याप्ति" सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान है तथा पक्ष और हेतु का कथन करने वाला वचन उपचार से परार्थानुमान हैं। परार्थानुमान का स्वरूप व्यक्त करते हुए आचार्य धर्मभूषण कहते हैं कि

---

१. न्याय मञ्जरी—अवयव प्रकरण पृ० १३० चौ० प्रकाशन १९६९।

२. अनुमानं द्वेधा स्वार्थ-परार्थ भेदात्, स्वार्थमुक्त लक्षणं परार्थन्तु तदर्थ परामर्शिवचनाज्जातम्—प० ३ सू० ३।४९-५०-५१ न्या० र० मा० १७४

३. न्या० वि० ३ परि०।

४. कारणे कार्योपचारात्—न्या० वि० चौ० १९५४ पृ० ५६

५. अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थं परार्थं चेति, तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानमुपदर्शितमिति। प्रमाण नय० तत्त्व० ३।९श्र१०।

प्रतिज्ञा और हेतु रूप परोपदेश की अपेक्षा से श्रोता को जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है।

आचार्य हेमचन्द्र[1] ने स्वयं निश्चित साध्याविनाभाव वाले साधन से उत्पन्न होने वाले साध्य ज्ञान को स्वार्थानुमान कहा है जो परार्थानुमान में अतिव्याप्त नहीं है। यहां उनके लक्षण का स्व निश्चित पद उनपर आचार्य सिद्धसेन के प्रभाव को स्पष्ट करता है।

हेमचन्द्र ने परार्थानुमान के भी दो भेद किये हैं, तथोपपत्ति मूलक अनुमान और अन्यथा-उपपत्ति मूलक अनुमान। यह वर्गीकरण उन्होंने आचार्य धर्मकीर्ति से लिया प्रतीत होता है। क्योंकि अन्य किसी जैन तार्किक ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया है। आचार्य माणिक्यनन्दी[2] और उनके व्याख्याकार प्रभाचन्द्र[3] अनन्तवीर्य आदि ने परार्थानुमान को दो प्रकार का न मानकर हेतु प्रयोग को ही दो प्रकार का माना है। उसका कारण यह है कि हेतु का प्रयोग दो रूप से करने की कोई आवश्यकता नहीं है या तो तथोपपत्ति रूप से हेतु का प्रयोग करें या अन्यथानुपपत्ति रूप से करें। व्युत्पन्नों[4] के लिए एक ही प्रकार का प्रयोग पर्याप्त है।

आचार्य प्रभाचन्द्र[5] और अनन्तवीर्य ने भी माणिक्यनन्दी का समर्थन करते हुए अनुमान का द्वैविध्य स्वीकार किया है। तदर्थ परामर्शिवचन को उपचार से परार्थानुमान मानना प्रभाचन्द्र को भी स्वीकार है। उपचार का निमित्त है प्रतिपादक और प्रतिपाद्य की अपेक्षा के अनुमान का कार्यकारणत्व। वचन प्रतिपादक है और वचन से उत्पन्न अनुमान प्रतिपाद्य है।

हेतु भेद पर आधारित पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट अनुमान आचार्य प्रभाचन्द्र[6] को स्वीकार है। उन्होंने लिखा है कि ये अनुमान अविनाभाव निश्चायक प्रमाण के अभाव में नैयायिकों के ही मत में सम्भव नही हैं, हमारे मत से अनुमान

---

१. न्यायदीप का० पृ० ७५
२. स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात्साध्यज्ञानम्प्रमाण-मीमांसा-हेमचन्द्र १।२।८-९।
३. परीक्षामुख सू० ३।५३ न्या० र० मा० पृ० १७७
४. "व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या" व० वा० पा० सू० ३।९४ प्र० क० मा० पृ० ३९०।
५. उपचारनिमित्तं चास्य प्रतिपादकप्रतिपाद्यपेक्षया-नुमानकार्यकारणत्वम्। प्र० क० मा० ३।५६ पृ ३७९।
६. प्रमेय क० मार्तण्ड ३।१५ पृ० ३६७

के भेद सम्भव हैं इसको आचार्य स्वयं ही कार्यकारण इत्यादि के द्वारा हेतु चर्चा के प्रसङ्ग में व्यक्त करते हैं।

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् की व्याख्या के प्रसङ्ग में अनन्तवीर्य ने लिखा है "वचन को अनुमान कहने में कारण में कार्य का उपचार अथवा कार्य में कारण का उपचार किया जा सकता है। आचार्य धर्मकीर्ति से यह बात विशेष है। परार्थानुमान का प्रतिपादक जो पुरुष उसका अनुमान कारण है—जिसमें ऐसा परार्थानुमान वचन परार्थानुमान है। इस कथन से कार्य में कारण का उपचार किया गया है।

वचन को अनुमान कहने से प्रयोजन को स्पष्ट करने की अभिलाषा से आचार्य अनन्तवीर्य[1] लिखते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयव हैं इस प्रकार शास्त्र में व्यवहार है, ज्ञानात्मक और निरंश अनुमान में प्रतिज्ञादि अवयवों की कल्पना असम्भव है अतः वचनों के आधार पर वचनात्मक अनुमान का प्रयोग किया जाता है। इसलिए अनुमान के प्रतिपादक वचनों को भी अनुमान की संज्ञा दी गई है।

आचार्य शान्तिसूरि[2] उपचार से वचन को अनुमान स्वीकार करने के विरोधी हैं। उनका कथन है कि उपचार से यदि वचन को अनुमान मानोगे तो अनवस्था होगी। जिस प्रकार अनुमान का प्रतिपादक होने से वचन अनुमान हैं उसी प्रकार अनुमान का कर्ता होने से पुरुष को भी अनुमान कहना चाहिए। उपचार के आधार पर यदि प्रामाण्य है तो दधिभक्षणादि को भी अनुमान कहना चाहिए। आचार्य शान्तिसूरि का मत किसी अन्य जैन तार्किक को स्वीकार नहीं है। परार्थानुमान के प्रामाण्य में किसी का वैमत्य नहीं है।

स्वार्थानुमान के अङ्ग

आचार्य धर्मभूषण ने स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग बतलाये हैं। १—धर्मी २—साध्य ३—साधन। आचार्य माणिक्यनन्दी, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने भी धर्मी अर्थात् पक्ष की प्रसिद्धि को आवश्यक माना है। धर्मी को प्रत्यक्ष सिद्धि के साथ कहीं विकल्प सिद्ध तथा कहीं प्रमाण विकल्प सिद्ध माना है जिसका विवेचन यथास्थान किया जा चुका है।

परार्थानुमान के अङ्ग और अवयव

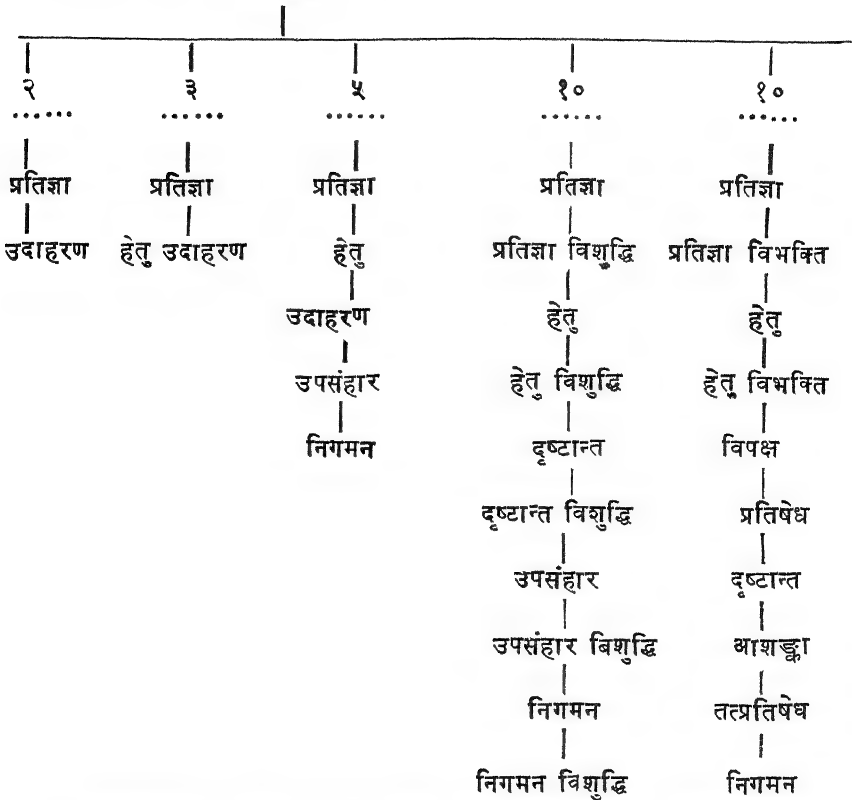
जैन न्या० परम्परा में आ० भद्रबाहु ने सर्वप्रथम दशवैकलिपक नियुक्ति में अनुमान चर्चा के प्रसङ्ग में न्यायावयवों की चर्चा की है। अवयवों की संख्या के विषय में आचार्य भद्रबाहु स्पष्ट नहीं हैं। कहीं उन्होंने पांच या दस अवयव की चर्चा की

---

१. वचनस्यानुमानत्वे च प्रयोजनमनुमानावयवाः प्रतिज्ञादय इति शास्त्रे व्यवहार एषः ज्ञानात्मन्यनंशे तद्व्यवहारस्या शक्यकल्पनात्। न्या० र० मा० ३।६२ पृ० १७७।

२. उपचारेण चेत् तत् अनवस्था प्रसज्यते—न्या० वा० वृत्ति ३।४२ पृ० १०२।

है। कहीं पात्र उदाहरण का हेतु और उदाहरण से भी अर्थ सिद्धि होने की बात कही है। दस अवयवों को भी उन्होंने दो प्रकार से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार भद्रबाहु के मत में अनुमान वाक्य के २, ३, १०, १०, अवयव होते हैं। इसकी तालिका इस प्रकार रखी जा सकती है।



पञ्चावयवों की दो परम्परायें उपलब्ध होती हैं १—माठर निर्दिष्ट प्रशस्तपाद द्वारा स्वीकृत तथा दूसरी न्यायसूत्र द्वारा प्रतिपादित। भद्रवाहु ने पञ्चावयवों की महर्षि गौतम की परम्परा को स्वीकार किया है। दशावयवों की भी तीन परम्परायें लक्षित होती हैं—दो भद्रवाहु द्वारा स्वीकृत, एक वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित न्यायभाष्यकार वातात्स्यान ने जिन १० अवयवों का उल्लेख किया है वे भद्रबाहु द्वारा निर्दिष्ट दोनों दश प्रकारों से भिन्न हैं।

१. प्रस्तावना—न्या० व० वा० वृत्ति—सं० दलसुख—भा० वि० स० २००५ पृ० ७६-७७।

जैनन्याय सारणि में अवयवों का सूक्ष्म और विशद विचार समन्तभद्र से आरम्भ होता है। सामन्तभद्र ने अविनाभाव, साधर्म्य, वैधर्म्य, साध्य, साधन, प्रतिज्ञा, हेतु, अहेतु, प्रतिज्ञा-दोष जैसे तर्कशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग कर अवयवोपयोगी नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। भद्रबाहु के पूर्व जैनागमों, अवयवों की कोई चर्चा नहीं आई है।

आचार्य सिद्धसेन[1] दिवाकर पहले जैन तार्किक हैं, जिन्होंने परार्थानुमान का विवेचन करते हुए, उसके पक्ष 'प्रतिज्ञा' हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का प्रतिपादन किया है। तथा इनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। आचार्य सिद्धसेन ने प्रतिज्ञा के स्थान में पक्ष शब्द का प्रयोग किया है। प्रतिज्ञा के स्थान में पक्ष शब्द का प्रयोग सिद्धसेन से पूर्व बौद्ध तार्किक दिङ्नाग और उनके शिष्य शङ्कर स्वामी ने भी किया है।

आचार्य अकलङ्क ने पक्ष "प्रतिज्ञा" और हेतु दो को ही परार्थानुमान का अङ्ग माना है। दृष्टान्त को स्वीकार करके भी सर्वत्र उसकी उपयोगिता नहीं मानी है उनका कथन है कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नहीं है अन्वय के द्वारा भी साध्य का साधन होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[3] एवं उनके व्याख्याकार प्रभाचन्द्र और लघु अनन्तवीर्य के अनुसार प्रतिज्ञा "पक्ष" हेतु दो ही अनुमान के अङ्ग हैं। प्रतिज्ञा "पक्ष" प्रयोग की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी[4] कहते हैं कि पक्ष "प्रतिज्ञा के प्रयोग के बिना साध्यधर्म के अस्तित्वादि के आधार के विषय में सन्देह होता है कि साध्य का धर्म अस्तित्व आदि सर्वज्ञ में है अथवा सुख आदि में है। उस सन्देह का निराकरण करने के लिए "**अस्ति सर्वज्ञः**" इत्यादि अनुमान प्रयोग में पक्ष से ज्ञात होने पर भी उसका प्रयोग आवश्यक है। **हेतु सामर्थ्य** जिस प्रकार उदाहरण में साध्य हेतु की व्याप्ति का प्रदर्शन होने पर भी पुनः नियत धर्मों में व्याप्ति सम्बद्ध हेतु का प्रदर्शन करने के लिए उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य विशिष्ट

---

१. परार्थानुमानं तत्पक्षादिवचनात्मकम्। न्या० व० का० १३ पृ० २

२. सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनयोः।
स दृष्टान्तः तदाभासाः साध्यादिविकलादयः॥
सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽन्वये नापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः—न्या० वि० का० ३८०-८१
पृ० ८० "सिंधी प्रकाशन"

३. प० मु० सू० ३-३०,३१

४. प्र० क० मा० ३-३०,३१

धर्मी के साथ साधन का सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए पक्ष का प्रयोग किया जाता है। आचार्य प्रभाचन्द्र[1] ने लिखा है कि पक्ष "**प्रतिज्ञा**" के प्रयोग से प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान रूप प्रयोजन सिद्ध होता है। पक्ष का प्रयोग न करने पर कुछ मन्दबुद्धि वालों को प्रस्तुत विषय का आकलन नहीं होगा—जिसको पक्ष के प्रयोग के बिना भी प्रतिपाद्य विषय का बोध हो जाता है —उनके लिए पक्ष प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पक्ष गम्यमान होने पर भी उसका प्रयोग उचित है, नहीं तो शास्त्रों में प्रतिज्ञा का प्रयोग कैसे होता। जैसे—यहां अग्नि है धूम होने से "अथवा यह वृक्ष है शिशपा होने से आदि पश्चात् शास्त्रों में यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग युक्ति युक्त है तो पश्चात् कथा में भी उसका प्रयोग युक्ति युक्त मानना चाहिए। कौन है जो तीन प्रकार के हेतुओं को स्वीकार कर तथा असिद्धत्वादि दोष का परिहार करके उसका समर्थन करने वाला पक्ष प्रयोग को अनुचित मानेगा। साध्य की सिद्धि के अभिलाषी को हेतु प्रयोग के समान ही पक्ष प्रयोग को भी स्वीकार करना चाहिए।

आचार्य लघु अनन्तवीर्य[2] ने भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हुए कहा है कि साध्य के साथ व्याप्ति युक्त हेतु के प्रदर्शन से उसके आश्रय का भी बोध हो जाने पर नियत धर्मी के साथ हेतु के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने के लिए जिस प्रकार हेतु का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार साध्य विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्ध बतलाने के लिए पक्ष वचन भी आवश्यक है।

उदाहरण आदि का निषेध करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी[3] कहते हैं कि ये दो ही अर्थात् हेतु और पक्ष "**प्रतिज्ञा**" ही अनुमान के अङ्ग हैं। उदाहरण नहीं है। आचार्य[4] के अनुसार साध्य का ज्ञान कराने के लिए उदाहरण आवश्यक नहीं है। साध्य का ज्ञान यथोक्त हेतु का ही व्यापार है। उसी प्रकार उदाहरण साध्य और हेतु के अविनाभाव निश्चय के लिए भी कारण नहीं है। विपक्ष में बाधक प्रमाण से अविनाभाव का निश्चय हो जाता है। दूसरी बात यह हैं कि उदाहरण व्याप्ति रूप होता है और व्याप्ति सामान्य द्वारा सर्वदेश सर्वकाल की उपसंहार वाली होती है। अत: उस उदाहरण में विवाद होने पर अन्य उदाहरण की अपेक्षा होगी उसमें विवाद होने पर अन्य, इस प्रकार से अनवस्था दोष होगा।

व्याप्ति स्मरण के लिए भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं है। साध्याविनाभावी हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है। जिस व्यक्ति ने

---

१. प्र० क० मा० ३-३०,३१
२. प्रमेयरत्नमाला ३।६४ पृ० २०२
३. परी० मु० सू० ३।३३
४. वही ३।३४,३५

साध्य के साथ हेतु के अविनाभाव का ग्रहण किया है उसे हेतु प्रदर्शन मात्र से व्याप्ति की सिद्धि हो जायेगी—जिसने हेतु का साध्याविनाभाव ग्रहण नहीं किया है उसको सैकड़ों दृष्टान्तों से भी व्याप्ति का स्मरण नहीं हो सकता है।

आचार्य मणिक्यनन्दी[1] का मत है कि उपनय और निगमन के विना यदि केवल उदाहरण का प्रयोग किया जाय तो वह साध्यधर्म युक्त धर्मी में साध्य सिद्धि के लिए सन्देह उत्पन्न करा देता है। इसीलिए उपनय और निगमन के प्रयोग की आवश्यकता होती है। यदि उदाहरण से सन्देह उत्पन्न न हो तो क्यों उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाय। आचार्य माणिक्यनन्दी[2] के अनुसार उपनय और निगमन भी अनुमान का अङ्ग नहीं है। हेतु और साध्य के कथन से ही साध्यधर्म युक्त धर्मी में संशय का निवारण हो जाता है। विपक्ष में बाधक प्रमाण के द्वारा हेतु का समर्थन आवश्यक होता है। जिस हेतु का विपक्ष में बाधक प्रमाण के द्वारा समर्थन न किया हो वह हेतु साध्यानुमापक नहीं हो सकता है। विपक्ष में बाधक प्रमाण के द्वारा समर्थन ही हेतु का वास्तविक रूप है। इसलिए समर्थन प्राप्त हेतु ही अनुमान का अवयव है। उसी से साध्य की सिद्धि होती है।

यद्यपि वाद में दो ही अवयवों की पक्ष और हेतु की उपयोगिता माणिक्यनन्दी ने स्वीकार की है। मंद बुद्धि वाले बालकों के लिए उदाहरणादि अन्य तीन अवयवों की आवश्यकता है, इसलिए शास्त्र में उनका प्रतिपादन किया गया है, शास्त्रार्थ में उनकी उपयोगिता व्युत्पन्न पुरुषों के लिए नगण्य है।

जैन तर्क भाषाकार यशोविजय[3] ने भी मंदमतियों के लिए दृष्टान्तादि अवयवों का प्रयोग उपयोगी माना है जो व्याप्ति युक्त हेतु का स्मरण नहीं कर सकते हैं उनके लिए दृष्टान्त भी अनुमान का अवयव है।

दृष्टान्त के भेद

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने दृष्टान्त के दो भेद किये हैं—जिन्हें वे साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं। जहां साध्य और साधन की व्याप्ति निश्चित की जाती है वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है। तथा जहां साध्य के न रहने पर साधन की असम्भावना बतलाई जाती है उसे वैधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं।

---

१. प० मु० सू० ।३।४०

२. नच ते तदङ्गे साध्य धर्मिणि हेतु साध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।। प० मु० सू० ३।८०

३. मन्दमतिन्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते। यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति तं प्रति दृष्टान्तोऽपि- जै० त० भा०। प० परि०।

आचार्य माणिक्यनन्दी[1] ने दृष्टान्त के दो भेद स्वीकार किये हैं। अन्वय और व्यतिरेक। दृष्टान्त शब्द की व्याख्या करते हुए अनन्तवीर्य कहते हैं कि जहां पर साध्य और साधन लक्षण वाले दोनों धर्म अन्वय के बल से या व्यतिरेक के बल से देखे जाते हैं वह दृष्टान्त कहलाता है। वह दो ही प्रकार का हो सकता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी आदि जैनों ने अन्वय दृष्टान्त तथा व्यतिरेक दृष्टान्त का जो स्वरूप बतलाया है वह गौतमीय तार्किकों के लक्षण से पूर्ण प्रभावित है। जैसे वे अन्वय दृष्टान्त तथा व्यतिरेक दृष्टान्त के स्वरूप को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जहां पर साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है वह अन्वय दृष्टान्त है तथा जहां साध्य के अभाव में साधन का अभाव व्यक्त किया जाता है वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। दृष्टान्तों की शास्त्र में स्वीकृति के कारण ही जैनों ने दृष्टान्ताभास रूप अनुमान दोष को स्वीकार किया है।

उपनय और निगमन

उपनय और निगमन के लक्षण भी जैन तार्किकों के गौतमीय दार्शनिकों के लक्षण के समान हैं। किन्तु गौतमीय परम्परा में जहां साध्य के उपसंहार को उपनय कहा है वहां जैन परम्परा में आचार्य माणिक्यनन्दी तथा उनके व्याख्याकारों के अनुसार हेतु का पक्ष धर्म के रूप में उपसंहार ही उपनय कहा है। उपनय शब्द की व्याख्या न्यायरत्नमाला की टिप्पणी में इस प्रकार दी है "**साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिणि उपनीयते पुनरुच्चार्यते हेतुर्येन स उपनयः**" तात्पर्य यह है कि साध्य विशिष्ट धर्मी में साध्याविनाभावी हेतु का पुनरुच्चारण करना ही उपनय है। तथा निगमन का लक्षण भी "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" के इस गौतमीय निगमन के लक्षण के समान ही प्रतिज्ञा का उपसंहार निगमन है। निगमन शब्द की व्याख्या जैन दार्शनिक इस प्रकार से करते हैं। "**प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाः साध्यलक्षणैकार्थतया निगम्यन्ते सम्बध्यन्ते येन तन्निगमनम्**" तात्पर्य यह है कि साध्य धर्म विशिष्ट धूम वाला होने से यह पर्वत अग्नि वाला है इस प्रकार प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय को दुहराना ही निगमन है। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, और उपनय इन चारों अवयवों को साध्य रूप एक अर्थ में साधक रूप से सम्बन्धित करना उपनय है।

---

१. साध्य-साधनयोर्व्याप्ति निश्चीयतेतराम्।
साधर्म्येण च दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्यतः॥
साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसम्भवः
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति संस्मृतः। न्या० व० का० १८-१९ पृ० ३।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब जैन दार्शनिक प्रतिज्ञा और हेतु को ही अनुमान का अङ्ग मानते हैं तो जैन आचार्यों ने इनका विवेचन क्यों किया ? इसका उत्तर लघु अनन्तवीर्य[1] ने दिया है। आचार्य अनन्तवीर्य का उत्तर है कि स्वयं दृष्टान्त आदि की उपयोगिता अस्वीकार करके भी प्रतिपाद्य के अनुरोध से जैन आचार्यों ने इनके प्रयोग की परिपाटी को स्वीकार किया है जो लोग उदाहरणादि के स्वरूप को नहीं जानते हैं उसका प्रयोग नही कर सकते हैं। अतः उनकी जानकारी के लिए उनका स्वरूप भी शास्त्र में कहना चाहिए। इसलिए आचार्यों ने इनका विवेचन किया है।

वस्तुगत्या विचार किया जाय तो यह कहना होगा कि आचार्यों का यह लेपन एक प्रकार से अपने आपको धोखा देना है। पहले आचार्य को दृष्टान्त आदि की उपयोगिता प्रतीत नहीं हुई थी किन्तु आगे जब परार्थानुमान की प्रक्रिया का अन्य दर्शनों में विकास हुआ तो जैन दार्शनिकों को अपनी यह कमी प्रतीत हुई और उन्होंने सीधे उपनयादि की उपयागिता न स्वीकार करके दृष्टान्त के रूप में शास्त्र में उसकी उपयोगिता स्वीकार कर अप्रत्यक्ष रीति से उसे अनुमान प्रक्रिया का अङ्ग मान लिया हैं। इतना ही नहीं जैन तर्क भाषाकार यशोविजय ने तो पक्षादि स्वरूप के विषय में भ्रम रखने वालों के लिए पक्ष शुद्धि आदि भी अवयव हैं। इस प्रकार दश अवयवों को भी प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।

अनुमान के दोष[3]

जैन तर्कशास्त्र के इतिहास में आचार्य सिद्धसेन को ही अनुमानाभास का पहला स्पष्ट विवेचक मानना चाहिए। इनके पूर्व आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों में एकान्तवाद समीक्षा में अनुमान दोषों का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु दोषों का वर्गीकरण और सोदाहरण विवेचन सर्व प्रथम आचार्य सिद्धसेन ने ही किया है।

आचार्य सिद्धसेन[4] ने अनुमान दोष के तीन भेद किये हैं, पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास। आचार्य अकलङ्क के पूर्व के दार्शनिक सिद्धसेन आदि अनुमान के तीन अवयव पक्ष, "**प्रतिज्ञा**" हेतु, और उदाहरण स्वीकार करते थे, इसलिए उन्होंने तीन अनुमान के दोषों का निरूपण किया है। उनका विचार था इन तीन

१. प्र० र० मा० ३।४२

२. पक्षादि स्वरूप विप्रतिमन्तं प्रति च पक्षशुद्धयादिकमधीति सो च दशावयवो हेतुः पर्यवस्यति-जै० त० भा० प्र० परि०।

३. ब्राह्मण न्याय में इसका हेत्वाभास शीर्षक के अधीन अध्ययन किया गया है।

४. न्या० व० का० २० पृ० ३

५. न्या० वि० अनु० प्र०।

अवयवों के दूषित होने पर अनुमान सदोष होता है। किन्तु आचार्य अकलङ्क[1] ने अनुमान के मूलतः दो ही अवयव माने हैं दृष्टान्त आदि की शास्त्र में ही उपयोगिता स्वीकार की है। जैसा कि पूर्व प्रकरण में विचार किया गया है, इसलिए उन्होंने अनुमान के भी दो ही दोष साध्याभास और साधनाभास स्वीकार किये हैं।

आचार्य माणिक्यनन्दी[1] ने अनुमान के चार दोष पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास और बाल प्रयोगाभास कहे हैं। अनुमान के दोषों को माणिक्यनन्दी ने अनुमानाभास संज्ञा प्रदान की है। आचार्य माणिक्यनन्दी के शिष्य प्रभाचन्द अनुमानाभास के स्वरूप के विषय में लिखते हैं, साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है, उससे विपरीत अनुमानाभास है। पक्ष, हेतु, दृष्टान्त पूर्वक अनुमान का प्रयोग होने से पक्षाभास आदि अनुमानाभास है। आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने भी चार ही प्रकार के अनुमानाभासों का समर्थन किया है।

पक्षाभास

आचार्य सिद्धसेन[2] ने पक्षाभास के अनेक भेद स्वीकार किये हैं। प्रत्यक्षादि से अनिराकृत साध्याभ्युपगम को पक्ष कहा है। इसलिए प्रत्यक्ष तथा लोक और स्ववचन से बाधित पक्षाभास अनेक प्रकार का है। न्यायावतारसूत्रवार्तिककार शान्तिसूरि के अनुसार इष्ट तथा सिद्ध करने योग्य, साध्य होता है तथा इससे विपरीत जो हो वह साध्याभास है। तात्पर्य यह है कि जो सिद्ध तथा बाधित होता है उसको सिद्ध नहीं किया जा सकता इसलिए उस प्रकार का पक्ष लक्षण से युक्त न होने से पक्षाभास है।

आचार्य दिङ्नाग के पक्ष लक्षण **"साध्यत्वेनोक्षितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः"** का प्रभाव आचार्य सिद्धसेन के पक्ष लक्षण में सिद्ध बाधित आदि विशेषण सार्थकता को व्यक्त करते हैं। आचार्य अकलङ्क ने साध्य का लक्षण किया है। जो शक्य हो, अभिप्रेत हो तथा अप्रसिद्ध हो तथा इसके जो विपरीत है वह साध्याभास है। अर्थात् जो शक्य न हो जो अभिप्रेत न हो तथा जो प्रसिद्ध हो वह साध्याभास है। यहां अशक्य शब्द से आचार्य सिद्धसेन के अबाधित का ही संकेत प्राप्त होता है तथापि अनभिप्रेत का ग्रहण करके इन्होंने अनिष्ट पक्षाभास का संग्रह किया है। प्रमाण संग्रह में आचार्य अकलङ्क ने अव्युत्पत्ति संशय तथा विपर्यास विशिष्ट अर्थ को साध्य कहा है। इस प्रकार अलकङ्क के अनुसार साध्याभास के तीन भेद अशक्य, अनभिप्रेत, और प्रसिद्ध, सिद्ध होते हैं।

---

१. प० मु० सू० ६।१२, २१, ४०, ४६
२. न्या० वि०

आचार्य माणिक्यनन्दी के अनुसार अनिष्ट बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है। क्योंकि पक्ष का लक्षण इष्ट अवाधित और असिद्ध कहा गया है। पक्षाभास के लक्षण में आये इन तीन विशेषणों के आधार पर पक्षाभास के तीन भेद किये गये हैं—१. अनिष्ट २. वाधित ३. सिद्ध। आचार्य माणिक्य नन्दी[1] बाधित पक्षाभास के पाँच भेद व्यक्त करते हैं—१. प्रत्यक्ष-बाधित २. अनुमान-बाधित ३. आगम-बाधित ४. लोक-बाधित ५. स्ववचन-बाधित।

१. अनिष्ट पक्षाभास

मीमांसक के लिए शब्द अनित्य है। मीमांसक शब्द नित्यतावादी होने से उसका शब्द में अनित्यता का साधन अनिष्ट है, इसलिए यह पक्षाभास है। किन्तु यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि मीमांसक इस प्रकार से पक्ष का प्रयोग करेगा ही क्यों? इसके विषय में कहा जा सकता है कि वह प्रतिवादी और मध्यस्थों के दर्शन से भयभीत होकर अपने सिद्धान्त की विस्मृति या अज्ञान के फल स्वरूप इस प्रकार से पक्ष का प्रयोग करता है। गौतमीय नैयायिक इसे अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान के अन्तर्गत रखते हैं।

२. **सिद्ध**[2]

जो वस्तु सिद्ध है उसे हेतु प्रदर्शन से सिद्ध करने का प्रयास सिद्ध पक्षाभास का द्योतक है। जैसे शब्द श्रवणीय है। यहां शब्द की श्रावणीयता अपामर सिद्ध होने से उसे सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध पक्षाभास है।

3. **बाधित**

१. **प्रत्यक्ष बाधित**[3]—अग्नि अनुष्ण है क्योंकि वह द्रव्य है जैसे—जल। इसमें अग्नि की अनुष्णता स्पर्शन प्रत्यक्ष से बाधित है। स्पार्शन प्रत्यक्ष से अग्नि उष्ण सिद्ध है। अतः यह प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास है।

२. **अनुमान-बाधित**[4]—शब्द अपरिणामी है क्योंकि वह कृतक है जैसे घड़ा। इस अनुमान प्रयोग मे "**शब्द परिणामी है**" यह पक्ष कृतक हेतु से बाधित है। जो कृतक होगा वह अवश्य ही परिणामी होगा। अतः यह अनुमान बाधित पक्षाभास है।

३. **आगम-बाधित**—धर्म परलोक में दुःख का जनक है क्योंकि वह पुरुषाश्रित है जैसे अधर्म। इस अनुमान प्रयोग मे धर्म और अधर्म दोनो ही पुरुष पर

---

१. प० मु० सू० ६।११, १५
२. वही ६।१४ प्रमेय २ मम० पृ० ३१७
३. वही ६।१५-१६ वही ३१७
४. वही ६।१७ प्रमेय० र० मा० पृ० ११८

आश्रित हैं तो भी आगम में धर्म को सुख का कारण बतलाया गया है। अतः यह आगम बाधित पक्षाभास है।

४. **लोक-बाधित**[1]—मनुष्य के सिर का कपाल पवित्र है क्योंकि वह प्राणी का अङ्ग है, जैसे शङ्ख सीप आदि। इस अनुमान प्रयोग में नर कपाल जो कि लोक में अपवित्र माना गया है शुचि सिद्ध कहने का प्रयास किया गया है। अतः यह लोक बाधित पक्षाभास का उदाहरण है।

वस्तुतः आगम बाधित और लोकबाधित में कोई अन्तर नहीं है, जिसे लोक बाधित माणिक्यनन्दी ने कहा है वह वस्तुतः आगम बाधित ही है क्योंकि लोक में नर कपाल को आगम शास्त्र के ही आधार पर अशुचि माना जाता है। शास्त्रों के आधार पर ही किसी वस्तु को पवित्र तथा किसी वस्तु को अपवित्र माना जाता है। अतः यह उदाहरण आगम बाधित का भी हो सकता है। लोक बाधित पक्षाभास को आगम बाधित पक्षाभास से भिन्न कहीं पर माना जा सकता है। किन्हीं स्थलों पर आगम विरुद्ध न होते हुए भी लोक विरुद्ध पक्ष होता है। अतएव कहा जाता है **"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयम्"**।

५. **स्ववचन-बाधित**— मेरी माता वन्ध्या है, पुरुष संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता है। जैसे—"प्रसिद्ध अमुक वन्ध्या स्त्री।" यहाँ मेरी माता कहकर उसे वन्ध्या कहना परस्पर विरोधी है। इसलिए उसका यह प्रतिज्ञावाक्य उसी के वाक्य से बाधित होता है। अतः यह स्ववचन बाधित पक्षाभास है।

आचार्य हेमचन्द्र[2] ने उपर्युक्त पाँच भेदों के अतिरिक्त धर्मकीर्ति के प्रतीति बाधित पक्षाभास को स्वीकार करके बाधित पक्षाभास के छः भेद प्रतिपादित किये हैं। आचार्य सिद्धसेन से लेकर हेमचन्द्र तक जो पक्षाभासों का विवेचन है वह वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध विवेचन से बहुत भिन्न नहीं है। कहीं-कहीं उदाहरण वैचित्र्य मात्र देखने में आता है वस्तु तथ्य समान ही है।

हेत्वाभास

जैनन्याय परम्परा में समन्तभद्र[3] पहले आचार्य हैं, जिन्होंने हेतु के स्वरूप को कहा है। उन्होंने हेतु को साध्य का अविरोधी कहा है। पात्रस्वामी से लेकर लघु अनन्तवीर्य तक सभी ने साध्याविनाभावी-अन्यथानुपपन्न हेतु को ही साध्य का

---

१. प० मु० सू० ६।१८ वही ३।१८

२. प्र० मी० प्रज्ञा० प्र०।

३. आ० मी०

साधक कहा है। किन्तु समन्तभद्र आदि प्राचीनों के ग्रन्थों में हेत्वाभास का स्पष्ट विवेचन प्राप्त नहीं होता है। आचार्य सिद्धसेन ही पहले आचार्य है जिन्होने हेत्वाभास का स्पष्ट स्वरूप और लक्षण उपस्थित किया है।

हेत्वाभास लक्षण करते हुए आचार्य सिद्धसेन[1] लिखते हैं कि अन्यथानुपपन्नत्व हेतु का लक्षण कहा जाता है। उसकी प्रतीति न होने पर अथवा सन्देह होने पर या उसका विपर्यास होने पर हेत्वाभासता उत्पन्न होती है। आचार्य सिद्धसेन[2] के अनुसार हेत्वाभास के तीन ही प्रकार हैं: असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक। अन्यथानुपपन्नत्व की प्रतीति न होने पर हेतु असिद्ध कहलाता है। अन्यथानुपपत्ति[3] की विपरीत रूप से उपलब्धि होने पर विरुद्ध तथा विपरीत होते हुए पक्ष में हेतु के उपलब्ध होने पर अथवा अन्यथानुपपन्नत्व का सन्देह होने पर हेतु अनैकान्तिक होता है।

आचार्य अकलङ्क ने भी हेतु लक्षण सिद्धसेन दिवाकर के समान ही अन्यथा-नुपन्नत्व माना है। इसलिए अन्यथानुपपत्ति का अभाव होने पर हेत्वाभास होता है। आचार्य का मत है कि वस्तुतः अन्यथानुपत्ति के न रहने पर अकिञ्चित्कर नामक एक ही हेत्वाभास होता है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभाव कई प्रकार से होता है इसलिए असिद्ध, विरुद्ध, संदिग्ध और अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के चार प्रकार कहे जा सकते हैं। इस प्रकार से जैनन्याय परम्परा मे दो धारायें उपलब्ध होती हैं एक तीन हेत्वाभासों की समर्थक और दूसरी चार हेत्वाभासों की समर्थक। माणिक्यनन्दी[4] तथा उनके व्याख्याकारों ने द्वितीय धारा का समर्थन किया है।

आचार्य दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास का अकलङ्क ने विरुद्ध हेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्ध का अव्यभिचारी—विपक्ष में भी रहने वाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमा में आयेगा। अर्चट कृत हेतु विन्दु विवरण में छः रूपोपपन्न हेतु मानने वाले के मत में अज्ञात नामक हेत्वाभास[4] का भी वर्णन है जिसका अकलङ्क ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है। परन्तु अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने के विषय में आचार्य अकलङ्क दृढ नहीं है।

---

१. अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्
तदप्रतीतिसन्देहविपर्यासैस्तदाभासता ॥ न्या० व० का० २२ पृ० ३

२. असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनेकान्तिकः। न्या० वा० का० २३ पृ० ३

३. न्या० वि०

४. हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः—प० मु० सु० ६।२१ प्र० र० मा० पृ० ३-१६

क्योंकि वे लिखते हैं कि सामान्य रूप से एक असिद्ध ही हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध भेद से अनेक प्रकार का है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्कर के विस्तार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य अकलङ्क के विचार से अन्यथानुपपत्ति राहित्य की सामान्य संज्ञा अकिञ्चित्कर या असिद्ध है। यह स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं है। यही कारण है कि आचार्य माणिक्यनन्दी[१] ने अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मान कर भी यह लिखा है कि अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का विचार हेत्वाभास के लक्षण काल में ही करना चाहिए। शास्त्रार्थ में इसका कार्य पक्षाभास से ही लिया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्द[२] ने भी असिद्ध को केवल हेत्वाभास मानकर विरुद्ध अनैकान्तिक को उसी का प्रकारान्तर माना है। वादिदेव[३] सूरि आदि आचार्यों ने भी तीन ही हेत्वाभास माने हैं।

असिद्ध

जो हेतु पक्ष में सर्वथा न हो अथवा जिसका साध्य के साथ अविनाभाव न हो वह असिद्ध है जैसे—शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से इस अनुमान में चाक्षुषत्व हेतु का पक्ष "शब्द" में सर्वथा अभाव है। शब्द श्रावण है अतः यह हेतु असिद्ध है। आचार्य सिद्धसेन[४] के अनुसार जिस हेतु में अपने साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति न हो वह असिद्ध है। आचार्य दिवाकर के लक्षण का समर्थन माणिक्यनन्दी, हेमचन्द्र[५] आदि आचार्यों ने भी किया है।

यद्यपि आचार्य माणिक्यनन्दी[६] ने कण्ठतः असिद्ध के भेद नहीं कहे हैं, तो भी उनके विवेचन से ज्ञात होता है कि उनको असिद्ध के दो भेद, स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध अभिमत थे। आचार्य माणिक्यनन्दी[७] के अनुसार असत्सत्ता अर्थात् जिस हेतु की स्वरूपतः पक्ष में सिद्धि न हो अथवा जिसका अविनाभाव अनिश्चित हो वह असिद्ध है। स्वरूपतः असिद्ध होने पर स्वरूपासिद्ध तथा अविनाभाव का अनिश्चय होने पर सन्दिग्धासिद्ध तथा अज्ञात होने पर भी तीसरा असिद्ध हेतु होता है।

विशेष्यासिद्ध आदि जो अन्य असिद्धि के प्रकार दर्शनान्तरों में प्रतिपादित हैं वे असत्सत्ताकत्व रूप असिद्ध के लक्षण से युक्त होने से उसी स्वरूपासिद्ध में ही

---

१. प० मु० सू० ६।३९
२. त० श्लो० वा०
३. प्र० न० तत्त्व
४. न्या० व० का०
५. प्र० मी०
६. प० मु० सू० ६।२४, २५, २६, २७
७. प्र० क० मा० ६।२४-२७।

अन्तर्भूत होते हैं ऐसा माणिक्यनन्दी के व्याख्याकार प्रभाचन्द्र का कथन है। उन्होंने असिद्ध के भेद विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध व्यर्थ-विशेष्यासिद्ध, व्यर्थ-विशेषणासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध और भागासिद्ध के रूप में प्रदर्शित किये हैं।

द्वितीय असिद्ध प्रकार का उदाहरण है कि धूम में वाष्प का सन्देह होने पर धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता है। हेतु के अविनाभाव के अज्ञात होने पर भी सिद्ध हेत्वाभास बनता है, जैसे-साङ्ख्य के मत में शब्द परिणामी है क्योंकि कृतक है "इस अनुमान में कृतकत्व साङ्ख्य के लिए असिद्ध है क्योंकि साङ्ख्य सत्कार्यवादी है।"

आचार्य प्रभाचन्द्र[1] के अनुसार सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदि भी अविद्यमान निश्चयता लक्षण घटित होने से सन्दिग्धासिद्ध से भिन्न हेत्वाभास नहीं है। वादि देवसूरि[2] और यशोविजय[3] ने उभयासिद्ध और अन्यतरा सिद्ध भेद से दो प्रकार के हेत्वाभास माने हैं जिनका प्रभाचन्द्र ने खण्डन कर दिया है। अन्यतरा सिद्ध नामक कोई हेत्वाभास नहीं है, यदि दूसरे के असिद्ध कहने पर वादी उसको सिद्ध करने वाला प्रमाण नहीं देता है तो प्रमाणाभास के समान दोनों के लिए असिद्ध न कि एक के लिए यदि प्रमाण उपस्थित करता है तो दोनों के लिये सिद्ध है अतः अन्यतरा-सिद्ध नामक कोई स्वतन्त्र असिद्ध हेत्वाभास का भेद नहीं हैं।

आचार्य हेमचन्द्र[4] ने सन्दिग्धासिद्ध के वाधसिद्ध प्रतिवाधसिद्ध उभयसिद्ध के भेद किये हैं, जो प्रभाचन्द्र के अनुसार सन्दिग्धासिद्ध लक्षण से भिन्न नहीं है।

आचार्य शान्तिसूरि[5] ने असिद्ध के सात भेद प्रदर्शित किये हैं। स्वरूपासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध, भागासिद्ध, वाधसिद्ध, प्रतिवाधसिद्ध, आश्रयासिद्ध तथा सन्दिग्धाश्रय। ये भेद भी असिद्ध के माणिक्यनन्दी के द्वारा प्रतिपादित स्वरूपों में निविष्ट किये जा सकते हैं।

विरुद्ध

जो साध्य के अभाव में पाया जाये अथवा साध्य के अभाव के साथ जिसकी व्याप्ति हो वह विरुद्ध है जैसे—"सब पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत् हैं" यहां सत्त्व

१. प्र० क० मा० ६।२८
२. जैन० त० भा० प्र० परि०,
३. प्र० क० मा० ६।२८।
४. प्र० मी० हेत्वा० प्र०।
५. साध्याभावाव्यभिचारी विरुद्ध :—न्या० व० वा० वृत्ति-पृ० १०७

हेतु सर्वथा क्षणिकत्व से विरुद्ध कथञ्चित् क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति रखता है। अतः विरुद्ध है।

आचार्य अकलंक, माणिक्यनन्दी, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने सिद्धसेन के लक्षण का ही शब्दान्तर से समर्थन किया है। माणिक्यनन्दी[1] के अनुसार साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी है, कृतक होने से। इस अनुमान में कृतकत्व हेतु साध्य अपरिणाम के विरोधी परिणाम का व्याप्त घटादि में देखा जाता है, अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

प्रभाचन्द्र[2] ने नैयायिकों[3] के द्वारा स्वीकृत विरुद्ध के आठ भेदों का विरुद्ध सामान्य के लक्षण में घटित होने से उसी में अन्तर्भाव किया है। ये आठ भेद इस प्रकार हैं :

१. पक्ष-विपक्ष व्यापक सपक्षावृत्ति—"नित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्।

२. विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्ष व्यापक सपक्षावृत्ति—नित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति अस्मदादि बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्।

३. विपक्षैकदेशावृत्तिः सपक्षावृत्तिः—सामान्य-विशेषवत् अस्मदादिबाह्य प्रत्यक्षे वा मनसी नित्यत्वात्।

४. पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्ति विपक्ष व्यापक नित्ये वाङ्मनसे उत्पत्ति-धर्मकत्वात्।

ये उपर्युक्त चार भेद सपक्ष के रहने पर होते हैं, सपक्ष के न रहने पर निम्न चार भेद होते है।

५. पक्ष-विपक्ष व्यापक अविद्यमान सपक्ष—शब्द आकाश का गुण है क्योंकि प्रमेय है। प्रमेयत्व पक्ष 'शब्द' तथा विपक्ष घट दोनों में रहता है किन्तु इसमें सपक्ष नहीं है।

६. पक्ष तथा विपक्ष के एक अंश में वृत्ति तथा विद्यमान सपक्ष-६ पदार्थ सत्तायुक्त हैं क्योंकि उत्पत्तिमान् हैं।

७. पक्षव्यापक—विपक्षैकदेशवृत्ति अविद्यमान सपक्ष—शब्द आकाश का विशेष गुण है क्योंकि बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य है।

८. पक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष— वाक् और मन नित्य हैं, क्योंकि कार्य हैं।

---

१. प० मु० सू० ६।२१

२. प्रमेयकमल मार्तण्ड ६।२१ पृ० ६६६

३. न्यायसार-भासर्वज्ञ-पृ० ३१३-३१४-षड्दर्शनप्रकाशन १९६८।

जैन तार्किकों के दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आठों प्रकार के विरुद्ध हेत्वाभासों की विरुद्धता का कारण उनका विपक्ष वृत्ति होना है। पक्ष वृत्तित्व अथवा सपक्षसत्त्व का अभाव विरुद्धता का नियामक नहीं है, हेतु चाहे पक्ष में रहे या न रहे विपक्ष वृत्ति होने से ही विरुद्ध होता है वस्तुतः अनैकान्तिक और विरुद्ध का भेद भी इसी आधार पर है। जैन हेतु के त्रैरूप्य को अनिवार्य नहीं मानते हैं इसलिए इस प्रकार के विरुद्ध के भेद उनके लिए आवश्यक नहीं है।

अनैकान्तिक

जो हेतु साध्य-विपरीत (विपक्ष) में रहते हुए पक्ष में भी रहता है उसे अनैकान्तिक कहते हैं।[1] आचार्य अकलंक[2] ने इसे विपक्षवृत्ति होने के कारण व्यभिचारी भी कहा है। आचार्य माणिक्यनन्दी[3] के अनुसार जिसका विपक्ष में भी रहना अविरुद्ध है अर्थात् जो हेतु पक्ष सपक्ष के समान विपक्ष में भी रहे उसे अनैकान्तिक कहा जाता है। आचार्य यशोविजय[4] के अनुसार जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति सन्दिग्ध हो उसे अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे वह सर्वज्ञ नहीं है। क्योंकि वक्ता है। वक्तत्व हेतु के असर्वज्ञ के समान सर्वज्ञ में भी रहने का सन्देह है। अतः यह हेतु सन्दिग्ध है। इस प्रकार जैन परम्परा में जिस हेतु का अविनाभाव सन्दिग्ध है तथा जो पक्ष-सपक्ष वृत्ति होते हुए विपक्ष वृत्ति है[5] वह सन्दिग्ध अनैकान्तिक वा व्यभिचारी नाम से संज्ञापित किया गया है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[6] ने अनैकान्तिक हेत्वाभास के दो प्रकार किये हैं १. निश्चित-वृत्ति और २. शंकित-वृत्ति।

निश्चित-वृत्ति

शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है। इस अनुमान में प्रमेयत्व हेतु निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक है।

शंकित-वृत्ति

'नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्' सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वक्ता है। यह शंकित वृत्ति हेत्वाभास का उदाहरण है। आचार्य प्रभाचन्द्र[7] लिखते हैं। कि पक्ष त्रय व्यापक

१. प० मु० सू० ६।३०
२. न्या० वि०
३. विपक्षेप्यविरुद्धवर्तिरनैकान्तिकः प्र० क० मा० पृ० ६३७
४. जैं० तर्क० भा० प्र० परि० हेत्वा० निरू०।
५. पक्षसपक्षान्यवृत्तित्वम्—प्र० क० मा० पृ० ६३७
६. प० मु०सू० ६।३१, ३२, ३३
७. प्र० क० मा० ६।३४

आदि अनैकान्तिक के आठ भेद इसी लक्षण से लक्षित होने के कारण भिन्न नहीं हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार से हैं।

१. पक्षत्रय व्यापक—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है।

२. सपक्ष विपक्षैकदेशवृत्ति—शब्द नित्य है क्योंकि अमूर्त है।

३. पक्ष सपक्ष व्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति—यह गाय है, क्योंकि यह सींगों वाली है।

४. पक्ष-विपक्ष व्यापकसपक्षैकदेशवृत्ति—यह गाय नहीं है क्योंकि सींगों वाली है।

५ पक्षत्रयैकदेशवृत्ति -वाणी और मन अनित्य हैं। क्योंकि अमूर्त हैं।

६. पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक—दिशा काल और मन द्रव्य हैं क्योंकि अमूर्त हैं।

७. पक्षसपक्षैकदेशवृत्ति सपक्ष व्यापक—दिशाकाल और मन द्रव्य नहीं हैं। क्योंकि अमूर्त हैं।

८. सपक्ष विपक्ष व्यापक पक्षैकदेशवृत्ति—पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश अनित्य हैं क्योंकि गन्ध रहित हैं। गन्ध का अभाव पृथ्वी से भिन्न में है तथा सपक्ष अनित्य गुण और कर्मो में गन्ध का अभाव है तथा विपक्ष में भी सर्वत्र गन्धाभाव है।

आचार्य यशोविजय[1] ने अनैकान्तिक के दो भेद निर्णीत विपक्षवृत्तिक और सन्दिग्ध विपक्षवृत्तिक के रूप में प्रदर्शित किये हैं। आचार्य हेमचन्द्र[2] इन्हीं भेदों को असिद्ध अनैकान्तिक और सन्दिग्ध अनैकान्तिक के रूप के प्रस्तुत किया है।

अकिञ्चित्कर

आचार्य अकलङ्क[3] के अनुसार सिद्ध साध्य का साधक हेतु अकिञ्चित्कर कहलाता है। आचार्य अकलंक विरुद्ध, असिद्ध, अनैकान्तिक को भी अकिञ्चित्कर के ही अन्तर्गत मानते हैं। अन्यथानुपपत्ति से रहित सभी हेतु अकिञ्चित्कर हैं क्योंकि उनसे साध्यसाधन रूपी कार्य सम्भव ही नहीं है जो स्वकार्य का साधक नहीं वह अकिञ्चित्कर ही है।

---

१. जै० तर्क भा० प्र० परि० हेत्वा० निरू०।

२. प्र० मी० हेत्वा० प्र०।

३. न्या० वि०।

आचार्य माणिक्यनन्दी[1] ने अकलंक के लक्षण में प्रत्यक्षादि बाधित को जोड़-कर कहा है कि साध्य के सिद्ध होने और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है। इस प्रकार आचार्य माणिक्यनन्दी ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के दो भेद सिद्ध और प्रत्यक्षादिबाधित सूचित किये हैं।

१. सिद्ध—

शब्द श्रवणेन्द्रिय से जाना जाता है, क्योंकि शब्दत्व उसमें है। यह हेतु अकिञ्चित्कर है क्योंकि शब्द में श्रावणीयत्व सिद्ध है इसलिए यह हेतु कुछ भी नहीं करता।

२. अकिञ्चित्कर प्रत्यक्षबाधित

अग्नि उष्ण नहीं है क्योंकि द्रव्य है। यह हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित अनुष्णता को सिद्ध करने का प्रयास करता है जो सम्भव नहीं है। फलस्वरूप यह हेतु अकिञ्चित्कर बन जाता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[2] ने भी इसे संकोच के साथ ही हेत्वाभास स्वीकार किया है। उनके विचार से अकिञ्चित्कर हेत्वाभास हेतु के लक्षण व्युत्पादन काल में ही है, वाद काल में नहीं हैं, क्योंकि व्युत्पन्नपुरुष का प्रयोग तो पक्ष दोष से ही दूषित हो जाता है। अर्थात् उसे पक्षाभास में ही समाविष्ट किया जा सकता है।

आचार्य वादिदेव सूरि और आचार्य यशोविजय[3] ने भी अकिञ्चित्कर को हेत्वाभास नहीं माना है, क्योंकि इसके स्वरूप का निश्चय नहीं होता है। वस्तुतः अकिञ्चित्कर का हेत्वाभास में समावेश करना ही उचित है। आचार्य जयन्त और उद्योतकर के अन्यथासिद्ध में इसका समावेश होता है। इस प्रकार भी कुछ विद्वान् मानते हैं।

दृष्टान्ताभास

वैशेषिकों[4] के निदर्शनाभास के प्रभाव में जैन दार्शनिकों ने दृष्टान्ताभासों को

---

१. प० मु० सू० ६।३५
२. वही ६।३६
३. जै० तर्क० भा० प्र० परि० हेत्वाभास निरू०।
४. साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।
अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः।
वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।
साध्य-साधनयुग्मानामतिवृत्तेश्च संशयात्॥
न्या० व० का० २४: २५, पृ० ३

स्वीकार किया है। आचार्य सिद्धसेन[1] ने वैशेषिकों के समान ही दृष्टान्ताभासों को प्रथमतः दो भागों में विभाजित किया है— साधर्म्य-दृष्टान्ताभास और वैधर्म्य-दृष्टान्ताभास। इन दोनों के ६-६ भेद किये हैं १. साध्य-विकल २. साधन विकल ३. उभय विकल ४. सन्दिग्ध साध्य ५. सन्दिग्ध साधन ६. सन्दिग्धोभय। वैधर्म्य दृष्टान्त दोष—१. साध्याव्यावृत्त २. साधनाव्यावृत्त ३. उभयाव्यावृत्त ४. सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति ५. सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति ६. सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति।

आचार्य अकलंक ने दृष्टान्ताभास नामक अनुमान दोष को सार्वजनिक नहीं माना है। कारण कि अकलंक के पूर्ववर्ती सिद्धसेन आदि आचार्य अनुमान के तीन अवयवों के कारण तीन अनुमानाभास मानते हैं किन्तु आचार्य अकलंक ने अनुमान के दो ही अवयव साध्य और साधन माने हैं। तीसरा अवयव दृष्टान्त केवल अल्पज्ञों की दृष्टि से स्वीकार किया है। व्युत्पन्नों के लिए दृष्टान्त की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। उन्हें पक्ष में भी व्याप्ति का ग्रह होकर अनुमान होता है फिर भी **"तदाभासाः साध्यविकलादयः"** के द्वारा उन्होंने दृष्टान्ताभासों को सूचित किया हैं। किन्तु उसके अवान्तर भेदों को उनके व्याख्याकार वादिराज ने प्रदर्शित किया है।

आचार्य माणिक्यनन्दी ने दृष्टान्ताभासों को दो भागों में विभक्त किया है। अन्वयदृष्टान्ताभास और व्यतिरेकदृष्टान्ताभास। अन्वयदृष्टान्ताभास के चार भेद किये हैं। असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन, असिद्धोभय और विपरीतान्वय तथा व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के भी चार भेद किये हैं। असिद्धसाध्य असिद्धसाधन असिद्धोभय व्यतिरेक तथा विपरीत व्यतिरेक। प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य इन दोनों टीकाकारों ने भी इन्हीं भेदों का समर्थन किया है। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

असिद्ध-साध्य—शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे इन्द्रिय सुख।

असिद्ध-साधन—शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे परमाणु।

असिद्धोभय—शब्द अमूर्त है क्योंकि अपौरुषेय है, जैसे घट।

विपरीतान्वय—इसी अनुमान में जब जो अपौरुषेय है वह अमूर्त है। इस प्रकार साध्य में साधन की विपरीत व्याप्ति का दर्शन करने पर दृष्टान्त विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास बन जाता है, क्योंकि विद्युत् वन कुन्दन आदि में अपौरुषेयत्व है किन्तु अमूर्तत्व नहीं है।

असिद्ध-साध्य-व्यतिरेक—

शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि अमूर्त है, जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त नहीं है, जैसे परमाणु।

---

१. न्या० वि०।

२. पं० मु० सू० ६।५० से ४३

असिद्धसाधन व्यतिरेक—

शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त नहीं है—जैसे इन्द्रिय सुख। इन्द्रिय सुख में अमूर्तत्व का व्यतिरेक नहीं है।

असिद्धोभय व्यतिरेक—

शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त नहीं है जैसे आकाश। आकाश में अपौरुषेयत्व और अमूर्तत्व दोनों के होने से दोनों की व्यावृत्ति असिद्ध है।

विपरीत व्यतिरेक—

"शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जो अमूर्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं है। इस अनुमान में अमूर्तत्व के साथ अपौरुषेयत्व की व्याप्ति होने से दृष्टान्त के द्वारा उसी का प्रदर्शन आवश्यक था किन्तु यहां पर इसके विपरीत व्याप्ति का प्रदर्शन किया गया है। अतः यह विपरीत व्यतिरेक रूप दृष्टान्ताभास है।

आचार्य हेमचन्द्र[1] ने वादिदेव सूरि तथा धर्मकीर्ति द्वारा स्वीकृत दृष्टान्ताभास के अठारह भेदों में से अन्वय तथा व्यतिरेक को छोड़कर शेष सोलह दृष्टान्ताभासों का समर्थन किया है।

जैन तार्किकों ने दृष्टान्ताभास के सन्दर्भ में किसी नवीन तथ्य का उद्‌घाटन नहीं किया है। आचार्य सिद्धसेन से लेकर यशोविजय तक सभी जैनाचार्यों का दृष्टान्ताभास का विवेचन, वैशेषिक, बौद्ध "धर्मकीर्ति" तथा भासर्वज्ञ से पूर्णतः प्रभावित परिलक्षित होता है।

गौतमीय नैयायिक दृष्टान्ताभासों को हेत्वाभास से भिन्न नहीं मानते हैं। इनका अन्तर्भाव अनैकान्तिक आदि भेदों में किया जा सकता है। इसलिए इन्हें हेत्वाभास से पृथक् मानना व्यर्थ है। डा० ब्रज नारायण[2] शर्मा के अनुसार इनका अप्राप्तकाल न्यून आदि निग्रहस्थानों में समावेश किया जा सकता है परन्तु यह मत उचित नहीं है। निग्रहस्थानों का उपयोग कथा में जल्प और वितण्डा में मुख्यतः किया जाता है किन्तु उक्त दोष जल्प काल में ही नहीं होते अपितु शास्त्र चर्चा प्रसङ्ग में भी हो सकते हैं इसलिए हेत्वाभासों के अन्तर्गत इनका समावेश करना ही उचित है।

वालप्रयोगाभास

आचार्य माणिक्यनन्दी[3] ने उपर्युक्तानुमानाभासों के अतिरिक्त बालप्रयोगा-

---

१. प्र० मी०

२. भा० द० अनु०

३. वालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियदधीनता-प० मु० सू० ६।४६

भास नाम को अनुमान दोष माना है। यह अनुमान दोष तब होता है जब पञ्चावयवों का अभाव होता है। अथवा अवयवों का विपरीत क्रम से प्रयोग किया जाता है। बालप्रयोगाभास के माणिक्यनन्दी ने चार भेद उपस्थित किये हैं १. द्वि-अवयव प्रयोगाभास २. त्रि-अवयव प्रयोगाभास ३. चतुरवयव प्रयोगाभास और ४. विपरीतावयव प्रयोगाभास।

१. द्वि-अवयव प्रयोगाभास--

किसी मन्दमति को साध्य का प्रतिपादन करने के लिए पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का प्रयोग आवश्यक है किन्तु उसके लिए पक्ष और हेतु दो का ही प्रयोग करना द्वि-अवयव प्रयोगाभास है।

त्रि-अवयव प्रयोगाभास—

चार अवयवों से प्रतिपादित होने वाले प्रतिपाद्य के लिए तीन का ही प्रयोग करना त्रि-अवयव प्रयोगाभास है।

३. चतुरवयव प्रयोगाभास—

पांच अवयवों से साध्य का ज्ञान करने वाले शिष्यों को उद्देश्य करके चार अवयवों का ही प्रयोग करना चतुरवयव प्रयोगाभास है जैसे यह स्थान अग्नियुक्त है क्योंकि धूमयुक्त है, जो धूमयुक्त होता है वह अग्नियुक्त होता है जसे महानस, यह स्थान धूमयुक्त है, इस प्रकार से चार अवयवों का ही प्रयोग होने पर अनुमान दूषित हो जाता है।

४. विपरीतावयव प्रयोगाभास—

क्रमबद्ध अवयवों का प्रयोग न करके विपरीत क्रम से अवयवों का प्रयोग करना विपरीतावयव प्रयोगाभास है।

आचार्य वादिदेवसूरि[1] ने उपनय और निगमन के लक्षणों का उल्लङ्घन होने पर उपनयाभास और निगमनाभास दोष माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने उपनयाभास, निगमनाभास, और वालप्रयोगाभास के विषय में कुछ नहीं कहा है। यशोविजय[2] ने तो पक्षाभासों और दृष्टान्ताभासों का भी पृथक् वर्णन नहीं किया है। आचार्य सिद्धसेन के समान हेत्वाभास के त्रैविध्य का समर्थन करके अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का खण्डन किया है। जहां तक उपनयाभास और निगमनाभास का प्रश्न है उनका अन्तर्भाव हेत्वाभास में आसानी से सम्भव है। उपनय का प्रयोजन व्याप्ति युक्त

---

१. प्र० व० तत्त्व०।

२. अकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः जैनतर्क भा०, ५ परि० हेत्वा०।

हेतु को पक्ष में बतलाना है। पक्ष में हेतु न कहने पर स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है, इसलिए उपनयाभास हेत्वाभास है, उसी प्रकार निगमन का प्रयोजन है, हेतुज्ञानज्ञाप्य-साध्य को पक्ष में कहना निगमनाभास होने पर बाधित हेत्वाभास होता है। अत: निगमनाभास बाधित हेत्वाभास से स्वतन्त्र नहीं है। जैसे "शब्द परिणामी है, कृतक होने से, "जैसे घट," "शब्द कृतक है" इन चार अवयवों के प्रयोग के पश्चात् अत: शब्द परिणामी है ऐसा प्रयोग न करके शब्द कृतक है अथवा घट परिणामी है ऐसा कहने पर निगमनाभास होता है, किन्तु शब्द में परिणाम का उपसंहार न होने पर बाधित हेत्वाभास की प्रसिद्धि होती है। अत: इन दोनों आभासों का समावेश नैयायिक हेत्वाभास में ही करते हैं। बालप्रयोगाभास तो वक्ता के दोष हैं क्योंकि वाद काल में वक्ता को न तो न्यून ही बोलना चाहिए और न अधिक। न्यून या अधिक बोलने पर वक्ता निगृहीत होता है। इसलिए इनका समावेश निग्रहस्थान में किया जा सकता है। इन्हें अनुमान के दोष मानना उचित नहीं है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[१] ने अवयवों के विपरीत प्रयोग को भी बालप्रयोगाभास रूप हेत्वाभास की संज्ञा प्रदान की है। उदाहरण के बाद क्रम से उपनय का प्रयोग होना चाहिए और उसके पश्चात् निगमन का। यदि कोई व्यक्ति पहले निगमन का प्रयोग करके उपनय का प्रयोग करता है तो क्रम भङ्ग होने से यहां बालप्रयोगाभास होता है। अवयवों के विपरीत प्रयोग करने पर स्पष्ट रूप से प्रतिपाद्य वस्तु का बोध नहीं होता है। नैयायिक लोग भी विपरीत प्रयोग वाले अवयवों को न्याय नही मानते हैं। उनके अनुसार उचित आनुपूर्वी वाला प्रतिज्ञादि का समुदाय ही न्याय है। आनुपूर्वी में परिवर्तन हो जाने पर उसे उचित कैसे कह सकते हैं। इसे भी नैयायिकों के अनुसार अप्राप्त काल निग्रह स्थान में ही रखना होगा। अप्राप्तकाल का तात्पर्य ही है कि जिसका प्रयोग जिस समय करना आवश्यक है उस समय उसका प्रयोग न किया जाय।

---

१. प० मु० सू० ६।४६-५०

अध्याय-४

नव्यन्याय में अनुमानविचार

अनुमान का लक्षण

गङ्गेश मत

नव्य न्याय के जनक आचार्य गङ्गेश ने अनुमिति लक्षण पूर्वक अनुमान का निरूपण किया है। अनुमान अनुमिति रूपी क्रिया का करण होने से तथा करण क्रिया के भेद से भिन्न होने से, क्रिया लक्षणपूर्वक ही करण का लक्षण होता है। अतएव गङ्गेश[1] ने अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है "व्याप्ति से युक्त पक्षधर्मताज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है" उसका करण अनुमान है; उसका स्वरूप है। हेतु का परामर्श, परामर्श का विषय होने वाला हेतु नहीं है।

आचार्य गङ्गेश के लक्षण की व्याख्या "व्याप्तिविशिष्टत्व" और "पक्षधर्मत्व" के सामानाधिकरण्य (एकाश्रय में होना) विषयक ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान करने वालों का मत पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर दीधितिकार[2] उसका निराकरण करते हैं। उपर्युक्त व्याख्या करने वालों का कथन है कि कर्मधारय समास के पश्चात् आने वाला प्रत्यय दो पदार्थतावच्छेदकों के सामानाधिकरण्य को व्यक्त करता है। अतः व्याप्तिविज्ञान विशिष्ट पक्षधर्मता पद से उनका सामानाधिकरण्य व्यक्त होता है। 'ज्ञान' पद से बाधित और अबाधित दोनों प्रकारों के ज्ञानों का संग्रह करने से भ्रान्त अनुमिति में अव्याप्ति नहीं होती है। उपर्युक्त व्याख्या करने वालों का मत समीचीन इसलिए नहीं है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि परामर्श से सदा व्याप्तिवैशिष्ट्य

---

१. तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानम्। तत्त्व० अनु० प्र०
लिङ्गपरामर्शो न तु परामृश्यमाणं लिङ्गमिति वक्ष्यते—त० चि० पृ० २७ कलकत्ता

२. अत्र व्याप्तिविशिष्टत्वपक्षधर्मत्वसामानाधिकरण्यावगाहिज्ञानजन्यत्वमर्थः ······असत्ख्यातिनिरासात्। त० चि० दीधिति अनु० प्र०।

का सामानाधिकरण्य गृहीत होता है, और सामानाधिकरण्य का विषय बनाकर उस ज्ञान के कारण मानने में गौरव भी है। दूसरी बात यह है कि सम्बन्ध का सम्बन्ध न मालूम होने पर भी समूहालम्बन ज्ञान से भिन्न ज्ञान हो सकता है। तात्पर्य यह कि व्याप्तिवैशिष्ट्य ही सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध सामानाधिकरण्य की विशिष्ट ज्ञान का विषय होने की आवश्यकता नहीं है। तीसरी बात यह है कि "**धूमो वह्निमान्**" इत्यादि भ्रमस्थल में व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षवृत्ति का सामानाधिकरण्य अप्रसिद्ध होने से सामानाधिकरण्य विषयक ज्ञान का अभाव है। अत: कर्मधारय का समर्थन करने वाला यह मत उचित नहीं है।

"व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य को व्यक्त करने वाले ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान[1]" यह लक्षण इस लक्षण वाक्य से प्रतिपाद्य भी नहीं हो सकता है। अवान्तर वाक्यार्थ की अयोग्यता का निश्चय हो जाने पर महावाक्यार्थ बोध किसी प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकता। "शशविषाण से बना हुआ धनुष" इस बोध की उपपत्ति ब्रह्मा भी नहीं दे सकते।

यहां प्रमाण का विवेचन होने से प्रमा ही लक्ष्य है। अत: अन्तिम ज्ञान पद प्रमा का वाचक है। ऐसा मानने पर भ्रमात्मकानुमिति में अव्याप्ति नहीं होती है। अत: पूर्वोक्त लक्षण करने में कोई आपत्ति नहीं है। यह कथन ग्राह्य नहीं है क्योंकि अव्याप्य में व्याप्यत्व का और अपक्षधर्म में पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर उस ज्ञान से उत्पन्न अनुमिति रूप प्रमा में अव्याप्ति होगी। उस प्रमात्मकानुमिति में अव्याप्ति होने से व्याप्ति विशिष्ट में पक्षधर्मता का ज्ञान इस प्रकार का सप्तमी-तत्पुरुष समास भी ठीक नहीं है।

कुछ लोग[2] कहते हैं कि "**व्याप्तिविशिष्टं च पक्षधर्मश्च**" इस प्रकार का द्वन्द्व समास करने से व्याप्ति-विशिष्ट-पक्षधर्मता के ज्ञान की प्राप्ति होती है। पदार्थ में अभेद होने पर भी पदार्थतावच्छेदक (पदार्थ को धर्म) के भेद से द्वन्द्व समास होता है। यह "**प्रमाण-प्रमेय**" इस सूत्र मे तथा अन्यत्र भी देखा गया है। विशिष्ट पद का '**धर्म**' अर्थ करके भी व्याप्ति के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध—) तथा पक्षधर्मता दोनों को ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। "आलोक

---

१. अवान्तरवाक्यार्थयोग्यत्वनिर्णये महावाक्यार्थज्ञानानुदयात् शब्दबुद्धेर्ब्रह्मणापि दुरुपपादत्वात्। त० चि० दीक्षित अनु० प्र० पृ० ३६

२. व्याप्तिविशिष्टश्च पक्षधर्मश्चेति द्वन्द्वाश्रयणाद् व्याप्तिविशिष्टत्वपक्षधर्मत्वावगाहिज्ञानजन्यत्वं लभ्यते......अन्यत्र च द्वन्द्वस्य दर्शनात् त० चि० दीधिति अनु० प्र० ३८

वह्नि का व्याप्य है।" (और पर्वत धूमवान् है। इस प्रकार के ज्ञान से भी पर्वत अग्निमान् है, यह अनुमिति होनी चाहिए) इसके लिये एक ही स्थान में उक्त दोनों के अस्तित्व का ज्ञान होना चाहिए। ऐसा कहने पर भी धूम वह्निव्याप्य है। और द्रव्य पर्वतवृत्ति है। इस ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में अनुमिति लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। एक रूप से **"व्याप्तिवैशिष्ट्यावगाहित्व"** और **"पक्षधर्मत्वावगाहित्व"** कहने पर मीमांसक मत को स्वीकार करने की आपत्ति होगी। व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व का परस्पर सामानाधिकरण्य यह परामर्श का व्यापक नहीं है। **"व्याप्यवान्"** इस प्रकार के परामर्श में उन दोनों का परस्पर सामानाधिकरण्य ज्ञात नहीं होता।

"व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व दोनों की विषयता से नियत धर्म से युक्त कारणता से प्रदर्शित कार्यताशालिज्ञान" यह भी अनुमिति का लक्षण नहीं हो सकता। इससे पक्षधर्मता पद व्यर्थ हो जायेगा।[1]

रघुनाथमत

अतः व्याप्तिविशिष्ट पद और पक्षधर्मता ज्ञान पद का कर्मधारय समास करके **"व्याप्तिविशिष्टं व्याप्तिप्रकारकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं तज्जन्य "ज्ञान"**[2] यह अनुमिति लक्षण हो सकता है। अर्थात् व्याप्ति जिसमें प्रकार के रूप में भासित होती हो, ऐसा पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है। व्याप्ति प्रकारकत्व का अर्थ भवानन्द[3] ने किया है "पक्ष में रहने वाली विशेष्यता से प्रकाशित होने वाली प्रकारता, उस प्रकारता से नियन्त्रित जो विशेष्यता उससे प्रकाशित **"निरूपित"** व्याप्तिप्रकारकत्व। धूम वह्नि का व्याप्य है और धूमवान् पर्वत है। इस ज्ञान में व्याप्ति प्रकारता से निरूपित विशेष्यता पर्वत में रहने वाली प्रकारता से नियन्त्रित **"अवच्छिन्न"** नहीं है।

व्याप्ति पद से अन्वय-व्याप्ति का ग्रहण करने पर व्यतिरेकी अनुमान में अव्याप्ति होगी क्योंकि **"वह्न्य-व्यापकी-भूताभाव प्रतियोगि"** धूमत्व ही प्रकार है। इसलिए व्याप्ति पद से "व्यभिचार-ज्ञान-विरोधी-ज्ञान-विषय" का ग्रहण करके दोनों

---

१. न च तदुभयविषयत्वनियतधर्मावच्छिन्नकारणत्वप्रतियोगिककार्यताशालित्वमर्थः पक्षधर्मतापदोपादानवैयर्थ्यात्। त० चि० अनु० प्र०।

२. व्याप्तिविशिष्टं व्याप्तिप्रकारकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं तज्जन्यमिति तु स्यात्- त० चि० दीधिति अनु० प्र०।

३. तच्च पक्षनिष्ठं विशेष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितव्याप्तिप्रकारकत्वम्—दीधिति प्रकाश "भवानन्दी" अनु० निरू।

व्याप्तियों का संग्रह करना चाहिए।[1] धूम के आश्रय में रहने वाले अभाव के अप्रतियोगी वह्नि के आश्रय में रहने वाले धूम का ज्ञान हो, अथवा वह्न्य-अभाव के प्रतियोगी धूम का ज्ञान, दोनों ही अग्नि के व्यभिचार ज्ञान के प्रति-स्पर्धी हैं, अत: व्यभिचार विरोधी ज्ञान के रूप में दोनों का संग्रह हो जायेगा। अत: व्याप्ति प्रकारक का अर्थ है। **"व्यभिचारज्ञानविरोधी ज्ञानप्रकारक"**।

व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मता निश्चय के रूप में व्याप्ति प्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान को कारण मानने पर भ्रम और संशय के पश्चात् होने वाले प्रत्यक्ष के लिए विशेष दर्शन को कारण मानने वालों के मत में अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। विशेष दर्शन को उक्त निश्चय के रूप में प्रत्यक्ष का कारण नहीं माना जाता है। उसको भ्रमादि विरोधी के रूप में प्रत्यक्ष का कारण माना जाता है।[2]

उक्त प्रकार के निश्चय के रूप में कारण मानने से ही "वह्निव्याप्य-धूमवान् पर्वत" के सदृश "वस्तु" महानस पद वाच्य है "इस अतिदेशवाक्यार्थ से उत्पन्न उपमिति में अतिव्याप्ति नहीं होती है। उक्त वाक्यार्थज्ञान उसी रूप में उपमिति का कारण है। उसी प्रकार उपनयार्थज्ञान से उत्पन्न न्यायार्थ ज्ञान में, तत् शब्द के द्वारा या संकेतित शब्द से व्याप्ति विशिष्ट की उत्पत्ति से उत्पन्न शाब्द बोध में भी अतिव्याप्ति नहीं होती। महावाक्यार्थ बोध के लिए अवान्तर वाक्यार्थ बोध, बोध के रूप में ही कारण है, निश्चय के रूप में नहीं। तथा अतिरिक्त पदजन्यत्व का भी कारणता के अवच्छेदक के रूप में प्रवेश होता है। निश्चय के रूप में **"निश्चयत्वेन"** कारणता किसी में भी नहीं है।[3]

विशिष्ट वस्तु के वैशिष्ट्य विषयक ज्ञान के लिए "विशेषणतावच्छेदक प्रकारक निश्चय कारण होता है। अतः वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वत "विशिष्ट" वान् "इस वैशिष्ट्य" प्रत्यक्ष के लिए तथा शाब्दबोध के लिए वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत यह विशेषणतावच्छेदकप्रकारक निश्चय कारण है। अतः व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मतानिश्चय से उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त या प्रत्यक्ष या शाब्दबोध में अतिव्याप्ति होती है। इस विषय में दीधितिकार[4] का मत है विशिष्ट-वैशिष्ट्य विषयक ज्ञान के लिए विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान को ही कारण मानते हैं निश्चय को नहीं।

---

१. न च व्यतिरेकिण्यव्याप्तिः, व्यभिचारधीविरोधिविषयत्वेनान्वयव्यतिरेकि-व्याप्त्योरनुगमात्। त० चि० अनु० निरू०। पृ० ४६ कलकत्ता।

२. न च भ्रम-संशयोत्तरप्रत्यक्षं प्रति विशेष-दर्शनस्य हेतुतामते, तत्रातिव्याप्तिः तथाविधनिश्चयत्वेन हेतुताया विवक्षितत्वात् त० चि० दी० अनु० निरू०

३. दीधिति अनुमिति निरू० पृ० ५१

४. ——संस्काराद्यन्यत्वस्य गुरुतया ज्ञानत्वेनैव तत्र हेतुत्वात्। त० चि० दी० अनु० निरू० पृ० ५४

पुन: प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रत्यक्ष के लिए विषय कारण होता है। जैसे घट प्रत्यक्ष के लिए घट कारण है। उसी प्रकार परामर्श के प्रत्यक्ष के लिए परामर्श कारण है। अत: परामर्श से उत्पन्न परामर्श के प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति होती है। इस विषय में दीधितिकार[1] का मत है कि प्रत्यक्ष के लिए विषय, विषय रूप से (**विषयत्वेन**) कारण होता है। तत्प्रत्यक्ष के लिए तत् रूप से "**तत्त्वेन**" परामर्श के रूप (**परामर्शत्वेन**) में परामर्श प्रत्यक्ष के लिए करण नहीं है जबकि अनुमिति में परामर्श (**परामर्शत्वेन**) के रूप में कारण होता है। यहां विश्वनाथ[2] पंचानन ने परामर्श के अनुव्यवसाय "**परामर्शजन्यं**" में अतिव्याप्ति के वारण के लिए "**हेत्वाविषयकज्ञानं**" यह अनुमिति का लक्षण किया है; तात्पय यह है कि परामर्श से उत्पन्न परामर्श का प्रत्यक्ष है और अनुमिति भी है। दोनों में अन्तर यह है कि परामर्श के प्रत्यक्षा का विषय परामर्श होने से उसका विषय हेतु भी होता है जबकि अनुमिति का विषय हेतु नहीं होता है। किन्तु इसमें विचारणीय यह है कि नैयायिकों में दो मत हैं एक अनुमिति को भी हेतुविषयक मानता है। उसे लिङ्गोपधान मत में विश्वनाथ पञ्चानन का समाधान उचित नहीं है, उक्त मत में तो उपर्युक्त लक्षण करने पर अव्याप्ति दोष होगा ही। अत: दीधितिकार का समाधान ही उचित है। इसी का समर्थन रामरुद्रीकार[3] ने भी किया है। कदाचित् होने वाली "**धूमवान् पर्वतो वह्निमान्**" इस अनुमिति में धूम के पक्षतावच्छेदक के रूप में प्रतीत होने से होने वाली अव्याप्ति का निवारण करने के लिए विश्वनाथ[4] ने जातिघटित लक्षण किया है—परामर्श से उत्पन्न हेत्वविषयक ज्ञान में रहने वाली अनुभवत्व-व्याप्य-जाति (अनुभव के अवान्तर प्रकारों में रहने वाली जाति)से युक्त "**पदार्थ**" अनुमिति है। परामर्श से उत्पन्न हेत्वविषयक ज्ञान "**पर्वतो वह्निमान्**" में रहने वाली अनुभवत्व व्याप्यजाति, अनुमितित्व-जाति "**धूमवान् पर्वतो अग्निमान्**" इस अनुमिति में होने से उसमें भी लक्षण समन्वित होता है।

---

१. न च परामर्शानुव्यवसायेऽतिव्याप्तिः सामान्यतः प्रत्यक्षे विषयत्वेन तत् प्रत्यक्षे तत्त्वेन, कदाचित् ज्ञानादिप्रत्यक्षे ज्ञानत्वादिना तत्र हेतुत्वं, नतु यावानेव तत्तदितरत्वादि विषयनिष्ठो धर्मस्तेन तद्विषयत्वेन कार्यकारणभावः। त० चि० दी० अनु०

२. न्या० सि० मु० प्र० ख० चौ० पृष्ठ १७६

३. ननु प्रत्यक्षे विषयस्य सामान्यतो विषयत्वेन, विशेषतश्च तत्तद्व्यक्तित्वेनैव हेतुतया लक्षणे चोक्तनिश्चयत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यताया एव विवक्षणीयतया नोक्तातिव्याप्तिरिति—रा० रु० प्र० ख० चौ० पृ० १७६

४. न्या० सि० मु० प्र० ख० पृ० १७६ चौ०

जातिघटित लक्षण तो नहीं, किन्तु अन्तिम ज्ञान पद अनुभव का वाचक है। यह दीधितिकार[1] को मान्य है अन्यथा व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता के स्मरण में अव्याप्ति होती है उसी प्रकार के अनुभव से उत्पन्न होता है। अथवा व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान से साक्षात् जन्य ज्ञान कहना चाहिए। स्मरण संस्कार द्वारा उत्पन्न होने से परामर्श से साक्षात् उत्पन्न नहीं है।

अपिच "**व्याप्यविशेषक**" और "**पक्षविशेष्यक**" दोनों ही प्रकार के परामर्शों से अनुमिति होती है। तात्पर्य यह है कि व्याप्यः पर्वते "**व्याप्यवान् पर्वतः**" इन दोनों प्रकार के ज्ञानों से "**पक्षसाध्यवान्**" यह अनमिति होती है। अतः व्याप्य और पक्ष उभय वैशिष्ट्य विषयक निश्चय को अनुमिति का कारण मानना होगा। किन्तु स्मृति में एक विशेष्यक ज्ञान से अन्य विशेष विशेष्यक स्मरण नहीं होता। स्मृति के विषय में यह नियम है कि जो अनुभव में विशेष्य होगा वही स्मरण में भी विशेष्य होगा। एक विशेष्यक स्मृति सामग्री ही स्मृति सामग्री है। अनुभव और स्मरण में समान प्रकार होते हैं। अतः उभय वैशिष्ट्य विषयक रूप से अनुभव और स्मृति में कार्य कारण भाव नहीं है। अतः स्मृति में दोष नहीं है।[2]

व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता के ज्ञान को व्याप्ति और पक्षधर्मता उभय के वैशिष्ट्यविषयकज्ञान "**उभयवैशिष्ट्यावगाहित्वेन**" के रूप में कारण मानने पर "**विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबोध**" **वह्निव्याप्तिविशिष्टधूमवान् पर्वतः** इस बोध में अतिव्याप्ति नहीं होती है। इसमें व्याप्य-पक्ष वैशिष्ट्य विषयक निश्चय के रूप में "**वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः**" यह निश्चय कारण नहीं होता है।[3]

जो लोग "**व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान**" को अग्न्यादि की अनुमिति के लिए "व्यभिचारज्ञानविरोधी ज्ञान विषयक पक्षधर्मता ज्ञान के रूप में कारण मानते हैं उनके मत में स्मृति में अतिव्याप्ति की आशङ्का भी सम्भव नहीं है। "**वह्नि व्यापकीभूताभावप्रतियोगी धूमवान् पर्वतः**" इस ज्ञान से "**वह्निव्याप्यवान् पर्वतः**" यह स्मृति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती, दोनों का विषय भिन्न है।[4]

---

१. चरमज्ञानपदस्यानुभवपरत्वात् साक्षात्तज्जन्यत्वस्य वा विवक्षितत्वादित्यपि कश्चित्। त० चि० दी० अनु० निरू०

२. समानप्रकारत्वेनैव ज्ञानस्मरणयोः कार्यकारणाभावाच्च तत्र विशिष्यैव कार्य-कारणभावः नतूक्तरूपेण, गौरवान्मानाभावाच्च इत्यादि केचित्— वही

३. वही

४. वही पृ० ७४

अथवा "व्याप्ति प्रकार वाले पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में व्याप्ति विषय न हो (व्याप्ति विषयक) कहने पर भी स्मृति आदि में होने वाली अति-व्याप्तियों का निराकरण किया जा सकता है। विश्वनाथ ने हेत्वविषयक कहा है किन्तु यहां दो दोष उपस्थित होते हैं। एक तो व्याप्ति, साध्य, हेतु, पक्ष आदि के भेद से भिन्न होती है। अत: एक व्याप्ति का ग्रहण करने पर अन्य अनुमिति में अव्याप्ति होगी। दूसरा दोष है दैव से वह्नि व्याप्ति की अनुमिति की इच्छा रहने पर उत्पन्न होने वाली" पर्वत वह्निव्याप्यवान् है तथा वह्निमान् है। इस अनुमिति में अव्याप्ति होती है। इस अनुमिति का विषय व्याप्ति भी होने से (व्याप्त्यविषयकत्व) उसमें नहीं है। इसके लिए व्याप्ति प्रकार वाले पक्षधर्मताज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में वर्तमान अनुभवत्व से कम स्थानों में रहने वाली जाति का जो आश्रय वही अनुमिति कहलाती है।[1] यह लक्षण करना होगा। इसी लक्षण की उपलब्धि के लिए अनुभवार्थक ज्ञान पद लक्षण में दिया गया है।

अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति को पृथक् प्रयोजक मानने पर भी हानि नहीं है। दीधितिकार[2] ने अन्य भी कई लक्षणों का उल्लेख किया है जिनका प्रभाव पश्चाद्वर्ती टीकाकारों एवं ग्रन्थकारों पर पड़ता है जैसे १—पर्वत में वह्नि व्याप्य है। इस विशिष्ट-वैशिष्ट्य विषयक निश्चयत्व से नियन्त्रित "**अवच्छिन्न**" कारणता उपस्थित कार्यता की, वह्नि व्याप्यवत् पर्वत निश्चयत्व से नियन्त्रित "**अवच्छिन्न**" कारणता से उपस्थित व्याप्ति विषय न होने वाले में वर्तमान कार्यता (**कार्यशक्ति**) की नियन्त्रक (**अवच्छेदक**) ज्ञान में रहने वाली, जाति जिसमें हो वह अनुमिति। २—किसी एक अनुमिति व्यक्ति को लक्ष्य के रूप में ग्रहण करके, उस अनुमिति में समवाय से रहने वाले अनुभवत्व से भिन्न जो धर्म, उस धर्म का समवाय सम्बन्ध से आश्रय। न्याय-सिद्धान्त-मञ्जरीकार ने इस प्रकार का अनुमिति लक्षण[3] उपस्थित किया है। किन्तु यह लक्षण अनुभवत्व को जो लोग जाति मानते हैं उनके मत में समीचीन ही है। जो स्मृति भिन्न ज्ञानत्व को ही अनुभवत्व मानते हैं उनके मत से "**तद्व्यक्तिसमवेतस्मरणासमवेतधर्मसमवायि**" यह अनुमिति की परिभाषा कर सकते हैं।

व्याप्तिज्ञान को करण तथा व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान को व्यापार मानने वाले अनुमिति का लक्षण इस प्रकार से भी करते हैं। व्याप्तिज्ञानत्व से

---

१. त० चि० दीधिति अनु० निरू०।
२. वही पृ० ७८
३. वही

नियन्त्रित (अवच्छिन्न) कारणता से प्रदर्शित जो कार्यता उसके नियन्त्रक (अविच्छेदक) से नियन्त्रित (अविच्छिन्न) जो विशिष्ट परामर्शत्व से नियन्त्रित (अविच्छिन्न) जो कारणता उस कारणता से प्रदर्शित जो कार्यता उस कार्यता के आश्रय में रहने वाली जो अनुभवत्व से न्यूनवृत्ति जाति, उस जाति का जो आश्रय हो वह अनुमिति कहलाता है। इसी लक्षण को "**अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः**" कह कर विश्वनाथ पञ्चानन ने स्वीकार किया है। इस लक्षण में अनुभवत्व व्याप्य जातिमत्त्व कहना है। यह दिनकरीकार[1] ने स्पष्ट किया है, किन्तु पक्षधर्मता प्रवेश न होने से पूर्व लक्षण की अपेक्षा यह लघु लक्षण है। यह लघु लक्षण दीधितिकार को मान्य नहीं है इसलिए इसका उल्लेख उन्होंने "केचित्" के रूप में किया है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए भवानन्द तर्कवागीश लिखते हैं। जहां व्याप्ति के अन्तर्गत पदार्थों की स्मृति से "**विशेष्ये विशेषणं**" इस प्रक्रिया से परामर्श उत्पन्न हुआ वहां व्याप्ति. ज्ञान करण ही नहीं है।

पक्षधर्मता को पक्षता का विशेषण बनाकर पक्षता के साथ रहने वाले लिङ्ग परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को ही अनुमिति कहने वाले का मत दीधितिकार[2] ने प्रदर्शित किया है। इस लक्षण में परामर्श के रूप में ही (परामर्शत्वेन) दोनों पक्षता और परामर्श अनुमिति के कारण हैं। दीधितिकार[3] ने इसका स्पष्टतः खण्डन न करके केवल इसे विचारणीय कहा है। यह लक्षण विचारणीय क्यों है ? इसे भवानन्द ने लिखा है कि परामर्श की जो अनुमिति में कार्यता है उसके नियन्त्रकों में तल्लिङ्गत्व भी निविष्ट है[4] जबकि पक्षता की कार्यता के नियन्त्रकों में तल्लिङ्गकत्व का निवेश व्यर्थ है। इसलिए एक रूप से दोनों की कारणता नहीं हो सकती। इस प्रकार दीधितिकार[5] ने व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान" को ही अनुमिति कहा है। इसी का परिष्कृत रूप ऊपर वर्णित है। दीधितिकार के इसी लक्षण का समर्थन भवानन्द[6] गदाधर[7] जगदीश[8] आदि व्याख्याकारों ने भी किया है। तर्कभाषा-

---

१. व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकतत्समानाधिकरणानुभवत्वव्याप्य-जातिमत्वम्। त० चि० दी० अनु० निरू०।

२. न्या० सि० मु० प्र० ख० पृ० १७७

३. न्या० सि० मु० दी० प्र० ख० पृ० १७७

४. दी० प्रकाश० अनु० निरू०।

५. त० चि० दीधिति अनु० पृ० ८७

६. दी० पु० अनु० निरू०

७. गादा० अनु० निरू०

८. जाग० अनु० निरू०

कार[1] ने लिङ्ग परामर्श को ही अनुमान कहा है। अन्नम्भट्ट ने भी अनुमिति का लिङ्ग परामर्श से उत्पन्न ज्ञान ही लक्षण किया है।

अनुमान का स्वरूप

"तत्करणंमनुमानं" यहां पर तत् पद से अनुमिति का ग्रहण करके उसके करण को अनुमान कहा गया है। अनुमान के स्वरूप के विषय में नव्य नैयायिकों के विभिन्न मत हैं :—

गङ्गेश मत

इस विषय में गङ्गेश[2] का मत है कि लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है। परामर्श विषयक हेतु नहीं। क्योंकि अतीत अनागत हेतु से भी अनुमिति होती है। अतः हेतु का परामर्श (ज्ञान) ही अनुमान है। अपिच हेतु को करण मानने पर ज्ञानकरण न होने से, **"ज्ञानाकरणकज्ञानं"** इस प्रत्यक्ष प्रमाण में उनका अन्तर्भाव हो जायेगा। उसके लिए हेतु-परामर्श (ज्ञान) को अनुमान कहा गया है।

विश्वनाथ मत

विश्वनाथ पञ्चानन[3] ने व्याप्तिज्ञान को करण तथा हेतु परामर्श को व्यापार माना है। दिनकरीकार[4] ने मन को ही अनुमिति का करण कहा है। मन को करण मानने पर अनुमिति आदि में ज्ञानों में भिन्नता कैसे होगी ? सामग्री की भिन्नता ही कार्यभिन्नता की नियामक होती है। मन को करण मानने पर प्रमाणों का विभाजन किस आधार पर होगा ? इस विषय में दिनकरीकार का मत है कि क्रिया की भिन्नता के आधार पर ही प्रमाणों का विभाजन होगा। क्रिया का अर्थ है धात्वर्थ। अनुमिति आदि प्रमारूप धात्वर्थ हैं। विजातीय प्रमा के भेद से ही प्रमाणों का विभाजन सम्भव है। इसी अभिप्राय से अनुमिति व्यक्ति को लेकर पूर्वोक्त अनुमिति का लक्षण बनाया गया है।

व्यापार से युक्त असाधारण कारण को कारण मानने पर व्याप्ति ज्ञान को ही कारण मानना उचित है। इस मत में व्याप्ति ज्ञान स्वजन्यज्ञानवत्व सम्बन्ध से

---

१. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् त० भा० अनु० परि० पृ० १६

२. तच्च लिङ्गपरामर्शो न तु परामृश्यमाणंलिङ्गमिति वक्ष्यते-त० चि० अनु० निरू० पृ० २७

३. अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः न्या० सि० मु० अनु० ख० पृ० २६०

४. व्याप्तिज्ञानस्य……तस्मादनुमतिं प्रति मनस्त्वेनैव करणत्वमित्याहुः दि० अनु० ख० पृ० २११

परामर्श युक्त होने से परामर्श व्यापार और व्याप्तिज्ञान करण होता है। साधकतम को कारण अथवा "**फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्**" यह कारण का लक्ष्य स्वीकार करने पर लिङ्ग परामर्श को ही कारण मानना उचित है। परामर्श ही अनुमिति का साधकतम है—जिसके अव्यवहितक्षण में ही अनुमिति उत्पन्न होती है। व्याप्तिज्ञान के अव्यवहित क्षण में परामर्श उत्पन्न होने से फलायोग व्यवच्छिन्नत्व उसमें नहीं है। परामर्श को कारण मानने वाले परामर्श से उत्पन्न परामर्श के संस्कार को व्यापार मानते हैं। किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। संस्कार को व्यापार मानने पर अनुमिति को भी संस्कारजन्य कहना होगा। परामर्श के तुरन्त पश्चात् अनुमिति होती है। अतः संस्कार को व्यापार मानना उचित नहीं है। केवल ज्ञान को अथवा मन को अनुमिति का कारण मानने वाला मत[1] भी उपलब्ध होता है। इस मत में किसी भी ज्ञान से अनुमिति इसलिए नहीं होती कि परामर्श रूप कारण नहीं रहता है।[2] अनन्त ज्ञान व्यक्तियों को कारण मानने की अपेक्षा परामर्श को ही कारण मानना उचित है।

परामर्श विषय हेतु को अनुमान का कारण मानने पर हेतु और परामर्श दोनों का करण मानना होगा। विशिष्ट को कारण मानने पर विशेषण में भी कारणता ज्ञात होती है। अतः परामर्श से युक्त हेतु को कारण मानना या परामर्श को करण मानना इसमें विनिगमना न होने से दोनों को करण मानना उचित है। अन्य व्यापार न होने से हेतु को परामर्श रूप व्यापार द्वारा करण कहें तो अतीत हेतु परामर्श का करण न होने से परामर्श उसके लिए व्यापार नहीं हो सकता है। दिनकरीकार[3] का विचार है कि यदि हेतु को करण मानें तो चैत्रनामक व्यक्ति के परामर्श बिषय हेतु से मैत्र नामक व्यक्ति को अनुमिति उत्पत्ति के कारण के लिए "**तत्पुरुषीय**" अनुमिति के लिए "**तत्पुरुषीय**" परामर्श विषय हेतु को कारण मानना होगा जिसमें गौरव दोष होता है। परामर्श को करण मानने वाले जिस स्थान में अनुमिति होती है उस स्थान में रहने वाले परामर्श "**सामानाधिकरणप्रत्यासत्या**" का कारण मानते हैं। अतः उन्हें "**तत्पुरुषीय**" का उपयोग नहीं करना पड़ता है।

---

१. नन्वनुमितिं प्रति न व्याप्तिज्ञानत्वेन करणत्वं किन्तु ज्ञानत्वेन मनस्त्वेनैव वा—दिनकरी अनु० ख० पृ० १७७ चौ० सन् १९५१

२. परामर्शरूपकरणान्तराभावादेव भक्तिभिज्ज्ञानात्केवलं मनसोवाऽनुमितिः रा.रू. खण्ड. प्र०

३. लिङ्गस्य हेतुत्वे चैत्रीयपरामर्शविषयलिङ्गान्मैत्रस्यानुमितिप्रसङ्गः, तत्पुरुषीयत्वनिवेशे गौरवम्, अस्मन्मते सामानाधिकरणप्रत्यासत्या हेतुहेतुमद्भावे नैवातिप्रसङ्गाभावान्न तत्पुरुषीयत्वनिवेश इति लाघवमित्यपि बोध्यम्। दिन० अनु० ख० पृ० २१२

परामर्श का लक्षण एवं प्रयोजन

"व्याप्ति विशिष्ट का पक्ष के साथ जो वैशिष्ट सम्बन्ध है उसका ज्ञान परामर्श कहलाता है।" इसे ही दीधितिकार[1] ने "व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान" कहा है। एक मत यह भी है कि सभी परामर्शों में अनुमिति कारणता की नियन्त्रक **"अवच्छेदक"** एक परामर्शत्व जाति है। चाक्षुषत्व आदि जातियों के साथ साङ्कर्य होने से उस जाति को मानस ज्ञानत्व की व्याप्यजाति मानना चाहिए। चाक्षुष परामर्श के पश्चात् होने वाली अनुमिति में व्यभिचार के निवारण के लिए चाक्षुष परामर्श के पश्चात् फल बल से मानस परामर्श की कल्पना करनी चाहिए।

परामर्शत्व को स्मृतिव्याप्य जाति भी माना जा सकता है। इससे एक लाभ यह है कि स्मरण संशयात्मक न होने से संशय के पश्चात् अनुमिति की उत्पत्ति न होने से परामर्श को निश्चय के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु उसमें चाक्षुष परामर्श के पश्चात् पुनः स्मरणात्मक परामर्श और उसके बीच स्मरणोत्पादक संस्कार आदि की कल्पना करने में "महागौरव" दोष है।

परामर्श का प्रयोजन

न्यायमत

नैयायिकों[2] का मत है कि **"पर्वतो अग्निमान् है"** इस अनुमिति के लिए **"अग्निव्याप्य आलोकवान् पर्वतः"** यह परामर्शात्मक ज्ञान अनुमिति का कारण है। "वह्निव्याप्य आलोक" है और "आलोकवान् पर्वतः" ये दो भिन्न कारण नहीं हैं। जहां स्वतन्त्र ज्ञान है वहां भी एक "विशिष्टज्ञान" अनुमिति का जनक होता है।

मीमांसक मत खण्डन

यहां मीमांसक[3] का कथन है कि "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इस विशिष्ट परामर्श को कारण मानने वालों को व्याप्ति के विषय में भी निश्चय का तथा हेतु के विषय में निश्चय का निवेश करना होगा। और निश्चय तदभावाप्रकारक होने से उसमें अनेक पदार्थ समाविष्ट हैं जिनके विशेष्य और विशेषण स्वरूप के विषय में विनिगमक कुछ न होने से विशेषण और विशेष्य के भेद से अनेक कार्यकारणभाव

---

१. त० चि० दीधिति अनु० निरू० पृ० ४४ कलकत्ता।

२. न्या० सि० मु० अनु० ख०।

३. मीमांसकास्तु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति विशिष्टपरामर्शस्य हेतुत्ववादि नये······ज्ञानद्वयवादिनये तु ज्ञानस्य भिन्नतया निश्चयत्वप्रवेशेऽपि न मिथो विनिगमनाविरहस्तत्र लाघवमित्याहुः—भा० चि० अनु० पृ० ३०

होंगे। दो ज्ञानों को स्वतन्त्र रूप से कारण मानने वाले के मत में ज्ञान भिन्न होने से परस्पर विनिगमना विरह नहीं है। अतः "विनिगमना" के अभाव से उत्पत्स्यमान कार्यकारण का बाहुल्य भी नहीं है।

यहां नैयायिक[1] कहते हैं कि "**व्याप्ति विशिष्ट हेतु प्रकारक पर्वतविशेष्यक निश्चय**" को हम कारण मानते हैं, इसलिए व्याप्ति के विषय में निश्चय का निवेश ही नहीं है, अतः गौरव का अवसर ही नहीं आता, यह बात नहीं है। व्याप्ति के विषय में निश्चय का ग्रहण न करने पर "**वह्निव्याप्यो धूमः**" यह निश्चय रहने पर "**व्याप्यत्वाभाववान्** का ज्ञान हो" यह इच्छा होने पर व्याप्ति के विषय में संशयात्मक **व्याप्ति विशिष्ट-वैशिष्ट्यविषयक** बोध होने में कोई बाधा नहीं है। अतः "**व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञान**" में व्याप्ति के अंश में निश्चय का ग्रहण आवश्यक है। उसका प्रवेश करने पर गौरव है। वह ज्ञान आहार्य[2] होने से उसके पश्चात् अनुमिति नहीं होती है। अतः अनाहार्य परामर्श को अनुमिति के कारण रूप में ग्रहण करना चाहिए यह समाधान उचित नहीं है। क्योंकि अनाहार्यत्व का निर्वचन करना सम्भव नहीं है। इसलिए अनाहार्यत्व तद्विषयत्व रूप ही लेना होगा और उन अनन्त तद्व्यक्तियों के अभाव समुदाय को परामर्श के साथ जोड़ने की अपेक्षा व्याप्ति के विषय में निश्चय का ग्रहण करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अतः गौरव दोष है।

मीमांसकों के पक्ष में दूसरा तर्क यह है कि **वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः**" इस ज्ञान के बिना भी जहां पर्वत पर धूम का प्रत्यक्ष हुआ उसके पश्चात् धूम अग्नि का व्याप्य है यह स्मृति हुई वहां दो ही ज्ञानों से अनुमिति का अनुभव होता है। अतः सर्वत्र विशिष्ट-ज्ञान की कल्पना करना अनुचित है। सर्वत्र "**व्याप्यत्वावच्छेदक प्रकारकपक्षधर्मताज्ञान**" व्याप्यता का नियन्त्रक जो धूमत्व वह प्रकार है जिस पक्षधर्मता के ज्ञान में ऐसे ज्ञान को ही अनुमिति का कारण मानना चाहिए।

नव्यनैयायिकों[3] का कथन है कि व्याप्यता के नियन्त्रक "**अवच्छेदक**" धूमत्व का ज्ञान न होने पर भी "**वह्निव्याप्यवान्**—" इस ज्ञान से ही यह धूम है या आलोक है ऐसा सन्देह करने पर अनुमिति उत्पन्न होती है। वहां भी फल बल से "**व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान**" कल्पना की जा सकती है। यदि यह कहें तो "व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान" की अपेक्षा "व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मता-

---

१. भट्टचिन्तामणि, अनु निरू० पृ० ३० चौ० १९३३।

२. बाधाकालीनेच्छाजन्यज्ञानम्।

३. ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञानं विनापि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं·········तत्र विशिष्टज्ञानकल्पने गौरवाच्चेति—न्या० सि० मु० अनु० ख० पृ० २९३

ज्ञान" कल्पना की जा सकती है। यदि यह कहें तो "व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मता की अपेक्षा "व्याप्ति.प्रकारक पक्षधर्मताज्ञान" को कारण मानने में लाघव है क्योंकि 'अवच्छेदक' का इसमें निवेश नहीं है।

इस प्रकार नैयायिक को 'अवच्छेदक' प्रवेश न होने से होने वालालाघव है तो मीमांसक को कल्पनालाघव है। इस प्रकार लाघव तुल्य होने से किसी पक्ष को लाघव के आधार पर ग्राह्य और गौरव के आधार पर त्याज्य नहीं ठहराया जा सकता। अत: नैयायिक विश्वनाथ[1] कहते हैं कि व्याप्यतावच्छेंदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान को कारण मानने पर "धूमवान् पर्वत:" इस ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए। यदि जिसमें व्याप्ति ज्ञात हो चुकी है ऐसे धूम से युक्त पर्वत का ज्ञान अनुमिति का कारण कहें तो चैत्र नामक व्यक्ति को धूम में व्याप्ति ज्ञान होने पर तथा मैत्र नामक व्यक्ति को 'पक्षधर्मता' का ज्ञान होने पर पर्वत में अग्नि की अनुमति होनी चाहिए। अत: जिस पुरुष को हेतु में व्याप्ति का ज्ञान है उसी पुरुष को होने वाला पक्षधर्मता का ज्ञान अनुमिति का कारण कहने पर अनन्त पुरुष होने से कार्यकारण नियम भी अनन्त होंगे। परामर्श को कारण मानने पर जहां समवाय सम्बन्ध से अनुमिति उत्पन्न होती है, वहां समवाय सम्बन्ध से परामर्श रहने से तत्पुरुषीय आदि का निवेश नहीं करना होगा।[2]

विश्वनाथमत

व्याप्तिज्ञान को और पक्षधर्मताज्ञान को स्वतन्त्र रूप से अनुमिति का कारण मानने पर कार्यकारणभाव दो प्रकार के होंगे। तथा वह्निव्याप्य धूम और "आलोकवान् पर्वत:" इस प्रकार के दो स्वतन्त्र ज्ञान होने पर भी पर्वत पर अग्नि की अनुमिति होनी चाचिए। इस प्रकार से जहां स्वतन्त्र ज्ञानों से अनुमिति होती हैं, वहां विशिष्ट ज्ञान रूप परामर्श की अवश्य कल्पना करनी चाहिए। यह कल्पना प्रयुक्त गौरव दोषावह नहीं है। कार्यकारणभावमूलक गौरव दोषास्पद नहीं माना जाता।

---

१. न्या० सि० मु० अनु० ख०। पृ० २१४

२. किञ्च धूमवान् पर्वत इति ज्ञानादनुमित्यापत्ति: व्याप्यातवच्छेदकी भूतधूमत्वप्रकारकस्य पक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात्-न्या० सि० मु० अनु० ख० पृ० २१४।

दिनकरीकार मत

इसी बात को स्पष्ट करते हुए दिनकरीकार[1] लिखते हैं "विशिष्ट ज्ञान के रूप में कारणता के ज्ञान में विशिष्ट ज्ञान में गौरव का निश्चय विरोधी होता है। वह गौरव, गौरव का निश्चय अनुमिति के लिए विशिष्ट ज्ञान के कारण के रूप मे निश्चित हो जाने पर होता है। गौरव निश्चय, गौरव घटक जो तत्त्व अनुमिति का अव्यवहित पूर्ववर्त्तित्वाश्रय, उसके निश्चय के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए कार्यकारणभाव के निश्चय के पूर्व गौरव का निश्चय न होने से वह गौरव परामर्श की कारणता के निश्चय का विरोधी नहीं हो सकता है। "स्वोत्तरोत्पन्न गौरवज्ञान" स्व-विरोधी कैसे सम्भव है ?

तर्कभाषाकार का मत

तर्कभाषाकार[2] ने भी परामर्श का समर्थन किया है, यत्र 'यत्र धूमस्तत्र वह्निः' से यह कैसे सिद्ध होगा कि यहां भी अग्नि होनी चाहिए। इसके लिए यहां भी धूम है—यह ज्ञान अवश्य मानना चाहिए यही लिङ्ग परामर्श है।

अनुमान के अङ्ग

व्याप्ति

व्याप्ति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में दर्शनों में विभिन्न नाम उपलब्ध होते हैं। व्याप्ति, अविनाभाव, साहचर्य, नियम, समय, अनौपाधिक सम्बन्ध, सम्बन्ध आदि। आचार्य गङ्गेश ने व्याप्ति के लिए व्याप्ति शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे—"अव्यभिचरितत्व" कहा है। अनेक दृष्टिकोणों से नव्य नैयायिकों ने व्याप्ति पर विचार किया है। आचार्य गङ्गेश की तत्त्व चिन्तामणि में ही व्याप्ति के अनेक प्रकार के लक्षण उपलब्ध होते हैं। पूर्वपक्ष-व्याप्ति, सिद्धान्त-व्याप्ति, सिंह-व्याघ्रव्याप्ति, पारिभाषिक-व्याप्ति आदि। इनका आधार आचार्य गङ्गेश समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्य हैं। गुरुपरम्परा से ज्ञात होता है कि सिंह और व्याघ्र इस उपनाम से प्रसिद्ध शशधर और मणिधर नामक विद्वान् थे। तथा व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव" मानने वाले सोन्दडोपाध्याय थे। इन पूर्वाचार्यों अथवा समकालीन विचारकों के मतों को लेकर ही गङ्गेश ने अनेक प्रकार के व्याप्ति के लक्षण प्रस्तुत किये हैं।

---

१. विशिष्टज्ञानत्वावच्छेदेन कारणत्वग्रहे विशिष्टे ज्ञानत्वधार्मिकगौरवनिश्चायो विरोधी वाच्यः तच्च गौरवं.........कार्यकारणभाव निर्णयात् पूर्वं गौरव-निर्णयाभावान्न तादृशगौरवं दूषकमिति भावः। दि० अनु० अ० पृ० २५

२. त० भा० अनु० परि०।

अनुमान के प्रामाण्य के निरूपण के पश्चात् ही आचार्य गङ्गेश[1] ने प्रश्न उठाया है कि—"**अनुमिति-हेतु व्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः?**" जिसका तात्पर्य है कि अनुमान का प्रामाण्य जिस अनुमिति पर आधारित है उस अनुमिति के कारण व्याप्ति ज्ञान की विषय व्याप्ति क्या है ?[2] अथवा "**अनुमिति**" में जो इतर पदार्थो के भेद की अनुमिति की जाती है, उसके लिए जो हेतु हैं "**व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मता ज्ञान-जन्यत्व**" उसके अन्तर्गत आने वाले ज्ञान में विशेषणा के रूप में भासित होने वाली व्याप्ति क्या है ? नैयायिक मत में प्रामाण्य की सिद्धि और अनुमिति की भिन्न प्रमा के रूप में सिद्धि दोनों ही अनुमान पर आधारित हैं और अनुमान का मूलाधार व्याप्ति है । इसलिए व्याप्ति के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा स्वाभाविक है ।

व्याप्ति स्वरूप के निरूपण की आवश्यकता स्फुट करते हुए दीधितिकार[3] लिखते हैं । समारब्ध जो अनुमान के प्रामाण्य की परीक्षा है, उसका कारण है व्याप्ति ग्रहोपाय का प्रतिपादन । जिसका निदान है व्याप्ति स्वरूप निरूपण, यही कारण है कि अनुमान प्रामाण्य विचार के पश्चात् आचार्य गङ्गेश को व्याप्ति के स्वरूप का विचार करना पड़ा ।

पूर्व-पक्ष-व्याप्ति

गङ्गेश मत

आचार्य गङ्गेश[4] ने पूर्व पक्ष व्याप्ति के पांच स्वरूप उपस्थित किये हैं । "यत्र-यत्र हेतुस्तत्र तत्र साध्यम्" इस प्रकार के व्याप्ति के स्वरूप को कहा है। किन्तु "**यत्र-यत्र**" और "**तत्र-तत्र**" से यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र धूम के आश्रय में अग्नि रहता है किन्तु चार्वाक का यही आक्षेप है कि किस आधार पर आप कह सकते हैं ? क्या आपने सर्वत्र देखा है ? जब नहीं तो आप किस आधार पर यह प्रतिज्ञा कर सकते हैं ? सर्वत्र जहां धूम होता है अग्नि होती है "अतः यावद् धूम में व्याप्ति को स्पष्ट करने के लिए उसका परिष्कार करना आवश्यक है और उसके लिए यह भी आवश्यक था कि व्याप्ति स्वरूप निषेधात्मक हो । बिना उसके व्याप्ति का स्वरूप स्पष्ट ही नहीं होता तथा उसमें सार्वभौमिकता नहीं आ सकती । इसलिए निषेध मुख से आचार्य ने उसे अव्यभिचरितत्व अर्थात् व्यभिचाराभाव कहा । व्यभिचाराभाव

---

१. तत्त्वचिन्तामणि, पं० राजराजेश्वर शास्त्री व्याप्ति प्र० पृ० १०१ कलकत्ता
२. तथा-चानुमाननिष्ठप्रामाण्यानुमितिहेतु व्याप्तिज्ञानविषयीभूता व्याप्तिः केत्यर्थः—मा० व्या० प० रहस्य पृ० ४ चौ० ।
३. समारब्धानुमान-प्रामाण्य-परीक्षा-कारणीभूत-व्याप्ति-ग्रहोपाय-प्रतिपादन-निदानं व्याप्ति-स्वरूप-निरूपणामारभते । त० चि० दी० व्याप्ति पृ० १०१
४. तत्त्वचिन्तामणि-व्याप्ति पञ्च प्र० पृ० १०१ कलकत्ता ।

कहने से सर्वत्र हेतु और साध्य के अस्तित्त्व को प्रत्यक्षतः देखने की आवश्यकता नहीं थी। व्यभिचारग्रह एकत्र भी हो सकता है। व्यभिचाराग्रह से व्यभिचाराभाव का ज्ञान हो जाता है। जब कोई धूमाभाव के आश्रय लौह-पिण्ड में अग्नि के अस्तित्व को देखता है तो उसे उनके बीच में व्यभिचार स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार उसे **"साध्याभाववद् वृत्तित्व"** रूप व्यभिचार का ज्ञान होता हैं। इसी प्रकार व्यभिचार के अन्य भी कई रूप हो सकते हैं।

१. **साध्याभाववद्वृत्तित्व।**
२. **साध्यासामानाधिकरण्याधिकरणत्व।**
३ **साध्यवैयधिकरण्याधिकरणत्व।**
४. **साध्यवदन्योन्याभावाधिकरणवृत्तित्व।**
५ **हेत्वाधिकरणवृत्ति-अभावप्रतियोगित्व"** आदि

इस प्रकार साध्याभाव के आधार पर अन्य अनेक प्रकार से व्यभिचार की परिभाषायें बनाई जा सकती है। इन रूपों के अन्त में अभाव लगा देने से व्यभिचार की व्याप्ति का स्वरूप बन जाता है। इसी दृष्टि से **"साध्याभाववदवृत्तित्व"** रूप पहला पूर्वपक्ष व्याप्ति का लक्षण गङ्गेश ने प्रस्तुत किया है। इस व्याप्ति को समझने के लिए यावद्धर्म के साथ अग्नि को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता नहीं है। अभाव को देखने के लिए यावत्प्रतियोगी को देखने की आवश्यकता नहीं है, एक धूम को जानकर भी अयोगोलक में उसके अभाव को जाना जा सकता है और एक धूम के अभाव के अधिकरण में भी अग्नि का प्रत्यक्ष हो जाने पर धूम और अग्नि के बीच व्यभिचार स्पष्ट हो जाता है। और एक भी अग्नि के अभावाश्रय में धूम का प्रत्यक्ष न होने से अग्नि और धूम के मध्य व्यभिचार का स्फुरण नहीं होता, और अव्यभिचार रूप व्याप्ति स्पष्ट हो जाती है। अतः व्यभिचार के स्फुरण न होने मात्र से ही अव्यभिचार रूप व्याप्ति स्पष्ट हो जाती है।

१. साध्याभाववद्वृत्तित्वम्

पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है। इस अनुमान में **साध्याभाववदवृत्तित्वरूप** व्याप्ति है। यहां साध्य हैं अग्नि, साध्याभाव अग्नि का अभाव, उसके आश्रय जलादि में धूम विद्यमान न होने से अवृत्तित्व धूम में समन्वित होता है। किन्तु यदि कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि पर्वत धूमवान् है तो यहां व्याप्ति घटित नहीं होती है। यहां धूमाभाव के आश्रय तप्त लौह में अग्नि विद्यमान है। अतः उसमें अवृत्तित्व नहीं है, वृत्तित्व ही है, अर्थात् व्यभिचार है।

---

१. तद्धि न साध्याभाववद्वृत्तित्वम्—त० चि० व्याप्ति प्र० पृ० १०१

मथुरानाथमत

इस लक्षण की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ[1] लिखते हैं वस्तुतः "**साध्याभाववतो न वृत्तिर्यत्रेति**" इस प्रकार के "**त्रिपदव्यधिकरण बहुव्रीहि**—" समास बाद "त्व" प्रत्यय लगाकर यह लक्षण बनाया गया है "**साध्याभाववतः**" यहां षष्ठी विभक्ति का अर्थ "**निरूपितत्व**" है जिसका अन्वय वृत्ति के साथ है। इससे "**साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्य भाववत्वम्** यह अव्यभिचरितत्व का लक्षण फलित होता है। यद्यपि व्यधिकरण-बहुव्रीहि समास सर्वत्र ठीक नहीं माना जाता तथापि यह हेतु, साध्याभावान् में "**अवृत्ति**" है, यह सिद्ध करने के लिए व्यधिकरण बहुव्रीहि के बिना दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अतः यहां भी व्यधिकरण बहुव्रीहि ठीक ही है।

इस लक्षण के परित्याग का कारण स्पष्ट करते हुए रघुनाथ[2] शिरोमणि लिखते हैं "**साध्याभाववदवृत्तित्व**" लक्षण की अव्याप्यवृत्ति साध्यक सद्धेतु में अव्याप्ति होती है। अतः "**साध्यवदभिन्न**" इत्यादि दूसरा लक्षण किया है। तात्पर्य यह है कि यह कपिसंयोगी है, क्योंकि यह वृक्ष है। इस अनुमान में कपि संयोग के आश्रय इस वृक्ष में शाखा भाग में कपिसंयोग का अभाव होता है। अतः कपि संयोगाभाव के आश्रय इसी वृक्ष में "**एतद्वृक्षत्व**" रूप हेतु के विद्यमान होने से वृत्तित्वाभाव हेतु में नहीं जाता है। फलस्वरूप अव्याप्ति होती है।

मथुरानाथ[3] ने अन्य प्रकार से इस दोष का निवारण करने का प्रयास किया है। पूर्व परिष्कृत साध्याभावत्व से युक्त से प्रदर्शित कथित संसर्ग वाली अनियन्त्रित (निरवच्छिन्न) अधिकरणता आश्रय में वृत्ति न होना, यह लक्षण करने पर "यह कपिसंयोगी है क्योंकि (एतद्वृक्ष है) इस अनुमान में दोष नहीं होता है। कपिसंयोग का अभाव वृक्ष में किसी स्थान से नियन्त्रित होता है। जब कपि का संयोग वृक्ष की शाखा में रहता है तब वृक्ष के मूल में उसका अभाव होता है जिसका तात्पर्य है कि वृक्ष में जो संयोग का अभाव है वह मूल से नियन्त्रित है, अनियन्त्रित अर्थात् निरवछिन्न नहीं है। कपिसंयोगाभाव अनियन्त्रित रूप से गुण, कर्म आदि पदार्थों में रहता

---

१. भा० व्या० प० रहस्य पृ० २०

२. साध्याभाववदवृत्तित्वस्याव्याप्यवृत्तिसाध्यकसद्धेतावव्याप्तिमाशङ्क्याह "साध्यवद् भिन्नेति"। त० चि० व्याप्य्य प्र० पृ० १०२

३. निरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्टनिरूपिता या निरुक्तसंसर्गकनिरवच्छिन्नाधिकरणता तदाश्रयावृत्तित्वस्य विवक्षितत्वात्।
—भा० व्या० र० रहस्य पृ०५।६

४. तथा चैवं कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वादित्यादौ निरवच्छिन्नसाध्याभावाधिकरणाप्रसिद्ध्याऽव्याप्तिरिति वाच्यम्। केवलान्वयिन्यभावादित्यनेन ग्रन्थकृतैवास्य दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्—भा० व्या० प० रहस्य पृ० ६१।

है। इसलिए पूर्वकथित साध्यभाव कपिसंयोगाभाव की अनियन्त्रित अधिकरणता गुण में ही होगी, वृक्ष में नहीं। अत: पूर्वोक्त अनियन्त्रित (अधिकरणता) का आश्रय गुण होगा उसमें एतद् वृक्षत्व अविद्यमान होने से व्याप्ति का समन्वय होता है। किन्तु इस प्रकार से लक्षण का परिष्कार करने पर "यह कपि संयोगाभाववान् है क्योंकि सत्ताबान् है। इस अनुमान में साध्याभाव कपिसंयोगाभाव का अनियन्त्रित निरवच्छिन्न (अधिकरण) अप्रसिद्ध है। कपि-संयोग किसी शाखादि स्थान विशेष से नियन्त्रित ही होता है। इस विषय में मथुरानाथ[1] का उत्तर है कि इस प्रकार से "**केवलान्वयिन्यभावात्**" कहकर पूर्वपक्षव्याप्ति का खण्डन स्वयं आचार्य गंङ्गेश ने किया है, अत: वह दोष यहां विचारणीय नहीं है।

दीधितिकार द्वारा प्रस्तुत अव्याप्ति के कारण का मथुरानाथ द्वारा कृत प्रयास एक लक्षणान्तर ही है। लक्षण में परिवर्तन के बिना मथुरानाथ भी अव्याप्ति निवारण नहीं कर सकते हैं। गङ्गेश ने भी "**साध्यवद्भिन्न**" यह दूसरा लक्षण किया। अत: समान ही है।

अपि च पूर्व पक्ष व्याप्ति का **साध्यभाववद्वृत्तित्व** रूप में प्रथम लक्षण प्रस्तुत करने वाले के मत में कपिसंयोगाभाव, अधिकरण के भेद से भिन्न होता है। क्योंकि व्याप्य-वृत्तित्व और अव्याप्यवृत्तित्व ये परस्पर विरुद्ध धर्म एक पदार्थ में नहीं रह सकते। इसलिए जो कपिसंयोगाभाव वृक्ष में है वह और जो गुण में है वह भिन्न है।" ऐसी परिस्थिति में वृक्ष में रहने वाले कपि संयोगाभाव की अनियन्त्रित अधिकरणता अप्रसिद्ध है। इसलिए साध्यवद्भिन्न इस द्वितीय लक्षण से ही पूर्वोक्ताव्याप्ति का वारण करने में सुगमता है।

१. साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववद्वृत्तित्वम्

इस लक्षण की व्याख्या आचार्य मथुरानाथ[2] इस प्रकार करते हैं "साध्यवान् से भिन्न जो साध्याभाववान् उसमें वृत्ति न होना"। पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है। इस अनुमान में साध्यवान् अग्निमान् से भिन्न साध्याभाववान् हुए जल आदि उनमें धूम नहीं रहता है। अतः वह अवृत्ति है। किन्तु पर्वत धूमवान् है। अग्निमान् होने से "इस अनुमान में साध्यवान् धूमवान् पर्वत से भिन्न साध्याभाववान्—धूमाभाववान् तप्तलौहपिण्ड है—उसमें अग्नि विद्यमान होने से व्यभिचार है

---

१. वस्तुतस्तु एतल्लक्षणकर्तृमते विरुद्ध धर्माध्यासस्याभावभेदकत्वेन कपिसंयोगाभावोऽधिकरणभेदेन भिन्न इति साध्यवद् भिन्नत्वविशेषणेऽव्याप्तिवारणं सुकरमिति विशेषप्रदर्शनाय तन्नोक्तम्। मा० व्या० प० र० गंगा० पृ० ८५

२. साध्यवद् भिन्नो यः साध्याभाववान् तदवृत्तित्वमर्थः। मा० व्या० प० र० पृ० ८५।

मथुरानाथमत

इस लक्षण की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ[1] लिखते हैं वस्तुतः "**साध्याभाववतो न वृत्तिर्यत्रेति**" इस प्रकार के "**त्रिपदव्यधिकरण बहुव्रीहि—**" समास बाद "त्व" प्रत्यय लगाकर यह लक्षण बनाया गया है "**साध्याभाववतः**" यहां षष्ठी विभक्ति का अर्थ "**निरूपितत्व**" है जिसका अन्वय वृत्ति के साथ है। इससे "**साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्य भाववत्वम्** यह अव्यभिचरितत्व का लक्षण फलित होता है। यद्यपि व्यधिकरण-बहुव्रीहि समास सर्वत्र ठीक नहीं माना जाता तथापि यह हेतु, साध्याभावान् में "**अवृत्ति**" है, यह सिद्ध करने के लिए व्यधिकरण बहुव्रीहि के बिना दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अतः यहां भी व्यधिकरण बहुव्रीहि ठीक ही है।

इस लक्षण के परित्याग का कारण स्पष्ट करते हुए रघुनाथ[2] शिरोमणि लिखते हैं "**साध्याभाववदवृत्तित्व**" लक्षण की अव्याप्यवृत्ति साध्यक सद्धेतु में अव्याप्ति होती है। अतः "**साध्यवदभिन्न**" इत्यादि दूसरा लक्षण किया है। तात्पर्य यह है कि यह कपिसंयोगी है, क्योंकि यह वृक्ष है। इस अनुमान में कपि संयोग के आश्रय इस वृक्ष में शाखा भाग में कपिसंयोग का अभाव होता है। अतः कपि संयोगाभाव के आश्रय इसी वृक्ष में "**एतद्वृक्षत्व**" रूप हेतु के विद्यमान होने से वृत्तित्वाभाव हेतु में नहीं जाता है। फलस्वरूप अव्याप्ति होती है।

मथुरानाथ[3] ने अन्य प्रकार से इस दोष का निवारण करने का प्रयास किया है। पूर्व परिष्कृत साध्याभावत्व से युक्त से प्रदर्शित कथित संसर्ग वाली अनियन्त्रित (निरवच्छिन्न) अधिकरणता आश्रय में वृत्ति न होना, यह लक्षण करने पर "यह कपिसंयोगी है क्योंकि (एतद्वृक्ष है) इस अनुमान में दोष नहीं होता है। कपिसंयोग का अभाव वृक्ष में किसी स्थान से नियन्त्रित होता है। जब कपि का संयोग वृक्ष की शाखा में रहता है तब वृक्ष के मूल में उसका अभाव होता है जिसका तात्पर्य है कि वृक्ष में जो संयोग का अभाव है वह मूल से नियन्त्रित है, अनियन्त्रित अर्थात् निरवच्छिन्न नहीं है। कपिसंयोगाभाव अनियन्त्रित रूप से गुण, कर्म आदि पदार्थों में रहता

---

१. भा० व्या० प० रहस्य पृ० २०

२. साध्याभाववदवृत्तित्वस्याव्याप्यवृत्तिसाध्यकसद्धेतावव्याप्तिमाशङ्क्याह "साध्यवद् भिन्नेति"। त० चि० व्याप्ति प्र० पृ० १०२

३. निरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्टनिरूपिता या निरुक्तसंसर्गकनिरवच्छिन्नाधिकरणता तदाश्रयावृत्तित्वस्य विवक्षितत्वात्।
—भा० व्या० र० रहस्य पृ०५।६

४. तथा चैवं कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वादित्यादौ निरवच्छिन्नसाध्याभावाधिकरणाप्रसिद्धयाऽव्याप्तिरिति वाच्यम्। केवलान्वयिन्यभावादित्यनेन ग्रन्थकृतैवास्य दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्—भा० व्या० प० रहस्य पृ० ६१।

भवानन्द के इस कथन का विरोध करते हुए मथुरानाथ[1] कहते हैं अभाव के अभाव को अतिरिक्त मानकर ही यह लक्षण किया गया है। इसलिए अधिकरण के भेद से अभाव भिन्न होने के कारण साध्यवान् से भिन्न घट में रहने वाला तथा प्रतियोगी के आश्रय में न रहने वाला साध्याभाव गगन में न होने से **साध्यवद्भिन्न साध्याभाववद् वृत्तित्व** गगन में नहीं है।

३, **साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावसामानाधिकरण्यम्**

इस लक्षण की व्याख्या मथुरानाथ[2] ने इस प्रकार की है—हेतु में साध्यवान् में रहने वाली प्रतियोगिता के प्रदर्शक अन्योन्याभाब के अधिकरण से प्रदर्शित वृत्तिता का अभाव। जैसे पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि धूमवान् है। इस स्थल में साध्यवान् में रहने वाली प्रतियोगिता का प्रदर्शक अन्योन्याभाव है, अग्निमान् का भेद, उसका अधिकरण जल आदि है। उससे प्रदर्शित वृत्तिता "मीन शैवाल आदि रहती है और उस वृत्तित्ता का अभाव धूम में रहने से लक्षण का समन्वय होता है। **पर्वतो धूमवान् अग्नेः**" इस व्यभिचारी स्थल में लक्षण समन्वित नहीं होता। धूमवान् का भेद अयोगोलक में है उसमें अग्निवृत्ति होने से वृत्तित्वाभाव रूप व्याप्ति अग्नि हेतु में घटित नहीं होती है। अतः यह व्यभिचारी हेतु है।

रघुनाथ मत

इस लक्षण के परित्याग का वीज स्पष्ट करते हुए आचार्य रघुनाथ[3] कहते हैं। सर्वत्र सद्हेतु स्थल में हेतु साध्यवान् पक्ष से भिन्न दृष्टान्त में वृत्ति होने से साध्यवान् से भिन्न में अवृत्ति नहीं है। अतः चतुर्थ लक्षण उपस्थित किया गया है। "**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**" इस स्थल में पक्ष भेद की दृष्टान्त में होने वाली अव्याप्ति के निवारण के लिए साध्यवान् के भेद पद से साध्यवत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला भेद "**अर्थात् साध्यवान्**" मात्र का भेद लेने पर अग्रिम पञ्चमलक्षण के साथ पौनरुक्त्य होगा।[4]

---

१. मा० व्या० प० रहस्य पृ० ९२

२. हेतौ साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाब इत्यर्थः—मा० व्या० प० र० चौ० पृ० ९३

३. हेतौः साध्यवत्पक्षभिन्नदृष्टान्तवृत्तित्वेनाऽव्याप्तेराह—सकलेति—दी० पृ० १०४

४. साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावविवक्षणे तु पञ्चमेन सह पौनरुक्त्यम्—मा० व्या० प० र० पृ० ९४

४. **सकल-साध्याभाव वन्निष्ठाभाव प्रतियोगित्वम्**

साध्याभाव के सभी अधिकरणों में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता[1]। जैसे "**पर्वतोऽग्निमान् धूमात्**" इस अनुमान में अग्नि अभाव के सभी जलह्रदादि अधिकरणों में धूमाभाव रहता है। अत: उस अभाव की प्रतियोगिता धूम में रहने से धूम हेतु में लक्षण समन्वय होता है। किन्तु "**धूमवान् अग्नेः**" इस व्यभिचारी अनुमान के सभी अधिकरणों में अग्नि का अभाव नहीं रहता है। धूमाभाव के अधिकरण तप्त लौह में अग्नि की सत्ता रहती है। अत: सकल साध्यवन्निष्ठाभाव के रूप में अग्नि के अभाव का ग्रहण नहीं कर सकते। अन्य किसी वस्तु का अभाव लेंगे उसको प्रतियोगिता अग्नि में न होने से अग्नि में लक्षण समन्वित नहीं होता है।

"सकल साध्याभाव" इस लक्षण में (साकल्य) किसमें विशेषण है? साध्याभाव में, या साध्याभावाधिकरण में, दीधितिकार[2] कार का मत है साकल्प साध्याभावावान् में तथा साध्य दोनों में विशेषण है। जबकि मथुरानाथ[3] कहते हैं साकल्प साध्याभाववान् का विशेषण है। इसलिए जितने भी साध्याभाव के अधिकरण हैं, उनमें रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता हेतु में व्याप्ति है।

सकल पद न देने पर "**धूमवान् वन्हे**: अतिव्याप्ति होती है। साध्याभाव के अधिकरण जलह्रद में अग्नि का अभाव विद्यमान होने से उस अभाव की प्रतियोगिता अग्नि में है। अत: अतिव्याप्ति होती है सकल साध्याभाव के अधिकरण कहने पर सभी धूमाभाव के अधिकरणों में अग्नि का अभाव नहीं है धूमाभाव के अधिकरण लौह पिण्ड में अग्नि की सत्ता रहती है।

(सकल) साध्याभाव का विशेषण बनाने पर "उसह्रद में आवृत्ति का अभाव' इस ह्रद में अवृत्ति (अग्नि) का अभाव आदि अभाव भी साध्याभाव है, इन सब साध्याभावों का एक अधिकरण अप्रसिद्ध है। अत: असम्भव दोष होगा। उस ह्रद में अवृत्ति का अभाव उसी ह्रद में रहेगा। इस ह्रद में अवृत्ति अग्नि का अभाव इसी ह्रद में रहेगा अत: (सकल) पद साध्याभाव के अधिकरणों का विशेषण समझा जाना चाहिए।[4]

---

१. तथा च यावन्ति साध्याभावाधिकरणानि तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेतोर्व्याप्तिरित्यर्थः—मा० न्या० प० र० पृ० ६५।

२. साकल्यं साध्याभाववति साध्ये च बोध्यम्। त० चि० दी० न्या० प०पृ० १०

३. साकल्यं साध्यभाववतो विशेषणम्—मा० न्या० प० रहस्य पृ० ६५।

४. साध्याभावविशेषणत्वे तद् ह्रदावृत्तित्वेन रूपेण यो वह्न्याभावः तस्यापि सकलसाध्याभाववत्त्वेन प्रवेशात्तावदधिकरणाऽप्रसिद्ध्याऽसम्भवापत्तेः मा० न्या० प० रहस्य पृ० ६५।

भवानन्द[1] तर्कबागीश ने सकल पद साध्याभाव का विशेषण मानने पर अति व्याप्ति और अव्याप्ति दोनों प्रकार के दोष उपस्थित किये हैं। "**धूमवान् अग्नेः**" (इस व्यभिचार स्थल में) उस झील में रहने वाले "**धूम**" का अभाव आदि प्रतियोगी के आश्रय में न रहने वाले साध्याभावों का अधिकरण गुण होगा "उसमें अग्नि का अभाव होने से उसकी प्रतियोगिता अग्नि में आती है। इस प्रकार अति-व्याप्ति दोष होता है। उसी प्रकार "**अयं पृथ्वीत्वाभावान् जलत्वात्**" इस अनुमान में उन उन विषयों में न रहने वालों की आभावादि रूप साध्याभावों के समुदाय में एक अधिकरण अप्रसिद्ध है इसलिए अव्याप्ति है।

दीधितिकार[2] का विचार है। यदि साकल्प साध्याभाव मात्र का विशेषण बनाते हैं तो साध्याभाव, साध्यतावच्छेदक से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) प्रतियोगिता वाला होना चाहिए। जिसमें "तत् तत् विपक्षावृत्ति के अभाव को लेकर अतिव्याप्ति और अनेक व्यक्ति साध्य वाहे स्थल में अव्याप्ति नहीं होगी।

दीधितिकार[3] लिखते हैं कि अव्याप्यवृत्तिसाधक सद्धेतु अर्थात् कपिसंयोगी एवद् वृक्षत्वात् यहां अव्याप्ति का निवारण करने के लिए साध्याभाव प्रतियोगिव्यधि-करण होना चाहिए। कपिसंयोगाभाव, प्रतियोगीकपिसंयोग के आश्रय एतदवृक्ष में विद्यमान होने से "प्रतियोगिव्यधिकरण" नहीं है। उसी प्रकार "इयं पृथ्वी कपिसंयोगात् इस व्यभिचारी हेतु में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए "हेत्वभाव" भी प्रतियोगि के आश्रय में न रहने वाला होना चाहिए।

मथुरानाथ[4] पूर्वोक्त "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात् व्याप्ति में अव्याप्ति वारण के लिए" किसी धर्म से अनियन्त्रित साध्याभाव की अधिकरण लेना चाहते हैं,

---

१. साध्याभावे साकल्यदाने तु धूमवान् वह्नेरित्यादावतिव्याप्ति——अव्याप्तिश्च पृथ्वीत्वाभाववान् जलत्वादित्यादौ तत्र तत्तद्विपक्षवृत्तित्वावच्छिन्नाभाव-घटित-साध्याभावस्तोमाधिकरणस्याप्रसिद्धेरिति

त० च० दी० न्या० प्र० पृ० १०५

२. साध्याभाववदवृत्तित्वस्याव्याप्यवृत्तिसाध्यकसद्धेतावव्याप्तिमाशङ्क्याहसाध्य-वद्भिन्नेति। दी० त० च० व्याप्ति पृ० १०२ कलकत्ता।

३. न च कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्—इत्यादौ एतद्वृक्षस्यापि तादृशसाध्या-भाववत्वेन यावदन्तर्गततया······किञ्चिदनवच्छिन्नायाः साध्याभावाधि-करणताया इह विवक्षितत्व तु— मा० व्या० प० रहस्य पृ० ६६-६७

४. वस्तुतस्तु सकलपदमत्राशेषपरं नत्वनेकपरम्, एतद् घटत्वाभावान् पटत्वादित्येक-व्यक्तिविपक्षके साध्यदाभावाधिकरणस्यायावत्वाप्रसिद्धायऽव्याप्त्यापत्तेः। मा० न्या० प० पृ० ६६।

कपिसंयोगाभाव की अधिकरणता वृक्ष में मूल से नियन्त्रित होने से अनियन्त्रित नहीं है। उसी प्रकार "**पृथ्वी कपिसंयोगात्**" इस व्यभिचारि स्थल में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए (तन्निष्ठ) इस पद से अनियन्त्रित (निरवच्छिन्न) वृत्ति-मत्व का ग्रहण उन्हें अभीष्ट है, पृथ्वीत्वाभाव के आश्रय जल में कपि-संयोगाभाव" अनियन्त्रितवृत्तिमान् अभाव नहीं है। अनियन्त्रितवृत्तिमान् "**निरवच्छिन्नवृत्तिमान्**" घटत्व का अभाव है उसकी प्रतियोगिता कपि संयोग में नहीं है।

इस लक्षण में अरुचि का प्रदर्शन निम्न प्रकार से दीधितिकार ने किया है। जहां एक व्यक्ति साध्य है। जैसे **तद्रूपवान् तद्रसात्** "इस स्थल में सकल साध्य अप्रसिद्ध है। तद्रूप (वह रूप) एक ही है। (सकल) साध्याभाववान् में विशेषण देने से जहाँ साध्याभाववान् (विपक्ष) एक ही हैं वहां भी अव्याप्ति होगी। जैसे ईश्वर भिन्न है क्योंकि मनुष्य है। इस अनुमान में साध्याभाव है। ईश्वर भेदाभाव अर्थात् ईश्वरत्व उसके भी सकल आश्रय अप्रसिद्ध है ईश्वर एक ही है।

इस विषय में मथुरानाथ का मत है कि इस लक्षण में सकल पद का अर्थ है अशेष न कि अनेक। (अनेक) अर्थ करने पर ही उपर्युक्त दोष सम्भव है। अशेष का तात्पर्य है व्यापक। अतः जहां एक ही साध्याभाव का आश्रय है वहां भी सकल साध्याभावाधिकरण है। इस प्रकार साध्यभाववान् जितने हों उन सब में रहने वाला अभाव ही "**सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभाव** है।

दीधितिकार के मत से "**धूमाभावव्याप्यवान् निर्वह्नित्वात्**" इस अनुमान में अव्याप्ति होती है। हेत्वाभाव जो प्रत्येक वह्नि यावद् विपक्ष वृत्ति नहीं अतः जितने साध्याभावाधिकरण हैं उन सब में प्रत्येक वह्नि विद्यमान नहीं है। अतः चतुर्थ पूर्व-पक्षव्याप्ति का लक्षण समीचीन नहीं है।

५. साध्यवदन्यावृत्तित्वम्

"**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**" यहां साध्य है वह्नि, साध्यवान् पर्वत आदि उससे भिन्न जलह्रद आदि उसमे वृत्ति मीन व शैवाल आदि हैं अवृत्ति धूम हैं। अतः उसमें "**साध्यवदन्यावृत्तित्व**" रूप व्याप्ति समन्वित होती है। **धूमवान् वह्नेः**" यहां यहाँ पर साध्यवान् से भिन्न "**तप्तलोहपिण्ड**" है। उसमें अग्नि की विद्यमानता होने से "**अवृत्तित्व**" अग्नि में नहीं है। अतः व्यभिचारी स्थल में लक्षण समन्वय नहीं होता है।

"**साध्यवदन्यवृत्तित्वाभाव**" इस लक्षण में वृत्तित्वाभाव का अर्थ वृत्तित्व सामान्य का अभाव[1] हैं। किसी एक वृत्तित्व जैसे धूमवान् से भिन्न जल

---

१. तादृशवृत्तित्वाभावश्च तादृशवृत्तित्वसामान्याभावो बोध्यः मा० प० र० पृ०

वृत्तितत्व का अभाव अग्नि में होने से "**धूमवान् अग्नि**" इस स्थल में अतिव्याप्ति होती है। वृत्तित्व सामान्य के अन्तर्गत अयोगोलक निरूपित वृत्तित्व भी मिलता है—जिसका अभाव अग्नि में नहीं है। साध्यवत्व से नियन्त्रित (अविच्छन्न) **प्रतियोगिता प्रदर्शक अभावत्व** जिससे "**वह्निमान् धूमात्**" इस स्थल में "वह्निमान् से अन्य पर्वत में धूम के विद्यमान होने पर भी कोई क्षति नहीं होती है। महानसीय अग्निमान् का भेद पर्वत में होने पर भी अग्निमान् का भेद उसमें नहीं है।[1]

जिस सम्बन्ध से पक्ष में साध्य की अनुमिति अभीष्ट हो उसी सम्बन्व से साध्य का आश्रय "**साध्यवान्**" जानना चाहिए। अन्यथा **बह्निमान् धूमात्**" इसी स्थल में समवाय सम्बन्ध से अग्नि का आश्रय अग्नि के ही अवयव हैं। उनसे भिन्न पर्वत में धूम विद्यमान होने से अव्याप्ति होती है। जब अभीष्ट सम्बन्ध से साध्यवान् कहते हैं तो अभीष्ट संयोग सम्बन्ध से अग्नि का आश्रय अग्नि के अवयव नहीं होते हैं पर्वत आदि ही होंगे, उनका भेद पर्वतादि में नहीं है। जल आदि में ही है। जहां धूम के अस्तित्व की कोई सम्भावना नहीं है।

जिस सम्वन्ध से हेतु पक्ष में अभीष्ट हो उसी सम्बन्ध से "**साध्यवदव्यावृत्त**" कहना चाहिए। अन्यथा "**पर्वतोऽग्निमान् धूमात्**" इसी स्थल में साध्यवान् पर्वत आदि से भिन्न होंगे धूम के अवयव, उनमें धूम सम्बन्ध से रहता है। अवयव और अवयवी का समवाय सम्बन्ध माना जाता है। अतः अतिव्याप्ति होती है। परन्तु हेतु पक्ष में जिस सम्वन्ध से अभीष्ट है उस सम्बन्ध से वृत्ति लेने पर यहाँ अव्याप्ति दोष नहीं होता। हेतु हमें पर्वत में संयोग सम्बन्ध से अभीष्ट हैं, समवाय से नहीं। अतः धूमावयव पर धूम की सत्ता समवाय सम्बन्ध से रहने पर भी कोई क्षति नहीं है।[2]

तृतीय लक्षण और पञ्चम लक्षण में भेद यही है कि तृतीय लक्षण में "**साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव** मात्र लक्षण में प्रविष्ट है। जबकि पञ्चम लक्षण साध्यवत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता परिचायक (निरूपक) अन्योन्याभाव है।[3] तृतीय लक्षण में चालनीय न्याय से अन्योन्याभाव लेकर वह्निमान् धूमात् इस स्थल में अव्याप्ति होती है।[4]

---

१. साध्यवदन्यत्वं च·········साध्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताभावत्वद् मा० हृ० पृ० १०८।
२. न्या० सि० मु० पृ० व्या० निरु०।
३. अन्योन्याभावस्य साध्यवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं व्युत्पत्तिबललभ्यम त० चि० दि० व्या० निरु० पृ० १०८।
४. मा० न्या० रहस्य—पृ० १०२।

पञ्चम लक्षण[1] यह द्रव्य है क्योंकि गुण और कर्म से भिन्न में रहने वाली सत्ता जाति से युक्त है—इस अनुमान में गुण कर्म से भिन्न में रहने वाली सत्ता जाति से युक्त है—इस अनुमान में गुणकर्म भिन्नता से युक्त सत्ता और शुद्ध सत्ता दोनों एक होने से साध्यवान् से भिन्न गुण में भी सत्ता विद्यमान है। इसलिए विशिष्ट सत्ता भी विद्यमान है अतः अव्याप्ति होती है। इसका परिहार करने के लिए "हेतुतावच्छेदक के रूप से वृत्तित्वा भाव" लेना चाहिए, पूर्वोक्त स्थल में सत्ता और विशिष्ट सत्ता एक होने पर भी हेतुता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) धर्म विशिष्ट सत्तात्व ही है। केवल सत्तात्व नहीं। अत। सत्ता गुणकर्म में विशिष्ट सत्ता के रूप नहीं है।

ये पाँचों लक्षण जो कि "**अव्यभिचारित्व**" को व्याप्ति का मूल स्वरूप मानकर बनाये गये हैं। व्यभिचार न होने मात्र से व्याप्ति घटित होती है। अर्थात् ये लक्षण केवल उन स्थलों को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं, जहां पर "**यत्र यत्र हेतुः तत्र तत्र साध्यम्**" औम "**यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र हेत्वाभावः**" इस प्रकार से व्याप्ति के स्वरूप को उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु "**वाच्यंज्ञेयत्वात्**" जैसे स्थलों को जहां "**यत्र यत्र साध्याभावः तत हेत्वाभावः**" इस रूप में व्याप्ति के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया जा सकता ध्यान में नहीं रखा गया है। इन स्थलों में जहाँ साध्य की अन्वय सत्ता ही है व्यतिरेक सत्ता नहीं है वहां भी हेतु साध्य का साधक होता है। अर्थात् वहां पर "**यत्र यत्र हेतु स्तत्र साध्यम्**" यह नियम सही है और केवल उस नियम के आधार पर अनुमिति की उत्पत्ति होती है। तो जैसे जहां जहां ज्ञेयत्व है वहां-वहां वाच्यत्व है। "इस नियय को ग्राह्य क्यों न माना जाय और उसे मानकर" **इदं वाच्यंज्ञेयत्वात्** इस अनुमान की पुष्टि क्यों न की जाय ?

इस प्रकार पूर्वोक्त सभी पांचों लक्षण केवलान्वयिसाध्य वाले हेतु में घटित नहीं होते हैं। जैसे "**साध्याभाववदवृत्तित्व**" यह लक्षण इसलिए घटित नहीं होता है क्योंकि वाच्यत्वनामक साध्य सर्वत्र रहने वाला होने से उसका अभाव अप्रसिद्ध वस्तु है। अतः "**साध्याभाववदअवृत्तित्व**" लक्षण यहां समन्वित नहीं होता है। इसी प्रकार द्वितीय तृतीय और पञ्चम लक्षण में साध्यवान् का भेद अप्रसिद्ध है—विश्व के समीप पदार्थ वाच्य होने से साध्यवत् से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है। चतुर्थ लक्षण में भी साध्याभाव अर्थात् वाच्यत्व का अभाव अप्रसिद्ध है। अतः गंगेश के अनुसार ये पांचों लक्षण केवलान्वयि सद्धेतु में घटित नहीं होते अतः अव्यभिचारित्व के ये लक्षण समीचीन नहीं हैं।

---

१. केवलान्वयिन्यभावादिति—त० चि० व्याप्ति नि० पृ०

आचार्य मथुरानाथ[1] के अनुसार पांचों लक्षणों की अव्याप्ति केवलान्वयि-साध्यक सद्धेतु में होती है किन्तु द्वितीयादि चारों लक्षणों की **"कपिसंयोगाभाववान् सत्वात्"** इस अव्याप्यवृत्तिसाध्यक हेतु में भी अव्याप्ति होती है। साध्यता के नियन्त्रक सम्बन्ध से नियन्त्रित प्रतियोगिता का परिचायक अभाव अप्रसिद्ध है। क्योंकि कपिसंयोगा भाव सभी पदार्थों में यहां तक कि उस वृक्ष में भी है जिसमें शाखा पर कपि महाराज विराजते हैं। उसी प्रकार साध्यबत्त्व से नियन्त्रित प्रति-योगिता का प्रदर्शक अन्योन्याभाव भी अप्रसिद्ध है। निखिल विश्व प्रपञ्च ही साध्य-वान् होने से वाच्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता का परिचायक अन्योन्याभाव भी अप्रसिद्ध है।

मथुरानाथ[2] का कथन है कि जिस **"कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्"** में अव्याप्ति के कारण के लिए **"साध्यवद् भिन्न"** कहा है, उसमें भी अव्याप्ति अधिकरण के भेद से अभाव को भिन्न मानने में कोई प्रमाण न होने से कपिसंयोगवद् भिन्न में रहने वाला कपिसंयोगाभाव वृक्ष में भी है, उसमें एतद् वृक्षत्व विद्यमान होने से अव्याप्ति होती है। इसके निवारण के लिए यदि "साध्यवद् भिन्न वृत्तित्व से युक्त साध्याभाव-वद-वृत्तित्व" लक्षण करते हैं तो साध्याभाव पद व्यर्थ ही जाता है।

सिंह-व्याघ्र व्याप्ति लक्षण विचार

व्याप्तिवाद में तत्त्वचिन्तामणिकार ने व्याप्ति के दो अन्य लक्षण सिंह-व्याघ्र लक्षणों के रूप में उपस्थित किये हैं। एक लक्षण सिंह-लक्षण के रूप में तथा दूसरा व्याघ्र लक्षण के रूप में जाना जाता है।

सिंह-लक्षण

१. साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्व

रघुनाथ मत

इस लक्षण की व्याख्या दीधितिकार[3] ने इस प्रकार की है। साध्य है "अस-

---

१. पञ्चानामेव लक्षणानामिदं वाच्यं ज्ञेयत्वा······कपिसंयोगाभाववान्। सत्त्वा दित्याद्यव्याप्यवृत्तिसाध्यके चाभावादित्यर्थ :—मा० व्या० प० र० पृ० १०१

२. वही

३. साध्यसमानाधिरण्दं यस्य यदधिकरणानाधिकरणं साध्यं तत्त्वं, साध्य विषरस-मानाधिकरण्य प्रतियोगितां साध्यनिष्ठाधेयत्वानिरूपकाधिकाधिकरण-वृत्तित्वमिति यावत्। त० चि० दी० सि० व्या० प्र०।

मानाधिकरण जिसका, जिसके अधिकरण का अनधिकरण साध्य है, तत्त्व, अर्थात् साध्य में विद्यमान असामानाधिकरण्य का प्रतियोगित्व, जिसका तात्पर्य है साध्य में विद्यमान आधेयता के अनिरूपक अधिकरण में वृत्ति होना।"

मथुरानाथ मत

आचार्य मथुरानाथ[1] इस लक्षण की व्याख्या करते हुए कहते हैं। साध्य के असमानाधिकरण्य का अर्थ "**साध्याधिकरणवृत्तित्वाभाव**" करने पर **द्रव्यं सत्त्वात्** इस स्थल में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि द्रव्यत्वाधिकरणवृत्तित्वाभाव सत्ता में नहीं है। अतः तदनधिकरणत्व उसमें रहेगा। साध्यवद् भिन्नवृत्तित्व अर्थ करने पर द्वितीय लक्षण के साथ पुनरुक्ति होगी। अतः साध्यासामानाधिकरण्य का अर्थ है "**साध्याधिकरणत्वाभाववृत्तित्व**" और तदनधिकरणत्व का अर्थ है तद्वद्भिन्नत्व। इस प्रकार "**साध्याधिकरणत्व** के अभाव से युक्त में वृत्ति से भिन्न हेतु" की अव्यभिचारिता है।

"पर्वत अग्निमान् है क्योंकि धूमवान् है" इस स्थल में साध्य अग्नि के अधिकरण होंगे पर्वत आदि उसमें रहने वाली अधिकरणता का अभाव जल आदि में है। अतः अधिकरणत्वाभाववान् जलह्रद आदि हुए उसमें वृत्ति मीन शैवाल आदि है। वृत्तित्व का भेद धूम में होने से लक्षण समन्वित होता है। पर्वतो धूमवान् अग्ने इस स्थल में लक्षण समन्वित नहीं होता। साध्याधिकरणत्व पर्वत महानस आदि में है उसका अभाव जिस प्रकार जलह्रद आदि में है उसी प्रकार तप्त काञ्चन में भी है। उसमें अग्नि वृत्ति होने से वृत्तित्व का भेद अग्नि में नहीं आता है। आतः वहां अव्यभिचार नहीं है

इस लक्षण की विशेषता यही है कि यहां साध्याभाव के स्थान पर साध्याधिकरणता का अभाव कहा गया है। जिसका लाभ यह है कि इस लक्षण में "**अव्याप्त वृत्ति साध्यक सद्धेतु कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्**" जैसे स्थलों में अव्याप्ति नहीं होती है। अव्याप्यवृत्ति अधिकरणता अव्याप्यवृत्ति नहीं होती है वृक्ष में कपि संयोग अवश्य अव्याप्यवृत्ति है किन्तु उसकी अधिकरणता व्याप्यवृत्ति होने से कपि संयोगाधिकरणत्वाभाव एतद्वृक्ष में नहीं रहता है।[2]

उसी प्रकार "**अव्याप्यवृत्तिमान्**" का भेद भी अव्याप्यवृत्ति नहीं है, इसलिए "**पृथ्वीकपिसंयोगात्**" इस अव्याप्यवृत्ति हेतु वाले स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होती

१. मा० व्या० प० र० द० पृ० १०३।

२. अव्याप्यवृत्तिसाध्यकसद्धेतावतिव्याप्तिवारणायाधिकरणत्वप्रवेशः।
अव्याप्यवृत्तेरधिकरणत्वात्तु नाव्याप्यवृत्तिः। मा० व्या० प० रहस्य पृ०१०४।

है। पृथ्वीत्वाधिकरणत्वाभवान् जल आदि में कपिसंयोगवद् का भेद नहीं है जल भी कभी कपि संयोग का आश्रय होता ही हे।[१]

२. साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वम्

मथुरानाथ मत

इस लक्षण की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ कहते हैं साध्य वैयधिकरण्य का अर्थ ही साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व। करने पर **"द्रव्य सत्त्वात्"** इसमें अतिव्याप्ति होती है द्रव्यत्ववदवृत्तित्व सत्ता में नहीं है। अतः उसका अधिकरणत्व सत्ता जाति में होने से अतिव्याप्ति होती है जब **"साध्यवद भिन्नवृत्तित्व"** अर्थ लेते हैं तो **"साध्यवद् भिन्नवृत्तित्व"** अर्थ लेते हैं तो साध्यवत् से भिन्न गुणकर्म में सत्ता जाति विद्यमान होने से वृत्तित्व ही है। उसका अनधिकरणत्व नहीं है। इस लक्षण में भी अव्याप्यवृत्तिमान् का अन्योन्याभावव्ताप्यवृत्ति होने से **"अव्याप्यवत्तिसाध्यक सद्धेतु"** में अव्याप्ति नहीं होती है।[२]

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि इस लक्षण की उपर्युक्त व्याख्या स्वीकार करने पर पञ्चम लक्षण से इसका भेद किस आधार पर माना जायेगा इस विषय में मथुरानाथ[३] का कथन है **"साध्यवदभिन्नवृत्तित्वानाधिकरणत्व"** इस लक्षण में **"अनाधिकरणत्व"** अंश का अधिक प्रवेश होने से साध्यवद्भिगवृत्तित्व के साथ इसका पौनरुक्त्य नहीं है। अखण्डाभावान्तर्गत होने से (अधिकरण) अंश की व्यर्थता भी नहीं है।

गङ्गेश मत

आचार्य गङ्गेश[४] दोनों लक्षणों के निष्कर्ष के आधार पर दोनों का एक साथ खण्डन करते हैं। "साध्य वैयधिकरण्य का अर्थ है—साध्यवदभिन्नाधिकरणत्व दूसरा अधिकरणत्व वाला अंश व्यर्थ है इसलिए उसको हटाकर गङ्गेश दोनों का निष्कर्ष निकालते हैं **"साध्यानधिकरणानधिकरणत्व"** यत् किञ्चित् साध्य के

---

१. अव्याप्तवृतिसाध्यक सद्धेतावति व्याप्तिवारणायाधिकरणत्व प्रवेशः। अव्याप्यवृत्तेरधिकरणता तु नाव्याप्यवृत्तिः। मा० व्या० प० रहस्य, पृ० १०४

२. अव्याप्यवृत्तिमतोन्योन्याभावस्तु ना व्याप्यवृत्तिरित्यव्याप्यवृत्तिसाध्यक सद्धेतौ नाव्याप्तिः। मा० व्या० पं० रहस्य सि० व्याघ्र०।

३. अनधिकरणत्व मित्यत्राधिकरणत्वांशस्याधिकस्य प्रवेशान्न साध्यवदन्यावृत्तित्व-मित्यनेन यथाश्रुतस्य पौनरुक्त्यम्, वही पृ० १०५

४. तदुभयमपि साध्यानधिकरणानधिकरणत्वं, तच्च तत्र यत्किञ्चित्साध्यान-धिकरणे धूमे प्रसिद्धम्—त० चि० सि० व्याघ्र प्र० पृ० ११२

अनधिकरण में धूम का अनधिकरणत्व होने से अधिकरणत्व अप्रसिद्ध है। साध्य का जो अनधिकरण तद्वृत्तित्वाभाव[1] यह अर्थ होने पर किसी एक पर्वतीय साध्य के अनधिकरण महानस में धूम वृत्ति है, वृत्तित्वाभाव धूम में नहीं है।

रघुनाथ मत

दीधितिकार[2] की सिंह-लक्षण की व्याख्या **"साध्यनिष्ठाधेयत्वानिरूपकाधिकरणवृत्तित्व"** के अनुसार केवलान्वयी इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्" में वाच्यत्व में रहने वाली आधेयता का अपरिचायक अधिकरण अप्रसिद्ध है। वस्तुमात्र वाच्यत्व में रहने वाली आधेयता का परिचायक है क्योंकि वस्तु मात्र में वाच्यत्व है। दूसरा दोष है "पर्वतो वह्निमान् धूमात् आदि अनेक व्यक्ति साध्य वाले स्थल में किसी एक वह्नि में रहने वाली "आधेयता" का अपरिचायक दूसरा अधिकरण पदार्थ हो सकता है उसमें धूम वर्तमान होने से वृत्ति का अनधिकरण धूम नहीं है। यही अव्याप्ति आचार्य गङ्गेश भी प्रस्तुत कर चुके हैं। दीधितिकार ने किसी व्यभिचारिहेतु में भी अतिव्याप्ति का उल्लेख किया है, उसको स्पष्ट करने का कार्य भवानन्द[3] ने किया है। **'गुणान्यत्वविशिष्ट सत्तावान् जातेः"** इस स्थल में सत्ता रूप साध्य में रहने वाली आधेयता का अपरिचायक अधिकरण सामान्य विशेष आदि पदार्थ होंगे। उसमें वृत्ति जाति न होने से "अनधिकरणत्व जाति" में है अतः अतिव्याप्ति होती है।

मथुरानाथ मत

आचार्य मथुरानाथ[4] के अनुसार भवानन्दोक्त अतिव्याप्ति का वारण **"आधेयता"** को साध्यता के नियन्त्रक सम्बन्ध से नियन्त्रित करने पर हो जाता है। अतः दोष नहीं है। सम्भवतः दीधितिकार **"साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व"** निवेश के पक्ष में नहीं है।

द्वितीय लक्षण में अरुचि का कारण स्पष्ट करते हुए दीधितिकार[5] लिखते हैं

---

१. साध्यस्य यदनधिकरणं तद्वृत्तित्वाभावश्चार्थः। त० चि० दी० सि० व्याघ्र० प्र० पृ० ११३। ता० दीधिति—सि० व्याघ्र० पृ० ११२।

२. गुणान्यत्व-विशिष्ठ-सत्तावान् जातेरित्यादौ सत्तारूप—सत्त्वादिति भवा० पृ० ११८।

३. गुणान्यत्वविशिष्ट सत्तावान् जातेरित्यादौ सत्तारूप—सत्वादिति भवा० पृ० ११८।

४. मा० सिंह व्याघ्र लक्षण—पृ० १०४ चौ०.

५. साध्याधिकरणत्वं च साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नं साध्यतावच्छेदकसंसम्बन्धावच्छिन्नं ग्राह्यम्। अन्यथा समवायेन वह्न्यादौ साध्ये संयोगेनधूमादिहेतावतिव्याप्तिः। मा० सि० व्या० ल० पृ० १०४।

साध्यवैयधिकरण्य का अर्थ साध्यवत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता का परिचायक भेद हैं तो केवलान्वयिस्थल में अव्याप्ति पूर्ववत् है। यदि यत्किञ्चिद् साध्य व्यक्ति का भेद है तो अनेक अधिकरणों में रहने वाले साध्य से सम्बन्धित हेतु में अव्याप्ति होगी। जैसे पर्वतो अग्निमान् धूमात् में अग्निमान् पर्वत का भेद महानस में है वहां धूम विद्यमान होने से वृत्तित्व का अनधिकरणत्व नहीं है।

मथुरानाथ[1] का मत है कि आचार्य गङ्गेश ने जो यह कहा कि **तदुभयमपि साध्यानधिकरणानधिकरणत्वं** "उसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों लक्षण **साध्यानधिकरणानधिकरणत्वनियत** हैं। अर्थात् साध्यानधिकरणत्वृत्तित्व व्याप्य हैं। केवलन्वयिस्थल में तथा "**वह्निमान् धूमात्**" दोनों ही स्थलों में दोनों लक्षण अप्रसिद्ध हैं, व्यापक का अभाव होने पर व्याप्य का अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि व्यापक स्वरूप लक्षण साध्यनधिकरणानधिकरणत्व पूर्वोक्त दोनों स्थलों में अप्रमिद्ध होता है। साध्यानधिकरणानधिकरणत्व के अप्रसिद्ध होने से उसके व्याप्य में दोनों लक्षण साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्व भी अप्रसिद्ध हैं। उन दोनों लक्षणों का अर्थ साध्यानधिकरणानधिकरणत्व शब्दतः प्रादुर्भूत नहीं होता है।

भट्टाचार्यानुयायी कहते हैं, गङ्गेश का तात्पर्य है दोनों ही लक्षणवाक्य साध्यानधिकरणानधिकरणत्व बोध के जनक हैं। अर्थात् **साध्याधिकरणत्व सामान्यभाववद्वृत्तित्वाभाव-साध्यवत्सामान्य भिन्नवृत्तित्वाभावान्यतर** बोध के जनक हैं। उन दोनों में से किसी भी एक का अभाव केवलान्वयिसाध्य के सद्धेतु में अप्रसिद्ध है। अतः ये दोनों व्याप्ति के लक्षण समीचीन नहीं हैं।

पारिभाषिक व्याप्ति विचार

"**यत्र-यत्र ज्ञेयत्वं तत्र-तत्र वाच्यत्वम्**" यह व्याप्ति का नियम भी यथार्थ है। अतः "**वाच्यं ज्ञेयत्वात्**" यह स्थल भी व्याप्ति का लक्ष्य है। किन्तु अब तक प्रदर्शित व्याप्ति के सभी लक्षणों में इस स्थल की व्याप्ति समन्वित नहीं होती हैं। कहीं साध्याभाव तो कहीं साध्यवद्भेद अप्रसिद्ध होता है। उस अव्याप्ति का निराकरण करने के लिए अव्यभिचारित्व का पारिभाषिक लक्षण करके नव्य नैयायिकों[3] ने उसकी उपादेयता के सम्बन्ध में विचार किया है। व्यभिचाराभाव के शब्दतः प्रादुर्भूत होने वाले स्वरूप को छोड़कर उसका कल्पित स्वरूप ग्रहण किया गया है।

---

१. साध्यानधिकरणानधिकरणत्वं साध्यानधिकरणानधिकरणत्वनियतम्, साध्यानधिकरणावृत्तित्व व्याप्यमिति यावत्। मा० सि० व्या० ल० पृ० १०६.

२. वही।

३. ननु पारिभाषिक मेवाव्यभिचरितत्वम्-तथाहि-त० चि० दी० व्या० पृ० १३ चौ०.

इस प्रकार के कल्पित स्वरूप का आधार है सौन्दड का वह मत जिसमें वे व्यधिकरण धर्म से भी नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला अभाव स्वीकार करते हैं। सभी जानते हैं, कि प्रतियोगी में रहने वाले धर्म से प्रतियोगिता अवच्छिन्न "**नियन्त्रित**" होती है। जैसे गाय के अभाव की गाय में रहने वाली प्रतियोगिता, प्रतियोगी गाय में वर्तमान गोत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। किन्तु सौन्दड यह भी स्वीकार करते हैं कि जब हम कहते हैं घट के रूप से "**घटत्वेन**" गाय का अभाव है तब गाय में वर्तमान गाय के अभाव की प्रतियोगिता, प्रतियोगी गाय में न रहने वाले धर्म घटत्व से नियन्त्रित "**अवच्छिन्न**" होती है। अर्थात् प्रतियोगिता अपने से व्यधिकरण धर्म से भी अवच्छिन्न होती है। व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता का परिचय अभाव भी वाच्यत्व प्रमेयत्व आदि के समान केवलान्वयी माना जाता है। कारण स्पष्ट है कि कोई भी वस्तु स्वकीय रूप से अपने आश्रय में रहती है परकीय रूप से नहीं। गाय अपने आश्रय में अपने गोत्व रूप से रहेगी। घटत्व रूप से नहीं। अतः घटत्व रूप से गाय का अभाव सर्वत्र होगा। इसे ही "**व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव**" कहा जाता है।

गङ्गेश मत

इस "**व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव**" को मानकर गङ्गेश[1] कहते हैं कि "**इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्**" इस स्थल में साध्याभाव के रूप में "समवायित्वरूप से वाच्यत्व का आभाव ले सकते हैं। "तात्पर्य यह हैं कि साध्याभाव का अर्थ साध्य का अभाव हो तो समवायी के रूप में वाच्यत्व का अभाव भी साध्याभाव है और वह वाच्यत्वाभाव के अप्रसिद्ध होने पर भी प्रसिद्ध है। वाच्यत्व में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म "**समवायित्व**" है। प्रतियोगी वाच्यत्व में समवायित्व नहीं रहता है। अतः "**समवायित्वेन वाच्यत्वाभाव**" घट अदि में भी प्रसिद्ध है। क्योंकि वह केवलान्वयी अर्थात् सर्वत्र है।

परन्तु प्रश्न यह है कि समवायितया वाच्यत्वाभाव प्रसिद्ध होने पर भी "**इदं वाच्यज्ञेयत्वात्**" यहां पर कौन-सा व्याप्ति का लक्षण घटित होगा। "**साध्य ाभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव**" तो वहां घटित हो नहीं सकता। साध्याभाव समवायितया वाच्यत्वाभाव के अधिकरण घट में ज्ञेयत्व विद्यमान होने से वृत्तित्वाभाव ज्ञेयत्व में नहीं आता अतः आव्याप्ति ही होगी। ऐसी अवस्था में समवायितया वाच्यत्वाभाव" घट में प्रसिद्ध करने का लाभ ही क्या है ? इससे अनुमान होता है कि आचार्य गङ्गेश के सामने व्याप्ति का कोई लक्षण था जिसमें समवायितया वाच्यत्वाभाव लेकर लक्षण समन्वय होता है। वह लक्षण था "**यावन्तः साध्याभावाः तत्सजातीया ये तदधिकरण**

१. ननु इदं वाक्यं ज्ञेयत्वादित्यादौ समवायितया वाच्यत्वाभावो घट एव प्रसिद्धः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य केवलान्वयित्वात्-त० व्यधिकरण प्रकरण--पृ० १,

निरूपितवृत्तित्वाभावास्तत्त्वम्"इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात् यावत् साध्याभावपद से समवायितया वाच्यत्त्वाभाव उसका सजातीय होगा घटत्त्वेन तदधिकरण निरूपितवृत्तित्त्वाभाव (घटत्त्वेन) कहने से वह भी केवलान्वयी होने से हेतु में है, अतः लक्षण समन्वित होता है ।

परन्तु गङ्गेश[1] कहते हैं "साध्यतावच्छेदक से नियन्त्रित प्रतियोगिता के परिचायक अभाव के अधिकरण में वर्तमान होना व्यभिचार है। घट में साध्यतावच्छेदक से अवछिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव नहीं है। "**समवायितयावाच्यत्वाभाव**" की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदक वाच्यत्व से अवच्छिन्न (नियन्त्रित) नहीं है। वह समवायित्व से नियन्त्रित है अतः उस प्रकार के साध्याभाव के अधिकरण में वर्तमान न होना "यह व्याप्ति का लक्षण वहां घटित नहीं होता। अतः अप्रसिद्ध दोष विद्यमान ही रहता हैं। किन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब इस प्रकार "**साध्याभाव**" की अप्रसिद्धि प्रयुक्त दोष विद्यमान था तो गङ्गेश[2] ने **प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः**" अर्थात् प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है कहकर "**व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव**" का खण्डन क्यों किया ? इस आशङ्का का निवारण के लिए दीधितिकार आदि व्याख्याकारों का कथन है कि यहां पारिभाषिक अव्याभिचरितत्व के लक्षणों को ध्यान में रखकर व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव का निराकरण किया है ।

पारिभाषिक कथन का तात्पर्य यह है कि "**नव्यभिचार**:" अव्यभिचार: यह योगार्थ वहाँ घटित नहीं होता है।[3] इस प्रकार के चौदह लक्षणों का वर्णन दीधितिकार ने किया है जिनमें प्रथम दो उनके अपने हैं शेष ग्रन्थान्तरों से संकलित करके विवेचित किये गये हैं। प्रथम लक्षण इस प्रकार है—

यत्समानाधिकरणासाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिताका यावन्तोभावाः प्रतियोगिसमानाधिकरणास्तत्त्वम् ।[4]

जिस हेतु के आश्रय में रहने वाले, साध्यता के नियन्त्रक से युक्त की व्यापकता

---

१. साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नाभाववद्वृत्तित्वं हि व्यभिचारः न च वाच्यवाच्याभाव स्तादृशः घट इति चेत् तर्हि तादृश साध्याभावसामानाधिकरण्याभावो व्याप्तिस्तथा-चाप्रसिद्धिः—त० चि० व्य० प्र० पृ० १.

२. प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः । तत्त्व चि० व्याधि० प्र० ।

३. जाग० व्यधिकरण प्रकरण पृ० १४—चौ०.

४. वही पृ० १३.

की नियन्त्रिका जो प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता के परिचायक जितने अभाव हैं वे प्रतियोगी के आश्रय मे रहने वाले हों वह हेतु सद्धेतु है। जैसे इदं वाच्यं ज्ञेय त्वात् इसी स्थल में ज्ञेयत्व के आश्रय घट में रहनेवाला अभाव '**समावायित या वाच्यत्वाभाव**' है वह वाच्यत्वत्व से युक्त वाच्यत्व की व्यापकता जो वाच्यत्व में है उसकी नियन्त्रक प्रतियोगिता-समवायित्व के रूप में वाच्यत्वाभाव की प्रतियोगिता है, उसका परिचायक है। वह सर्वत्र विद्यमान होने से अपने प्रतियोगी के आश्रय में भी विद्यमान है। अतः "**तत्त्व**" ज्ञेयत्व रूप हेतु में विद्यमान होने से लक्षण समन्वय होता है। इसी "प्रकार पर्वतो वह्निमान् धूमात्" आदि स्थलों "**घटत्वेन वाच्यत्वाभाव**" आदि लेकर लक्षण समन्वय किया जाता है। **धूमवान् वह्ने**" आदि व्यभिचरिस्थलों में "यावदन्तर्गत धूमाभाव प्रतियोगी के आश्रय में विद्यमान न होने से "प्रतियोगिसमानाधिकरण नहीं होता। अतः लक्षण समन्वित नहीं होता है।

जगदीश मत

आचार्य जगदीश[१] को इस लक्षण पर आपत्ति है। बराबर एक साथ रहने वाले "**समनियत**" अभाव को एक मानने पर "**धूमवान वह्ने**" इस स्थल में अति व्याप्ति होती है, धूमाभाव और धूमत्वेन प्रमेया भाव ये दोनों अभाव एक ही स्थान में रहने वाले होने से एक ही हैं। अतः धूमाभाव का प्रतियोगी जैसे धूम है वैसे ही "**प्रमेय**" भी है। अतः प्रमेय रूप प्रतियोगी के आश्रय में धूमाभाव विद्यमान है। अतः जगदीश के अनुसार दीधितिकार को अपने लक्षण में संशोधन करके यावत्पद को अभाव का विशेषण न बनाकर प्रतियोगिता का विशेषण बनाना चाहिए। फलस्वरूप लक्षण का यह स्वरूप होगा—हेतु के आश्रय में विद्यमान साध्य व्यापकता की नियन्त्रिका जो-जो प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता का परिचायक जो अभाव हो वह स्व (अभाव) विशिष्ट हेत्वधिकरण में रहते हुए उस उस प्रतियोगिता के आश्रय का भी समानाधिकरण होना चाहिए। समनियत अभाव एक होने पर भी प्रतियोगिता प्रतियोगी के भिन्न होने पर भिन्न होती है, धूमाभाव और धूमत्वेन प्रमेयाभाव के एक होने पर भी धूमाभाव की धूम में रहने वाली प्रतियोगिता और प्रमेय में रहने वाली प्रतियोगिता भिन्न ही है अतः जो धूम में रहने वाली (साध्यव्यापकता) की नियन्त्रिका (अवच्छेदक) प्रतियोगिता है उस प्रति-

१. ननु तथापि धूमवान् वह्ने रित्यादावतिव्याप्तिः समनियताभावानामैक्याद् धूमाभावस्य धूमत्वेन प्रमेयाभावादभिन्नस्य—यावत्पदस्य फलतः प्रतियोगिताविशेषणत्वेन साध्यव्यापकतावच्छेदकी भूतोयद्यत् प्रतियोगिताकोऽभावस्तस्य स्वविशिष्ट-हेत्वधिकरणावच्छेदेन तत्तत्प्रतियोगिताश्रयसामानाधिकरण्यं विवितम्-जा० व्यधिकरण—पृ० ८६ चौ०,

योगिता का आश्रय धूम ही होगा, प्रमेय नहीं एवं धूम के आश्रय में धूमाभाव न होने से अतिव्याप्ति नहीं होती है।

दीधितिकार के लक्षण के मौलिक स्वरूप को नष्ट किए बिना भी उपर्युक्त अतिव्याप्ति का निवारण किया जा सकता है। इसके लिए **साध्यव्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिता में स्वन्यूनवृत्तिधर्मानवच्छिन्नत्व** का निवेश करना होगा।[1] तात्पर्य यह है कि साध्य व्यापकता की नियन्त्रक, अपने से न्यून स्थान में रहने वाले धर्म से अनियंत्रित प्रतियोगिता का परिचायक अभाव, स्व से युक्त हेत्वधिकरण में रहते हुए उस प्रतियोगिताश्रय के आश्रय में विद्यमान होना चाहिए। धूमत्वेन प्रमेयाभाव की प्रतियोगिता, प्रतियोगिता से न्यून स्थान में रहने वाले धूमत्व से नियन्त्रित है। अतः साध्यव्यापकतावच्छेदकप्रतियोगिता के रूप में उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह है कि दीधितिकार ने इस लक्षण का परित्याग करके स्वयं ही द्वितीय लक्षण को क्यों उपस्थित किया। आचार्य जगदीश[2] तर्कालंकार के अनुसार इस लक्षण में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के बिना भी लक्षण समन्वय किया जा सकता है। फलस्वरूप **प्रतियोग्यवृत्तिश्च** इत्यादि गङ्गेश का ग्रंथ असङ्गत हो जाएगा। सर्वत्र सद्धेतु स्थलों **वह्निमान् धूमात् इदं वाच्यज्ञेयत्वात्** आदि में गगन वाच्यत्व उभय का अभाव अथवा गगनत्व विशिष्टवाच्यत्व का अभाव लेकर लक्षण समन्वय होगा। जैसे इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात् में ज्ञेयत्व के आश्रय में गगन वाच्यत्व उभय विद्यमान नहीं है। यह अभाव साध्यव्यापकतावच्छेदक प्रतियोगिता का परिचायक भी है और वाच्यत्व रूप प्रतियोगी के आश्रय में भी रहता है। इसके निवारण के लिए (वैशिष्ट्य से अनियन्त्रित) अथवा व्यासवृज्यवृत्ति धर्म से अनियन्त्रित आदि विशेषण प्रतियोगिता में नहीं लगाये जा सकते क्योंकि ये विशेषण किसी व्यभिचार दोष के निवारक न होने से सार्थक नहीं होते। ग्रन्थासङ्गति" व्यभिचार कोटि का गम्भीर दोष नहीं है। अतः इसके लिए लक्षण में किसी प्रकार का न्यूनाधिक्य नहीं किया जा सकता। अतः दीधितिकार ने प्रथम लक्षण का परित्याग करके द्वितीय लक्षण का प्रदर्शन किया है।

---

१. जा० व्यधिकरण प्र० पृ० ८८.

२. ननु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावासत्त्वेऽपि सर्वत्र सद्धेतौ गगनवाच्यत्वोभयाभावं गगनत्वादिविशिष्टवाच्यत्वाद्यभावमादायोक्तसमन्वयसम्भवे प्रतियोग्यवृत्तिश्चेत्यादि मूलावतारानुपपत्तिः। न च वैशिष्ट्य व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नत्वेन व्यापकतावच्छेदकीभूतप्रतियोगितायाविशेषणीयत्वान्नैवमिति वाच्यम्। व्यभिचारावारकत्वेन तादृशविशेषणस्य व्यर्थत्वात्—जा० व्यधिकरण प्र० पृ० ९०-९१.

गदाधर मत

गदाधर[1] का कथन है कि धूमाभाव और धूमत्वेन प्रमेयाभाव को एक मान कर होने वाली अतिव्याप्ति के वारण के लिए **स्वन्यूनवृत्ति धर्मानवच्छिन्नत्व** प्रतियोगिता में विशेषण देने पर भी धूमाभाव और वह्निधूमोभयाभाव, अयोगोलकभेदाभाव, और **अयोगोलकान्यवृत्तित्व विशिष्ट आकाशाभावाभाव** एक होने से धूमाभाव की वह्नि धूम उभय में रहने वाली प्रतियोगिता स्वन्यूनवृत्तिधर्म से अनियन्त्रित (अनवच्छिन्न) ही है। उभयत्व प्रतियोगिता से न्यून में रहने वाला धर्म नहीं है। अधिकवृत्ति ही है। अतः वह्निधूमउभय-अभाव के वह्निरूप प्रतियोगिकासमानाधिकरणव्य धूमाभाव में होने से अतिव्याप्ति होती है। यदि इसके निवारण के लिए "साध्यव्यापकता की अवच्छेदक जो-जो प्रतियोगिता हो उस प्रतियोगिता के परिचायक अभाव स्व विशिष्ट यावत् हेत्वधिकरणों में रहते हुए, उस-उस प्रतियोगिता के आश्रय के समानाधिकरण ही कहते तो यावत्त्व, तत्प्रतियोगितानिरूपकत्व, हेतुसामानाधिकरण्य, हेत्वधिकरण में स्वविशिष्टत्वविशेषण, इत्यादि सभी व्यर्थ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त गदाधर[2] भी पूर्वोक्त गगन-वाच्यत्व उभयाभाव लेकर बिना व्यधिकरणाधर्मावच्छिन्नाभाव लिए लक्षण समन्वययुक्तता दोष का समर्थन करते हैं।

भवानन्द मत

भवानन्द[3] तर्कवागीश का मत है कि समनियताभाव को एक मानने से धूमाभाव और धूमत्वेन प्रमेयभाव एवं अयोगोलभेदाभाव और अयोगोलकान्यत्वेन प्रमेय सामान्याभाव के एक होने पर होने वाली पूर्वोक्त अतिव्याप्ति के निवारण के लिए यदि साध्य व्यापकतावच्छेदक जो-जो प्रतियोगिता उस प्रत्येक प्रतियोगिताश्रय का सामानाधिकरव्य यह लक्षण करते हैं तो दीधितिकार के (जलवृत्तित्व विशिष्ट) ग्रंथ के साथ विरोध होता है। जो-जो प्रतियोगिता कहने पर उक्त अभाव लेकर दोष होता ही नहीं है तो

१. अथवा प्रतियोगिसामानाधिकरण्यशरीरे न्यूनवृत्तिसमानाधिकरणधर्मानवच्छिन्न-प्रतियोगिता निवेशनीया—तथापि धूमाभावस्य वन्हिधूमोभयाभावसमनियततया तदभिन्नत्वे वह्नेरपि तद्भावप्रतियोगितया—हेतु समानाधिकरणतादृशाभावानां स्वविशिष्टयावद्धेत्वधिकरणान्तर्भावेन दर्शितप्रतियोगिभिः सामानाधिकरण्यम ज्ञतमेवेत्यतिव्याप्तिः गदाधरी व्यधि० प्र० पृ० १७१ चौ० १९७० संस्करण।

२. एवं सर्वत्र हेतुसमानाधिकरणमुभयत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकं—लक्षणान्तरमाह—यत्समानाधिकरणानामिति—गदा० पृ० १७१ चौ०.

३. ननु धूमवान् वन्हेरित्यादावतिव्याप्ति—अतः समनियताभावभेदोभिप्रायेणैव प्रथम-लक्षणं युक्तं समनियताभावैक्याभिप्रायेण लक्षणान्तरमाहयत्समानाधिकरणानामिति। दी० प्र० व्याधि० प्र० पृ० १५६। चौ०.

दीधितिकार को यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी कि जलवृत्तित्व विशिष्ट गोत्वाभाव का अभाव जलत्वाभाव रूप है। दूसरी बात है कि अभाव में साध्य व्यापकतावच्छेदक आदि विशेषण व्यर्थ है क्योंकि गोत्वाभाव और गोत्वत्वेन प्रमेयाभाव, एक होने से तद्घटध्वंस भी तद्घटध्वंसकाल में तद्ध्वंसवदवृत्तित्वेन प्रमेय सामान्याभाव रूप होने से प्रमेय निष्ठ प्रतियोगिताश्रय के अधिकरण में वृत्ति ही है। इसलिए समनियत अभाव को भिन्न मानने पर प्रथम लक्षण ठीक है और समनियत अभाव को भिन्न न मानने पर द्वितीय लक्षण स्वीकार किया गया है।

२—**यत्समानाधिकरणानां साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां यावदभावानां प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं तत्त्वम्**[1]।

जिस हेतु के आश्रय में रहने वाले, साध्यता के नियन्त्रक से युक्त की व्यापकता के नियन्त्रक धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता के परिचायक सभी अभावों का प्रतियोगिता के नियन्त्रक से युक्त के साथ एक अधिकरण में वृत्तित्व हो वह हेतु सद्धेतु है। जैसे **पर्वतो वह्निमान् धूमात्** में हेतु धूम के आश्रय पर्वत महानस आदि में रहने वाला अभाव होगा **वह्नित्वेन घटाभाव**, यह साध्यता के नियन्त्रक वह्नित्व से युक्त वह्नि की व्यापकता के नियन्त्रक रूप वह्नित्व से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) प्रतियोगिता का परिचायक भी है तथा वह **वह्नित्वेन घटाभाव** प्रतियोगिता के नियन्त्रक वह्नित्व से युक्त वह्नि के साथ एक ही आश्रय पर्वत आदि में विद्यमान है। अतः वह धूम हेतु व्याप्तियुक्त है। धूमवान् वह्नेः यहां पर अग्नि हेतु के आश्रयस्थान में विद्यमान अभाव धूमाभाव भी होगा वह प्रतियोगितावच्छेदक (नियन्त्रक) धूमत्व से युक्त धूम के आश्रय में नहीं रहता है। अतः वह सद्धेतु नहीं है।

इस लक्षण की एक विशेषता यह है कि यहां प्रथम लक्षण की प्रणाली को छोड़कर षष्ठ्यन्त पदों का दीधितिकार ने प्रयोग किया है। प्रथमान्त प्रयोग में यह सन्देह उपस्थिति होता है कि **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न समानाधिकरण** उस अभाव में **हेतुसमानाधिकरण्य** का विधान करते हैं या **हेतुसमानाधिकरण** उस प्रकार के अभाव में **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसमानाधिकरण्य** का विधान करते हैं। अतः इस सन्देह के निवारण के लिए (षष्ठ्यन्त पदों) का प्रयोग किया है।[2]

---

१. दीधिति—व्याधिकरण प्र० पृ० ९१ चौ०।

२. प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसमानाधिकरणतादृशाभावे किं हेतुसामानाधिकरण्यं विधीयते, हेतुसमानाधिकरणसादृश्याभावे वा प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं विधीयते इति सन्देहनिरासार्थं षष्ठ्यन्तत्वेन निवेश इति। जा० व्याधि० टीका पृ० ९१.

दूसरी विशेषता है यहां साध्य की व्यापकतावच्छेदक (नियन्त्रक) प्रतियोगिता न कहकर "व्यापकतावच्छेदक" (रूप) कहा है। जिसके फलस्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म को "व्यधिकरणधर्म" बनाकर अभाव लेना पड़ता है। जैसे **वह्नित्वेन घटाभाव वाच्यत्वेत्वेन घटाभाव** आदि।

इस लक्षण[1] में भी समनियत अभावों को एक मानने पर अतिव्याप्ति पूर्व लक्षण के समान ही होती है।" वह्नित्वेन धूमवद्वृत्ति का अभाव, अथवा धूमीय संयोग सम्बन्ध से द्रव्यमात्र का अभाव, धूमाभाव ही है। अतः धूमाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकवह्नित्व भी है। वह्नि से युक्त के आश्रय अयोगोलक में धूमाभाव विद्यमान होने से अतिव्याप्ति होती है। उसी प्रकार सामान्य रूप से विशेष का अभाव मानने पर धूमाभाव और प्रमेयत्व रूप से धूम का अभाव एक ही है। अतः प्रमेयत्व रूप प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त के अधिकरण में धूमाभाव रहता है। इस अतिव्याप्ति के निवारण हेतु इस लक्षण में भी **यावत्** को प्रतियोगिता के साथ सम्बन्धित करना होगा, धूमाभाव की धूम में रहने वाली प्रतियोगिता के अवच्छेदक से युक्त का "**सामानाधिकरण्य**" धूमाभाव में नहीं है।

जगदीश मत

यहां जगदीश[2] का अपना मत है कि यहां भी साध्यव्यापकतावच्छेदक रूप से नियन्त्रित प्रतियोगिता में स्व न्यून स्थान में रहने वाले धर्म से अनियन्त्रित "यह विशेषण जोड़कर लक्षण बनाना चाहिए। **प्रमेयत्वेन धूमाभाव**" की प्रतियोगिता अधिक वृत्ति धर्म से नियन्त्रित होने पर भी धूमाभाव और प्रमेयत्वेन धूमाभाव एक नहीं हैं, सामान्य रूप से विशेषाभाव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। सामान्य रूप से विशेषाभाव मानने पर जिस प्रतियोगिता के परिचायक अभाव में उस प्रतियोगिता के नियन्त्रक से युक्त के आश्रय में विद्यमान होना तथा जगत् में वृत्ति होना, इन दोनों का अभाव हो, साध्यव्यापकता के नियन्त्रक से नियन्त्रित प्रतियोगिता के उन अभावों में उस प्रतियोगिता के नियन्त्रक से युक्त का सामानाधिकरण्य होना चाहिए।

---

१. जा० व्यधिकरण पृ० ९८ चौ०।

२. वस्तुतोऽत्रापि साध्यव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नायाः स्वन्यूनवृत्ति धर्मानवच्छिन्नायादृशप्रतियोगिताया—न कश्चित इतिध्येयम्—जा० व्याधि प्र० पृ० १०६ चौ०।

भवानन्द मत

आचार्य भवानन्द[1] का मत है कि धूमाभाव और वह्नित्वेन धूमवद्वृत्ति का अभाव एक होने से होने वाली अतिव्याप्ति के निवारण हेतु यदि साध्य व्याप्यता का नियन्त्रक हो जो प्रतियोगिता का नियन्त्रक हो उस प्रत्येक से युक्त का सामानाधिकरण्य कहने पर साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न आदि विशेषण व्यर्थ हो जाता है। गोत्वाभाव और प्रमेयत्वेन गोवृत्ति का अभाव एक होने से प्रतियोगितावच्छेदक प्रमेयत्व से युक्त के आश्रय में रहता है। इतना ही नहीं अभाव में यावत्त्व विशेषण व्यर्थ हो जाता है।

भवानन्द[2] अपने गुरु के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं वह्नित्वरूप से धूमवान् में वृत्ति कुछ नहीं है। इस प्रतीति में दण्डरूप से "**दण्डिन्** पुरुष नहीं है। इस प्रतीति के समान ही विशिष्ट धर्म ही प्रतियोगिता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) के रूप में भासित होता है, शुद्ध वह्नित्व नहीं। शुद्ध वह्नित्व को नियन्त्रक मानने पर वह्नि भी प्रतियोगी होने से प्रतियोगिता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) वह्नित्व से युक्त वह्निमान अयोगोलक में **वह्नित्वेन धूमवद्वृत्ति** नहीं है यह प्रतीति नहीं होनी चाहिए। अतः धूमवद्वृत्तित्व विशिष्ट वह्नित्व ही प्रतियोगितावच्छेदक होने से उससे युक्त प्रतियोगी के आश्रय में धूम का अभाव न होने से अति व्याप्ति नहीं होती है।

गदाधर मत

गदाधर मत[3] के अनुसार इस लक्षण में **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्य** निवेश की अपेक्षा उसके स्थान में **प्रतियोगिवृत्तित्व** का निवेश करना ही उचित है, क्योंकि लाघव है। सद्धेतु स्थल में सभी व्याधिकरण धर्म से नियन्त्रित अभाव सर्वत्र विद्यमान होने से प्रतियोगी में भी रहेंगे ही। **कपिसंयोगाभाववान् मेयत्वात्** यहां **कपिसंयोगाभावाभाव**—(कपिसंयोग) में साध्य व्यापकता के रूप से नियन्त्रित

---

१. नच साध्यव्यापकतावच्छेदकं यद्यत् प्रतियोगितावच्छेदकं प्रत्येकं तदवच्छिन्न सामान्यनाधिकरण्यं वाच्यम्—साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नेत्यादिविशेषणस्य वैयर्थ्यात् किं चैवं यावत्व विशेषणमपि व्यर्थं स्यात्। दी० प्रकाशः व्याधि० प्र०।

२. अत्र गुरवः वन्हित्वेन धूमवद्वृत्ति किमपि नास्तीति प्रतीतौ दण्डेन पुरुषो नास्तीत्येव विशिष्टधर्म एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन भासते न तु शुद्ध वन्हित्वम्—धूमवद्धत्तित्वविशिष्टवन्हित्वस्यैव तादृशवन्हियंशे समानाधिकरणतयावच्छेदकत्वसम्भवादित्याहुः—दी० प्रकाश० व्याधि० प्र० पृ० १६०।

३. अथर्वनिरुक्ताभावेषु-स्वविशिष्टहेत्वविकरणसामयान्तर्भावेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यनिवेशापेक्षया प्रतियोगिवृत्तित्वमेव निवेशयितुमुचितम्—भावप्रतियोगितया अयोगोलकाद्यतिरिक्तप्रतियोगिन्यवृत्तित्वान्नातिव्याप्तिरित्यवधेयम्। गादा० व्यधि० प्र०।

प्रतियोगिता की परिचायकता न होने से तथा दैशिक सम्बन्ध से हेतु के आश्रय नित्य पदार्थों में न रहने से तथा भावभिन्न न होने से लक्षण में उसका स्थान नहीं है। **धूमवान् वह्नेः** इस स्थल में धूमाभाव अवश्य ही प्रतियोगी में वर्तमान है किन्तु यावत् के अन्तर्गत अयोगोलकान्यत्व प्रकारक प्रमाविशेष्यता "अयोगोलक से भिन्न है "इस यथार्थ ज्ञान की विशेष्यता" का अभाव प्रतियोगि में **वृत्ति** नहीं होगा। यह अभाव अयोगोलक में ही रहता है। अतः धूमवान् वह्नेः में भी कोई दोष नहीं होता है।

चक्रवर्ति लक्षण

३—**व्याप्यवृत्तेर्हेतुसमानाधिकरणस्य साध्याभावस्य प्रतियोगितायां सामानाधिकरण्येनानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसमानाधिकरण्यम्।**[1]

चक्रवर्ति के प्रथम लक्षण के अनुसार व्याप्यवृत्ति अर्थात् एक आश्रय में सर्वत्र रहने वाले तथा हेतु के आश्रय स्थान में रहने वाले साध्य के अभाव की प्रतियोगिता का अनियन्त्रक जो साध्यता का नियन्त्रक उससे युक्त के अधिकरण में हेतु का होना व्याप्ति कहलाता है। जैसे **पर्वतो अग्निमान् धूमात्**[२] में व्याप्य-वृत्ति और हेतु धूम के आश्रय पर्वत आदि में वृत्ति अभाव, घटत्व रूप से अग्नि का अभाब है। उस अभाव की प्रतियोगिता अग्नि में उसका अनियन्त्रक अग्नित्व है, जो अग्नि में विद्यमान साध्यता का भी नियन्त्रक है, उससे युक्त अग्नि के अधिकरण में धूम होने से लक्षण समन्वय होता है किन्तु **धूमवान्**[3] **वह्नेः** में लक्षण समन्वित नहीं होता। व्याप्यवृत्ति और हेतु अग्नि के आश्रय में विद्यमान अभाव है, धूम का अभाव, उस अभाव की धूम में विद्यमान प्रतियोगिता का नियन्त्रक **धूमत्व** साध्यता का भी नियन्त्रक होने से अतिव्याप्ति नहीं है। इस लक्षण में कपिसंयोगी **एतद् वृक्षात्वात्** इस अव्याप्यवृत्ति साध्यक हेतु में अव्याप्ति के निवारण हेतु व्याप्यवृत्ति पद रखा गया है। व्याप्यवृत्ति का (अनियन्त्रित) (निरवच्छिन्न) विद्यमानता (वृत्ति या नियन्त्रित विद्यमानता से भिन्न) यह अर्थ नहीं है। **भवानन्द**[3] का कथन है कि व्याप्यवृत्तित्व का निवेश हेत्वधिकरण में करने से कपिसंयोगी सत्वात् में कपिसंयोगाभाव के गुण में व्याप्यवृत्ति होने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होती है।

---

१. दीधिति० व्यधि० प्र०।

२. सद्धेतौ साध्यावृत्तिघटत्वादिना साध्याभाव एव लक्षणघटकः। गा० पु० १७७.

३. व्यभिचारिणि साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्याभावस्यापि लक्षण घटकत्वान्नातिव्याप्तिः। गादा० व्यधि० प्र०।

४. व्याप्यवृत्तित्वं च हेत्वधिकरणे बोध्यं, तेन कपिसंयोगिएतत्त्वादित्यत्र कपिसंयोगाभावस्य गुणे व्याप्यवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः दी० प्र० व्यधि० प्र०।

भवानन्द मत

इस लक्षण के परित्याग का कारण स्पष्ट करते हुए भवानन्द[1] लिखते हैं वन्हित्वरूप से घटाभाव और घटत्व रूप से वह्नि का अभाव ये दोनों एक हैं अतः साध्याभाव की प्रतितोगिता का (अवच्छेदक) जैसे घटत्व है वैसे वह्नित्व भी है। अतः साध्याभाव की प्रतियोगिता का अनियन्त्रक वह्नित्व न होने से अव्याप्ति दोष होता है। इस प्रकार समनियत अभावों को एक मानने पर चक्रवर्ति द्वारा दूसरा लक्षण किया गया हैं। जगदीश[2] ने भी इसी दोष का समर्थन किया है। गदाधर[3] भी लिखते हैं "यद्यपि वह्नित्वेन घटाभाव और घटत्वेन वह्न्य भाव दोनों एक होने से वह्नित्वेन घटाभाव भी साध्य का अभाव है तथापि प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभाव को भिन्न मानने वाले मत से यह लक्षण है। समनियत अभाव को एक मानने वाले मत के अनुसार अग्रिम लक्षण है। समनियत अभाव को एक मानने पर होने वाले दोष का निवारण "हेतु के अधिकरण में रहने वाली साध्य निष्ठ प्रतियोगिता कहने से हो सकता है। किन्तु गदाधर[4] के अनुसार सर्वत्र वह्निघटउभयाभावादि रूप साध्यभाव लेकर बिना व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के भी लक्षण समन्वय हो सकता है जिससे प्रतियोग्य-वृत्तिश्च इत्यादि के द्वारा गङ्गेश का व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव का खण्डन व्यर्थ हो जाता है। अतः दूसरा लक्षण करना आवश्यक है।

४—हेतुसमानाधिकरणस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येनाऽनवछेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसमानाधिकरण्यम् ।

इस लक्षण में प्रथम चक्रर्वात के लक्षण से परिवर्तन इतना ही किया गया है कि यहां साध्याभाव के स्थान में केवल अभाव रखा गया है, जिससे वह्नित्वस्वरूप से घटाभाब लेकर **वह्निमान् धूमात्** में लक्षण समन्वय होता है। शेष लक्षण में पूर्व लक्षण से कोई विशेषता नहीं है।

---

१. ननु वन्हित्वावाच्छिन्नघटाभावस्य घटत्वावच्छिन्नविन्ह्यभावाभिन्नतया साध्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकमेव वन्हित्वमित्यव्याप्तिरतः समनियताभावैक्यमतेन लक्षणमाह हेतुसमानाधिकरणेति—वही पृ० १६३.

२. गादा० व्यधि० प्र०। ३. जाग० व्यधि० प्र०।

४. सर्वत्रद्वित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकसाध्याभावमादायैव तल्लक्षणसमन्वयसम्भवात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावानभ्युपगमेऽपि क्षतिविरहेण व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावखण्डनं मूलकृतोऽकिञ्चित्करमतो लक्षणान्तरमाह—गादा० व्यधि० प्र०।

भवानन्द मत

भवानन्द[1] और गदाधर[2] के अनुसार आकाशाभाव के कालिक सम्बन्ध से अभाव को साध्य और आत्मत्व को हेतु बनाने पर अव्याप्ति होती है, हेतु आत्मत्व के आश्रय में विद्यमान आकाशभावात्मक अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक "नियन्त्रक" ही आकाशाभावाभावत्व है। अनियन्त्रक (अनवच्छेदक) नहीं है। इसका निवारण करने के लिए **व्याप्यवृत्तित्व** का कोई परिष्कार करने पर गौरव होता है। इसलिए **प्रतियोगि-वैयधिकरण्य** से युक्त तृतीय चक्रवर्ती लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

जगदीश मत

जगदीश[3] के अनुसार **पर्वतो वह्निमान् धूमात्** में ही हेतु के आश्रय पर्वत में वर्तमान अभाव वह्नित्वरूप से तृण से उत्पन्न तथा अनुत्पन्न दोनों वस्तुओं का अभाव भी है, उस अभाव की प्रतियोगिता का समानाधिकरण होते हुए नियन्त्रक वह्नित्व भी है। वह्नि तृण जन्य और अजन्य दोनों प्रकार के होते हैं। अतः अव्याप्ति होती है। इसलिए प्रतियोगिव्यधिकरण युक्त लक्षण करना चाहिए। दूसरा[4] कारण यह भी है **हेत्वधिकरणवृत्तित्व** अभाव में किसी भी सम्बन्ध से नहीं कह सकते, धूमवान् पर्वत में कालिक सम्बन्ध से वह्नि का भी अभाव रहता है। यदि दैशिक विशेषणता सम्बन्ध से कहते हैं तो **घटभिन्नं द्रव्यत्वात्** यहां पर अतिव्याप्ति होती है। साध्याभाव घटभेद का अभाव अर्थात् घटत्व, दैशिक विशेषणता से हेत्वधिकरण घट में नहीं रहता है। फलस्वरूप व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला अभाव लेकर अतिव्याप्ति होगी। अतः प्रतियोगि-व्यधिकरण घटित लक्षण किया गया है। **अपरे तु** कहकर एक अन्य भी मत[5] उदधृत किया है जिसका भाव है कि व्याप्य-वृतित्व घटिकञ्जित् "पद घटित होने से दुर्वच होता है। अतः व्याप्य-वृतित्व को छोड़कर प्रतियोगि-व्यधिकरण का निवेश किया है। तीसरा जो मत[6] जगदीश ने उपस्थित किया है वह उनके गुरु

---

१. किन्त्वाकाशाभावस्य कालिकसम्बन्धेनाभावे साध्ये आत्मत्वादिहेतावतिव्याप्तिः दी प्र० व्यधि० प्र०।

२. कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाकाशाभावाभाववानत्मत्वादित्यादावव्याप्ति-वारणाय पूर्वोक्तरीत्यनुसरणे गौरवाद् व्याप्यवृत्तित्वं परित्यज्य प्रतियोगिव्यधि-करणत्वेनाभावं विशेषयति। गदा० व्यधि० प्र०।

३. पर्वते वन्हित्वेन तार्णातार्णोभयं नास्तीति प्रतीतिसिद्धस्यैव तादृशाभावस्य प्रति-योगितावच्छेदकत्वाद्वन्हित्वस्य। जाग० व्यधि० प्र० पृ० ११८.

४. नन्वत्र लक्षणे—त्रेति प्राहुः—जाग० व्यधि० प्र०।

५. जाग० व्यधि० प्र० पृ० १२४,

६. वही।

भवानन्द का है—जिसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं।

५—हेतुसमानाधिकरणस्य प्रतियोगिव्यधिकरणस्याभावस्य प्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येनाऽनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यम्।

यह लक्षण पूर्वोक्त लक्षण के समान ही सद्धेतु में घटत्वेन वह्न्यभाव आदि लेकर समन्वित होता है इसमें **कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्** इत्यादि अव्याप्यवृत्ति साध्यक सद्धेतु में अव्याप्ति वारण के लिए व्याप्यवृत्ति के स्थान पर प्रतियोगिव्यधिकरण पद रखा गया है। प्रतियोगिव्यधिकरणत्व के विस्तृत परिष्कार में न जाकर हम इतना ही उल्लेख करना अनिवार्य समझते हैं कि टीकाकारों[1] ने प्रतियोगिव्यधिकरणत्व का इस प्रकार परिष्कार किया है। जिससे कपिसंयोगाभाव का निषेध होता है तथा घटत्वेन वह्न्यभावादि का ग्रहण होता है। जब प्रतियोगिव्यधिकरण का परिष्कार करके लक्षण बनाते हैं तो उसका स्वरूप इस प्रकार होता है, जिस प्रतियोगिता के नियन्त्रक से युक्त प्रतियोगि का अनधिकरण जो हेत्वधिकरण हो उस प्रतियोगिता का समानाधिरण होते हुए जो नियन्त्रक हो उससे भिन्न साध्यता के नियन्त्रक का सामानाधिकरण्य। लक्षण का इस प्रकार का स्वरूप होने पर वह्निमान् धूमात् यहाँ वह्नित्वेन घटाभाव की प्रतियोगिता का लक्षण में समावेश नहीं होता है। प्रतियोगिता के नियन्त्रक वह्नित्व से युक्त का अनधिकरण हेत्वधिकरण पर्वतादि नहीं होते हैं। अतः अव्याप्ति न होने से समानाधिकरण्य पद इस लक्षण में व्यर्थ हो जाता है।[2] यही इस लक्षण का दोष है।

चक्रवर्ती लक्षणों की विशेषता को व्यक्त करते हुए दीधितिकार[3] कहते हैं। इन लक्षणों को स्वीकार करने से व्याप्ति को अव्यभिचारि सम्बन्ध रूपता भी प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि यहां पारिभाषिक अव्यभिचरितत्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। व्यभिचार का अभाव अव्यभिचार इस योगार्थ का परित्याग नहीं करना पड़ता है। जिस प्रकार हेतु में साध्याभाववद्वृतित्व को व्यभिचार कहा जाता है उसी प्रकार साध्यता के नियन्त्रक में हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता की नियन्त्रकता "अवच्छेदकता" होना भी व्यभिचार कहलाता है। इस

---

१. यादृशवाच्यं प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोग्यनधिकरणं यद्धेत्वधिकरणं तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाच्यं भवति चैवं व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावोऽपि प्रतियोगिव्यधिकरणः दी० प्र० व्यधि० पृ० १६६.

२. गादाधरी व्यधि० पृ० १८१ दी० प्र० व्यधि० प्र० पृ० १६८.

३. एवं च व्याप्तेरव्यभिचारिसम्बन्धरूपतापि सङ्गच्छते। हेतौ साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्याभाववद्वृत्तित्वस्येव साध्यतावच्छेदकेहेतुमन्निष्ठा भावप्रतियोगितावच्छेदककत्वस्यापि व्यभिचारत्वात्। त० चि० दी० व्यधि० पृ० १३६।

प्रकार उक्त तीनों लक्षण **साध्यतावच्छेदक में हेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव"** रूप व्यभिचाराभाव के द्योतक हैं।

इन लक्षणों में आये हुए "अवच्छेक पद से अवच्छेदकता का पर्याप्ति सम्बन्ध से अधिकरण लेना चाहिए जिससे महानसीय वह्नि का अभाव, या ह्रद वह्नि उभय के अभाव की प्रतियोगिता का नियन्त्रक "अवच्छेदक" वन्हित्व होने पर भी वन्हिमान् धूमात् आदि सद्धेतु स्थलों में अव्याप्ति नहीं होती है। अवच्छेदकता का पर्याप्ति सम्बन्ध से आश्रय केवल वन्हि ह्रदउभयत्व होगा।[1]दीधितिकार[2]का मत है कि **गुरुधर्मसाध्यतावच्छेदकत्व** वाले असद्धेतु में अतिव्याप्ति के वारण के लिए पारिभाषिकअवच्छेदकत्व का अनुसरण आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में **कपिसंयोगिसत्त्वात्** में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए व्याप्यवृत्ति" पद देने की भी आवश्यकता नहीं है। गुणाभाव, गुणावृत्तित्व का अभाव, द्रव्य मात्र में समवेत का अभाव आदि की प्रतियोगिता के अवच्छेदक गुणत्व आदि का अनतिरिक्त वृत्ति संयोगत्वरूप होने से संयोगत्व पारिभाषिक अवच्छेदक ही है, तदन्यत्व संयोगत्व रूप साध्यतावच्छेदक में न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है।[3]

६—साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न—साध्यसामानाधिकरणव्यावच्छेदक—स्वसमानाधिकरणसाध्याभावकत्वम्।

७—यत्समानाधिकरणसाध्याभावप्रमायां साध्यवत्ताज्ञानप्रबन्धकत्वं नास्ति तत्त्वम्।

८—यत्तु साध्याभाववति यद्वृत्तौ प्रकृतानुमितिविरोधित्वं नास्ति तत्त्वम्—।

ये तीन लक्षण दीधितिकार ने प्रगल्भ के लक्षण के रूप में उद्धृत किये हैं। प्रथम लक्षण में घटत्वेन वन्ह्यर्भात्र को लेकर वन्हिमान् धूमात् लक्षण समन्वय होता है। वन्हित्व से युक्त वन्हि के आश्रय में भी विद्यमान है, अतः वन्हिसामानाधिकरण का

१. अवच्छेदकत्वं च तात्पर्याप्त्याधिकरणत्वम्, तेन विशिष्टवन्ह्यभावस्य ह्रदत्ववन्हित्वोभयावच्छिन्नाभावस्य च प्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽपि वन्हित्वस्य न क्षतिः दी० जा० व्य० पृ० १३८.

२. वक्ष्यमाणं वा प्रतियोगितावच्छेदकानतिरिक्तवृत्तित्वमेव तदवच्छेदकत्वमिहापि बोध्यम्। वही पृ० १३९

३. भवति च गुणत्व-गुणावृत्तित्व-द्रव्यमात्रसमवेतत्वाद्यवच्छिन्न-प्रतियोगिताक-व्याप्यवृत्ति - अभावप्रतियोगितावच्छेदक-गुणत्वाद्यनतिरिक्तवृत्त्येव संयोगत्वमित्याहुः। त० चि० दी० व्यधि० प्रक०।

नियन्त्रक हेतु के आश्रय में विद्यमान साध्याभाव का धर्म है। **धूमवान् वन्हेः** में धूमाभाव **साध्यसमानाधिकरण** न होने से अतिव्याप्ति नहीं होती है। दूसरे लक्षण में भी जिस हेतु के आश्रय में विद्यमान साध्याभाव का प्रमात्मक ज्ञान, साध्यवान् के ज्ञान का विरोधी नहीं है वह हेतु ही व्याप्तियुक्त हेतु है। **वह्निमान् धूमात्** में हेतु धूम के आश्रय में विद्यमान (साध्याभाव) वन्हित्वेन घटाभाव का ज्ञान **पर्वतो अग्निमान्** इस ज्ञान का विरोधी नहीं है वन्हित्वेन घटाभाव का ज्ञान रहने पर भी पर्वत अग्निमान् है, यह ज्ञान उत्पन्न होता है। हेतु अग्नि के आश्रय में रहने वाले धूमाभाव का ज्ञान धूमवान् के ज्ञान का विरोधी है। अतः **धूमवान् वह्नेः** में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

रघुनाथ मत

इन दोनों लक्षणों पर आपत्ति करते हुए दीधितिकार कहते हैं कि ये दोनों लक्षण ठीक नहीं हैं क्योंकि दोनों साध्याभाव पद व्यर्थ हैं। प्रथम लक्षण **साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकएवसमानाधिकरणत्वकत्व** तथा द्वितीय **यत्समानाधिकरणप्रमासामान्ये साध्यवत्ताज्ञानप्रतिबंधकत्वं नास्ति तत्त्वम्** इस प्रकार के बनाने पर भी कोई दोष नहीं होता है।

भवानन्द मत

भवानन्द[1] तर्क वागीश किन्हीं के मत को उपस्थित करते हुए कहते हैं प्रथम लक्षण में **साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिसामाधिकरण्य** तथा द्वितीय लक्षण में **साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोसत्ता** ज्ञान कहने पर हेतु के आश्रय में विद्यमान घटाभाव में वन्हित्व से युक्त घट रूप प्रतियोगी अप्रसिद्ध होने से प्रतियोगी सामानाधिकरण्य नहीं है तथा घटाभाव प्रमा में घट ज्ञान की प्रतिबन्धकता नहीं है अतः असम्भव होता है उसके निराकरण के लिए साध्याभाव पद आवश्यक है। आचार्य जगदीश[2] इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि **प्रतियोग्यवृतिश्च** इस ग्रन्थ के अनुरोध से साध्याभाव पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण के अनुसार ग्रहण करना है; अतः वन्हित्वेन घटाभाव में वन्हित्व से युक्त घट अप्रसिद्ध होने से साध्यता के नियन्त्रक से युक्त प्रतियोगि का

१. तत्त्व चि० दी० प्र० व्यधि० प्र०।

२. तन्मन्दम्। प्रतियोग्यवृत्तिश्चेति मूलावतारानुरोधेन साध्याभावस्य पूर्वोक्त द्वितीयरीत्यैव वक्तव्यतया हेतुसामानाधिकरणस्य वन्हित्वेन घटभावादेः साध्यातावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिसामाधिकरण्याऽप्रसिद्धया तादृशपद प्रक्षेपेऽपि अव्याप्तितादवस्थ्यात्—जा० व्०धि० प्र० पृ० १५२

(सामानाधिकरण्य) अप्रसिद्ध है अतः साध्यभाव पद देने पर भी अव्याप्ति उसी अवस्था में रहती है।

तृतीय लक्षण का विरोध करते हुए दीधितिकार[1] लिखते हैं यदि अनुमिति का अविरोधी ज्ञान अनुमिति का जनक है तो साध्याभाववद् वृत्तित्व का ज्ञान भी अनुमिति का अविरोधी है अतः धूमाभाववदवृत्तित्व ज्ञान में प्रकृतानुमति विरोधित्व का अभाव होने से अतिव्याप्ति होती है। दीधितिकार के आशय को स्पष्ट करते हुए जगदीश[2] लिखते हैं कि अनुमिति प्रतिवन्धकत्व का अर्थ अनुमिति का साक्षात् विरोधी नहीं है। कोई भी व्यभिचार ज्ञान अनुमिति का साक्षात् विरोधी नहीं होता है। इसलिए व्यभिचारिमात्र में अतिव्याप्ति हो सकती है। अतः अनुमिति विरोधी का अर्थ अनुमिति के जनक ज्ञान का विरोधी होना चाहिए। अनुमिति का जनक यदि अनुमित्यविरोधित्व रूप व्याप्ति का ज्ञान है तो उसके लिए साध्याभाववदवृत्तित्व का ज्ञान विरोधी नहीं है, अपितु साध्याभाववद् वृत्तित्वं अनुमिति विरोधी, यह ज्ञान है। अतः व्यभिचारी हेतु में अतिव्याप्ति होती है,यदि साध्याभाववदवृत्तित्व रूप व्याप्ति का ज्ञान अनुमिति का जनक है, तो **अनुमितिप्रबन्धकत्वं नास्ति** इत्यादि व्याप्तिज्ञान अनुमिति में अनुयुक्त होने से उसका निरूपण व्यर्थ हो जाता है।. अनुमिति पद इस लक्षण में प्रकृत व्याप्त्यानुमिति का वाचक है तथा वह **व्याप्त्यानुमिति साध्याभाववद् वृत्ति हेतु** यह है अतः व्यभिचारि-हेतु में साध्यभाववदवृतित्व का ज्ञान अनुमिति विरोधी होने से अतिव्याप्ति नहीं है। इस भवानन्द[3] के कथन का विरोध करते हुए जगदीश[4] कहते हैं कि उपर्युक्त इस कथन से कि (यदि) **साध्याभाववदवृत्ति हेतु** यह ज्ञान अनुमिति का जनक है तो **अनुमित्य-विरोधित्व** ग्रहण अर्थान्तर ग्रस्त है भवानन्द का मत खण्डित हो जाता है।

दीधितिकार[5] ने (केचित्तु) कह कर तीन अन्य लक्षण प्रस्तुत किये हैं जिन्हें टीकाकारों[6] ने मिश्र लक्षण कहा हैं। सम्भवतः ये मिश्र सुप्रसिद्ध पक्षधर मिश्र हैं जिन्होंने तत्वचिन्तामणि पर आलोक नामक व्याख्या प्रस्तुत की है।

---

१. तन्न अनुमित्यविरोधित्वज्ञानस्यानुमितिहेतुत्वे साध्याभाववद्वृत्तित्व ज्ञान स्यानुमित्यविरोधितया व्यभिचारिण्यति प्रसङ्गात्। दी० व्य. प्र. पृ. १४५।

२. जा० व्यधि० प्र० पृ० १५५-१५७।

३. यदि चानुमितिमदं प्रकृतव्याप्त्यनुमितिपरं तच्च साध्याभाववदवृत्ति हेतुरित्याधा-कारकं—तदानायं दोष इति स्मर्तव्यम्। दी० भवा० व्य० प्रकरण।

४. एतेन यदि प्रकृतानुमितिपदं प्रकृतिहेतुधर्मिक साध्यव्याप्त्यनुमितिपरं-- तदा न व्यभिचारिण्यति प्रसङ्ग इत्यपास्तम्—जा. व्य. प्र. पृ. १५७।

५. दीधिति व्यधि० प्रकरण।

६. दी० प्रकाश व्यधि० प्रकरण।

९—केचित्तु यावन्तः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्तत्सजातीया ये तत्तदधिकरण निरुपितवृत्तित्वाभास्तद्वत्वं तत्त्वम् ।

१०—यद्वा यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तेषां सजातीयस्य व्यापकीभूतस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन धर्मेण यद्रूपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्यते तद्रूपवत्वं तत्वम् ।

११—यद्वा यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्प्रतियोगितावच्छेदकेन यद्रूपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्यते तद्रूपवत्वं तत्त्वम् ।

मिश्र के प्रथम लक्षण में यावत् साध्याभाव पद से वन्हित्वेन घटाभाव[1] तथा उसका सजातीय अभाव **वह्नित्वेन घटाभावाधिकरणवृत्तितात्वेन घटाभाव** तद्वत्त्वधूम हेतु में होने से **पर्वतो वह्निमान् धूमात्** में लक्षण समन्वय होता है। दीधितिकार ने इस लक्षण पर कोई दोष उपस्थित नहीं किया है। दीधितिप्रकाश[2]कार के अनुसार **द्रव्यं गुण कर्मान्यत्वे सति सत्वात्** इस स्थल में अव्याप्ति होती है। विशिष्ट और शुद्ध सत्ता एक होने से साध्याभाव द्रव्यत्वाभाव का सजातीय द्रव्यत्वाभावाधिकरण निरूपितवृत्तित्वाभाव सत्ता में नहीं है। द्रव्यत्वाभाववद् गुणादिवृत्तित्व ही सत्ता में है। अतः (यद्वा) यह द्वितीय लक्षण किया गया है। जगदीश[3] के अनुसार हेतुतावच्छेदक से नियन्त्रित हेत्वधिकरण में रहने वाला अभाव कहने पर **द्रव्यं विशिष्टसत्त्वात्** में होने वाली अव्याप्ति का निवारण होता है किन्तु धूमवान् वन्हेः में ही निर्धूमवृत्तित्व का अभाव महानसीय वन्हि में होने से अतिव्याप्ति होती है, हेतुतावच्छेदक धर्म से नियन्त्रित वृत्तित्वाभाव कहने पर भी जलवृत्तित्व, और जलान्यनिर्धूम वृत्तित्व उभय का अभाव वन्हि में होने से अतिव्याप्ति तथा महागौरव भी है।

द्वितीय मिश्र लक्षण में **तत्तदधिकरणवद् वृत्त्वितत्वाभाव** का निवेश नहीं है। साध्याभाव के सजातीय अभाव में व्यापकीभूत और व्याप्यवृत्ति ये दो विशेषण लगाये गये हैं। यहां **वह्निमात् धूमात्** में वह्न्यभाव का सजातीय अभाव धूमाभाव तथा

---

१. साध्याभावश्च पूर्वोक्त—द्वितीयरीत्या प्रत्येतव्यः—दीं० व्यधि० प्रकरण ।

२. ननु द्रव्यं गुण कर्मान्यत्वे सति सत्त्वादित्य व्याप्तिः दी. व्यधि. प्र.।

३. तथापि धूमवान वह्नेरित्यप्रति व्याप्तिः निर्धूमवृत्तित्वसामान्याभावस्यापि महानसीयवह्नौ सत्त्वात्। न च हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छेदन तादृशवृत्तित्वाभाववत्वं विवक्षितम्, तथापि निर्धूमवृतितात्वेन जलवृत्तित्व-जलान्य निर्धूम वृत्तित्व-उभयाभावसत्त्वात् धूमवान् वह्नेरित्यादावतिव्याप्तेः महागौरवापत्तेश्चेत्यत अजाह यद्वेति। जा० व्य० प्रकरण।

वन्हित्वेन घटाभाव का सजातीय तथा (व्यापकीभूत-अभाव) **धूमत्वेन घटाभाव** इन अभावों की प्रतियोगिता का नियन्त्रक धूमत्व, धूमत्व से नियन्त्रित व्यापकता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) है, तद्रूपवत्त्व धूम में होने से लक्षण समन्वय-होता है।[1]

मिश्र लक्षण का खण्डन करते हुए स्वयं दीधितिकार[2] कहते हैं कि इस लक्षण में हेतु में व्यापकीभूत, व्याप्यवृत्ति अभावप्रतियोगित्व अथवा व्यापकीभूत व्याप्यवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) जो साधनता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) कहने पर क्रमशः **द्रव्यं सत्वात्** इस स्थल में अतिव्याप्ति तथा **ज्ञेयं प्रमेयात्** इस लक्षण में अव्याप्ति होती है। **द्रव्यं सत्वात्** यहां पर गुण कर्म में न रहने वाली सत्ता के अभाव की प्रतियोगिता सत्ता में होने से अतिव्याप्ति होती है। ज्ञेयं प्रमेयात् यहां प्रमेयत्व किसी का भी व्यधिकरणधर्म न होने से साध्याभाव का सजातीय व्याप्य-वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) हेतुता का अवच्छेक (नियन्त्रक) न होने से अव्याप्ति होती है।

मिश्र के द्वितीय लक्षण के परित्याग का कारण उसका गुरुभूत होना है। तृतीय लक्षण में सजातीय, व्यापकीभूत तथा व्याप्यवृत्ति पदों का परित्याग कर दिया गया है। इस लक्षण में भी साध्याभाव, शिरोमणि के द्वितीय लक्षण के समान ही वन्हित्वेन घटाभाव लेकर पर्वतो वन्हिमान् धूमात् में लक्षण समन्वय होता है। यावत् साध्या-भावान्तर्गत है, वन्हित्वेन घटाभाव उसकी प्रतियोगिता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) वन्हित्व से युक्त वन्हि में यद्रूप अर्थात् धूमत्व से युक्त धूम की व्यापकता है अतः **तद्रूपवत्व** धूम में होने से लक्षण समन्वय होता है। **धूमवान् वन्हेः** में लक्षण समन्वय इसलिए नहीं होता है कि यावदार्न्गत धूमाभाव की प्रतियोगिता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) धूमत्व से युक्त में **यद्रूप** वन्हित्व से युक्त वन्हि की व्यापकता नहीं है।

मिश्र लक्षणों के पश्चात् पारिभाषिक लक्षणों की शृङ्खला में सार्वभौम के तीन लक्षण जोड़े जाते हैं। ये सार्वभौम वासुदेव सार्वभौम हैं जिन्होंने तत्त्व चिन्तामणि पर रघुनाथ शिरोमणि के पूर्व व्याख्या लिखी है। ये रघुनाथ शिरोमणि के गुरु थे। इनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

---

१. वन्हिमान् धूमादित्यादौ वह्नित्वाद्यवच्छिन्नवन्ह्यभावसजातीयस्तद्व्यापकीभूतो धूमत्वाद्यवच्छिन्न धूमाद्यभावो वन्हित्वावच्छिन्नघटाभावसजातीयस्तद्व्यापकीभूतो धूमत्वाद्यवच्छिन्नघटाद्यभावस्तत्प्रतियोगितावच्छेदकं धूमत्वावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकमितिलक्षण समन्वयः। गा० व्यधि० प्र० पृ० २११।

२. दीधिति व्य० प्र०।

१२—वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभाववदवृत्तित्वाभावस्तद्वत्त्वम् ।

१३—वृतिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभावसमुदायाधिकरणवृत्तिबत्वाभावास्तत्वम् ।

१४—साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न व्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताक व्याप्यवृत्ति-स्व-समानाधिकरण-यावदभावाधिकरणवृत्तित्वाभावा यावन्तो वृत्तिमद्वृत्तयस्तद्वत्वं व्याप्तिः ।

प्रथम लक्षण का समन्वय **पर्वतो वह्निमान् धूमात्** इस प्रकार से होता है । वृत्तिमान् वस्तु में वर्तमान यावत् साध्याभावदवृत्तित्वाभाव में वन्हित्वेने घटाभावव वद् वृत्तित्वेन के घटत्वेन अभाव का भी समावेश होता है वह धूम में विद्यमान होने से लक्षण समन्वय होता है । धूमवान् वन्हेः यहां पर वर्तमान पदार्थ में वृत्ति धूमाभाववद्-वृत्तित्वाभाव अग्नि में न होने से लक्षण समन्वय नहीं होता है ।

दीधितिकार[1] के अनुसार इस लक्षण में साध्याभाव उनके द्वितीय लक्षण के समान तथा तद्वृत्तित्वाभाव भी साध्याभाववद्वृत्तित्वाभाव की प्रतियोगिता का व्यापक जो तत्तत्साध्याभाववद्वृतित्व उसकी व्यापक प्रतियोगिता वाला अथवा साध्याभाववद्वृत्तित्व से भिन्न समानाधिकरण धर्म या तत्साध्याभाववद्वृत्तित्व धर्म से अनियन्त्रित प्रतियोगिता वाला होना चाहिए । जिससे अलोक में न रहने वाला वन्ह्यभाववदवृत्तित्व उसका अभाव या इन्धनत्व से युक्त वन्ह्यभावाधिकरण महानसवृत्तित्व का अभाव धूम में न रहने पर भी कोई क्षति नहीं होती है ।

भवानन्द एवं गदाधर मत

भवानन्द[2] तथा गदाधर[3] का मत है कि समुदाय घटित अग्रिम लक्षण में जो **महाकालान्यो घटात्** इस स्थल में अतिव्याप्ति प्रस्तुत की गई है वह इस लक्षण में भी है किन्तु समुदाय घटित लक्षण में जो अन्य दोष दिये गये हैं उनकी प्रसक्ति यहां नहीं है । यही कारण है इसे **परे तु** शीर्षक से पृथक् रूप में वर्णित किया गया है ।

---

१. साध्याभावश्च पूर्ववद् बोध्यः तद्वृत्तित्वभावोऽपि स्व—व्यापक तत्साध्याभाववद्-वृत्तित्व व्यापक प्रतियोगिताकः—तेना लोकाद्यवृत्तित्वे न रूपेणयो वन्हि—सामान्याभाव वद्वृत्तित्वस्य यश्चेन्धनत्वाद्यवच्छिन्न—वह्निभावाधिकरणीभूत—महानस वृत्तित्वादेरभावस्तस्य धूमादौ स्वनिष्ठ साध्याभाववद वृत्तित्व विरहस्य हेत्वन्तरवृत्तेः स्वस्मिन्नसत्त्वेऽपि न क्षतिरित्याहुः । दी० व्यधि० प्र० ।

२. दी० प्रकाश० व्यधि० प्र० ।

३. गादाधरी व्यधि० प्र० ।

अन्ये तु के रूप में वर्णित सार्वभौम के द्वितीय लक्षण का समन्वय वन्हिमान् धूमात् में पूर्वोक्त प्रकार से ही होता है अर्थात् वृत्तिमान् वस्तु में साध्याभाव वन्हित्वेन घटाभावादि के समुदाय के अधिकरण वृत्ति का घटत्वेन अभाव धूम में होने से लक्षण का समन्वय होता है। इस लक्षण में भी पूर्व लक्षण के समान ही **वृत्तित्वभाव** स्वव्यापक-साध्याभाववद्वृत्तिवत्व्यापकप्रतियोगिता वाला होना चाहिए। इसका प्रयोजन पूर्व लक्षण की व्याख्या में कहा जा चुका है।

इस लक्षण का खण्डन करते हुए दीधितिकार[1] कहते हैं **द्रव्यत्व पृथिवीत्वोभयवान् द्रव्यत्वात्** यहां पर पृथ्वीत्व द्रव्यत्व अन्यतर के अभाव के आश्रय गुणादि में द्रव्यत्व वृति न होने से अतिव्याप्ति होती है। तथा इदंपृथिव्यन्यद्रव्यत्ववत् द्रव्यत्वात् इस स्थल में द्रव्यत्वाभाव समुदाय के अधिकरण गुणादि में द्रव्यत्व के वर्तमान न होने से भी अतिव्याप्ति होती है और तो और जहां रूपाभाव को साध्य किया हो और गुणत्व को हेतु किया हो वहां साध्याभाव अर्थात् सकलरूप किसी एक आश्रय में विद्यमान नहीं हो सकते। यदि साध्याभाव समुदाय का यह अर्थ करें "जितने अभावों का एक आश्रय हो उनका समुदाय" तो **इदं पृथिवी-वृत्तिगुणशून्यं सत्तान्यपृथिवीसमवेतशून्यं वा वायुत्वात्, रूपवदन्यत्वाद्वा** इत्यादि में अतिव्याप्ति होती है। यहां पर साध्याभाव अर्थात् पृथिवीवृत्तिगुणभावाभाव के अन्तर्गत रूपादि भी होने से उसके आश्रय घटादि में वायुत्व अविद्यमान है। अतः **साध्याभावसमुदायाधिकरण-वृत्तित्वाभाव** वायुत्व में है। इसी प्रकार **सरत्तान्यपृथ्वीसमवेतशून्यं रूपवदन्यत्वात्** में भी अतिव्याप्ति होती है।[2]

वस्तुस्थिति यह है कि रूप साध्यकस्थल में घटत्वेन रूपाभावाभाव सहस्र के समानाधिकरण सभी रूप होने से समानाधिकरण यावद् अभावों का एक अधिकरण अप्रसिद्ध है।[3]

अपि च **वह्निमान् धूमात्** में अव्याप्ति के निराकरण हेतु, हेतुतावच्छेदक-सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरण में वृत्ति कहने पर **सत्तावान् जातेः** इत्यादि स्थल में साध्याभाव के आश्रय में समवाय सम्बन्ध से कोई पदार्थ वृत्ति न होने से उस सम्बन्ध से नियन्त्रित वृत्तिता अप्रसिद्ध होती है। **सत्तावान् जातेः** में होने वाली अव्याप्ति का निराकरण करने के लिए (साधनसमानाधिकरण) साध्य का अभाव कहने पर **भूतत्व-**

---

१. तत्त्व चि० दी० व्यधि० प्र०।
२. दीधिति व्यधि० प्र०।
३. वही ,,

भूतत्वान्यतराभाववान् स्पर्शवदन्यत्वात् इस स्थल में अतिव्याप्ति होती है। भूतत्व-भूर्तत्व अन्यतर के आश्रय पृथ्वी में स्पर्शवदन्यत्व वृत्ति नहीं है क्योंकि पृथ्वी स्पर्शवान् ही है और **महाकालान्यो घटात्** में भी अतिव्याप्ति होती है, महाकाल भेदाभाव के आश्रय महाकाल में वस्तुमात्र के कालिक विशेषणता सम्बन्ध से विद्यमान होने के कारण व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न वृत्तित्व का अभाव घट में है।

गदाधर[1] ने **ईश्वरज्ञानान्यज्ञानाद्, घटत्ववान् घटात्**, तद्रूपवान् घटत्वात्, आदि विषयता, संयोग, समवाय सम्बन्ध से हेतु वाले स्थलों में भी क्रमशः अतिव्याप्ति प्रस्तुत की है। जगदीश[2] का मत है कि पूर्व लक्षण के समान यहां भी वृत्तिमान में विद्यमान सभी साध्याभाव वद्वृत्तित्वाभावतद्धत्व से नियन्त्रित (अवच्छिन्न) अधिकरणता मात्र वाले हो तद्धर्मवत्व व्याप्ति कहने पर, वृत्तिमदवृत्तित्व और साध्याभाववद् वृत्तित्व दैशिकविशेषणता सम्बन्ध से कहने पर कोई पूर्वोक्त दोष नहीं होता है।

सार्वभौम के तृतीय लक्षण का समन्वय पर्वतो वन्हिमान् धूमात् में इस प्रकार से होता है। साध्यतावच्छेदक से अविच्छन्न व्यापकतावच्छेदक वन्हित्वेन घटाभाव, जो व्याप्यवृत्ति है तथा हेतु के आश्रय में रहने वाला है यावद् अभावों में समाविष्ट इस वन्हित्वेन घटाभावाधिकरणवृत्तित्व का घटत्वेन अभाव वृत्तिमान् में वृत्ति है तथा यावद् अभावों के अन्तर्गत है तद्वत्व धूम में होने से लक्षण समन्वय होता है। इस लक्षण में भी **महाकालान्यो घटात्** इस स्थल में अतिव्याप्ति होती है। महाकाल भेदाभाव के आश्रय महाकाल में कालिक विशेषणता सम्बन्ध से वस्तु मात्र विद्यमान होने से यावदन्तर्गत घटत्वेन उस वृत्तित्व का अभाव घट में रहता है। इस लक्षण में होने वाली अतिव्याप्ति का उद्धार भी पूर्वोक्त प्रकारों से हो सकता है। यह भवानन्द आदि टीकाकारों का मत है। अर्थात् वृत्तिमद्-वृत्तित्व और साध्याभाववद्वृत्तित्व दैशिक-विशेषणता अथवा हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से कहने पर कोई दोष नहीं होता है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव-निराकरण

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव लेकर ही उपरोक्त पारिभाषिक लक्षणों का समन्वय किया जाता है। व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता के परिचायक

---

१. इदमुपलक्षणम् ईश्वरज्ञानान्यत्वादिसाध्यके विषयता सम्बन्धेन हेतुमात्रे—वस्तुमात्रस्यैव वृत्तेरतिव्याप्तिर्द्रष्टव्या एवं यथाश्रुते घटत्वादि साध्यके व्यभिचारिणि अतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्—गा० व्य०।

२. वस्तुतः पूर्वलक्षण इवात्रापि वृत्तिमदवृत्तयो यावन्तः साध्याभाववद् वृत्तित्वाभावा स्तदत्वावच्छिन्नाधिकरणता सामान्यक तद्धर्मवत्वमेव व्याप्तिर्वाच्या, तदा च वृत्तिमदवृत्तित्वं साध्याभाववदवृत्तित्वंच दैशिकविशेषणतयैव वक्तव्यम्, अतो न कोपिदोषः पदमादध्यात्यवेवधातव्यमिति—जा० व्य० प्र०।

अभाव का निराकरण करने पर उपर्युक्त पारिभाषिक व्याप्ति के लक्षण प्रयोजनशून्य हो जाते हैं। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का निराकरण करते हुए तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश कहते हैं। प्रतियोगी में न रहने वाला धर्म प्रतियोगिता का नियन्त्रक नहीं हो सकता है। प्रतियोगिता के अवच्छेदक से युक्त प्रतियोगी का ज्ञान अभाव के ज्ञान का कारण होता है, अन्यथा प्रतियोगी के निर्विकल्पक ज्ञान से भी उसके अभावकी प्रतीति होनी चाहिए। गाय में शशशृङ्ग नहीं हैं यह प्रतीति अप्रसिद्ध है। किन्तु "शशशृंग नहीं है" इस प्रतीति में शश में शृंग का अभाव प्रतीत होता है।

रघुनाथ मत

दीधितिकार[1] के अनुसार विशेषणतावच्छेदक से युक्त का ज्ञान **विशिष्ट के वैशिष्ट्य** के ज्ञान कारण होता है। घट के अभाव का ज्ञान घटत्व से युक्त घट के प्रतियोगिता का ज्ञान है इसमें विशेषण घटत्व का प्रतियोगितावच्छेदक के रूप में ज्ञान होता है। उसके बिना, घट नहीं है यह प्रतीति नहीं होती है। व्यधिकरण धर्म से युक्त प्रतियोगी की प्रतीति यदि यहां अभावज्ञान के साथ नहीं होती है तो इसका अर्थ है कि व्यधिकरण धर्म का प्रतियोगिता के नियन्त्रक के रूप में भी आभास नहीं होता है। यदि व्यधिकरणधर्म का भी प्रतियोगिता के नियन्त्रक रूप से आभास होता है यह मानने पर उसे भ्रम ही मानना होगा। उससे अर्थ सिद्धि नहीं होगी। यदि लोगों का अनुभव **घटत्वेन पटो नास्ति** इस प्रतीति के विषय में विवाद रहित है तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का निवारण बृहस्पति के लिए भी अशक्य है। इस प्रकार **घटत्वेन पटो नास्ति** इस प्रतीति के विषय में विवादग्रस्तता दिखलाकर उसकी अवास्तविकता दीधितिकार ने सूचित की है। इसी बात का समर्थन भवानन्द, जगदीश आदि टीकाकारों ने किया है।

सिद्धान्तव्याप्ति विचार

केवलान्वयी स्थल "**इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्**" में अव्याप्ति का वारण करने का व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव लेकर वारण करने का प्रयास सफल न होने पर आचार्य गङ्गेश ने सिद्धान्त व्याप्ति का प्रदर्शन किया है। आचार्य गङ्गेश, के अनुसार जो प्रतियोगी के आश्रय में न रहने वाला तथा हेतु के आश्रय में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव उस अभाव की प्रतियोगिता के नियन्त्रक से नियन्त्रित नहीं होता है, उसके साथ हेतु का एक आधार में रहना व्याप्ति है। "**इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्**" यहां पर प्रति-

---

१. तत्व चि० दी० व्यधि० प्र०।

२. अत्रोच्यते प्रतियोग्यसमानाधिकरण यत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः तत्त्व० चि० व्या० सि० ल०

योगी के आश्रय में न रहने वाला और हेतु ज्ञेयत्व के आश्रय भूतल में रहने वाला अभाव घट का अभाव हो सकता है। उसकी प्रतियोगिता के नियन्त्रक घटत्व से अभिन्न वाच्यत्व नहीं है तथा वाच्यत्व के साथ ज्ञेयत्व एक आश्रय में रहता है। अतः व्याप्ति ज्ञेयत्व में घटित होती है। **पर्वतो अग्निमान् धूमात्**" में तद्वद्वन्ध्य भाव लेकर अव्याप्ति होती है। अतः दीधितिकार[1] ने इस लक्षण की व्याख्या इस प्रकार से की है। प्रतियोगी के अधिकरण में न रहने वाला यद्रूप से युक्त के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनियन्त्रक जो धर्म हो उस धर्म से युक्त किसी भी वस्तु के साथ तद्रूप से युक्त का एक अधिकरण में रहना। तद्रूप से युक्त की तद्धर्म से युक्त यावत् में प्रदर्शित व्याप्ति है। यहां तद्वह्नि का अभाव लेने पर उसकी प्रतियोगिता का अनियन्त्रक वह्नित्व होने से लक्षण समन्वय कोई बाधा नहीं रहती है। रघुनाथ शिरोमणि ने "कालो घटवान् कालपरिणामात्" में **प्रतियोग्य-समानाधिकरणाभाव** की अप्रसिद्ध के फल स्वरूप होने वाली अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए साध्यता के नियन्त्रक सम्बन्ध मात्र में हेतुसमानाधिकरणभावक प्रतियोगि-कत्व हेत्वाधिकरणीभूत किसी व्यक्ति का अनुयोगित्व उभय का अभाव हो उस प्रतियोगिता वच्छेक से युक्त के समानाधिकरण्य को व्याप्ति[2] कहा है। **कालो घटवान् कालपरिमाणात्** में साध्यता के नियन्त्रक सम्बन्ध कालिक सम्बन्ध में हेत्वधिकरण महाकाल का अनुयोगित्व होने पर भी गगन प्रतियोगिकत्व नहीं है अतः गगनाभाव लेकर लक्षण समन्वय होता है। काल जगत् का आधार होने से जो लोग गगन को स्वरूप सम्बन्ध से वृत्ति मानते हैं उनके मत में गगन का अभाव भी प्रति-योगिव्यधिकरण नहीं हो सकता है। अतः सम्बन्ध धर्मिक उभयाभाव घटित लक्षण का परित्याग करके दीधितिकार[3] ने प्रतियोगिता धर्मिक उभयाभाव घटित लक्षण प्रस्तुत किया है। प्रतियोगी के अधिकरण में न रहने वाला हेतु के अधिकरण में रहने

---

१. प्रतियोग्यसमानाधिकरण यद्रूपविशिष्टसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगिता-नवच्छेदको यो धर्मस्तद्धर्मावच्छिन्नेन येन केनापि समं सामानाधिकरण्यं तद्रूपविशिष्टस्य तद्धर्मावच्छिन्नयावान्निरूपिता व्याप्तिरित्यर्थः तत्त्व० चि० दीधिति० सि० लक्षण प्र०।

२. मेवं साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध सामान्ये निरुक्तप्रतियोगिप्रतियोगिकत्वहेत्व-धिकरणीभूतयत्किञ्चिद्व्यक्त्यनुयोगिकत्वसामान्योभयाभावस्य विवक्षितत्वात् तत्त्व चि० दी सि० व्या० पृ० ३५३.

३. स्वरूप सम्बन्धेन गगनादेर्वृत्तिमत्वे तु निरुक्तप्रतियोगिधिकरण-हेतु मन्निष्ठा-भाव प्रतियोगिता- सामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व—यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभया-भावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नसद् व्यापकत्वं बोध्यम् —वही

वाले अभाव की प्रतियोगिता सामान्य में जिस सम्बन्ध से अवच्छिन्नत्व एवं जिस धर्म से अवच्छिन्नत्व उभय का अभाव हो उस सम्बन्ध से उस धर्म से युक्त की व्यापकता जाननी चाहिए।

कालो घटवान् कालपरिमाणात्" में संयोग सम्बन्ध से घटाभाव भी मिलेगा। घटाभाव की घटनिष्ठ प्रतियोगिता में घटत्वावच्छिन्नत्व होने पर भी साध्यता के नियन्त्रक सम्बन्ध कालिक सम्बन्ध से अवच्छिन्नत्व नहीं है। अतः उभवाभाव है।

जगदीश मत

जगदीश[1] तर्कालंकार के अनुसार सम्बन्ध धार्मिक उभयाभाव घटित कल्प में "**घटवान् नित्यज्ञानत्वात्**" में गगनाभाव भी प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव नहीं है। विषयिता सम्बन्ध में गगन प्रतियोगिकत्व भी है और नित्यज्ञानानुयोगिकत्व भी है। उभय का अभाव नहीं है अतः प्रतियोगिक व्यधिकरणाभाव अप्रसिद्ध है। इसके निवारण के लिए "साध्यता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) सम्बन्ध से नियन्त्रित: प्रकृत साध्य की अधिकरणता से प्रदर्शित स्वरूप सम्बन्ध से जिस अभाव की प्रतियोगिता के नियन्त्रक (अवच्छेद) से नियन्त्रित अधिकरणता सामान्य का अभाव हेतुमान् में हो उस अभाव की प्रतियोगिता का अनियन्त्रक (अनवच्छेदक) साध्यता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) इत्यादि लक्षण करने पर "कालो घटवान् काल परिणामात् में भी अव्याप्ति नहीं होती है। अतः निरुक्त प्रतियोगिकत्व रूप खण्डशः प्रसिद्धि का दीधितिकार का प्रयास विफल है। दीधितिकार पर जगदीश[2] ने यह भी आक्षेप किया है कि जिस प्रकार की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से युक्त प्रतियोगी के सम्बन्ध सामान्य में साध्यतानियन्त्रक सम्बन्धत्व और हेत्वधिकरण रूपी किसी व्यक्ति का अनुयोगिकसम्बन्धत्व दोनों का अभाव हो उस प्रकार की प्रतियोगिता का अनियन्त्रक जो साध्यता (वच्छेदक) कहने पर भी उपर्युक्त दोष का निवारण हो सकता है तब इस प्रकार का लघु लक्षण दीधितिकार ने क्यों नहीं किया। विश्वनाथ पञ्चानन ने गगन

---

१. अत्रब्रूमः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रकृतसाध्याधिकरणतानिरुपितस्वरूप सम्बन्धेन यदभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणता सामान्याभाव वत्वं हेतुमतः तद्भावप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य साध्यतावच्छेदके विवक्षणेनैव सामञ्जस्ये निरुक्तप्रतियोगिकत्वेत्यादि खण्डशः प्रसिद्धिः विफला—जा० सि० प्र०

२. एवं यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिकसम्बन्धसामान्ये साध्यता वच्छेदक सम्बन्धत्वहेत्वाधिकरणीभूत यत्किञ्चिद्व्यक्तपनियोगिक सम्बन्धत्वोभयाभाव स्तादृश प्रतियोगिता कथंनोक्तेति चिन्तनीयम्। जा० सि० ल० प्र०।

को (वृत्ति) मान कर प्रतियोगिता धार्मिक उभयभाव घटित लक्षण का ही समर्थन किया है। जगदीश ने प्रतियोगिता घटित उभयाभाव युक्त लक्षण का "**धूमवान् वन्हेः**" इत्यादि व्यभिचारी स्थल में भविष्यद् अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए, एक अन्य प्रकार से भी उक्त लक्षण का परिष्कार करने का प्रयास किया है। स्वावच्छेदकता घटक सम्बन्ध से जिस प्रकार की प्रतियोगिता के नियन्त्रक धर्म का अनधिकरण हेतु का अधिकरण हो, उस प्रकार की प्रतियोगिता मात्र में जिस धर्म से नियन्त्रित अवच्छेदकताकत्व तथा जिस सम्बन्ध से नियन्त्रित अवच्छेदकताकत्व, उभय का अभाव हो, उस सम्बन्ध से उस धर्म से नियन्त्रित का व्यापकत्व व्याप्ति है। गदाधर भट्टाचार्य ने सम्बन्ध ।ार्मिक उभयाभाव घटित लक्षण का अनुयोगिता धार्मिक उभयाभाव घटित लक्षण के रूप में परिष्कार करके "**इदन्तु बोध्यम्**" कहकर दीधितिकार पर आक्षेप किया है कि **साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नाभावनिरुपितत्वविशिष्टसाध्यवन्निष्ठाधिकरणता भिन्न हेतुमन्निष्ठाधिकरणताकत्व**" प्रतियोगिव्यधिकरण हेतु समानाधिकरण का अर्थ करने से हो "**कालो घटवान् कालपरिमाणात्**" की अव्याप्ति का वारण सम्भव है। तथा **यादृश प्रतियोगितावच्छेदका वच्छिन्नानधिकरणत्व**" के रूप में परिष्कार करने पर होने वाले अननुगम की भी आपत्ति नहीं होती है। एवं "**तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावकूट**" के निवेश से होने वाली व्याप्ति की दुर्ज्ञेयता का दोष भी नहीं होता है।

दीधितिकार[1] के प्रतियोगिता घटित उभयाभावकल्प में विषयता आदि "**वृत्यनियामक**" सम्बन्ध से साध्य करने पर उस सम्बन्ध से अवछिन्न प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होने से भविष्यद् अव्याप्ति का निवारण करने के लिए गदाधर ने "**प्रतियोगितावच्छेदकताघटकसम्बन्ध से प्रतियोगिता के नियन्त्रक** (अवच्छेदक)" के अनाश्रय में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता की नियन्त्रक (अवच्छेदक) सामान्य में साध्यता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) सम्बन्ध से नियन्त्रित होना तथा साध्यता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) धर्म से नियन्त्रित होना, इन दोनों का अभाव होना चाहिए, कहा इस प्रकार से लक्षण का विवेचन करने पर वृत्यनियामक सम्बन्ध से साध्य होने वाले स्थल में वृत्यनियामक सम्बन्ध से नियन्त्रित अवच्छेदकताघटकसम्बन्ध से प्रतियोगिता के नियन्त्रक (अवच्छेदक) का अनधिकरण हेत्वधिकरण वाला आभाव नहीं है। अतः अन्य सम्बन्ध से साध्यवान् का अभाव ले सकते हैं। जिसकी प्रतियोगिता की अवच्छेदकता में उपर्युक्त उभयाभाव है।

---

१. तत्त्व० चि दी० सि० ल० प्र०।

व्याप्तिग्रहोपाय

पूर्व प्रकरण में प्रतिपादित व्याप्ति का ग्रहण कैसे होता है, इस विषय में मीमांसाक मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए गंगेश कहते हैं कि व्याप्ति का ग्रहण भूयोदर्शन से होता है। जब बार-बार अग्नि और धूम को साथ-साथ देखते हैं तो उनके बीच व्याप्ति गृहीत होती है। आचार्य गङ्गेश[1] के अनुसार "**भूयोदर्शन**" से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। प्रत्येक दर्शन कारण नहीं है और क्रमिक उत्पन्न होने वाले "**दर्शन**" मिलकर भी कारण नहीं हो सकते। इसी प्रकार भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार, इन्द्रिय सहित व्याप्ति ग्राहक नहीं है। समान विषयक स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञा में संस्कार कारण माना गया है। संस्कार से व्याप्ति ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होगा जो कि भिन्न विषय वाला है। भिन्न विषय के भी संस्कार से उत्पत्ति मानने पर किसी भी ज्ञान की किसी भी संस्कार से उत्पत्ति होने लगेगी।

गङ्गेश मत

"**भूयोदर्शन**" पर अन्य प्रकार से आक्षेप करते हुए गङ्गेश[2] कहते हैं कि भूयोदर्शन का क्या अर्थ है, अनेक स्थानों में दर्शन या अनेकों का दर्शन या अनेक दर्शन अनेक स्थानों में दर्शन यह अर्थ सम्भव नहीं है। एक स्थान में ही रूप और रस द्रव्यत्व और घटत्व में व्याप्ति ग्रह होता है। अनेकों का दर्शन एक धारावाहक बुद्धि में होने से व्याप्ति ग्रहण एक ही धारावाहिक-प्रत्यक्ष से होना चाहिए। अपि च 'भूयस्त्व' तीन में भी रहता है और उससे अधिक में भी रहता है अतः अनुगत नहीं है। पार्थित्व और घटत्व को सौ बार देखने पर भी उनमें व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। तर्क सहकृत भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्राहक मानने की अपेक्षा सहचार-दर्शन व्यभिचारादर्शन सहकृत को ही व्याप्ति-ग्राहक क्यों न माना जाए? भूयोदर्शन की क्या आवश्यकता है? यह भी बात नहीं है कि भूयोदर्शन के बिना तर्क उत्पन्न ही नहीं होता है। व्युत्पन्न पुरुष को एक बार दर्शन से भी तर्क उपस्थित होता है।

रघुनाथ मत

दीधितकार[3] का भी विचार है कि व्यभिचारादर्शन सहचार दर्शन सहकृत

---

१. तत्त्व० चि० व्याप्तिग्रहोपाय प्र०।

२. वही।

३. तत्त्व० चि० व्याप्तिग्रह० प्र०।

तर्क ही व्याप्ति का ग्राहक है। भूयोदर्शन क्वचित् स्थल में तर्क की प्रवृत्ति में उपयोगी होता है।

तर्क को व्याप्ति ग्राहक मानने पर यह शंका उपस्थित हो सकती है कि तर्क व्याप्ति ग्रह पर आधारित होने से अनवस्था होगी। उत्पन्न बालक को स्तन्यपान और तृप्तिसाधनता में जो व्याप्तिग्रह है वह तर्क के बिना ही होता है। इसलिए अनवस्था नहीं कहने पर भी तर्क के विना व्याप्ति ग्रह होने से तर्क में व्याप्ति-ग्राहकता व्यभिचरित हो जाती है। व्याप्तिज्ञान में तर्कजन्यता की नियन्त्रक स्वतन्त्र एक जाति नहीं है। सामान्य लक्षण से सभी कार्यों का ज्ञान होकर अविनाभाव का ज्ञान होता है। सामान्य रूप से ग्रहण के लिए भूयोदर्शन की अपेक्षा होती है अनेक कार्यों की कारणों में सामान्य रूप से साहचर्य जाने बिना उनमें व्याप्ति गृहीत नहीं होती है। यह बात नहीं एक बार भी कार्य और कारण के विवेक से सामान्य रूपता आ सकती है। उसके लिये विशेष रूप से भूयोदर्शन की अपेक्षा नहीं है काकतालीयत्व की शङ्का के निरास के लिए द्वितीय दर्शन अपेक्षित है। यह कथन भी युक्त नहीं है—द्वितीय दर्शन के पश्चात् भी काकतालीयता की आशंका बनी रहती है।

अनौपाधिकत्व का ज्ञान व्याप्ति में ज्ञान में हेतु है। साध्य और साधन सहचरित धर्मों में उपाधि का संशय होने पर व्याप्तिग्रह नहीं होता है। इसलिए उनमें अनुपाधित्वका ज्ञान भूयोदर्शन पर आधारित साध्य व्यापकता के ज्ञान के रहने पर होता है। इसलिए भूयोदर्शन की अपेक्षा होती है। अतः जितने दर्शनों से अनौपाधिकत्व का निश्चय होता है उतने भूयोदर्शन उसके कारण हैं। इसमें बार संख्या का कोई नियम नहीं है। अपि च भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार बहिरिन्द्रिय का सहकारी नहीं है। संस्कार रूप व्यापार के बिना सहचारादिज्ञान से व्याप्ति ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः उपाध्यभाव रूप व्याप्ति परिशेषात् सहदर्शन से भी ग्राह्य है।

गङ्गेश का निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में चिन्तामणिकार[1] का स्व सिद्धान्त है। व्यभिचार ज्ञान विरह सहकृत सहचार का दर्शन व्याप्ति का ग्राहक है। व्यभिचार ज्ञान निश्चय रूप कहीं होता है, कहीं सन्देह रूप व्यभिचार का सन्देह कहीं उपाधि के सन्देह से उत्पन्न होता है, कहीं विशेषादर्शन सहित साधारण धर्म के दर्शन से होता है। व्यभिचार

---

१. तत्त्व० चि० व्याप्तिग्रह० प्र०।

शङ्का या व्यभिचार निश्चय का निवारण विपक्षबाधक तर्क से कहीं सिद्ध होता है। तर्क के सम्बन्ध में यह अशङ्का की जाती है कि तर्क व्याप्ति मूलक होने से अनवस्था होगी। उसके विषय में आचार्य गङ्गेश का कथन है कि जब तक व्यभिचार की अशङ्का होती है तब तक तर्क का अनुसरण करना होता है। किन्तु जहां प्रवृत्ति का व्याघात होता है वहां शङ्का उत्पन्न ही नहीं होती है। वहां तर्क के बिना भी व्याप्ति का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि किसी को यह शङ्का उत्पन्न हो कि धूम के रहने पर भी अग्नि न रहे तो उसके लिए तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि धूम अग्नि न रहने पर भी रहता है तो वह अग्नि जन्य नहीं हो सकता है। इस पर भी कोई आशंका करे कि कार्य रहे पर कारण न रहे किन्तु कारण न रहे तो उसको प्रवृत्ति व्याघात दिखलाया जाता है कि कारण के बिना भी कार्य हो तो तृप्ति के लिए भोजन का वा धूम्रपान के लिए अग्नि का ग्रहण न हो। इस प्रकार सामान्य जन प्रसिद्ध प्रवृत्ति का व्याघात हो जायेगा। अतः जहां शंका नहीं रहती है वहां तर्क के बिना भी व्याप्तिग्रह हो जाता है। इसलिए विश्वनाथ पञ्चानन[1] ने कहा है "तर्क क्वचित् शंका का निवारक है" दीधितिकार[2] ने भी मणिकार का ही समर्थन किया है।

विश्वनाथ मत

विश्वनाथ[3] पञ्चानन के अनुसार व्यभिचार ग्रह और सहचार-ग्रह स्वतन्त्ररूप से व्याप्ति ज्ञान के कारण है। व्यभिचार का ग्रह व्याप्ति ग्रह में प्रतिबन्धक होने से उसका अभाव प्रतिबन्धकाभाव के रूप में कारण है। अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर सहचार ग्रह की भी कारणता सिद्ध होती है। भूयोदर्शन के विषय में विश्वनाथ[4] का मत है कि जहां व्यभिचार का स्फुरण नहीं है वहां सकृद्दर्शन से भी व्याप्ति का ग्रहण होता है। जहां व्यभिचार की आशङ्का है वहां अशङ्का की निवृत्ति में भूयोदर्शन का उपयोग होता है। किन्तु जहां भूयोदर्शन से भी शंका का समाधान नहीं होता है, वहां तर्क का आश्रय लेना आवश्यक है। तर्क व्याप्ति-मूलक होने से तर्कमूलक व्याप्ति में भविष्यद् व्यभिचार शङ्का का निवारण प्रवृत्ति व्याघात के द्वारा ही होता है।

सहचार-ग्रह को स्वतन्त्र कारण मानने का हेतु स्पष्ट करते हुए रामरुद्रीकार[5] कहते हैं। सहचारग्रह को विशेषण ज्ञान के रूप में कारण नहीं माना जा सकता।

१. भाषा परि० का १३७
२. तत्त्व चि० दी० व्याप्तिग्रह० प्र०।
३. न्या० सि० मु० व्याप्तिग्रह निरु०।
४. वही
५. रा० रु० व्याप्तिग्रह० निरु०।

क्योंकि व्यप्ति के लक्षण में व्यभिचार की घटक होने से उसके ज्ञान को भी कारण मानना होगा, इसलिए सहचार ग्रह को व्याप्तिज्ञानमात्र में स्वतन्त्र कारण विश्वनाथ मानते हैं।

रामरुद्रीकार[1] नवीनों के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि नवीन तार्किकों के विचार से **धूमव्यापक व वह्निसमानाधिकरणवृत्ति धूमत्वादि**[2] ही व्याप्ति होने से इस व्याप्ति शरीर में साध्य-सहचार का विशेषण के रूप में निवेश है। अत: सहचार का ज्ञान भी व्याप्ति-ग्रह में विशेषण ज्ञान के रूप में कारण है। अन्य प्रकार से कारण मानने पर अन्वय और व्यतिरेक की सिद्धि नहीं हो सकती। व्यभिचार का ज्ञान विशषण ज्ञान के रूप में कारण न मानना शास्त्रकारों की स्वतन्त्र इच्छा है जिसमें नियोग पर्यनुयोग करना उचित नहीं है।

रामरुद्रीकार मत

रामरुद्रीकार का मत है कि भूयोदर्शन का तात्पर्य अनेक दर्शनों से नहीं है प्रत्युत अनेक स्थानों में दर्शन से है जो कि आवश्यक है। अन्यथा महानस में साध्य और साधन की व्याप्ति ग्रहण के समय महानस में साध्यव्यापकत्व और साधनाव्यापकत्व के सन्देह से उपाधिसन्देह या उपाधि निश्चय सम्भव है, भूयोदर्शन की अपेक्षा रखने पर साध्याधिकरण चत्वर का भी ज्ञान होने पर उसमें महानसत्वाभावज्ञान होने से उसमें साध्याव्यापकत्व का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार उपाधिशङ्का का निरास करके भूयोदर्शन व्याप्तिग्रह में अपनी उपयोगिता सिद्ध करता है। किन्तु इस प्रकार से भूयोदर्शन की उपयोगिता सिद्ध होने पर भी उसकी अन्यथासिद्धि का दुष्परिहार सम्भव नहीं है। कारण कि पार्थिवत्व और लौहलेख्यत्व का सौ बार सहचार देखने पर भी वज्रभिन्नत्व रूप उपाधि के सन्देह का निराकरण नहीं होता है। भूयोदर्शन में संख्या का भी अनियम है। किसी को एक बार में ही व्याप्तिग्रह हो सकता है तो किसी को सौ बार देखकर भी नहीं होता है।

अन्नम्भट्ट मत

तर्कसङ्ग्रहकार[3] अन्नम्भट्ट ने भूयोदर्शन को ही व्याप्ति का ग्राहक माना है। स्वार्थानुमान के प्रसङ्ग में वे लिखते हैं स्वयं ही भूयोदर्शन से जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है इस प्रकार की व्याप्ति को महानस में ग्रहण करके आदि तर्क की व्याप्तिग्राहकता सिद्ध होती है।

---

१. राम० रू० व्याप्तिग्रह० निरू०

२. वही

३. तर्क सं० अनु० परि०।

जहां भूयोदर्शन से भी व्यभिचार की आशङ्का का निवारण नहीं होता है वहां तर्क की अपेक्षा रहती है। वह्नि के न होने पर भी धूम हो यह शङ्का वह्नि और धूम के कार्य-कारणभाव के समझने पर दूर हो सकती है। यदि यह वह्निमान् न होता तो धूमवान् भी न होता। या धूम वह्नि का व्यभिचारी हो तो वह्नि से उत्पन्न न हो। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि कार्यकारण भाव के विषय में भी सन्देह हो तो उसका निवारण प्रवृत्ति व्याघात से होता है। यदि कारण के बिना कार्य उत्पन्न हो तो धूम की प्राप्ति के लिए अग्नि की, तृप्ति के लिए भोजन की प्रवृत्ति न हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति व्याघात के द्वारा ही कार्य कारण विषयक आशङ्का का समाधान होता है।

तर्क का व्यभिचार शङ्का निवर्तक होना ठीक नहीं है। व्यभिचार शङ्का का निवारण तर्क में कारणी भूत व्याप्तिज्ञान के द्वारा होता है। इस मत का खण्डन करते हुए दिनकरी कार[1] लिखते हैं अनाहार्य शङ्का का तर्क कारणीभूत व्याप्तिज्ञान से निराकरण सम्भव होने पर भी आहार्य शङ्का की समाप्ति व्याप्तिज्ञान से सम्भव नहीं है। उसकी निवृत्ति तर्क से ही हो सकती है। तात्पर्य कि **अनिष्ट प्रसञ्जनात्मक** तर्क के द्वारा अपादानज्ञान में आपाद्यज्ञान रूप अनिष्ट साधनता का ज्ञान उत्पन्न करके उसके विषय में द्वेष उत्पन्न किया जा सकता है। द्वेष से, उसके विषय में इच्छा उत्पन्न होती है, तथा इच्छा रूप कारण न रहने पर ही आहार्य शङ्का उत्पन्न नहीं होती है। इस प्रकार अर्थवश तर्क में व्यभिचार शङ्का निवर्तकत्व आता है। कुछ लोगों का यह मत है कि तर्क व्यभिचार शङ्का निवर्तक नहीं है, अपितु शङ्का विरह का सम्पादक है।

आहार्यारोप विषयक तर्क दो प्रकार का होता है, विषय परिशोधक और व्याप्ति ग्राहक। **"निर्वन्हिःस्यात् निर्धूमःस्यात्"** यह तर्क विषय परिशोधक है। व्याप्तिग्राहक तर्क है[2] **"धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वन्हिजन्यो न स्यात्"**।

गङ्गेश मत

गङ्गेश[3] का मत है कि इस प्रकार का तर्क भूयोदर्शन के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए भूयोदर्शन का भी स्थान है किन्तु भूयोदर्शन साक्षात् व्यभिचार शङ्का की निवृत्ति का प्रयोजक नहीं है। यद्यपि सहचार के दर्शन का ज्ञान तथा व्यभिचार शङ्का निवारक तर्क का ज्ञान व्यभिचारी हेतु के विषय में कता

---

१. न्या० सि० मु० दि० व्याप्तिग्रह निरू०।

२. तत्त्व० चि० व्याप्तिग्रह० प्रकरण।

३. तत्त्व० चि० तर्क प्रकरण।

है अतः उससे व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है तथापि सहचार के दर्शन तथा तर्क को स्वत: उसके ज्ञान को नहीं व्याप्ति ग्राहकता होने से व्यभिचारी हेतु में व्याप्ति ग्राहक की प्रसक्ति ही नहीं, तर्क सत् तथा असत् दोनों ही प्रकार का हो सकता है। सत्तर्क से व्याप्ति प्रमा तथा तर्काभास से अप्रमात्मक व्याप्तिज्ञान उत्पन्न होता है। जिस प्रकार '**स्थाणुरयं पुरुषो वा**'' यहां पर विशेषदर्शन की सत्यता रहने पर पुरुषज्ञान की प्रमात्मकता होती है।

आचार्य गङ्गेश ने दूसरों के मत से तर्क को व्याप्तिग्रह का कारण मानने पर होने वाली अनवस्था का निराकरण प्रस्तुत किया है। जिस तर्क में व्याप्ति का अनुभव मूल है वहां तर्कान्तर की अपेक्षा है जहां व्याप्तिस्मरण कारण है वहां तर्कान्तर की अपेक्षा न होने से अनवस्था नहीं होती। तत्काल उत्पन्न बालक को जो इष्टसाधनता की अनुमिति होती है उसके लिए व्याप्तिस्मरण ही कारण है क्योंकि उस समय व्याप्ति के अनुभावक तत्त्वों का अभाव है। तत्काल उत्पन्न बालक को होने वाले व्याप्ति स्मरण का मूल जन्मान्तरीय व्याप्ति का अनुभव, वह्नि और धूम की व्याप्ति के ग्राहक तर्क की मूल भूत व्याप्ति विषयक होने से उससे व्याप्ति का स्मरण ही होता है अनुभव नहीं है—जिसके कारण से अनवस्था नहीं होती है।

व्याप्तिग्रह में सामान्य लक्षण की उपयोगिता

न्यायशास्त्र में जो तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष सामान्य-लक्षण, ज्ञान-लक्षण, और योगज माने हैं, उनमें सामान्य लक्षण का उपयोग व्याप्तिग्रह में भी होता है। सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से ही सभी धूमों में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान होता है, साहचर्य महानस में ही अग्नि और धूम का साहचर्य गृहीत न होने से, पर्वतीय धूम अनुपस्थित होने से उसमें व्याप्तिग्रह का आधार सामान्य लक्षण के बिना दूसरा नहीं हो सकता। पर्वतीय धूम में व्याप्तिग्रह के विना पर्वतीय धूम से अग्नि की पर्वत में अनुमिति सम्भव नहीं है। अत: धूमत्व रूप सामान्य लक्षण सन्निकर्ष से सकल धूम की उपस्थिति होकर कालान्तरीय और देशान्तरीय धूम में भी व्याप्ति का ग्रह होता है।

गदाधर मत

गदाधर[1] के अनुसार धूम में रहने वाली सकल व्याप्तियों का ग्रह सामान्य लक्षण के बिना नहीं हो सकता है। पूर्व में पर्वतीय धूम का ज्ञान होने पर भी उसमें रहने वाली व्याप्ति का ज्ञान न होने से पर्वतीय धूम में व्याप्ति प्रमा अबाधित व्याप्त्युपनायक न रहने से सम्भव नहीं है। और धूम में रहने वाली व्याप्ति का ज्ञान होने पर पूर्व में पर्वतीय धूम का ज्ञान न रहने पर भी लौकिक सन्निकर्ष से धूम का

१. गादा० सामान्यलक्षण० प्र०।

पर्वत पर ज्ञान होने पर उपनायक के रहने से उसमें व्याप्ति का उपनीत भान होता है। अतः व्याप्ति का सकल धूम विषयक होना आवश्यक नहीं है। जैसा कि तत्त्वचिन्तामणिकार[1] ने कहा है। दीधितिकार ने भी कुछ लोगों के इस मत को उद्धृत किया है कि जो लोग समानाधिकरण दो पदार्थों में ही व्याप्ति मानते हैं उनके मत में पर्वतीय धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान, पर्वतीय वह्नि व्याप्ति के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, और पर्वतीय अग्नि की व्याप्ति का ग्रह सामान्यलक्षणा के बिना नहीं हो सकता है।

गङ्गेश मत

परन्तु गङ्गेश[2] का मत है कि सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर भी सर्व साधारण व्याप्ति सम्भव है, अतः व्याप्तिग्रह में उसका कोई उपयोग नहीं है। सामान्यलक्षणा न मानने पर भी समीपस्थ धूम के विषय में धूमत्वेन धूमवह्निव्याप्य है। इस प्रकार का अनुभव होकर उसी के समान व्याप्ति का स्मरण होता है उसके पश्चात् (यह धूमवान्) है, इस प्रकार का धूमत्व रूप से पक्ष में रहने वाले धूम का ज्ञान होकर अनुमिति होती है। व्याप्त्यनुभव व्याप्ति-स्मरण का कारण होता हैं। तात्पर्य कि अनुमान में यदि धूमत्व प्रकार है तो स्मरण और पक्षधर्मता ज्ञान में भी वही प्रकार होता है। यदि सामान्य लक्षणा न मानें तो अपूर्व धूम में वह्नि व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा ? इसका समाधान करते हुए गङ्गेश कहते हैं, गवादि के शब्दबोध में योग्यता के आधार पर अपूर्व व्याप्ति का ज्ञान होता है। उसी प्रकार अनुमान में पक्षधर्मता के आधार पर, धूम अग्नि का व्याप्य है यह अनुभव होता है। सभी धूम अग्नि के व्याप्य हैं यह अनुभव नहीं होता है। इसलिए सर्वधूम के ज्ञान के लिए सामान्य लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। इसी बात का समर्थन दीधितिकार[3] ने भी किया है—"**धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिवह्निसमाना-धिकरणवृत्तिधूमत्व" वह्निमदन्यावृत्तित्व" अथवा वह्निसम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्व"** व्याप्ति है जो कि सभी धूमों में एक है। व्याप्ति को अनेक मानने पर पर्वतीय अग्नि के साथ सन्निकर्ष न होने से उसके सामानाधिकरण्य का ज्ञान नहीं होगा। अन्य अग्नि का सामानाधिकरण्य मानने पर उसे भ्रम मानना होगा। अतः एक व्याप्ति सर्वधूम में होने से सकल धूम विषयक व्याप्ति के भान के लिए सामान्यलक्षणा की उपयोगिता नहीं है।

---

१. तत्त्व चि० सा० ल० प्रकरण।
२. तत्त्व चि० दी०सा० ल० प्रकरण।
३. तत्त्व चि० दी० सामान्य० ल० प्र०।

तथापि आचार्य गङ्गेश के अनुसार यदि सामान्यलक्षणा न मानें तो अनुकूल तर्क के बिना धूम में व्यभिचार का संशय नहीं होना चाहिए। प्रसिद्ध धूम में वह्नि का सम्बन्ध ज्ञात है ? कालान्तरीय देशान्तरीय धूम अज्ञात है ? सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष से सकल धूम की उपस्थिति होने पर धूम में विशेषादर्शन होने पर संशय उत्पन्न होता है, इस प्रकार व्यभिचार संशय के लिए सामान्य लक्षणा की उपयोगिता का समर्थन गङ्गेश ने किया है। दीधितिकार आदि ने अन्य अनेक प्रकार से सामान्य लक्षणा का समर्थन किया है। किन्तु व्याप्तिग्रह में सामान्य-लक्षणा की उपयोगिता गङ्गेश और उनके टीकाकारों को मान्य प्रतीत नहीं होती है। विश्वनाथ पञ्चानन ने भी व्याप्तिग्रहोपाय प्रकरण में सामान्य लक्षणा का कहीं उल्लेख नहीं किया है। केवल सामान्य लक्षणा प्रकरण में उन्होंने कहा है कि सामान्य लक्षणा न मानने पर धूम में वह्नि व्याप्यता का सन्देह नहीं होगा। इसका अर्थ है कि व्याप्ति निश्चय में सामान्य लक्षणा की कोई उपयोगिता नहीं है।

पक्षता या पक्षधर्मता

गङ्गेश मत

पक्षता परामर्श के समान अनुमिति का स्वतन्त्र कारण है, गङ्गेशादि नव्य नैयायिकों का मत है। आचार्य गङ्गेश[1] ने पक्षता के स्थान में पक्षधर्मता शब्द का प्रयोग किया है किन्तु पक्षधर्मता पद का पक्षता में ही तात्पर्य है। "**पक्षधर्मता**" यहां पर पक्ष में धर्मत्व जिसका "इस व्युत्पत्ति के आधार पर पक्षधर्मता पद से पक्षता का बोध होता है। पक्ष का धर्मत्व अर्थात् धर्म विशेष या पक्षत्व "**देव एव देवता**" की तरह ही पक्षता में तल् प्रत्यय स्वार्थिक है। इसीलिए "**तत्र न तावत् सन्दिग्धसाध्य धर्मत्वं पक्षत्वम्**"—कहकर साध्य संशय को पक्षता मानने वालों का मत आचार्य गङ्गेश ने प्रस्तुत किया है।

साध्य संशय

पक्षता के सम्बन्ध में नव्य नैयायिकों के कई मत उपलब्ध होते हैं, जिनमें पहला विवेचनीय मत साध्य संशय को पक्षता मानने वालों का है। उनके अनुसार जहां साध्य का सन्देह होता है वहीं अनुमिति होती है। जैसे पर्वत में अग्नि है या नहीं यह सन्देह रहने पर ही अनुमिति होती है क्योंकि जहाँ साध्य का निश्चय हो वहां अनुमिति नहीं होती है। **सन्दिग्धसाध्यधर्मत्वं पक्षत्वं** कहकर इनके मत को गङ्गेश[2] ने प्रस्तुत किया है किन्तु दीधितिकार के अनुसार उक्त लक्षण समीचीन नहीं है। यदि '**सन्दिग्धसाध्यधर्मत्व**" का अर्थ सन्देहविषयीभूतसाध्यवत्व है तो जहाँ

---

१. व्याप्त्यनन्तरं पक्षधर्मता निरूप्यते। —तत्त्व चि० प० प्र०।

२. तत्त्व० चि० प० प्र०।

विनष्ट अग्नि है उस स्थल में अनुमिति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वहां सन्देह का विषय साध्य नहीं है, इसलिए दीधितकार[1] ने इसकी व्याख्या की है। जहां साध्य का, जिस प्रकार के सम्बन्ध वाले निर्णय से विघटित होने वाला जो संशय, हो वह संशय उस प्रकार के सम्बन्ध से होने वाली साध्यानुमिति के लिए पक्षता कहलाता है।

जगदीश मत

आचार्य जगदीश[2] साध्य संशय पक्षता लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं। "धर्मिविषयक जिस सम्बन्ध से नियन्त्रित जिस प्रकार के निश्चय के रूप में जो जिस संशय का विरोधी हो वह वह संशय, उस पक्ष विषयक उस सम्बन्ध से नियन्त्रित विधेय वाली अनुमिति का कारण पक्षता है। जैसे "**पर्वतो अग्निमान्**" इस अनुमिति के लिए पर्वत अग्निमान् है या नहीं "**पर्वतः अग्निमान्न वा**" यह सन्देह पक्षता है। पर्वत धर्मिविषयक संयोग सम्बन्ध से **नियन्त्रित पर्वतः अग्निमान्** इस निश्चय के रूप में यह निश्चय, (पर्वत अग्निमान् है या नहीं) इस संशय का विरोधी है अतः यह संशय, पर्वत-विषयक सयोग सम्बन्ध से नियन्त्रित अग्नि विधेय वाली, पर्वत अग्निमान् है, इस अनुमिति के लिए पक्षता है।

जगदीश[3] ने निश्चयत्वेन प्रतिबन्धकत्व "का प्रदर्शन किया जिसका प्रयोजन यह है "**पर्वतो वह्निमान्**" इसी स्थल में "**पर्वतो वन्हिमान् वन्हिर्घटवान्**" इस समूहालम्बन वाले निश्चय से निवर्तनीय "**वह्निर्घटवान्न वा**" यह सन्देह भी "**निश्चयत्वेन**" न कहने पर पक्षता हो जाता है। निश्चयत्व का निवेश करने पर उस प्रकार के निश्चयत्व से नियन्त्रित प्रतिबन्धकता से दिखलाई जाने वाली प्रतिवध्यता "**पर्वतो वह्निमान्न वा**" इसी सन्देह में है पर्वतो घटवान्नवा इस सन्देह में नहीं है अतः उक्त सन्देह पक्षता नहीं होगा।

दीधितिकार[4] अपने उक्ति लक्षण के परिष्कार का कारण लिखते हैं कि (१) उक्त रूप से सन्दिग्ध साध्य धर्मत्व का विवेचन करने से ही पक्षविशेष्य वाले तथा साध्यविशेष्य वाले संशयों का अननुगम नहीं होता है अर्थात् दोनों का ही इस लक्षण में समावेश हो सकता है। (२) किसी अन्य सन्देह से होने वाला सन्देह किसी अन्य सम्बन्ध से होने वाली अनुमिति के लिए पक्षता नहीं होता है। जैसे कालिक-सम्बन्ध से पर्वत में अग्नि का सन्देह, संयोग सम्बन्ध से पर्वत में होने वाली अग्नि

---

१. तत्त्व० चि० दी० प० प्र०।
२. जा० प० प्रकरण।
३. जा० प० प्रकरण।
४. तत्त्व० चि० दी० प० प्र०।

की अनुमिति में पक्षता नहीं है। अत: लक्षण में "**यादृश-सम्बन्धावगाहित्व**" का समावेश किया जाता है। (३) **सन्दिग्धसाध्य धर्मत्व**" शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है। "**सन्दिग्ध साध्यं धर्मत्वं यस्य** और **सन्दिग्ध: साध्यरूपो धर्म: यत्र**।" पहली व्युत्पत्ति के आधार पर जिसका वृत्तित्व साध्य में सन्दिग्ध है। यह अर्थ प्रगट होता है तथा दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर "**सन्देहविषयीभूतसाध्यवत्व नम: गगनवत्**" इस स्थल में पक्षता की उपलब्धि नहीं होनी है, तम का समवेतत्व अप्रसिद्ध होने से लक्षण का प्रथम अर्थ तथा गगनवत्व अप्रसिद्ध होने से द्वितीय अर्थ बाधित होता है।

साध्य संशय का खण्डन

गङ्गेश मत[1]

"**सन्दिग्ध-साध्य-धर्मत्व**" लक्षण का खण्डन करते हुए आचार्य गङ्गेश कहते हैं कि सन्देह यदि विशेषण है तो परामर्श के पूर्व हेतु दर्शन और व्याप्ति स्मरण से उसका विनाश हो जाता है। यह सन्देह साध्य का उपलक्षण है तो वह निश्चित साध्य से सन्दिग्ध साध्य को पृथक् नहीं कर सकेगा।

गदाधर मत

गदाधर[2] के अनुसार प्रत्यक्ष से साध्य का निर्णय होने पर भी अनुमिति की इच्छा रहने पर अनुमिति होती है, संशय को पक्षता मानने पर वह नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार के अनुभव का खण्डन करने पर सर्वत्र विशेष दर्शन मूलक प्रत्यक्ष से ही प्रवृत्ति सम्भव है। अनुमान मात्र के प्रामाण्य का विलोप हो जाएगा। दूसरी बात है कि संशय के पश्चात् सिद्ध्यात्मक परामर्श से अनुमिति की आपत्ति होगी। गदाधर[3] का मत है कि सिद्ध्यात्मक परामर्श होने पर संशय के रहते हुए अनुमिति उत्पन्न नहीं होती है किन्तु जगदीश[4] का कथन है कि संशय पक्षतावादी के मत में संशय रहने पर सिद्ध्यात्मक परामर्श के रहने पर भी अनुमिति उत्पन्न होती है।

संशय-योग्यता

हेतु दर्शन या व्याप्तिस्मरण से साध्य संशय का नाश होने पर भी जबतक साध्य निर्णय नहीं होता है तब तक संशय योग्यता बनी रहती है, उसी से अनुमिति

---

१. तत्त्व० चि० प० प्र०।

२. गा० प० प्र०।

३. संशयानन्तरजातसिद्ध्यात्मकपरामर्शदनुमित्यापत्तेश्च।

—गा० पृ० १०८८ चौ०।

४. अत्र च मते पक्षे साध्यवत्तासंशयोत्तरं सिद्ध्यात्मकपरामर्शादपि अनुमिति र्भवत्येवेति बोध्यम्। जा० प० प्र०।

उत्पन्न होती है इस **साध्यसंशय-योग्यतावादी** की उक्ति का निराकरण गङ्गेश ने किया है। साधक और बाधक प्रमाण अर्थात् सिद्धि और बाध का अभाव भी पक्षता नहीं है। एक की सिद्धि या बाध के रहने पर भी उभय का अभाव रह सकता है। साधक प्रमाण का अभाव और बाधक प्रमाण का अभाव दोनों ही मिलकर पक्षता नहीं हो सकते। बाधक प्रमाणाभाव व्यर्थ है। साधक प्रमाणाभाव से ही कार्य की उपलब्धि हो सकती है। ह्रद को पक्ष बनाकर अनुमान करने पर बाध और स्वरूपासिद्धि के कारण से ही अनुमिति उत्पन्न नहीं होगी।

साध्यनिश्चयाभाव

साधक प्रमाण अर्थात् साध्य निश्चय का अभाव भी पक्षता नहीं है। अनेक स्थलों में सिद्धि के पश्चात् भी अनुमिति होती है। उपनिषद् में ही कहा गया है **"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** अर्थात् आत्मा के शाब्दज्ञान के पश्चात् मनन अर्थात् अनुमान करना चाहिए। आत्मा का शाब्द-ज्ञान होने पर अनुमान का विधान श्रुति करती है इससे सिद्ध होता है कि सिद्धि अनुमान में बाधक नहीं है। प्रत्यक्ष देखी वस्तु के विषय में अनुमान की प्रक्रिया देखी जाती है। एक हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि पर अन्य हेतु से साध्य सिद्ध होने करने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए कहा जाता है **"मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः"** अर्थात् अनेक तर्कों के द्वारा मनन करना चाहिए।

अनुमितिजनकेच्छा

अनुमिति की इच्छा को पक्षता मानने वाले भी कुछ नैयायिकों का कथन है कि मुमुक्षु को शब्द के द्वारा आत्मा का ज्ञान होने पर मनन भी मोक्ष के उपाय के रूप में श्रुति द्वारा प्रतिपादित होने से सिद्धि विशेष अनुमिति की इच्छा से आत्मा का अनुमान किया जाता है। इस मत का खण्डन करते हुए गङ्गेश[1] कहते हैं कि सन्देह के समान ही परामर्श के पूर्व अनुमिति की इच्छा का भी अभाव है। संशय-योग्यता के ही समान अनुमित्सा की योग्यता भी अस्पष्ट है। अन्यच्च अनुमिति की इच्छा न रहने पर भी मेघ की गर्जना सुनकर मेघ का अनुमान होता है। अनुमिति के कारण परामर्श के रहने पर अनपेक्षित वस्तु का भी अनुमान होता है।

रघुनाथ मत

दीधितिकार[2] ने भी अनुमिति जनक इच्छा को पक्षता मानने वाले मिश्र मत

---

१. तत्त्व० चि० प० प्र०।

२. तत्त्व० चि० दी० प० प्र०।

की अनुमिति में पक्षता नहीं है। अतः लक्षण में **"यादृश-सम्बन्धावगाहित्व"** का समावेश किया जाता है। (३) **सन्दिग्धसाध्य धर्मत्व**" शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है। **"सन्दिग्ध साध्यं धर्मत्वं यस्य** और **सन्दिग्धः साध्यरूपो धर्मः यत्र।"** पहली व्युत्पत्ति के आधार पर जिसका वृत्तित्व साध्य में सन्दिग्ध है। यह अर्थ प्रगट होता है तथा दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर **"सन्देहविषयीभूतसाध्यवत्व नमः गगनवत्"** इस स्थल में पक्षता की उपलब्धि नहीं होनी है, तम का समवेतत्व अप्रसिद्ध होने से लक्षण का प्रथम अर्थ तथा गगनवत्व अप्रसिद्ध होने से द्वितीय अर्थ बाधित होता है।

साध्य संशय का खण्डन

गङ्गेश मत[1]

"सन्दिग्ध-साध्य-धर्मत्व" लक्षण का खण्डन करते हुए आचार्य गङ्गेश कहते हैं कि सन्देह यदि विशेषण है तो परामर्श के पूर्व हेतु दर्शन और व्याप्ति स्मरण से उसका विनाश हो जाता है। यह सन्देह साध्य का उपलक्षण है तो वह निश्चित साध्य से सन्दिग्ध साध्य को पृथक् नहीं कर सकेगा।

गदाधर मत

गदाधर[2] के अनुसार प्रत्यक्ष से साध्य का निर्णय होने पर भी अनुमिति की इच्छा रहने पर अनुमिति होती है, संशय को पक्षता मानने पर वह नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार के अनुभव का खण्डन करने पर सर्वत्र विशेष दर्शन मूलक प्रत्यक्ष से ही प्रवृत्ति सम्भव है। अनुमान मात्र के प्रामाण्य का विलोप हो जाएगा। दूसरी बात है कि संशय के पश्चात् सिद्ध्यात्मक परामर्श से अनुमिति की आपत्ति होगी। गदाधर[3] का मत है कि सिद्ध्यात्मक परामर्श होने पर संशय के रहते हुए अनुमिति उत्पन्न नहीं होती है किन्तु जगदीश[4] का कथन है कि संशय पक्षतावादी के मत में संशय रहने पर सिद्ध्यात्मक परामर्श के रहने पर भी अनुमिति उत्पन्न होती है।

संशय-योग्यता

हेतु दर्शन या व्याप्तिस्मरण से साध्य संशय का नाश होने पर भी जबतक साध्य निर्णय नहीं होता है तब तक संशय योग्यता बनी रहती है, उसी से अनुमिति

---

१. तत्त्व० चि० प० प्र०।

२. गा० प० प्र०।

३. संशयानन्तरजातसिद्ध्यात्मकपरामर्शदनुमित्यापत्तेश्च।

—गा० पृ० १०८८ चौ०।

४. अत्र च मते पक्षे साध्यवत्तासंशयोत्तरं सिद्ध्यात्मकपरामर्शादपि अनुमिति र्भवत्येवेति बोध्यम्। जा० प० प्र०।

इच्छा, अथवा जहां अनुमिति की इच्छा के पूर्व काल में उत्पन्न विशेषण स्मरण से अनुमित्सा के समय में उत्पन्न इन्द्रिय-सन्निकर्ष से साध्य और उसके व्याप्य से युक्त पक्ष का प्रत्यक्ष, और उसके पश्चात् अनुमिति होती है, उन सभी स्थानों में पक्षता को प्रदर्शित करने के लिये (अनुमिति की इच्छा के विरह से सहकृत) यह विशेषण सिद्धि में देना आवश्यक है।

इस प्रकार सिषाधयिषा विरह सहकृत सिद्धि का अभाव यह पक्षता का लक्षण पर्यवसित होता है—यहां सिषाधयिषा का अर्थ है "उस साध्य से युक्त उस पक्ष विषयक अनुमिति की इच्छा" क्योंकि किसी का भी ज्ञान हो ऐसी इच्छा रहने पर सिद्धि रहने पर अनुमिति नहीं होती है। जबकि प्रत्यक्ष सिद्धि से भिन्न अग्नि का ज्ञान हो" ऐसी इच्छा रहने पर तथा सिद्ध्यात्मक परामर्श रहने पर अनुमिति होती है।

रघुनाथ मत

दीधितिकार का कथन है कि जिस-जिस इच्छा से प्रत्येक इच्छाभाव के समुदाय को सिद्धि का विशेषण बनना चाहिए इससे इच्छा का अनुगमन होने पर भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकार की अनेक इच्छाओं जैसे वह्नि भिन्न से अन्य विधेयक अनुमिति हो, या "प्रत्यक्षादि-भिन्न-अग्नि विधेयक ज्ञान हो" आदि के रहने पर भी अग्नि की अनुमिति होती है।

विश्वनाथ मत

आचार्य विश्वनाथ[1] पञ्चानन ने भी इसी का समर्थन करते हुए कहा है—जिस-जिस प्रकार की सिषाधयिषा रहने पर जिस हेतु से अनुमिति होती है "उस-उस प्रकार की सिषाधयिषा के विरह से युक्त सिद्धि का अभाव, उस हेतु वाली अनुमिति में पक्षता होती है। तल्लिङ्ग का निवेश दीधितिकार[2] ने भी किया है। क्योंकि धूम परामर्श रहने पर आलोक के द्वारा अग्नि की अनुमिति उत्पन्न हो यह इच्छा रहने पर भी अनुमिति नहीं होती है।

"**सिषाधयिषा**" के न रहने पर जिस सिद्धि के रहने पर अनुमिति नहीं होती है उसी सिद्धि को विशेष रूप से अनुमिति का विरोधी मानना चाहिए। कभी पाषाणमय तेजस्वी है, अथवा पाषाणमय अग्निमान् है यह ज्ञान रहने पर "**पर्वत**

---

१. न्या० सि० मु० अनु० खण्ड० प० प्र०।

२. तत्त्व चि० दी० प० प्र० सि० पक्ष।

अग्निमान्" है यह अनुमिति होती है।

सिद्धि की प्रतिबन्धकता के विषय में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि किसी एक पक्ष में "पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन" साध्य के निश्चित होने पर भी पक्ष मात्र में "अवच्छेदकावच्छेन" अनुमिति होती है। पक्ष मात्र में होने वाली अनुमिति के लिए पक्ष मात्र में होने वाली सिद्धि प्रति-बन्धक है जब किसी एक पक्ष में होने वाली अनुमिति के लिए दोनों सिद्धियां प्रतिबन्धक होती हैं।[1]

अपिच जहां धूम परामर्श है और आलोक हेतु से अनुमिति की इच्छा है वहां धूम हेतु से अग्नि की अनुमिति नहीं होती है। कारण कि धूमहेतुक अनुमित्सा विरह से युक्त आलोक हेतुक अनुमिति की इच्छा, धूम हेतुक अनुमिति के लिए कामिनी जिज्ञासा के समान स्वतन्त्र रूप से विरोधी होती है।[2]

यदि पूर्वोक्त स्थल में भी अनुमिति होती है तो सिद्धि दशा में अनुमिति के वारण के लिए उस हेतु से होने वाली अनुमिति की इच्छा, अथवा उस हेतु से भिन्न हेतु मात्र से होने वाली अनुमिति की इच्छा से भिन्न इच्छा को वहां उत्तेजक मानना चाहिए।

दीधितिकार[3] का मत है कि लिङ्गविशेष से नियन्त्रित भी पक्षता होनी चाहिए, क्योंकि धूम हेतुक अनुमित्सा विरह से युक्त सिद्धि रहने पर अन्य हेतुक अनुमिति की इच्छा और उसी हेतु वाला परामर्श होने पर अनुमिति होती है। अन्य हेतु वाली अनुमित्सा को अन्य हेतु से होने वाली अनुमिति में स्वतन्त्र रूप से विरोधी मानने पर पक्षता हेतु विशेष से नियन्त्रित न करने पर भी कोई क्षति नहीं है।

यज्ञपति मत

यज्ञपति उपाध्याय[4] का मत है जहां अनुमिति की इच्छा के पश्चात् व्याप्ति स्मरण तथा सिद्ध्यात्मक परामर्श रहता है जहां व्याप्ति स्मरण आदि से पूर्व अनुमित्सा के नष्ट होने पर परामर्श के समय सिद्धि रहने पर दूसरी अनुमित्सा उत्पन्न होकर ही अनुमिति होती है। इसलिए वहां "अनुमित्सा-विरह-विशिष्ट-सिद्धि का अभाव" पक्षता उपलब्ध होती है।[5]

पक्षधर मत

आचार्य पक्षधर मिश्र के अनुसार-अनुमित्सा के दो तीन क्षण पश्चात् भी

१, २, ३ तत्त्व चि० दी० प० प्र० प० सि०।

४-५, तत्त्व चि० दी० प० प्र० पक्ष० सि०।

अनुमिति देखी जाती है। इसलिए अनुमित्सा की योग्यता को उत्तेजक मानना चाहिए, अनुमित्सा-योग्यता, अनुमित्सा की उत्पत्ति के पश्चात् अनुमित्सा-विषयक-सिद्धि का अनुत्पाद नहीं है, क्योंकि अनुमित्सा के पश्चात् बीच में अनुमिति के उत्पन्न न होने पर एक दिन के विलम्ब से प्रत्यक्ष से साध्य का निर्णय हो जाने पर भी अनुमिति उत्पन्न होनी चाहिए। इसलिए अनुमित्सा के पश्चात् हेतु दर्शन, व्याप्ति स्मरण आदि के क्रम से जितने समय में किसी बाधा के बिना परामर्श उत्पन्न होता है, उतना समय फल के आधार पर अनुमित्सायोग्यता के रूप में स्वीकार्य है, अथवा अनुमित्सा की उत्पत्ति के पश्चात् उसके नष्ट हो जाने पर भी सिद्धि रहने पर जितने समय के भीतर अनुमिति उत्पन्न होती है, वह समय अनुमित्सा के रूप में उपादेय है। यदि सिद्धि के पश्चात् उसके नष्ट होने पर भी दो तीन क्षणों के बीच अनुमित्सा के बिना अनुमिति उत्पन्न नहीं होती यह बात यदि अनुभवसिद्ध है तो सिद्धि से भी वहां तक समय समझना चाहिए। क्षणों के बारे में नियम अनुभव से ही करना होगा।

जगदीश मत

आचार्य जगदीश[1] का कथन है, उपर्युक्त कथन दोषपूर्ण है, अनुमित्सा के समान ही उसके नाश के क्षणों को उत्तेजक के रूप में पक्षता लक्षण में प्रवेश कराने से गौरव होता है तथा बिना अनुमित्सा के अनुमिति की उत्पत्ति सन्दिग्ध है।

जगदीश[2] ने उत्तान लोगों के मत को उद्धृत किया है जिसके अनुसार अपेक्षा बुद्धि भी ३-४ क्षणों तक रहती है यह कल्पना कर सकते हैं। विरोधी गुणों का जो नाश्यनाशक भाव है वह विशेष स्थलों में ही होता है। द्वितीय क्षण में विनाशसामग्री नाशक नहीं है।

दीधितिकार[3] का कथन है कि जहां साध्यनिर्णय की इच्छा के अनन्तर अनुमित्सा के पहले उत्पन्न विशेषण स्मरण आदि के क्रम से साध्य एवं उसके व्याप्य से युक्त पक्ष का प्रत्यक्ष या स्मरण होता है अथवा जहाँ साध्य और उसके व्याप्य तथा उसके भी व्याप्य से युक्त पक्ष तथा उस साध्य और उसके व्याप्य दोनों की अनुमिति की इष्ट-साधनता का एक ही स्मरण, उसके पश्चात् दोनों के अनुमिति की इच्छा उसके पश्चात् और उसके व्याप्य की अनुमिति उत्पन्न होती है वहां उस अनुमिति के पश्चात् अनुमिति होनी चाहिए। अनुमित्सा-योग्यता को उत्तेजक मानने वाले के मत में निश्चित ही यह आपत्ति है, अतः इस आपत्ति का

१, २. जा० प० प्र० पक्ष० सि०।

३. तत्त्व चि० दी० प० प्र० पक्ष सि०।

निराकरण करने के लिए "**सिषाधयिषा विरह-विशिष्ट-सिद्ध्यभाव**" इस पक्षता लक्षण में "**स्व-विषय-सिद्धयनुपहितत्व**" विशेषण इच्छा में जोड़ना होगा। तात्पर्य यह है स्वविषयक सिद्धि के अभाव से युक्त इच्छा ही अनुमिति में उत्तेजक होती है।

अपिच पक्ष और साध्य के भेद से पक्षता भिन्न-भिन्न होने से भिन्न-भिन्न प्रकार के ही कार्य-कारण भाव बनेंगे। अत: जहां साध्य के निश्चय के पश्चात् कभी भी अनुमिति उत्पन्न नहीं हुई वहां सिद्धि का अभाव मात्र ही करण है जिसके न रहने से अनुमिति नहीं हुई वहां पक्षता के लक्षण में अनुमिति की इच्छा का समावेश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका निवेश करना गौरव दोष युक्त भी है। इसलिए जिस पक्ष स्थान में जिस साध्य की अनुमिति की इच्छा किसी को भी उत्पन्न नहीं हुई वहां एकोक्ति साधारण्य का सम्पादन करने के लिए ईश्वर इच्छा का भी ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

"जगदीश"[1] के विचार से जहां पक्ष में साध्य का ज्ञान होने के पश्चात् कभी भी अनुमिति उत्पन्न नहीं हुई वहां साध्यवत्ता-ज्ञान का अभाव मात्र ही पक्षता है। तथा जहां अनुमित्सा के पश्चात् तुरन्त अनुमिति होती है। वहां वह अनुमिति की इच्छा ही पक्षता है और जहां जिस पक्ष स्थान में परामर्श के समय में उत्पन्न सिद्धि रहने पर अनुमित्सा आवश्यक रूप से रहती है वहां पक्षता भी अनुमिति का कारण नहीं है वहां बिना पक्षता के ही अनुमिति होती है।

यह मत भी व्यक्त किया गया है कि जिस पक्ष साध्य वाली अनुमिति स्थल में परामर्श की अवस्था में नियमपूर्वक सिद्धि का अभाव रहता है वहां सिद्धि का अभाव भी अनुमिति का कारण नहीं होता। किन्तु आचार्य जगदीश[2] को यह मत मान्य नहीं है। उनके अनुसार ऐसा स्थल सम्भव ही नहीं है। योगियों को परामर्श के समय में भी अवश्य सिद्धि रहती है। सिद्धि के अभाव को कारण न मानने पर उन्हें सर्वदा अनुमिति होनी चाहिए।

सार्वभौम मत

सार्वभौम के मत में सिषाधयिषा का नाश होने के पश्चात् भी दो या तीन क्षणों के बीच सिद्धि रहने पर अनुमति होती है, उनके मत के अनुसार दीधितिकार ने पक्षता का लक्षण लिखा है। "सिषाधयिषा के विरह से युक्त जो स्व-क्षण उस सिद्धि के क्षण से अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न होने वाली अनुमति से सम्बन्धित जो कोई ही उससे भिन्न जो सिषाधयिषा विरह से युक्त सिद्धि, उसका अभाव पक्षता है।

---

१ एवं २. जा० प० प्र० पक्षतासिद्धान्त

जिस स्थल में अनुमित्सा, व्याप्तिस्मरण, सिद्धयात्मक परामर्श तथा अनुमिति क्रमशः होती है, वहां सिषाधयिषा विरह से युक्त स्वक्षण परामर्श क्षण होगा, उस क्षण के बाद अनुमिति उत्पन्न होती है इसलिए वह सिद्धि अनुमितिक भिन्न सिद्धि नहीं है, दूसरी कोई सिद्धि अनुमितिक भिन्न सिद्धि होगी उस सिषाधयिषा विरह से युक्त सिद्धि का अभाव होने से यहां पक्षता है। इस लक्षण को स्वीकार करने पर अनुमित्सा के पश्चात् दो या तीन क्षण व्यतीत हो जाने पर भी अनुमिति की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं पहुंचती है।

दीधितिकार[1] सार्वभौम मत का निषेध करते हुए लिखते हैं "जहां अनुमित्सा नाशकाल में प्रात्यक्षिक सिद्धि उसके पश्चात् परामर्श और अनुमिति क्रमशः उत्पन्न होते हैं वहां पक्षता का अभाव हो जायेगा। सिषाधयिषा विरह से युक्त सिद्धि क्षण के अव्यवहितोत्तर क्षण के रूप में परामर्श क्षण का ग्रहण किया जा सकता है वहां अनुमिति की उत्पत्ति न होने से वह "**अव्यवहितोत्तर-क्षणोत्पात्तिक अनुमितिक भिन्न सिद्धि**" हो जायेगी। उसका अभाव रूप पक्षता वहां नहीं है। द्वितीय क्षण के अन्तर से अनुमिति स्वीकार करने के कारण यहां इष्टापत्ति भी नहीं कही जा सकती।[2]

द्वितीय तृतीय-क्षण साधारण अव्यवहितोत्तरत्व का ग्रहण करने पर भी यह लक्षण निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इच्छाजनक-सामग्री यदि अनुमिति की विरोधी मानी जाय तब जिस स्थल में सिद्धि, सिषाधयिषा और अनुमिति क्रमशः उत्पन्न होते हैं वहां प्रथम क्षण में पक्षता रहने पर भी इच्छा सामग्री के रहने से अनुमिति नही होती। अतः अनुमिति अव्यवहित पूर्व में रहने वाली, सिद्धि-भिन्न-सिद्धि के अभाव को ही पक्षता कहना पड़ेगा।[3] किन्तु ये दोनों ही लक्षण समीचीन नहीं हैं। उन सिद्धियों के तद्व्यक्ति के रूप में अभाव को अनुमिति का कारण मानते हैं अथवा सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि के क्षण के पश्चात् होने वाले क्षण में उत्पन्न अनुमिति वाली सिद्धि से भिन्न सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धित्व के रूप में अभाव कारण है। प्रथम विकल्प में अनन्त कार्य-करण-भाव का प्रसङ्ग होता है तथा सभी सिद्धियों को अनुमित्साविरह का विशेषण बनाना व्यर्थ होता है, तथा उस-उस क्षण से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं उस-उस क्षण से सम्बन्धित मन के सम्बन्ध को प्रतिबन्धक मानना होता है। फलस्वरूप प्रथम कल्प परित्याज्य है। उसी प्रकार द्वितीय कल्प में यह दोष है कि परामर्श के रहने पर

---

१ एवं दो—तत्त्व चि० दी० प० प्र० प० सि०।

२. तत्त्व चि० दी० प० प्र० प० सि०।

३. —वही—

किसी सिद्धि के पश्चात् अनुमिति होती है तो किसी के पश्चात् नही होती, इसमें नियामक कौन है अत: ये दोनों भी विकल्प त्याज्य है।

जहां "यह स्थाणु है या पुरुष है" इस प्रकार संशय उत्पन्न होता है उसके बाद पुरुषत्व के व्याप्य हाथ-पैर आदि से युक्त का परामर्श होता है। वहां "यह पुरुष है" इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। अनुमिति नहीं होती है, कारण कि अनुमिति में उसी विषय के प्रत्यक्ष की सामग्री प्रतिबन्धक है, किन्तु अनुमिति की इच्छा रहने पर उपर्युक्त स्थल में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं। अत: अनुमिति की इच्छा को उत्तेजक कहना चाहिए। इस प्रकार अनुमिति की इच्छा विरह से उक्त समान विषय वाले प्रत्यक्ष की सामग्री का अभाव भी परामर्श और पक्षता के समान अनुमिति का कारण है।

उपाध्याय मत

इस विषय में यज्ञपति[1] उपाध्याय का मत है कि अनुमिति की इच्छा के विरह संयुक्त समान विषयक प्रत्यक्ष सामग्री का अभाव स्वतन्त्र रूप से अनुमिति का कारण नहीं है, प्रत्यूत सिषाधयिषा से युक्त सिद्धि, प्रत्यक्षसामग्री अन्यतर (दोनों में से एक) का अभाव ही पक्षता है। अत: सिद्धि-काल में या समान-विषयक-प्रत्यक्ष-सामग्री के काल में अनुमिति की आपत्ति नहीं होगी।

यज्ञपति उपाध्याय के इस मत की दीधितिकार[2] ने आलोचना की है कि सिषाधयिषा बिरह से युक्त सिद्धि अनुमानातिरिक्त साधकमात्र अन्यतर (दोनों में से एक) का अभाव पक्षता है। दीधितिकार के अनुसार यदि साधक मान का अर्थ "सिद्धि स्वरूप योग्य" है तो चक्षु आदि के रहने पर भी अनुमिति नहीं होनी चाहिए यदि "सिद्धि-उपहित" अर्थ है तो सिद्धि के पूर्व सिद्धि-उपहित का अभाव होने से प्रत्यक्ष-सामग्री रहने पर भी उस विषय की अनुमिति होनी चाहिए। तथा अनुमानातिरिक्त यह विशेषण व्यर्थ है क्योंकि अनुमिति के पूर्व क्षण में साधक मान अर्थात् परामर्श आदि सिद्धयुपहित न होने से अनुमान को लेकर दोष नहीं हो सकता तो अनुमानातिरिक्त" विशेषण देने की क्या आवश्यकता है ?

अनुमानातिरिक्त साधक मान का अर्थ सिद्धि सामग्री भी नहीं हो सकता क्योंकि अनुमिति सामग्री के अभाव को प्रत्यक्ष का कारण और अनुमित्सा विरह युक्त प्रत्यक्ष सामग्री के अभाव को अनुमिति का कारण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। अतः स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर सिद्धि का अभाव और अनुमाना-

---

१. दिनकरी, अनु० ख० प० प्र०।

२. तत्त्व० चि० दी० प० प्र० प० सि०।

तिरिक्त साधक मान का अभाव स्वतन्त्र रूप में अनुमिति के कारण है इनका पक्षता में समावेश करना सम्भव नहीं है ।

उपाध्यायमत निराकरण

दीधितिकार[1] का कहना है कि उपर्युक्त बाध का भी स्वतन्त्र प्रति-बन्धकत्व नहीं रहेगा। बाधा का भी उसमें समावेश करके उपर्युक्त अन्यतमाभाव को भी पक्षता कहा जा सकेगा। फलस्वरूप बाध में अनुभव सिद्ध स्वतन्त्र प्रतिबन्धकता का का विलोप प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

प्रभाकर[2] मतानुयायी पक्षता को अनुमिति का कारण नहीं मानते। उन्हें सिद्धि काल में भी अनुमिति इष्ट है। किन्तु प्राभाकरों का कथन ठीक नहीं है उत्पन्न अनुमिति के पश्चात् उसी अनुमिति की पुनः उत्पत्ति के वारण के लिए पक्षता को अनुमिति का कारण मानना आवश्यक है। जगदीश[3] भी अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अनुमित्सा के रहने पर सिद्धि रहने पर अनुमिति की उत्पत्ति विरोधी को भी मान्य है, अतः अनुमित्सा को वहाँ उत्तेजक मानना अनिवार्य है, इसलिए पक्षता को अवश्य ही अनुमिति का कारण मानना चाहिए।

अनुमान के भेद

गङ्गेश मत

आचार्य गङ्गेश[4] ने अनुमान के तीन भेद वर्णित किये हैं। केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी। आचार्य गङ्गेश का वर्गीकरण नया नहीं है। इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वप्रथम आचार्य उद्योतकर ने, इसके पश्चात् उदयन ने भी किया है। आचार्य गङ्गेश ने न्याय भाष्यकार के पूर्ववत् आदि भेदों को मान्यता नहीं दी है। आचार्य उद्योतकर ने इन्हें क्रमशः अन्वयी, व्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेकी के रूप में प्रतिपादित किया है। आचार्य उदयन ने इन्हें क्रमशः केवलान्वयी केवल-व्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेकी कहा है। इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार

---

१. तत्त्व चि० दी० प० प्र० प० सि० ।

२. तत्त्व चि० प० प्र० प० सि० ।

३. एवं व सत्यामनुमित्सायां सिद्धिसत्त्वेप्यनुमित्युत्पादस्य परेषामप्यनुभविक त्वादनु-मित्सायास्तत्रोत्तेजकत्वमपीत्यवश्यं पक्षताऽनुमिति हेतुः ।
जाग० प० प्र० प० सि० ।

४. तत्त्व चि० के० अनु० प्र० ।

मुख्यतः सहचार या व्याप्ति है। व्याप्ति के दो भेद या सहचार के दो भेद अन्वय सहचार और व्यतिरेक सहचार होने से जिसमें अन्वय सहचार या अन्वय व्याप्ति मात्र है वह केवलान्वयी तथा जिसमें व्यतिरेक सहचार या व्यतिरेक व्याप्ति मात्र आधार है वह केवल व्यतिरेकी और जिसमें दोनों का आधार प्राप्त हैं वह अन्वय-व्यतिरेकी।

नैयायिकों में इन अनुमानों के आधार के विषय में मतभेद है। कुछ लोग सहचारों को आधार मानते हैं जबकि कुछ लोग व्याप्ति के आधार को तो कुछ साध्य के आधार पर वर्गीकरण करते हैं। ये मत आचार्यमत, गङ्गेशमत, तथा दीधितिकार मत के रूप में, आचार्य जगदीश द्वारा उद्धृत हैं।

केवलान्वयी

केवलान्वयी का लक्षण करते हुए आचार्य गङ्गेश कहते हैं "**असिद्धिपक्षं केवलान्वयी**" अर्थात् जिसका विपक्ष न हो वह केवलान्वयी है। किन्तु आचार्य गङ्गेश का लक्षण अस्पष्ट है। इनके लक्षण से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे केवलान्वयी हेतु का या केवलान्वयी हेतु विषयक व्याप्तिज्ञान का केवलान्वयी अनुमान के रूप में वर्गीकरण करते हैं, यदि यह उनका वर्गीकरण हेतु, या व्याप्ति ज्ञान का माना जाय तो "**इदं वाच्यं घटत्वात्**" इस हेतु का या इस हेतु धार्मिक व्याप्ति ज्ञान का संग्रह नहीं होगा। इसलिए दीधितिकार ने इसकी व्याख्या की— जिसका विपक्ष नहीं है, अर्थात् जो साध्य अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होता उस साध्य वाली अनुमिति का कारण जो वह केवलान्वयी अनुमान है। इस प्रकार की व्याख्या करने पर लिङ्ग उसके ज्ञान अथवा मन में से किसी को भी अनुमिति करण मानने पर भी कोई क्षति नहीं होती है।

उदयनाचार्य सहचार के आधार पर अनुमान का वर्गीकरण करते हैं। उनके मत को उपस्थित करते हुए दीधितिकार[1] लिखते हैं व्याप्ति ग्राहक सहचार के आधार पर वर्गीकरण करने पर अन्वय सहचार से ही ज्ञात व्याप्ति वाला हेतु केवलान्वयी है। जब वह्निमान् धूमात्[2] यहां केवल अन्वय सहचार के आधार पर ही व्याप्ति गृहीत होती है तब वह भी केवलान्वयी है। इसलिए प्रकृत व्याप्ति ग्राहक ज्ञान के विषय सहचार का व्यापक जो अन्वय सहचार उस अन्वय सहचार से युक्त हेतु केवलान्वयी है अथवा उस सहचारत्व का व्यापक प्रकृत व्याप्ति घटक सहचारत्व से सम्बन्धित हेतु है।

---

१. तत्त्व चि० के० अनु० प्र०।
२. तत्त्व चि० दी० के० अनु प्र०।

आचार्य जगदीश[1] के अनुसार प्रकृत हेतु में रहने वाली प्रकृत साध्य की व्याप्यता विषयक ज्ञान का जनक जो ज्ञान उसमें रहने वाली जो प्रकृत हेतु में रहने वाली साध्यसामानाधिकरण्य की अवगाहिता, तथा प्रकृत साध्याभाव में रहने वाली हेतु सामानाधिकरण्यावगाहिता इन दोनों में से किसी एक की व्यापक जो हेतु में रहने वाले साध्य के सहचार की विषयिता, अथवा उसका ज्ञान उस ज्ञान विषयता से युक्त प्रकृत हेतुत्व केवलान्वयी का लक्षण है।

आचार्य गदाधर[2] के अनुसार सहचार भेद के आधार पर वर्गीकरण करने पर लिङ्ग को करण मानने वाले के मत में "अन्वय सहचार मात्र से ज्ञान जन्य व्याप्ति ज्ञान के आधीन उस काल के उस पुरुष की अनुमिति का करणत्व केवलान्वयी का लक्षण है, उसी प्रकार व्याप्तिज्ञान को करण मानने वाले पक्ष में उस साध्य साधन सहचार मात्र विषयता से प्रयोज्य जो व्याप्ति की विषयता उस विषयता से युक्त होते हुए उस साध्य की अनुमिति का करणत्व केवलान्वयी अनुमान का लक्षण है।

चिन्तामणिकार[3] के मत में अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति दोनों का ज्ञान ही अनुमिति का कारण है। इसलिए व्याप्ति भेद के आधार पर अनुमान का वर्गीकरण करने पर "प्रकृत हेतु वाली जो प्रकृत साध्य की अनुमिति उस अनुमिति के लिए कारण, व्याप्ति ज्ञान की विषय व्याप्ति की व्यापक जो प्रकृत साध्य की अन्वय व्याप्ति उस अन्वय व्याप्ति से सम्बन्धित हेतु केवलान्वयी अनुमान है।

केवलान्वयी अनुमान का लक्ष्य

"**घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वाद् पटवत्**" यहां पर अभिधेयत्व और प्रमेयत्व की व्यतिरेक व्याप्ति नहीं है, सभी में प्रमेयत्व और अभिधेयत्व रहता है। प्रमेयत्व का अर्थ प्रमा विषयता है और विषयता विषय भेद से भिन्न होती है। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगि होने से घटता अत्यन्ताभावा प्रतियोगित्व रूप केवलान्वयित्व अप्रसिद्ध है।

दूसरी बात यह है कि "**अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व**" यह केवलान्वयी कालक्षण आकाशाभाव तथा संयोगाभाव में अव्याप्त हाता है। इसके समाधान के लिए

---

१. गादा० के० अनु० प्र०।

२. गादा० के० अनु० प्र०।

३. गृहीतव्याप्तिभेदाद् भेदे तु प्रकृत-हेतुक प्रकृतसाध्यानुमिति हतुज्ञान विषय व्याप्तित्वव्यापकप्रकृतसाध्यान्वयव्याप्तित्वकत्वम्।

तत्त्व चि० दी० के० अनु० प्र०।

चिन्तामणिकार ने "वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व" यह केवलान्वयी का लक्षण किया है। आकाशात्यन्ताभाव यद्यपि आकाशाभावाभाव का प्रतियोगी है किन्तु वह वृत्तिमान् नहीं है। इसलिए आकाशात्यन्ताभाव में केवलान्वयित्व अव्याप्त नहीं होता है। उसी प्रकार से प्रमेयत्व और अभिधेयत्व भी केवलान्वयी है। जिसमें जिस सम्बन्ध से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाले अभाव का अप्रतियोगित्व है उस सम्बन्ध से वह केवलान्वयी होता है इसलिए ज्ञान ज्ञानत्व या समवाय से ज्ञान विषयकत्व व्यधिकरण समवाय सम्बन्ध से अभाव प्रतियोगी होने पर भी वे क्रमशः विषयता सम्बन्ध से, परम्परा-सम्बन्ध से तथा स्वरूप-सम्बन्ध से केवलान्वयी है। संयोगाभाव के सङ्ग्रह के लिए प्रति योग्य ससानाधिकरण का अभाव में निवेश करना चाहिए। यह दीधिति-कार[1] का मत है। न्यायवोधिनीकार ने अत्यन्ताभाव में **स्वाविरोधित्व** का निवेश किया है।

एक जातीय सम्बन्ध से सर्वत्र विद्यमान होना केवलान्वयी का लक्षण न्याय-बोधिनी[2]कार ने किया है। इस प्रकार प्रमात्व परम्परा सम्बन्ध से घट में अनुगत प्रमेयत्व, या प्रमाजातीय विषयत्व है। प्रमाजातीय विषयता रूप प्रमेयत्व समस्त पदार्थों में विद्यमान होने के कारण केवलान्वयी है।

केवलान्वयी अनुमान के विषय में प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां साध्य संशय रूप पक्षता न होने से अनुमिति कैसे होगी ? इस विषय में आचार्य गङ्गेश[3] का मत है कि जो संशय साध्य सिद्धि का विरोधी होता है वही अनुमान का अङ्ग होता है उसमें समान विषय होना आवश्यक नहीं है। इसलिए पक्ष में साध्य है या नहीं या पक्ष साध्यवान् है या नहीं, इस प्रकार के सन्देहों के न होने पर भी प्रमेयत्व घटनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है या यहीं यह सन्देह घट प्रमेय है इस साध्य निश्चय का विरोधी होने से उसके द्वारा अनुमिति की उत्पत्ति में कोई वाधा नहीं है। अथवा संशय योग्यता को अनुमान का अङ्ग मानकर भी पक्षता की पुष्टि की जा सकती है। यहां संशय योग्यता का अर्थ साधक वाधक प्रमाणाभाव नहीं हैं। अपितु पक्षनिष्ठ अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व के ज्ञान का अभाव है। प्रमेय को अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भ्रम से समझकर उसका संशय हो सकता है। इस प्रकार केवलान्वयी स्थल में भी साध्य संशयरूप पक्षता की उपलब्धि हो सकती है। **सिषाधयिषा-विरह-विशिष्ट सिद्ध्यभाव** को पक्षता मानने वाले के मत में केवलान्वयी अनुमान मानने में कोई बाधा नही है।

---

१. तत्त्व चि० दी० के० अनु० प्र०।

२. न्या० बो० अन० परि० ।

३. त० चि० अनु० ख० केवला० प्र० ।

किन्तु यहां एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है, कि नैयायिक हेतु "अनुमान्" की पञ्चरूप से युक्तता आवश्यक मानते हैं किन्तु केवलान्वयी हेतु के लिए विपक्ष न होने से यह रूप विकल अनुमान होगा इसे साध्य का साधक किस प्रकार स्वीकार किया जायेगा। इस विषय में आचार्य गङ्गेश[1] का कथन है कि अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति में से किसी एक का निश्चय होने पर भी अनुमिति होती है। एक साथ दोनों प्रकार की व्याप्तियां उपस्थित होने पर उसमें से किसे कारण मानना इसके लिए कोई युक्ति न होने से दोनों को ही अनुमिति का उपयोगी माना जाता है। इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति की उपयोगिता सिद्ध होती है। विपक्ष में हेतु का अभाव विपक्ष वृत्तित्व की शङ्का की निवृत्ति द्वारा व्यतिरेकव्याप्ति में उपयोगी बनता है किन्तु केवलान्वयी अनुमान में विपक्ष ही न होने से विपक्षवृत्तित्व की आशंङ्का की उपस्थिति ही नहीं होती है।

दीधितिकार[2] केवलान्वयी अनुमान को नहीं मानते हैं। उनके विचार से "साध्याभाववदवृत्तित्व" को व्याप्ति मानने में लाघव है। प्राय: साधन के भिन्न होने पर भी व्याप्ति भिन्न नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि व्यापकसामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति हेतुता के नियन्त्रक विशेष धर्मों से घटित होने से हेतुतावच्छेदक से नियन्त्रित प्रकार वाले ज्ञान को करण मानने पर हेतुतावच्छेदक धूमत्व आदि के भेद से व्याप्तियां भिन्न होती हैं, इस प्रकार गौरव होता है। आकाशादि में साध्याभाववदवृत्तित्व होने पर भी पक्षधर्मता ज्ञान के न रहने से अनुमिति नहीं होती है। या साध्याभाव वद-वृत्तित्व के साथ वृत्तिमत्व या साध्यासामानाधिकरण्य का भी निवेश किया जा सकता है। व्यापकताज्ञान रहने मात्र से अनुमिति होती है, यह न तो अनुभव सिद्धि है और न युक्तिसंगत है। ज्ञानत्वत्व रूप से ज्ञानत्व में व्यापकतावच्छेदकत्व का ज्ञान होने पर "अयं ज्ञानवान् प्रमेयत्वात्" इस स्थल में स्वरूपतः ज्ञानत्व से युक्त ज्ञान की अनुमिति नहीं होनी चाहिए। जिस रूप से युक्ति में व्यापकतावच्छेदकत्वज्ञान होता है उसी रूप से युक्त प्रकार से ही साध्य की अनुमिति होती है। अत: यदि ज्ञानत्वत्व का ज्ञान होता है तो उसी रूपसे युक्त प्रकार से ही साध्य की अनुमिति होती है। अत: ज्ञानत्वत्व से युक्न में व्यापकतावच्छेदकताज्ञान है, तो ज्ञानत्वत्व से युक्त ज्ञानत्व विशिष्ट की ही अनुमिति होगी। केवलान्वयिसाध्यकत्व का ज्ञान ही अनुमिति का कारण है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। सर्वजन के अनुभव सिद्ध अनुमिति रूप धूम दर्शन के पश्चात् व्यतिरेक सहचार के आधार पर गृहीत वह्नि के ज्ञान में असंभव होता है। जो लोग साध्याभाववदवृत्तित्व ज्ञान को कारण मानते हैं उनके मत में प्रमेयत्व का

१. त० चि० अनु० ख० केवला० प्र०।

२. तत्त्व चि० दी० के० अनु० प्र०।

घटवृत्ति होना केवलान्वयी होने से अथवा किसी प्रकार से घटवृत्ति धर्म व्यापक होने से अनुमित होता है। किन्तु ज्ञेयत्व हेतुक अनुमिति उनके मत में किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। अत: दीधितिकार[1] केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी दोनों प्रकार के अनुमानों का निषेध करके एक ही प्रकार के अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान का समर्थन करते हुए प्रतीत हो रहे हैं।

जगदीश[2] के विचार से व्यापक सामानाधिकरण्य को कारण न मानने पर भी वाच्यत्व में व्यतिरेकीत्व का भ्रम होने पर वाच्यत्वत्वाभाववद्वृत्तित्व का ज्ञान होने से वाच्यत्व साधक अनुमिति होने से केवलान्वयी साध्यक अनुमिति का खण्डन दुर्घट है क्योंकि तार्किक लोग अन्यथा ख्याति को स्वीकार करते हैं। घट पक्षकवाच्यत्वादि की अनुमिति अनुभव सिद्ध होने से वाच्यत्वावच्छिन्नत्व प्रतियोगिता में तथा प्रतियोगिता के अभाव में संसर्ग के रूप विषय बनाने वाला वाच्यत्वाभाववद् वृत्तित्व का ज्ञान अन्यथाख्याति रूप हेतु होने से कारण बाधा के अभाव में केवलान्वयी अनुमान सम्भव है।

गदाधर[3] का कथन है कि व्यधिकरणधर्मविच्छिन्न प्रतियोगिता वच्छेदकता वाले अभाव को प्रामाणिक मानने पर "**साध्याभाववदवृत्तित्व**" रूप व्याप्ति मानने पर भी केवलान्वयी अनुमान में कोई बाधा नहीं है। जिस प्रकार समवायित्वावच्छिन्न वाच्यत्वादिमद् का भेद प्रसिद्ध है उसी प्रकार "**वाचयत्वविशिष्टावच्छिन्नाभावनिष्ठ-प्रतियोगिता वच्छेदकताक अभाव**" रूप व्याप्ति प्रसिद्ध है।

यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकावच्छेदकता का अभाव नहीं स्वीकार करें तब भी **साध्यवाद्-निरूपितत्वावच्छिन्न आधेयत्वाभाव** रूप व्याप्ति केवलान्वयी अनुमान में प्रसिद्ध है। केवल साध्यवद निरूपितत्व, किञ्चिद्वस्तु निरूपित, घटादि में प्रसिद्ध है। तदवच्छिन्नाधेयता का अभाव जो कि व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला है, केवलान्वयी हेतु में प्रसिद्ध है।

---

१. अत्रेदमवधेयम्—व्यापकसामानाधिकरण्यस्याहेतुत्वेऽपि वाच्यत्वस्य व्यतिरेकित्वं भ्रमदशायां तद्भाववदवृत्तित्वग्रहात् तत्साध्यकानुमितिसम्भवेन केवलान्वयिसाध्यकानुमितिखण्डनं दुर्घटं तार्किकैरन्यथाख्यात्यभ्युपगमात्। जा० के० अनु० प्र०।

२. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकता काभावस्य प्रामाणिकत्वे साध्याभाववदवृत्तित्वं ज्ञानस्य हेतुत्वमतेऽपि केवलान्वयानुमानं निराबाधमेव। गा० के० अनु० प्र०।

३. तर्कामृत अनु० प्र०।

"तर्कामृत" में भी जगदीश ने केवलान्वयी अनुमान का उल्लेख "घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्" इस उदाहरण के साथ किया है।

तर्क संग्रहकार[1] ने हेतुओं के भेद में केवलान्वयी परिगणन किया है। केवलान्वयी हेतु से इनका तात्पर्य केवलान्वयी साध्य वाले हेतु से है क्योंकि "अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व" यह केवलान्वयी का लक्षण साध्य में ही घटित होता है, हेतु में नहीं। इसलिए अन्वय मात्र व्याप्ति वाला हेतु केवलान्वयी कहलाता है।

केवलव्यतिरेकी

केवलव्यतिरेकी का निरूपण करते हुए जगदीश[2] कहते हैं कि जिस अनुमान में सपक्ष न हो वह केवलव्यतिरेकी है। व्यतिरेकी में व्यतिरेक सहचार के आधार पर व्याप्तिग्रह होता है। दीधितिकार[3] के अनुसार जिसमें अन्वय गृहीत नहीं है ऐसा व्यतिरेकी साध्यवाला अनुमान केवल व्यतिरेकी कहलाता है। इसी की व्याख्या आचार्य जगदीश ने इस प्रकार से प्रदर्शित की है। प्रकृत हेतु विषयक जो साध्य सहचार, उससे उत्पन्न न होने वाली प्रकृत हेतु से उत्पन्न व्यतिरेकी साध्य वाली अनुमिति करण केवल व्यतिरेकी अनुमान होता है। अन्वय सहचार का ज्ञान न रहने पर भी इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात् केवलान्वयी ही है।

व्याप्ति के वर्गीकरण के आधार पर अनुमान का वर्गीकरण करने पर व्यतिरेक मात्र व्याप्ति वाला अनुमान व्यतिरेकी अनुमान होता है। जैसे पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि वह गन्धवती है। यहां पर जो गन्ध वाला है वह इतर पदार्थों से भिन्न है यह अन्वय दृष्टान्त न होने से "गन्ध-व्यापक इतरभेद सामानाधिकरण्य" स्वरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु जहां-जहां पृथ्वी से इतर पदार्थों का भेद नहीं है वहां-वहां गंध नहीं है, जैसे जल में पृथ्वी से भिन्न पदार्थ का भेद नहीं है, वहां गन्ध भी नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेक दृष्टान्त में जलादि में इतर भेदाभाव रूप साध्याभाव की व्यापकता गन्धाभाव में ज्ञात होती है। सहचार भेद के आधार पर वर्गीकरण करने पर "प्रकृत व्याप्ति के ग्राहक ज्ञान के विषय सहचारत्व के व्यापक व्यतिरेक सहचारत्व" से युक्त का विषय जो हो वह केवल व्यतिरेकी है।

आचार्य गङ्गेश[4] व्याप्ति के आधार पर वर्गीकरण करने के कारण प्रकृत हेतु

---

१. तर्क० सं० अनु० परि०।

२. जाग० के० व्य० प्रकरण।

३. तत्त्व चि० दी के० व्य० प्र०।

४. तत्त्व चि० के० व्यति० प्र०।

तथा साध्य वाली अनुमिति के लिए कारणभूत जो ज्ञान उस ज्ञान के विषय व्याप्तित्व का व्यापक जो हेत्वभाव का व्याप्तित्व उससे युक्त व्याप्ति वाले हेतु को केवलव्यतिरेकी कहते हैं।

केवल व्यतिरेकी के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि केवल व्यतिरेकी अनुमान किस तरह अनुमान है। व्याप्ति से युक्त हेतु में पक्षवृत्तिता का ज्ञान अनुमिति का कारण होता है। प्रकृत अनुमानों में व्यतिरेक सहचार के आधार पर साध्याभाव में हेत्वभाव की व्याप्ति ज्ञात होती है। जबकि "पक्षधर्मता" हेतु में ज्ञात होती है। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता का अभाव होने से इसे अनुमिति का कारण कैसे माना जाए ? इस सम्बन्ध में नैयायिकों की धारणा है कि अनुभव के आधार पर "साध्याभाव-व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व" रूप व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान उक्तस्थलीय अनुमिति के लिए कारण होता है। साध्याभाव के व्यापक साधनाभाव के अभाव रूप साधन से साध्याबाभाव अर्थात् साध्य की सिद्धि होती है। व्यापकाभाववत्ता का निश्चय रहने पर व्याप्याभाववत्ता का निश्चय अवश्य ही रहता है।

रघुनाथ मत

दीधितकार[1] का कथन है कि "साध्याभाव-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व" रूप व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण मानने में गौरव है तथा वह व्यभिचार ज्ञान का विरोधी न होने से व्याप्तिज्ञान नहीं है। अग्नि के अभाव के आश्रय में रहने वाला अभाव अप्रतियोगी धूमाभाव है। यह ज्ञान धूमाभावभाव में वह्न्य् सामानाधिकरण्य-बुद्धि का विरोधी कदाचित् हो सकता है क्योंकि वह बुद्धि धूमाभाव में अग्नि के अभाव के सामानाधिकरण्याभाव प्रतियोगी विषयक है, किन्तु धूम में वह्न्य् भाव सामानाधिकरण्य के ज्ञान की वह विरोधी नहीं है। ये दोनों बुद्धियां भिन्न प्रकारों वाली हैं।

अपिच व्यतिरेक व्याप्ति के ज्ञान से होने वाली बुद्धि अनुमिति नहीं है। अनुमिति के रूप में उसका बोध नहीं होता है। अनुमिति के लिए मान्य कारणों का अभाव होने से तथा सामग्री भेद कल्पना से इसे अर्थापत्ति ही कहना उचित है।

साध्य निश्चय रहने पर अनुमिति के बिना अर्थापत्ति भी उत्पन्न नहीं होती है, इसलिए पक्षता से उत्पन्न होने से अर्थापत्ति भी अनुमिति ही है यह नहीं कह सकते। जब अनुमिति में ही पक्षता को कारण नहीं मानते हैं तो अर्थापत्ति में मानना तो दूर ही रहा।

---

१. तत्त्व चि० दी० के० व्य० प्र०।

किन्तु उपर्युक्त दीधितिकार का मत आलोचनीय है। अप्रसिद्ध साध्यवती अनुमिति के स्थल में व्यतिरेक व्याप्ति के ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है। अन्यच्च व्यतिरेक व्याप्ति से जन्य ज्ञान को अर्थापत्ति मानने पर जहां अर्थापत्ति और अनुमिति दोनों की सामग्री होगी वहां दोनों की एक साथ उत्पत्ति न होने के लिए परस्पर एक दूसरे को प्रतिबन्धिक मानने से गौरव होगा।[1]

तथा च दोनों प्रमाओं की भिन्नता अनुभवसिद्धि है अनुमिति में पक्षता कारण ही है। अर्थापत्ति में भी पक्षता को कारण मानने पर उसे भी अनुमिति ही मानना होगा।

व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान व्यभिचार ज्ञान विरोधी नहीं है। यह बात नहीं है। मणिमन्त्रादि न्याय से यह भी व्यभिचार ज्ञान का विरोध करता है। "**साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदक हेतुतावच्छेदकरूपत्व** को व्याप्ति मानने वालों के मत में जिस प्रकार हेतुतावच्छेदक में साध्य सामानाधिकरण्य का अनवच्छेदकत्व होना व्यभिचार है वह व्याप्ति जिस प्रकार इस व्यभिचार ज्ञान की विरोधी है उसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति भी साध्याभाव-व्यापकी भूता भावा प्रतियोगित्वरूप व्यभिचार के ज्ञान की विरोधी है।

व्यतिरेक व्याप्ति को अनुमान में उपयोगी मानने पर अप्रामाण्य से युक्त **वह्निमान् पर्वत इस ज्ञान कालीन वह्नियभाव-व्यापकीभूत अभावप्रतियोगी-धूमवान् पर्वतो वह्नियत्पर्वत कालीनघटवान्**" इत्यादि अनन्त अनुमिति सामग्रियों का अनन्त भिन्न विषयक प्रत्यक्ष में स्वतन्त्र रूप से प्रतिबन्धक मानने से होने वाला गौरव भी नहीं होग।[2]

दीधितिकार के व्यतिरेक व्याप्ति को न मानने पर भी पश्चात् कालीन तार्किकों ने अन्नम्भट्ट[3] तथा उनके टीकाकारों ने एवं विश्वनाथ और उनके टीकाकारों ने भी इसे स्वीकार किया है और उसके आधार पर अनुमान के केवल-व्यतिरेकी भेद को स्वीकार किया है। व्यतिरेक व्याप्ति-ग्रह के पश्चात् "**इतरभेद व्यापकीभूताभावप्रतियोगिगन्धवती-पृथ्वी**" इस व्यतिरेकी परामर्श से "**पृथ्वी इतरभेदवती**" इस प्रकार की अनुमिति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार "**जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्**" "**यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः**" इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं। व्यवहार में भी इस प्रकार के अनुमानों का प्रयोग होता है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इसी प्रकार की व्याप्ति के आधार पर नये-नये पदार्थों की खोज की गई है।

---

१. त० चि० दी० के० व्य० प्र०।

२. जा० के० व्य० प्र०।

३ जा० के० व्य० प्रकरण।

अन्वय-व्यतिरेकी

प्रसिद्ध वह्निमान् धूमात् यह स्थल अन्वय व्यतिरेकी अनुमान है जिसमें सपक्ष और विपक्ष दोनों हों वह अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। दीधितिकार के अनुसार जिसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों हों ऐसे साध्य का साधक हेतु अन्वय व्यतिरेकी है।

उदयनाचार्य[1] सहचार भेद के आधार पर वर्गीकरण करते हैं। इसलिए उनके मत में प्रकृत व्याप्ति के ग्राहक "सहचार" ज्ञान विषयता से व्याप्य जो उभय प्रकार का सहचारत्व उस सहचारत्व वाला अनुमान अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है।

गङ्गेश मत :

चिन्तामणिकार[2] व्याप्ति भेद के आधार पर वर्गीकरण करते हैं। इसलिए उनके अनुसार प्रकृत हेतु और साध्य वाली अनुमिति के लिए कारण जो व्याप्ति ज्ञान उसकी विषय व्याप्ति में विद्यमान व्याप्तित्व से व्याप्य प्रकृत साध्य की व्याप्ति और प्रकृत हेत्वभाव की व्याप्ति में रहने वाला व्याप्युभयत्व उससे सम्बन्धित हेतु अन्वय व्यतिरेकी अनुमान है। चिन्तामणिकार के इसी वर्गीकरण का समर्थन करके उपर्युक्त लक्षण दीधितिकार ने प्रस्तुत किया है, जगदीश ने भी इसी का परिष्कार किया है। "अन्वयेन **व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वय-व्यतिरेकी**" कहकर अन्नम्भट्ट ने भी इसी का समर्थन किया है। "**व्यापकसामानाधिकरण्य**" रूप अन्वय व्याप्ति जिसमें हो तथा साध्याभाव और हेत्वभाव की व्यतिरेक व्याप्ति जिसमें हो। इस व्याप्ति को इस प्रकार जहां-जहां वह्नि का अभाव होता है वहां-वहां धूम का अभाव होता है, व्यक्त किया जाता है। यत्र-यत्र इस वीप्सा के आधार पर जितने वह्न्यभाव के आश्रय हैं वे सभी धूमाभाव के आश्रय हैं—यह अर्थ प्रकट होता है। यावत् पद का व्यापक अर्थ होने से वह्न्यभाव की व्यापकता धूमाभाव में ज्ञात होती है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि व्यापक-सामानाधिकरण्य व्याप्ति है तो वह्न्यभाव में रहने वाली व्याप्ति धूम में कैसे रहेगी। इसका समाधान करते हुए न्यायबोधिनीकार[3] लिखते हैं वह्न्यभाव में रहने वाला व्याप्यत्व "**स्वाश्रयीभूतवह्न्यभाव व्यापकी-भूताभाव प्रतियोगित्व**" सम्बन्ध से धूम में रहता है। इस प्रकार गृहीत व्यतिरेक व्याप्ति तथा उपर्युक्त अन्वय व्याप्तिमान् हेतु अन्वय व्यतिरेकी कहलाता है। न्यायबोधिनीकार

---

१. त० स० अनु० परि०।
२. त० चि० दी० कें० प्र०।
३. त० चि० कें० प्र०।

वह्न्यभाव की व्याप्ति को परम्परा सम्बन्ध से धूम में मानते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे दीधितिकार की व्यतिरेक व्याप्ति को न मानने के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए भी अनुमान का तीन प्रकार का वर्गीकरण स्वीकार करते हैं। किन्तु उन्होंने व्यतिरेक-परामर्श को "**वह्न्यभाव-व्यापकी-भूताभाव-प्रतियोगि-धूमवान् पर्वतः**" क्यों लिखा यह विचारणीय है।[1]

अनुमान के भेद—स्वार्थ और परार्थ

अनुमान जो स्वीय अनुमिति का जनक होता है स्वार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान परकीय अनुमिति का जनक होता है। परकीय अनुमिति न्याय प्रयोज्य होती है। पञ्चावयव वाक्यों के समुदाय को न्याय कहते हैं।[2] वादी के द्वारा प्रयुक्त न्याय जन्य शब्द बोध से मध्यस्थ की अनुमिति का अन्तिम कारण लिङ्ग-परामर्श रूप अनुमान उत्पन्न होता है। जो लोग ज्ञायमान हेतु को अनुमान मानते हैं उनके मतमें हेतु का विशेषण परामर्श, न्याय के आधीन होने से उससे युक्त हेतु भी न्यायाधीन होता है।

न्याय के अवयव

गङ्गेश मत :[3]

प्राचीनों ने "**समस्तरूपोपन्न लिङ्ग प्रतिपादक वाक्य**" को न्याय कहा है। वे पांच रूप हैं "पक्ष-सत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अवाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व। उपनय के द्वारा पक्ष-सत्त्व का उदाहरण से सपक्ष-सत्त्व और विपक्षासत्त्व का, तथा निगमन से अवाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व का प्रतिपादन किया जाता है। चिन्तामणिकार ने इस लक्षण का खण्डन कर दिया है। इस लक्षण की इसी वाक्य में अतिव्याप्ति होती है। गदाधर के अनुसार उपर्युक्त लक्षण स्वीकार करने पर उदाहरण उपनय एवं निगमन को ही न्यायत्वापत्ति होगी। अतः चिन्तामणिकार[4] के अनुसार "अनुमिति का चरम कारण जो लिङ्ग-परामर्श उसका प्रयोजक जो शाब्द"

---

१. न्या० वो० अनु० परि०।

२. न्यायो नाम अवयव समूहः। वे० पं० अनु० परि०।

३. तत्र समस्तरूपोपपन्न लिङ्ग प्रतिपादकं वाक्यं न न्यायः अत्रैव वाक्येऽतिव्याप्तेः त० चि० अव० प्र० न्या० ल०।

४. अनुमितिचरमकारण-लिग-परामर्श प्रयोजक शब्दज्ञान-जनकवाक्यं न्यायः। वही।

ज्ञान उस शाब्दज्ञान का जनक वाक्य न्याय है। प्रतिज्ञादि पांच वाक्यों से उनके अर्थों का ज्ञान उत्पन्न होता है उससे विशिष्ट के वैशिष्ट्य का प्रदर्शक मानान्तर उत्पन्न होता है। उससे अन्तिम परामर्श उत्पन्न होता है। इस प्रकार न्याय से उत्पन्न होने वाला शाब्द-ज्ञान परामर्श का प्रयोजक बनता है।

रघुनाथ मत :

दीधितिकार[1] के अनुसार आनुपूर्वी वाले प्रतिज्ञादि पांचों का समुदाय ही न्याय है। यहां प्रतिज्ञा उदासीन "बाहरी" वाक्य के निवारण के लिए है। न्यायान्तर्गत प्रतिज्ञा का ग्रहण नहीं है अन्यथा अन्योन्याश्रय हो जाएगा। प्रतिज्ञा के लक्षण में न्याय का समावेश और न्याय के लक्षण में प्रतिज्ञा का समावेश, जब तक न्याय नहीं जानते तब तक प्रतिज्ञा नहीं जान सकते, जब तक प्रतिज्ञा नहीं जानते तब तक न्याय नहीं जान सकते।

आचार्य गंगेश का लक्षण न्याय की एक इकाई में भी घटित होता है। अतः अतिव्याप्ति होती है। इसलिए गदाधर[2] ने उसका परिष्कार किया "अनुमिति के चरम कारण लिंग परामर्श का प्रयोजक जो शाब्दबोध, उस शाब्दबोध के लिए जिस-जिस धर्म प्रकार युक्त शाब्दज्ञान कारण है, उस प्रत्येक धर्म से युक्त वाक्य समुदाय न्याय है। वे धर्म प्रतिज्ञादि की आनुपूर्वियां ही हैं। गदाधर उसमें दो संशोधन और भी करना चाहते हैं। प्रथम अनुचित क्रम से प्रत्युक्त प्रतिज्ञा के समुदाय से भिन्न समुदाय हो, तथा दूसरा विवक्षित प्रतिज्ञा आदि के पश्चात् जिसका प्रयोग नहीं है ऐसे हेतु आदि के समुदाय से भी भिन्न समुदाय होना चाहिए। पहले संशोधन का कारण यह है गलत क्रम से प्रयुक्त न्याय को न्याय नहीं कह सकते। दूसरे का कारण है कि अनेक न्यायों के मध्य से चुने प्रतिज्ञादि के समुदाय को भी न्याय कहना होगा जो कि परार्थानुमान की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि न्यायार्थ का ज्ञान हो परामर्श रूप है उसी से अनुमिति हो सकती है। फिर मणिकार न्यायार्थ ज्ञान से उत्पन्न होने वाले एक दूसरे परामर्श की आवश्यकता का क्यों अनुभव करते हैं।

---

१. उचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादि-पञ्चसमुदायत्वम्—त० चि० दी० अव० प्र०; न्या० ल०।

२. तादृशयत्किञ्चिच्छाब्दबोधं प्रति यादृशयादृशधर्म प्रकारत्वेन शब्दज्ञानस्य कारणता प्रत्येकं तत्तद्धर्मावच्छिन्नवाक्यसमुदायस्य तादृशधर्माश्च प्रतिज्ञादीनामानुपूर्वी विशेषा एव। गादा० अव० प्र० न्या० ल०।

इस प्रश्न का समाधान विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किया है।

यज्ञपति मत :

यज्ञपति उपाध्याय[1] के अनुसार न्याय वाक्य से होने वाले बोध में उदाहरण और उपनय दोनों के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान मानने पर पौनरुक्त्य होता है इसलिए उदाहरण से व्याप्ति का तथा उपनय से पक्षधर्ममता का स्वतंत्र ज्ञान होता है अतएव न्यायवाक्य से होने वाला ज्ञान व्याप्ति से युक्त का पक्ष में सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् परामर्श रूप नहीं है। व्याप्य पक्ष में है या नहीं इस आशङ्का का समाधान करने के लिए वह्नि-व्याप्य पद से उपर्युक्त उपनय वाक्य का प्रयोग किया जाता है।

गदाधर,[2] उपाध्याय के समाधान की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि व्याप्ति से युक्त हेतु में पक्षधर्मता की आकाङ्क्षा है तो व्याप्ति युक्त हेतु का पक्ष में ज्ञान ही उक्त आकांक्षा की पूर्ति करेगा इसलिए उस प्रकार के बोध में उपनय का तात्पर्य मानना आवश्यक है। इसलिए न्यायजन्य ज्ञान को परामर्श रूप मानना आवश्यक है।

मिश्रमत :

पक्षधर[3] का समाधान है कि न्याय से उत्पन्न ज्ञान वादी के वाक्य से उत्पन्न होता है। इसलिए उसमें अप्रामाण्य की आशङ्का रहती है। अतः उसमें अनुमिति को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रहती है। यही कारण है कि न्यायार्थज्ञान के पश्चात् पुनः स्वतन्त्र परामर्श स्वीकार करना होता है।

१. अत्र च तदेव ज्ञानं परामर्शरूपम् उपमयार्थविषयकत्वादित्याक्षिप्य उपनयस्य व्याप्त्यंशे न तात्पर्यं, तथा सति न्यायजन्यबोधे उदाहरणार्थतया उपनयार्थतया च व्याप्तिमान पौनरुक्त्यं स्यात् किन्तु पक्षधर्मत्वमेवोपनयेन विवक्षितम्। तथा चोदाहरणार्थं व्याप्तेरुपनयार्थं पक्षधर्मतायाश्च विशृङ्खल मेव भानमिति न न्यायजन्यबोधस्य व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिता। गादा० अव० प्र०।

२. यदि व्याप्ति विशिष्टे पक्षधर्मत्वमेवाकांक्षितं तदा व्याप्तिविशिष्टविषयक एव बोधस्तादृशाकांक्षा निवर्तयिष्यति। गादा० अव० प्र०।

३. न्यायजन्यज्ञानस्यवादिवाक्यजन्यत्वेना प्रामाण्य शक्षांकवलित तयाऽनुमिति-जननायोग्यतया परामर्शान्तरस्वीकार इति मिश्राः।

गादा० अ० प्र० भा० पृ० २६

गदाधर मत :

गदाधर[1] का मत है कि पक्ष में व्याप्ति विशिष्ट के सम्बन्ध का ज्ञान ही अनुमिति का कारण है, व्याप्य से अभिन्न जो हेतु उसके आश्रय से अभिन्न पक्ष का ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है; न्याय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इसी प्रकार का होता है वह व्याप्ति विशिष्ट के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाला नहीं होता है क्योंकि नामार्थ का नामार्थ के साथ अभेद से ही अन्वय होता है। अतः उक्त "**व्याप्ति विशिष्टवैशिष्टयावगाही**" ज्ञान के लिए उस प्रकार का मानस परामर्श अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। इसी अभिप्राय से मणिकार ने "तेन च" इत्यादि कहा है।

दीधितिकार ने उचित अनुपूर्वी वाले प्रतिज्ञादि के समुदाय को न्याय कहा है। व्युत्क्रम से प्रयुक्त प्रतिज्ञादिकों का समुदाय उचित अनुपूर्वी वाला न होने से न्याय नहीं माना जा सकता। उचित आनुपूर्वी का अर्थ है प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु, हेतु के पश्चात् उदाहरण, उदाहरण के पश्चात् उपनय, उपनय के पश्चात् निगमन का प्रयोग। किन्तु विभिन्न न्यायों में सम्मिलित विभिन्न प्रतिज्ञादि वाक्यों के समुदाय को न्यायात्वापत्ति न हो इस अभिप्राय से गदाधर[2] ने अभिप्रेत समुदायत्व के आश्रय प्रतिज्ञादि के पश्चात् न होने वाले हेत्वादि में रहने वाले समुदायत्व से भिन्न समुदायत्व के ग्रहण में दीधितिकार के तात्पर्य को कहा है। "**घटमानय**" इस वाक्य में रहने वाले समुदायत्व के निवारण के लिए उपर्युक्त भिन्न प्रतिज्ञादि में रहने वाला भी होना चाहिए।

समुदायत्व अनेक में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहने वाला धर्म है। वह पर्याप्ति सम्बन्ध से न्याय पद का प्रवृत्ति निमित्त होने से एक अवयव को न्याय नहीं कहा जा सकता है। एक में पर्याप्ति सम्बन्ध से समुदायत्व नहीं रहता है। प्रतिज्ञादि पांच वाक्य हैं, पर्वत अग्निमान है। क्योंकि वहां धूम है। जो-जो धूमवान् होता है। वह-वह अग्निमान् होता है, जैसे महानस, वह्नि की व्याप्ति से युक्त धूमवान् यह है, इसलिए यह अग्निमान् है।

---

१. नव्यास्तु पक्षांशे व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमेवानुमितिहेतुः। न तु व्याप्याभिन्नहेतुमदभिन्नज्ञानम्...... · हेतुविशेष्यक व्याप्तिरूपविशेषणतावच्छेदकप्रकारकमानसंज्ञानान्मानस एव तादृश परामर्शोवश्यमङ्गकर्तव्य इत्यभिप्रायेण तेन चेत्याद्यभिहितम्। वही पृ० २६

२. गादा० अव० प्र० न्या० ल०।

अवयव का लक्षण :

न्याय वाक्य की एक इकाई को अवयव कहते हैं। सामान्यतया किसी द्रव्य के समवायिकारण को अवयव कहा जाता है। किन्तु यहां न्याय वाक्य रूपी शब्द समूह का कोई अवयव नहीं हो सकता है। समूह के एक भाग या घटक को लेकर यहां प्रतिज्ञादि के लिए अवयव व्यवहार करते हैं।

गङ्गेश मत :

अवयव का लक्षण करते हुए आचार्य गङ्गेश[1] कहते हैं अनुमिति में अन्यतम कारण जो लिङ्ग परामर्श उसका प्रयोजक जो न्यायार्थज्ञान उस ज्ञान का जनक जो प्रतिज्ञादि अवयवों का ज्ञान उस ज्ञान का जनक वाक्य अवयव कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञादि वाक्यों से उनके अर्थ का ज्ञान होता है उस-उस अर्थ के ज्ञान से उनके समूहार्थ का "महावाक्यार्थ ज्ञान होता है उस महावाक्यार्थ ज्ञान से चरम कारण परामर्श उत्पन्न होकर अनुमिति होती है। इसलिए प्रतिज्ञादि उपयुक्त लक्षण से युक्त होने से अवयव हैं। किन्तु यह अवयव का लक्षण न्याय से बाहर जो 'पर्वतोऽग्निमान् यह वाक्य है उसमें भी घटित होता है। अतः वाक्य पद से न्यायान्तर्गत वाक्य ही होना चाहिए इस अभिप्राय से दीधितिकार[2] अवयव का लक्षण किया है जो न्यायान्तर्गत होते हुए प्रतिज्ञादि पांचों में से एक हो वह न्यायावयव है। अन्यतमत्व "**भेदत्रयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्व**" रूप होने से गुरु भूत होता है इसलिए विकल्प से दीधितिकार[3] ने लक्षण किया है 'प्रतिज्ञादि घटकन होते जो अवयवों के घटक भागद्वय से अघटित हो—जैसे पर्वतो वह्निमान् यह वाक्य उक्त प्रतिज्ञ घटक नहीं है तथा प्रतिज्ञा और हेतु दोनों के घटक भागद्वय पर्वतोवह्निमान् और धूमात् इन दोनों से अघटित है अतः वह न्याय का अवयव है इसी प्रकार "**धूमात्**" आदि भी न्यायावयय हैं।

इस लक्षण में न्याय वाह्य वाक्य के निषेध के लिए न्यायान्तर्गत विशेषण आवश्यक है। यह गदाधर का मत है। प्रतिज्ञा के एक भाग "**पर्वतः**" के निवारण के लिए "**प्रतिज्ञाद्य घटकत्व**" का निवेश किया है। "**पर्वतो अग्निमान् धूमात्**" इस वाक्य में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए उभय घटक भागद्वय से अघटित कहा गया है। "**पर्वतो अग्मिान् धूमात्**" यह वाक्य प्रतिज्ञा और हेतु घटक दोनों से घटित है। इसलिए ये दोनों मिलकर कोई अवयव नहीं है।

---

१. त० चि० दी० अव० प्र० अव० ल०।

२. त० चि० दी० अव० प्र० अव० ल०।

३. वही।

गदाधर[1] ने उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा है प्रतिज्ञादि घटकता का अनवच्छेदक होते हुए उभय घटक भाग द्वय में अविद्यमान जो धर्म उस धर्म से युक्त अवयव कहलाता है। उभय पद से विशेष रूप से प्रतिज्ञा हेतु-हेतु उदाहरण-उदाहरण-उपनय और उपनय निगमन इत्यादि भिन्न-भिन्न युगलों का ग्रहण करना है। आचार्य जगदीश ने भी इसी लक्षण का समर्थन किया है। न्यायबोधिनीकार ने "**प्रतिज्ञा द्यन्यतमत्व**" को न्याय का लक्षण बतलाया है। इसीका अन्य टीकाकारों ने भी समर्थन किया है।

रघुनाथ मत

दीधितिकार ने प्रतिज्ञा से उत्पन्न बोधों का विशेष रूप से निवेश करके वाक्यों का अनुगत अन्यतमत्व धर्म से संग्रह किया है। जब कि कुछ लोग प्रतिज्ञाजन्य बोधों का ही अन्यतमत्व रूप से प्रतिपादन करते हैं उनके मत के अनुसार प्रतिवादि प्रतिपाद्य उन विशिष्ट अर्थों के पांच ज्ञान में से अन्यतम ज्ञान का जनक वाक्य अवयव कहलाता है। गदाधर के विचार से इस लक्षण में भी प्रतिज्ञा घटक पर्वतादि भाग में अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए प्रतिज्ञा घटकत्व का निवेश करना आवश्यक है तो गुरूभूत उक्त निवेश करने की अपेक्षा पूर्वोक्त उभयघटक भागद्वयाघटितत्व का निवेश ही उचित है।

प्रतिज्ञा

महर्षि गौतम के प्रतिज्ञा लक्षण की आलोचना करते हुए आचार्य गङ्गेश[2] लिखते हैं कि साध्य निर्देश प्रतिज्ञा का लक्षण नहीं हो सकता है। साध्यपद में अतिव्याप्ति होती है। अतः उद्दिष्ठ अनुमिति के लिए कारणीभूत लिङ्ग परामर्श प्रयोजक वाक्यार्थज्ञान का जनक होते हुए उसी उद्दिष्ट अनुमिति का अन्यून और अनतिरिक्त विषय वाले शाब्दबोध का जनक वाक्य प्रतिज्ञा कहलाता है। जैसे—पर्वत अग्निमान् है यह वाक्य "**पर्वतोऽग्निमान्**" इस अनुमति के प्रयोजक "**वह्नि-व्याप्य धूमवान् पर्वतः**" इस परामर्श के प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान का जनक होते हुए उसी अनुमिति के समान विषय वाले पर्वतोऽग्निमान् इस शाब्दबोध का जनक भी है। अतः वह उस अनुमिति के लिए प्रतिज्ञा है।

---

१. गादा० अव० प्र० अव० ल०।

२. त० चि० दी० अव० प्र० अव० ल०।

३. तत्र न प्रतिज्ञा साध्य निर्देश :—साध्यपदेऽतिव्याप्तेः किन्तूद्देश्यानुमितिहेतुलिङ्ग परामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वे सत्युद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयक-शाब्दज्ञानजनकं वाक्यम्—गा० अवयव० प्र० प्रति० ल०।

गङ्गेशमत

सूत्रकार गौतम के प्रतिज्ञा लक्षण का खण्डन चिन्तामणिकार[1] ने साध्य पद का अर्थ विधेय समझ कर किया है। किन्तु दीधितिकार[2] के अनुसार साध्य पद विधेय धर्म से युक्त धर्मी का वाचक है, इसी अभिप्राय से दीधितिकार ने पक्षतावच्छेदकपर्वतत्व से युक्त में साध्यतावच्छेदकवह्नित्व से युक्त वह्नि सम्बन्ध के ज्ञान जनक न्यायावयव को प्रतिज्ञा कहा है। विधेय धर्म से युक्त धर्मी के निर्देश को प्रतिज्ञा कहने पर भी उदाहरण और उपनय में दोष होता है। उदाहरण महानस आदि भी विशिष्ट धर्मी है। तथा उपनय में प्रकाशित होने वाला पर्वत भी धर्मी है। किन्तु उदाहरण में पक्षतावच्छेदक से युक्त पक्ष में साध्य का ज्ञान नहीं होता है तथा उपनय में पक्ष में साध्यतावच्छेदक से युक्त साध्य का ज्ञान नहीं होता है। प्रतिज्ञा के समान न्याय से बहिर्भूत वाक्य को प्रतिज्ञा की आपत्ति वारण के लिए न्यायावयव कहना भी आवश्यक है।

गदाधर[3] का कथन है कि दीधितिकार का उपर्युक्त लक्षण पर्याप्त नहीं है। निगमन में भी पक्षतावच्छेदक से युक्त पक्ष में साध्यतच्छेदक से युक्त साध्य का ज्ञान होता है इसलिए किसी धर्म से युक्त में शुद्ध साध्यतावच्छेदक से युक्त साध्य के सम्बन्ध के बोधक वाक्य को प्रतिज्ञा कहना होगा, निगमन में पक्ष में शुद्ध साध्य का ज्ञान नहीं होता है अपितु हेतु ज्ञान से ज्ञाप्य साध्य की प्रतीति होती है। वैसे देखा जाये तो उदाहरण में भी हेतु व्यापक साध्य की प्रतीति पक्ष में होती है। इसलिए उदाहरण में भी दोष हो सकता है। किन्तु प्राचीनों के मत में शुद्ध वह्नि की ही प्रतीति सकल हेत्वधिकरणों में होती है, इसलिए उदाहरण में दोष नहीं है।

न्याय-बहिर्भूत वाक्य के वारण के लिए गंगेश ने **"उद्देश्यानुमिति हेतु"** इत्यादि विशेषण लक्षण में निविष्ट किया है। अन्यून पद लक्षण में **"धूमात् आलोकवान् पर्वतो वन्हिमान् धूमात्"** यहाँ पर **"धूमात्"** इस हेतु वाक्य में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए दिया है। **"धूमात्"** उपर्युक्त अनुमिति से न्यून विषयक शाब्द बोध का जनक होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी निगमन उद्देश्यानुमिति के अन्यून विषयक शाब्दबोध का जनक होने वाली अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए **"अनतिरिक्त"** विषय कहा है। निगमन में धूमज्ञान ज्ञाप्यता अधिक ज्ञात होने से वह अनतिरिक्त विषयक शाब्द बोध का जनक नहीं है।

---

१. त० चि० अव० प्र० प्रति० ल०।

२. त० चि० दी० अव० प्र० प्रति० ल०।

३. गा० दा० अव० प्र० प्रति० ल०।

यद्यपि "**तस्मात् तथा**" इतना ही निगमन का आकार होने से उसमें पक्ष का ज्ञान होता ही नहीं तथापि उपनय के अयं पद को लेकर न्यूनता का परिहार करने के लिए अयं पद घटित ही निगमन वाक्य का प्रयोग किया जाता है।[1] निगमन वाक्य अबाधितत्व अथवा उसके ज्ञान में उपयोगी विशिष्ट हेतु सम्बन्ध का बोधक होने से अन्यून और अनतिरिक्त विषय वाले बोध का जनक नहीं है। अनुमिति का शब्द आकार होता है पर्वतो अग्निमान्। जबकि निगमन का आकार है "**धूमज्ञान ज्ञाप्य-बह्निमान् पर्वत है**" इसलिए निगमन अनुमिति से अधिक विषय वाला है।[2]

यद्यपि निगमन में मणिकारोक्त परामर्श प्रयोजकत्व नहीं है परन्तु दधितिकार के अनुसार "**सत्यन्त**" विशेषण न्यायावयवार्थ को व्यक्त करने वाला होने से न्यायाववार्थ में पर्यवसित होने वाला परामर्श प्रयोजक शाब्दज्ञानजनकत्व उसमें होने से भी अन्यूनानतिरिक्त विषयक ज्ञानजनकत्व न होने से अतिव्याप्ति नहीं होती है।

किसी के इस कथन का कि "**पृथ्वी इतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वात्**" इस स्थल में जो पृथ्वीतरो से भिन्न नहीं है, वह पृथ्वी नहीं है इस उदाहरण में अतिव्याप्ति के वारण के लिए अनतिरिक्त पद दिया है" दीधितिकार[3] ने विरोध किया है उदाहरण के द्वारा पृथिवी में पृथिवीतरत्वावच्छिन्नाभाव ज्ञात नहीं होता है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वं प्रमेयम् अभियेयं इत्यादि प्रतिज्ञाओं में लक्षण समन्वय कैसे होगा क्योंकि वहां अनुमिति से अतिरिक्त ही अप्रसिद्ध है। इस विषय में दीधितिकार का कथन है कि उक्त स्थल में संशय अप्रसिद्ध होने से उक्त प्रतिज्ञा ही नहीं है यदि उसे भी प्रतिज्ञा मानना अनिवार्य हो तो अनुमिति इत्यादि का अर्थ अनुमिति विषयता से विलक्षण विषयता शून्यत्व अथवा प्रकृत हेतुक प्रकृत साध्य सिद्धि के लिए उपयोगी व्याप्ति विषयकत्व का अभाव रूप अनतिरिक्त विषयकत्व समझना चाहिए।

परन्तु मैत्रः पचति अयं गौः इत्यादि स्थलीय प्रतिज्ञाओं का संग्रह करने के लिए तथा बह्निमान् इस अनुमिति तथा इसी प्रकार के शाब्दबोध में रहने वाले सूक्ष्म भेद का विचार करके दीधितिकार[4] ने निकृष्ट लक्षण इस प्रकार से उपस्थित किया है—जिस प्रकार के पक्ष और साध्य वाले पक्ष में जिस प्रकार से विशिष्ट अर्थ का

---

१. गादा० अव० प्र० प्रति० ल०।

२. त० चि० दी० अव० प्र० प्रति० ल०।

३. —वही—

४. त० चि० दी० अव० प्र० प्रति० ल०।

बोध करने वाली प्रतिज्ञायें सम्प्रदाय सम्मत है उनमें से किसी भी अनिवर्त्य संशय के अनिवर्तक जो बोध हों उनमें से किसी भी बोध का जनक वाक्य प्रतिज्ञा कहलाता है। तात्पर्य कि वह्निमान् इस अनुमिति में संयोग सम्बन्ध से पर्वत में वह्नि का ज्ञान होता है। किन्तु पर्वतो वह्निमान् इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान में वह्निमान् का अभेद ज्ञात होता है। नामार्थ का दूसरे नामार्थ के साथ भेद सम्बन्ध से अन्वय नियम विरुद्ध है अतः उपर्युक्त प्रतिज्ञा जन्य बोध में अनुमिति का अन्यून-विषयत्व और अनतिरिक्त-विषयकत्व सम्भव नहीं है। इसी प्रकार "**पृथ्वी-तरेभ्यो भिद्यते-गन्धवत्वात्**" यहाँ भी अनुमिति तथा शाब्दबोध का आकार भिन्न-भिन्न होने से "**अन्यून-विषयकत्व**" और "**अनतिरिक्त-विषयकत्व**" घटित प्रतिज्ञा लक्षण घटित नहीं होता इसलिए दीधितिकार ने उपर्युक्त लक्षण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से 'गौः' को साध्य करने पर गौ के भेद का, वह्निमान् यहां वह्निमान् के अभेद का बोध तथा अन्यत्र भी उसी प्रकार के प्रतिज्ञाजन्यबोध का ग्रहण करना चाहिए।

"**अन्यूनानरिक्तविषयकत्व**" को हटाकर "**लिङ्गाविषयकत्व**" को ज्ञान का विशेषण बनाने पर भी उदाहरणादि का निराकरण होता है। अन्य भी कई प्रतिज्ञा लक्षण हो सकते हैं जैसे "**हेत्वभिधान-प्रयोजक-जिज्ञासा जनकवाक्यत्वं "लिङ्गात्रिषयक ज्ञानजनकन्यायावयव वाक्यत्वं, स्वाघटकपदसाकांक्षपदघटितत्वे सति स्व घटकपद-प्रागवर्तियवघटकास्वार्थे मुख्यविशेष्यताशालिबोधजनकत्वे सति न्यायावयवत्वम्**" इत्यादि।[1]

प्रतिज्ञा का प्रयोजन :

"प्रतिज्ञा साधनाङ्ग नहीं है इस मत का निराकरण गङ्गेश[2] ने किया है। साध्य निर्देश के बिना हेतुवाक्य निष्प्रतियोगिक अन्वय बोध कराने में समर्थ नहीं है। हेतु वाक्य में अनुपस्थिति भी योग्यता के आधार पर अन्वित होता है यह नहीं कह सकते अन्यथा अनुपस्थित मात्र का अन्वय होने लग जाएगा। विप्रतिपत्ति से भी साध्य की उपस्थित नहीं हो सकती है, क्योंकि विप्रतिपत्ति का प्रतिवादी विप्रतिपत्ति से अथवा प्रमाण मात्र के उपस्थापन से विनाश हो जाता है। परविप्रतिपत्ति और समयबन्ध के बिना किसी वस्तु की स्थापना नहीं हो सकती है। दूसनी बात यह है कि विप्रतिपत्ति वाक्य पक्ष का प्रतिपादन में पर्यवसित हो जाने से यह निराकांक्ष हो जाता है उस हेतु वाक्य में आकांक्षः नहीं रहती है। उसी की आवृत्ति करने पर उसे ही प्रतिज्ञा कहा जा सकता है।

---

१. त० वि० अव० प्र० प्रति० ल०।

२. वही

किसी अन्य अवयव से भी हेत्वन्वय योग्य साध्य की उपस्थिति सम्भव नहीं है। अत: हेत्यन्वय योग्य साध्योपस्थिति के लिए अनुमान प्रक्रिया में प्रतिज्ञा का होना आवश्यक है। क्योंकि पक्ष में विशेषणीभूत साध्य ही हेतु के अन्वय का सामर्थ्य रखता है।

उपनय के द्वारा प्रतीत स्वार्थ की अनुपपत्ति से साध्यवान् पद का अनुमान होता है, यह कथन भी योग्य नहीं है। साध्य में हेत्वर्थ का अन्वय होने पर उदाहरण के पश्चात् साध्य व्याप्यवान् कौन है ? यह उपनय विषयक अकांक्षा होने पर उपनय का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उपनय से साध्याभिधान और साध्याभिधान से उपनय यह अन्यान्याश्रय दोष होगा।[1] इसलिए उपनय से प्रतीत स्वार्थों की अनुपपत्ति से आक्षेप नहीं होता। तात्पर्य कि पक्ष में साध्य ज्ञान के बिना भी साध्य-व्याप्य का ज्ञान पक्ष में सम्भव है।

निबन्धकार का मत है कि शब्द की अनित्यता में प्रमाण कहो यह मध्यस्थ का प्रश्न है। यह प्रमाण मात्र में प्रश्न नहीं है अपितु शब्द को अनित्यत्व के ग्राहक विषय में प्रश्न है। विशिष्ट का कथन विशेषण साध्य के कथन के बिना सम्भव नहीं है। वस्तुत: जो साध्य है उसके विषय में प्रमाण कहो यह मध्यस्थ का प्रश्न नहीं हो सकता क्योंकि विवाद में वस्तुत: जो साध्य है उसके विषय में प्रश्न सम्भव नहीं है। इसलिए साध्य के कथन के बिना न हेतु की आकांक्षा और न उसकी अन्वयबोधकता ही सम्भव है। अत: प्रतिज्ञा भी साधन का अङ्ग है।

पदकृत्य आदि में **साध्यधर्म-विशिष्ट-धर्मी**[2] परक पत्र प्रतिपादक वचन को ही प्रतिज्ञा कहा है।

हेतु "वाक्य"

पक्ष में साध्य के निर्देश के पश्चात् स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कैसे ? इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हेतु की अभिव्यंजक विभक्ति वाले हेतु वचन का प्रयोग किया जाता है। बिना जिज्ञासा के किसी वस्तु का प्रतिपादन करने पर वक्ता निग्रहीत होता है, लोक में इसी प्रकार से आकांक्षा की निवृत्ति देखी जाती है इसलिए प्रतिज्ञा के पश्चात् परार्थानुमान की प्रक्रिया में हेतुवाक्य का प्रयोग किया जाता है।

---

१. त० चि० अव० प्र० प्रति० ल०।

२. त० सं० पद० अनु० परि०।

गङ्गेश मत :

चिन्तामणिकार गङ्गेश[1] ने हेतु के कई लक्षण प्रस्तुत किए हैं। उनमें पहला है "अनुमिति के लिए कारणीभूतलिङ्ग परामर्श का प्रयोजक जो शब्दज्ञान उस शब्द-ज्ञान का जनक जो साध्य विषय न होने वाली शाब्दबुद्धि उसका कारण हेतु विभक्ति युक्त शब्द हेतुवचन कहलाता है। जैसे "पर्वतो अग्निमान्" में "धूमात्" यह वचन।

आचार्य गङ्गेश[2] का दूसरा हेतु लक्षण है "प्रतिज्ञा वाक्य ज्ञान से उत्पन्न कारण की आकांक्षा का निवर्तक ज्ञान का जनक हेतु विभक्ति वाला वाक्य। "पर्वतो अग्निमान्" कहते पर कैसे ? यह कारण के सम्बन्ध में आकांक्षा उत्पन्न होती है। उसका निवर्तक ज्ञान हेतु का ज्ञान है उसका जनक वाक्य धूमात् यह हेतु वाक्य है। इसी प्रकार आचार्य गङ्गेश का तृतीय हेतु लक्षण है, पञ्चमी विभक्ति जिसके अन्त में है ऐसा लाक्षणिक पद वाला अनुमिति सम्बन्धी वाक्य। "धूमात्" यह पञ्चमी विभक्ति अन्त में रहने वाला अनुमिति में उपयोगी लाक्षणिक पद है। हेतु पद की हेतु-ज्ञान में लक्षणा की जाती है। लिङ्ग साक्षात् हेतु न होने से उसमें हेत विभक्ति के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकेगा।

आचार्य गङ्गेश[3] के अन्य लक्षण भी हैं जैसे—हेतुत्वप्रतिपादक विभक्ति युक्त न्यायावयव, उदाहरण की प्रयोजक आकांक्षा का जनक शाब्दज्ञान को उत्पन्न करने वाला न्यायावयव, तथा साध्य जिसका विषय नहीं है। ऐसे ज्ञान का जनक हेतु पञ्चम्यन्त अनुमिति सम्बन्धी शब्द।

रघुनाथ मत :

दीधितिकार ने इन्हीं लक्षणों की व्याख्या करते हुए बिना किसी संङ्कोच के इन्हीं का समर्थन किया है। किन्तु "धूमात् वह्निमतः सधर्मा पर्वतो वह्निमान्" इस

---

१. हेतुत्वं च अनुमितिकारणी भूतलिङ्गपरामर्श प्रयोजक शाब्दज्ञानजनकसाध्या-विषयक शाब्दधीजनक हेतुविभक्ति मच्छब्दत्वम्।

त० चि० अव० प्र० हेतु० ल०।

२. प्रतिज्ञावाक्यधीजन्य कारणाकांक्षा निर्वतकज्ञानजनकहेतुमद्विभक्तिमद्वाक्यत्वं वा। वही।

३. हेतुत्वप्रतिपादक विभक्ति मन्न्यायावयवत्वं वा, उदाहरण प्रयोजकाकांक्षा जनकशाब्दज्ञानजनकन्यायावयवत्वं वा, साध्याविषयकज्ञानजनकहेतु पञ्चम्यन्तानुमिति यद्शब्दत्वं वा। गादा० अव० प्र० हेतु ल०।

निगमन में अति व्याप्ति के निवारण के लिए दीधितिकार[1] ने स्वमत के अनुसार लक्षण उपस्थित किया है। प्रकृत पक्ष में स्वार्थ बोधक पदार्थ द्वारा उपस्थापित जो प्रकृत साध्य, उस साध्य से अन्वित स्वार्थ की बोधिका जो पञ्चमी विभक्ति, वह जिसके अन्त में है ऐसा लाक्षणिक पद रूप अवयव हेतु कहलाता है। आचार्य जगदीश गदाधर आदि टीकाकारों ने अपने स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत न करके चिन्तामणिकार और दीधितिकार के ही लक्षणों का व्याख्यान एवं समर्थन किया है।

महादेव मत :

न्याय कौस्तुभकार[2] ने **स्वार्थ विशिष्ट वैशिष्ट्यबोधजनकन्यायावयव** को हेतु—अवयव कहा है। "धूमात्" यह वाक्य पर्वतो वह्निमान् इस प्रतिज्ञा के साथ मिलकर "**धूमज्ञानज्ञाप्यवह्निमान् पर्वतः**" इस स्वार्थविशिष्ट-वैशिष्ट्यबोध का जनक होने से उसमें लक्षण समन्वित होता है।

अन्नम्भट्ट की टीका पदकृत्य[3] में पञ्चम्यन्त या तृतीयान्त लिङ्ग वचन को हेतु कहा है। चिन्तामणिकार तथा उनके टीकाकार रघुनाथ ने तृतीयान्त शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है।

हेतुवाक्य के भेद :

गङ्गेश मत :

आचार्य गङ्गेश ने हेतु के तीन भेद अन्वयिहेतु, व्यतिरेकिहेतु और अन्वय व्यतिरेकि-हेतु के रूप में उपस्थित किये हैं। "अन्वयव्याप्ति को बतलाने वाले अवयव को बतलाने वाले अवयव के अभिधान का प्रयोजक जो ज्ञान, उसका जनक हेतुत्व की प्रतिपादक विभक्ति वाला न्यायावयव अन्वयि हेतु है।[4] अन्वयव्याप्ति को बतलाने वाला अवयव है

---

१. न च धूमाद्वह्निमतः सधर्म्मा पर्वतो वह्निमानित्यादौ प्रतिज्ञायां पर्वतो धूमाद्वह्निमानित्यादौ च तत्रत्यनिगमने चातिव्याप्तिः प्रकृतसाध्यान्वितस्वार्थ-बोधकपदोपस्थापितप्रकृतसाध्यान्वितस्वार्थबोधक पञ्चम्यन्तलाक्षणिक पदवद-वयवत्वस्य विवक्षितत्वात्—वही।

२. हेतुत्वं च स्वार्थविशिष्टवैशिट्यबोधजनकन्यायावयत्वम्—
न्या० कौ० पृ० २५७.

३. पञ्चम्यन्तं तृतीयान्तं वा लिङ्ग वचनं हेतुः। त० स० पद० अनु० परि०।

४. अन्वय व्याप्त्याभिधायकावयवाभिधायकावयवाभिधानप्रयोजक ज्ञानजनक-हेतुत्वप्रतिपादकविभक्तिमन्यावयवत्वमन्वयिहेतुत्वम्।
त० चि० अव० प्र० हेतु० ल०।

अन्वयी उदाहरण उसका अभिधायक हुआ हेतु अवयव उसके अभिधान "**कथन**" का प्रयोजनक ज्ञान है, हेतुज्ञान, उसका जनक और हेतुत्व का प्रतिपादन करने वाली विभक्ति पञ्चमी विभक्ति, उसका आश्रय वाक्य है। "**धूमात्**" यह वाक्य अत: यह अन्वयी हेतु वाक्य है। इसी में व्यतिरेक व्याप्ति के अभिधायक के स्थान में व्यतिरेक व्याप्ति का अभिधायक यह पद रखने पर वह व्यतिरेकी हेतु का लक्षण होगा। इसका उदाहरण है—पृथ्वी तरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्।

अन्वय और व्यतिरेक उदाहरण की आकाङ्क्षा का प्रयोजक हेतु-अवयव अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहलाता है।[1] विकल्प से भी अन्वय व्यतिरेकी आदि हेतुओं का लक्षण गङ्गेश[2] ने प्रस्तुत किये हैं जैसे पक्ष तथा सपक्ष वाला तथा विपक्ष में न रहने वाला हेतु वचन अन्वय व्यतिरेकी है। उसी प्रकार अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगि साध्य के अधिकरण में रहने वाले तथा पक्ष और सपक्ष में रहने वाले हेतु का वचन केवलान्वयी कहलाता है। तथैव अनुमिति के लिए कारण परामर्श के प्रयोजक शाब्दज्ञान का कारण साध्य जिसका विषय नहीं है उस शाब्दज्ञान का जनक ज्ञात अन्वय साध्य साधनवाचक हेतु विभक्ति वाला शब्द अन्वय हेतु वचन होता है। इसी में अज्ञात अन्वय साध्य साधन यह विशेषण लगाने पर व्यतिरेकी हेतु का लक्षण बनता है। दीधितिकार ने हेतुभेदों का उल्लेख अवयव प्रकरण में नहीं किया है। अप्रतिषिद्ध होने से ये भेद उन्हें भी मान्य ही हैं। आचार्य गदाधर जगदीश आदि ने तत्त्व-चिन्तामणि तथा दीधित का ही समर्थन तथा व्याख्यान किया है।

उदाहरण :

परार्थानुमान की प्रक्रिया में तीसरा स्थान उदाहरण का है। हेतु का उच्चारण करने के पश्चात् उसके विषय में यह आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है कि यह हेतु किस प्रकार से साध्य का बोधक होता है। इस आकाङ्क्षा के निवारण के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता का हेतु में प्रदर्शन आवश्यक हो जाता है। अत: व्याप्ति के प्रदर्शन के लिए हेतु के पश्चात् तुरन्त उदाहरण का प्रयोग किया जाता है।

गङ्गेश मत :

"अनुमिति के कारण लिङ्ग परामर्श के प्रतिपादक वाक्य से उत्पन्न ज्ञान का जनक जो व्याप्य के रूप में अभिमत के सम्बन्ध-बोध का जनक 'शब्द' उदाहरण कहलाता है।[3] जैसे—**यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः** यह वाक्य अनु-

---

१. तत्त्व० चि० अ० प्र० हे० ल०।

२. वही।

३. त० चि० अ० प्र० उदाहरण लक्षणम्।

मिति के कारण परामर्श ज्ञान का जनक है तथा व्याप्य के रूप में अभिमत धूम में व्यापक के रूप में अभिमत साध्य के सम्बन्ध "व्याप्ति" बोध का जनक भी है। अतः यह उदाहरण कहलाता है।

आचार्य गङ्गेश[1] ने "न्यायावयव-दृष्टान्त-वचन" को उदाहरण कहने वालों के मत का खण्डन किया है। दृष्टान्त "महानस" प्रयोग सामयिक होता है। सर्वत्र उसका होना आवश्यक नहीं है। "यो यो धूमवान् सोऽग्निमान्" कहने मात्र से ही व्याप्ति की प्रतीति होती है उसके लिए महनस दृष्टान्त का उच्चारण करना कोई विशेष नहीं है।

उसी प्रकार "प्रकृत अनुमिति के लिए हेतु लिङ्ग-परामर्श बोधक वाक्य से उत्पन्न ज्ञान की विषय व्याप्ति का प्रदर्शक वचन" भी उदाहरण का लक्षण समीचीन नहीं है। व्याप्ति का प्रदर्शन उपनय वाक्य से भी होता है। इसीलिए उपनय के अभिधान "कथन" की प्रयोजक जिज्ञासा का जनक वाक्य उदाहरण कहलाता है।

रघुनाथ मत:

दीधितिकार[2] ने गङ्गेश की अपेक्षा लघु लक्षण प्रतिज्ञा हेतु के समान ही उदाहरण को भी उपस्थित किया है। इतर से अनिवृत्त स्वार्थ का अवोधक न्यायावयव उदाहरण है। उदाहरण "यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यह किसी दूसरे पदार्थ से अन्वित स्वार्थ" व्याप्ति का बोधक नहीं होता है। वह स्वतन्त्र रूप से व्याप्ति का बोधक है।

दीधितिकार[3] का ही दूसरा लक्षण है स्वघटक पदों से इतर पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थ में विशेषण के रूप में भासित होने वाले स्वार्थ बोध का जनक न्यायावयव। इतर पद हेतु पद उससे उपस्थिति हेतु से विशेषण के रूप में व्याप्ति भासित होती है। उदाहरण उस व्याप्ति को व्यक्त करता है।

उदाहरण के भेद:

व्याप्ति के दो भेदों—अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर उदाहरण के दो भेद होते हैं। प्राचीन नैयायिकों ने भी उदाहरण के भेद साधर्म्य और वैधर्म्य उदाहरण के रूप में प्रतिपादित किये है। साध्य साधन के सम्बन्ध बोध का जनक

---

१. त० चि० अ० प्र० उदाहरण लक्षणम्।
२. त० चि० दी० अ० प्र० उदाहरण लक्षणम्।
३. इतरोपस्थापितार्थ विशेषणक स्वार्थबोधजनक न्यायावयवत्वम्।
त० चि० दी० अव० प्र०।

तथा साध्य साधनाभाव सम्बन्ध बोध जनक इन्हें ही अन्वय उदाहरण और व्यतिरेक उदाहरण कहा जा सकता है। इसे दीधितिकार[1] ने स्पष्ट किया है। अन्वय-व्याप्ति-बोधकत्व अन्वय उदाहरण का तथा व्यतिरेक-व्याप्ति-बोधकत्व व्यतिरेक उदाहरण का लक्षण है।

वीप्सा :

उदाहरण वाक्य में यत् पद तथा तत्पद की जो द्विरुक्ति होती है उसे वीप्सा कहते हैं। प्रश्न—क्या उदाहरण में वीप्सा आवश्यक है? यदि आवश्यक है तो उसका क्या फल है? कुछ लोग कहते हैं कि व्यभिचार की आशङ्का का निरसन ही उसका फल है। द्विरुक्त यत् पद के साथ प्रयुक्त द्विरुक्त तत्पद से सभी धूम के आश्रयों की उपस्थिति होने से उनमें वह्नि का बोध होने पर सभी हेतु के आश्रय साध्यों का बोध हो जाता है। वह निश्चय, साधन के आश्रय में साध्याभाववत्त्व रूप व्यभिचार निश्चय ग्रह का विरोध करता है। उससे व्यभिचार ज्ञान से रहित उदाहरण से उत्पन्न सहचार के ज्ञान से मानस व्याप्ति ग्रह होता है।

जहां केवल साध्य सामानाधिकरण्य से ही व्याप्ति बोध होता है वहां वीप्सा का प्रयोग अनावश्यक है जैसे **"इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्"** एवं **"अयं एतदभिन्नः एतदवृत्ति यावद् धर्मत्वात्"** यहां पर केवल साध्य समानाधिकरण्य ज्ञान से ही मानस व्याप्ति बोध होता है। प्रथम में साध्याभाव अप्रसिद्ध है तो द्वितीय उदाहरण में साध्याभाव के आश्रय में हेतु का ग्रहण न होने से व्यभिचार का ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता। वहां उक्त प्रयोजन से द्विरुक्ति की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। इसी लिए उभय सिद्ध व्याप्तिक अनुमान में उदाहरण प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

आचार्य गङ्गेश का मत है कि वीप्सा के प्रयोग से व्यभिचार का निवारण नहीं होता है। इसलिए वीप्सा का प्रयोग व्यर्थ है। क्योंकि एक ही यत्पद से अनेक रूप से या नानारूप से सकल धूमाधिकरणों की उपस्थिति के लिए वीप्सा को आवश्यक ही मानें तो यत्पद की वीप्सा करनी चाहिए तत्पद की नहीं।

गदाधर मत :

गदाधर[2] के अनुसार व्याप्ति विषयक शाब्दबोध के लिए यदि उदाहरण का प्रयोग है तो उपनय के समान ही उदाहरण में भी व्याप्यपद से व्याप्ति का प्रतिपादन

---

१. इतरोपस्थापितार्थविशेषणकस्वार्थबोधजनकन्यायववयन्वम्
त० चि० दी० अव० प्र०।

२. गादा० अव० प्र० उदा० लक्षणम्।

हो सकता है ; इसलिए सकल धूम के आश्रय में साध्य के बोध के लिए "यो यो धूमवान्" इस उदाहरण का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार तत्पद का सकल करण का बोधक होना आवश्यक होने से निरुक्त यत्पद को सकल धूमाधिकरणवाचकता निश्चित होने से उसके ज्ञान के लिए वीप्सा का प्रयोग यत्पद में आवश्यक है।

दीधितिकार[1] के अनुयायियों का अनुमत मथन है कि वादि-वाक्य में स्वारसिक लक्षणा नहीं होती इसलिए जहां एक यत्पद है, वहां व्याप्ति का बोध नहीं होता है। किन्तु जहां यत्पद की द्विरुक्ति होती है वहां व्याप्ति का बोध होता है। वहां धूम पद की व्याप्ति में अथवा तत् पद की धूम-व्यापक-वह्नि में निरूढ़-लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। अनादितात्पर्य वाली लक्षणा को निरूढ लक्षणा कहा जाता है। लक्षणा में अनादि तात्पर्यवत्व के निर्वाह के लिए वीप्सा का प्रयोग उदाहरण वाक्य में आवश्यक है। अपि च "नित्यवीप्सयोः" इस सूत्र में नित्य ही द्विवचन का विधान होने से एक यत्पद को सकल धूमाधिकरणों के लिए प्रयुक्त करने पर प्रयोग का असाधुत्व प्राप्त होगा, इसलिए द्विवचन का प्रयोग आवश्यक है। इस प्रकार वीप्सा का प्रयोग उदाहरण में आवश्यक ही है। तत्पद की वीप्सा इसलिए आवश्यक नहीं है कि एक ही तत्पद से विरूपोपस्थित दो का ग्रहण हो सकता है जैसे कहा गया है।

यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे ।

उपनयः

उदाहरण के पश्चात् नैयायिक उपनय का प्रयोग परार्थानुमान की प्रक्रिया में आवश्यक मानते हैं। उदाहरण से हेतु में साध्य की व्याप्ति ज्ञात होती है। किन्तु व्याप्त हेतु पक्ष में है या नहीं इस आकाँक्षा के समाधान के लिए व्याप्य हेतु का पक्ष में अस्तित्व प्रदर्शन के लिए उपनय का प्रयोग आवश्यक होता है। धूम में अग्नि की व्याप्ति ज्ञात होने पर भी जब तक व्याप्त धूम का पक्ष में अनुभव नहीं होता है तबतक अनुमिति उत्पन्न नहीं होती है।

जो लोग यह कहते हैं कि परार्थानुमान के लिए प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण ये तीन ही अवयव पर्याप्त हैं। उनका मत उचित नहीं है। परामर्श अर्थात् व्याप्ति-विशिष्ट-वैशिष्ट्य विषयकज्ञान की सार्थकता को सिद्ध किया गया है, उसका ज्ञान उपनय से भिन्न किसी भी अवयव से सम्भव नहीं है। उपनय को न मानने पर पक्ष-धर्मता का ज्ञान नहीं होता। हेतु वचन से ही पक्ष धर्मता का ज्ञान नहीं हो सकता है। कौन हेतु है ? यह जिज्ञासा उत्पन्न होने पर हेतु वचन का प्रयोग किया जाता है जो

---

१. न्या० कौ० न्या० विचार सं० वि० वि० १९६७. पृ० २६५।

कि केवल हेतु के स्वरूप को उपस्थित करता है। पक्ष में उसके अस्तित्व को नहीं। वादी के वाक्य से भी पक्षधर्मता का आक्षेप सम्भव नहीं है। वादी का वाक्यार्थ असिद्ध होने से वह आक्षेपक नहीं हो सकता है। अन्यथा प्रतिज्ञा वाक्यमात्र से ही सभी आवश्यक तत्वों का आक्षेप हो जाने पर अन्य अवयवों की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। अतः पक्षधर्मता का प्रतिपादन करने के लिए उपनय का प्रयोग आवश्यक है।

गङ्गेश मत :

आचार्य गङ्गेश[1] के अनुसार "अनुमिति के लिए कारण तृतीय लिङ्ग परामर्श जनक न्यायावयव उपनय कहलाता है। जैसे—**पार्वतो वह्निमान्**" इस अनुमिति के लिए कारण तृतीय लिङ्ग परामर्श है, **वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः** उसका जनक वाक्य "**तथा चायं**" यह वाक्य होने से यह उपनय है।

रघुनाथ मत :

दीधितिकार[2] के अनुसार "स्वार्थ विशेष्यक इतरार्थ के अन्वयबोध का जनक न्यायावयव उपनय है। जैसे स्वार्थ अर्थात् पक्ष विशेषक इतरार्थ अर्थात् निगमनार्थ साध्य व्याप्यहेतुत्व अन्वय बोध का जनक वाक्य होता है "**साध्य-व्याप्य हेतुमान्पक्षः" तथा चायम्**" इत्यादि। दीधितिकार का लक्षण गङ्गेश के लक्षण से लघु है। लाघव के अतिरिक्त गङ्गेश के लक्षण में किसी अन्य दोष का प्रदर्शन रघुनाथ शिरोमणि ने नहीं किया है।

उपनय के भेद :

उपनय के भी उदाहरणादि के समान दो भेद होते हैं—जिनको अन्वय-उपनय एवं व्यतिरेक-उपनय कह सकते हैं। साध्य व्याप्ति-विशिष्ट-पक्ष बोधक अवयव को अन्वय और साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगिमत्पक्षबोधक अवयवको व्यतिरेकउपनय कहा जा सकता है। इस प्रकार गङ्गेश[3] ने गौतम प्रतिपादित उपनय के दोनों भेदों का समर्थन किया है। इस विषय में गङ्गेश के टीकाकार तथा उपटीकाकार मौन होकर उन्हीं का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि उपनय का तात्पर्य पक्ष धर्मता का प्रतिपादन है तो व्याप्ति के आधार पर उपनय का वर्गीकरण क्यों किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि पक्ष-धर्मता का प्रतिपादन ही उपनय का कार्य है तथापि व्याप्य पक्ष में है या नहीं? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए ही उपनय

---

१. तत्व चि० अव० प्र० उप० लक्षण।
२. तत्त्व चि० दी अ० प्र० उप० लक्षण।
३. तत्त्व चि० अव० प्र० उप० लक्षण।

वाक्य का प्रयोग किया जाता है। इसलिए उपनय में व्याप्ति का प्रयोग आवश्यक है, जब व्याप्ति का प्रयोग करना अनिवार्य है तब व्याप्ति के भेद से उपनय का भेद होना भी अनिवार्य है, इसीलिए गङ्गेश ने निगमन के उपनय के विशेष लक्षणों का प्रदर्शन किया है। अन्नम्भट्ट की टीका पदकृत्य[1] में भी उदाहृत व्याप्ति विशिष्ट त्वेन हेतोः पक्ष-धर्मता-प्रतिपादक वचन को उपनय कहा है। उनके कथन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि व्याप्ति प्रदर्शन का कार्य उदाहरण का है, किन्तु व्याप्य में पक्ष-धर्मता के प्रतिपादन का कार्य उपनय का है केवल पक्ष-धर्मता के प्रतिपादन का नहीं। अतः व्याप्ति विशिष्ट में पक्ष वृत्तित्व को कहना ही उपनय का कार्य है।

निगमन :

उपनय के पश्चात् निगमन का प्रयोग किया जाता है। निगमन एक प्रकार से प्रतिज्ञा का पुनरुच्चारण ही है। इसमें भी पक्ष में साध्य का प्रतिपादन होता है। किन्तु इसमें व्याप्ति विशिष्ट पक्ष का प्रतिपादन होता है, जबकि प्रतिज्ञा में केवल साध्य विशिष्ट पक्ष का कथन होता है। उपनय के प्रतिपादन में "**तस्मात्तथा**" इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। तस्मात् का अर्थ है "**वह्नि व्याप्यधूमवत्त्वात्**"।

निगमन का प्रयोजन

प्रश्न यह है कि व्याप्ति और पक्ष-धर्मता इन दोनों अनुमान के अंगों का प्रतिपादन उक्त चारों अवयवों से हो जाता है तो निगमन की क्या आवश्यकता है। इस विषय में गङ्गेश[2] का समाधान यह है कि अवाधितत्व और असप्रतिपक्षितत्व इन दो हेतु रूपों का प्रतिपादन उक्त चारों अवयवों से नहीं होता है। अतः उनका प्रदर्शन करने के लिए निगमन का अनुमान-प्रक्रिया में समावेश आवश्यक है। कथ्य और कथन का व्याप्ति पक्षधर्मता से युक्त हेतु के प्रतिपादन से पर्यवसान हो जाता है तथा विपरीत आशङ्का की निवृत्ति भी उसी से हो जाती है। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि विशेष दर्शन के बिना विपरीत शंका का निराकरण संभव नहीं है। अपिच व्याप्ति, पक्ष-धर्मता का ज्ञान न रहने पर भी साध्यज्ञान से वाध और सत्प्रतिपक्ष बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती। वाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान न होने पर समाहित का निर्वाह नहीं होता है। अतः उक्त दो रूप के ज्ञान के लिए निगमन का प्रयोग आवश्यक है। अवाधितत्व के ज्ञान को अनुमिति का कारण मानने पर पक्ष में साध्य का अभाव वाध होता है। और उसका अभाव अर्थात् साध्य। तात्पर्य कि पक्ष में साध्य का ज्ञान अनुमिति का कारण है तो सिद्ध-साधन दोष होगा। इसका समाधान तार्किकों ने भिन्न-भिन्न किया है।

---

१. तर्क० सं० पद० अनु० परि०।
२. त० चि० अ० प्र०।

एक समाधान यह है कि अबाधितत्व का ज्ञान अनुमिति में साध्यावभावत्व रूप बाधाभावत्व रूप से है। जबकि सिद्धि साध्यतावच्छेद से नियन्त्रित साध्य-प्रकारता वाले निश्चयत्व रूप से अनुमिति में प्रतिबन्धक है। अतः सिद्ध साधन नहीं है।[1]

दूसरा उत्तर है बाधाभाव का ज्ञान होने पर वाधज्ञान नहीं होता है "वाध-ज्ञान के प्रतिबन्ध के द्वारा अवाधितत्व ज्ञान अनुमिति में उपयोगी होता है। वह अनुमिति का हेतु नहीं है।[2]

कुछ अन्य तार्किकों[3] का उत्तर है कि प्रमा मात्र में गुण कारण होता है अप्रमा में दोष। इस सिद्धान्त के अनुसार अनुमिति रूप प्रमा में गुणान्तर्गत संशय-निश्चय-साधारण अवाधितत्व ज्ञान भी हेतु है। नवीनों का समाधान है कि अनुमिति में बाधित विषय की शङ्का होने पर उसके अप्रामाण्य की शङ्का उपस्थित हाती है, उसका निराकरण करने के लिए अबाधितत्व का ज्ञान आवश्यक है। अन्यथा न्यूनत्व एवं अप्रसिद्धान्त की आपत्ति होने से निग्रहस्थान प्राप्त होता है।

यह मान लेने पर कि अबाधितत्व के ज्ञापन के लिए निगमन का प्रयोग करना चाहिए, एक प्रश्न रह ही जाता है कि अबाधितत्व निगमन समाविष्ट न किसी पद का अर्थ है और न सम्पूर्ण निगमन का, तो उससे कैसे अबाधितत्व का ज्ञापन होता है। इस विषय में तार्किकों का वक्तव्य है, व्याप्ति-विशिष्ट तथा पक्षधर्मता-विशिष्ट हेतु के सम्बन्ध से पक्ष में स्थापित साध्य का पुनः उसी सम्बन्ध से प्रतिपादन करने का क्या प्रयोजन हो सकता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर **"तस्माद् वह्निमान्"** इसके तात्पर्य के रूप में अवाधितत्व ज्ञान ही प्रयोजन के रूप निश्चित होता है उपर्युक्त वाक्य से भी उसका बोध होता है। निगमन घटक साध्य पद की अवाधितत्त्व विशिष्ट में लक्षणा करनी चाहिए। यदि मानसबोध से तात्पर्य का निर्वाह हो तो लक्षणा की कल्पना न्याप्य नहीं है जैसे धूम है "यह वाक्य जो कि वह्नि तात्पर्य से प्रयुक्त होने पर वह्नि का आनुमानिक बोध कराता है उसी प्रकार निगमन वाक्य से अर्थबोध होने पर मासन अवाधितत्व का बोध होता है। इस प्रकार से निगमन वाक्य अवाधितत्व बोध के द्वारा परार्थानुमान प्रक्रिया का आवश्यक अङ्ग बन जाता है।[4]

आचार्य गङ्गेश[5] के अनुसार भी संशय प्रयोजन आदि अवयव नहीं हैं, अवयव

---

१. न्या० कौ० अनु० ख० न्या० वि०—महादेव पुण ताम्बेकर।
२. —वही—
३. —वही—
४. न्या० कौ० अनु० ख० न्या० वि०—महादेव पुणताम्बेर
५. त० चि० अव० प्र०।

का लक्षण उनमें घटित नहीं होता है। किन्तु वे न्यायाङ्ग होने से न्यायान्तर्गत के रूप में उनका उपयोग किया जाता है, इसलिए पञ्चावयवों से अधिक अवयव नहीं हैं।

अनुमान के दोष

हेत्वाभास

अन्य तार्किकों के समान नव्य नैयायिकों ने भी अनुमान के विभिन्न दो स्वीकार किये हैं, जो अनुमिति या उसके कारणों का विरोध करते हैं। नव्य नैयायिकों[1] के अनुसार हेत्वाभास और उदाहरणाभास नामक दो प्रका के दोष प्राय: अनुमिति की उत्पत्ति उसकी यथार्थता के प्रति-द्वन्दी होते हैं, बौद्धों ए जैनों के समान नव्य नयायिकों ने पक्षाभास का विवेचन स्वतन्त्र रूप से नहीं कि है। किन्तु वैशेषिकों के प्रभाव से उदाहरणाभास को स्वीकार किया है। प्राची न्यायसूत्रों तथा भाष्य एवं उसकी टीकाओं में उदाहरणाभास का विवेचन नहीं है।

अनुमान के दोषों में हेत्वाभास का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कारण ि अनुमान का सबसे महत्वपूर्ण आधार हेतु है, और यही कारण है कि हेतु का दो अनुमान का प्रबल शत्रु है।

हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति

हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है **"हेतोसभा हेत्वाभासः"** और **"हेतुवदभासन्ते इति हेत्वाभासाः"** प्रथम व्युत्पत्ति के आधार प हेत्वाभास शब्द हेतु के दोषों को व्यक्त करता है तथा दूसरी व्युत्पत्ति दोषयु हेतुओं को हेत्वाभास शब्द से अभिव्यक्त करती है।

हेत्वाभास की उपयोगिता

गङ्गेश तथा रघुनाथ मत

आचार्य गंगेश[2] के अनुसार हेत्वाभास का ज्ञान तत्त्व निर्णय तथा विजय प्रयोजक है, दीधितिकार[3] भी हेतु के साथ हेत्वाभास के ज्ञान को तत्त्व-निर्णय अ

---

१. त० चि० सा० नि० प्र०।

२. अथ हेत्वाभासास्तत्त्व-निर्णयविजयप्रयोजकत्वान्निरुप्यन्ते।
त० चि० सा० नि० प्र०।

३. अथ हेत्वाभासास्तत्त्व-निर्णय-विजयप्रयोजकत्वान्निरुप्यन्ते।
त० चि० सा० नि० प्र०।

विजय का प्रयोजन मानते हैं। इसीलिए हेतु निरूपण के साथ हेत्वभास निरूपण की "एककार्य कारित्व" रूप सङ्गति दिखलाते हैं। प्रमितकोटि के निश्चय में जिस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु ज्ञान उपयोगी है उसी प्रकार विपरीत कोटि के साधक के विषय में हेत्वाभास का ज्ञान भी उपयोगी है। विपरीत कोटि के साधक के विषय में हेत्वाभास का ज्ञान प्रमित कोटि के विरोधी विपरीत कोटि व्याप्यवान् के ज्ञान में अप्रामाण्य ज्ञान को उत्पन्न करता है। अतः सद्धेतु-ज्ञान और असद्धेतु ज्ञान दोनों तत्त्व निश्चय के उपयोगी होते हैं।[1]

अनुमापक हेतु का व्याप्ति आदि से युक्त होने पर सद्धेतु होने का ज्ञान, साध्यवत्ता ज्ञान की यथार्थता को व्यक्त करता है, उसी प्रकार विपरीत कोटि के साधक हेतु की दोषयुक्तता का ज्ञान भी साध्य वत्ता ज्ञान की यथार्थता को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि वह साध्य के ज्ञान के अप्रामाण्य को व्यक्त करने वाले विपरीत कोटि के साधक हेतु की अदुष्टता का निषेध करता है। इस प्रकार हेत्वाभास का ज्ञान तत्त्व निश्चय का उपयोगी होता है।

हेत्वाभास का ज्ञान जल्पकथा में विजय भी दिलाता है। हेत्वाभास का ज्ञान होने पर प्रतिवादी के हेतु में दोष दिखलाकर उसे पराजित किया जा सकता है और अपने हेतु को हेतुओं के दोष से बचाकर सन्याय का प्रयोग कर के भी प्रतिवादी पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[2]

इससे सिद्ध होता है कि जब तक हेत्वाभास का ज्ञान न हो अनुमिति की प्रक्रिया का पूरा ज्ञान नहीं होता है। अनुमिति के प्रामाण्य की रक्षा के लिए हेत्वाभापादि दोषों का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना अन्य व्याप्त्यादि अंशों का। पदकृत्य[3] कार ने भी लिखा है कि हेतु में दोष का ज्ञान होने पर अनुमिति तथा व्याप्ति ज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। इसलिए बादी के निग्रह के लिए वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु में दोषों का प्रदर्शन के लिए दुष्ट हेतु ज्ञान आवश्यक है।

---

१. त० चि० दी० सा० नि० प्र०।

२. विजयप्रोजकत्वञ्च हेत्वाभासस्य स्व-ज्ञानाधीनपरोक्तहेतुदोषोद्भावनद्वारा, व्याप्त्यादिविशिष्टहेतोश्च स्वज्ञानाधीनसन्नायप्रयोगद्वारा बोध्यम्। गादा० सा० नि० प्र०।

३. हेतौ दोषज्ञाने सति-अनुमितिप्रतिबन्धो जायते व्याप्ति-ज्ञान प्रतिबन्धो वा। अतो वादिनिग्रहाय वादिनोद्भाविते हेतौ दोषोद्भावनार्थं दुष्टहेतुनिरूपण-मित्यर्थः। त० सं० पद० अनु० परि०।

हेत्वाभास का लक्षण

गङ्गेश मत

आचार्य गङ्गेश[1] ने हेत्वाभास के तीन लक्षण उपस्थित किये हैं। १. अनुमिति में कारण होने वाले अभाव के प्रतियोगी यथार्थ ज्ञान का जो विषय हो। २. जिस विषय के होने से हेतु का ज्ञान अनुमिति में प्रतिबन्धक होता हो, तथा ३. ज्ञानविषय होकर जो अनुमिति का विरोधी हो वह हेत्वाभास है।

जैसे '**वह्न्यभाववद्ह्रद**" इस बाधा में "**ह्रदोवह्निमान्**" इस अनुमिति के लिए कारणीभूत अभाव है **बन्ध्यभाववान्ह्रदः** इस निश्चय का अभाव उसका प्रतियोगी जो यथार्थज्ञान "वह्न्यभाव से युक्त ह्रद होने से उसमें लक्षण समन्वय होता है। इसी प्रकार से अन्य दोषों मे भी लक्षण समन्वित होता है।

किन्तु इस लक्षण में व्यभिचार दोष में लक्षण समन्वय नहीं होता है। क्योंकि व्यभिचार ज्ञान अनुमिति का प्रतिबन्धक न होकर अनुमिति के कारण व्याप्ति ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, इसलिए दीधितिकार के अनुसार चिन्तामणिकार के लक्षण का अनुमिति पद अनुमिति और उसके कारण ज्ञानपरक अजहत्स्वार्थलक्षणा के आधार पर मानना चाहिए या "**पक्षः साध्यवान् और साध्यव्याप्य हेतुमान्**" इस समूह विषयक अनुमिति का वाचक होना चाहिए। वाध सत्प्रतिपक्ष आदि का ज्ञान अनुमिति का विरोधी होता है जबकि व्यभिचार का ज्ञान व्याप्तिज्ञान का विरोधी होता है। समूहविषयक अनुमिति लेने पर बाध और व्यभिचार दोनों में लक्षण समन्वय होता है। उक्त अनुमिति के दोनों भी निश्चय विरोधी होते हैं।

प्रश्न—मूलकार गङ्गेश के उपर्युक्त लक्षण दोषों के हैं या दुष्ट हेतुओं के ? यदि दुष्ट हेतुओं के हैं तो दोषों घटित होने से अतिव्याप्ति होती है और दुष्ट हेतुओं में घटित होने से अव्याप्ति होती है। इसका समाधान करते हुए दीधितिकार[2]

---

१. क—तत्रानुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थ ज्ञानविषयत्वम्।
   ख—यद्विषयकत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिबन्धकत्वं तत्त्वम्।
   ग—ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यत्तत्त्वं वा।
   त० चि० सा० नि० प्र०।

२. यथा श्रुतमिदं हेतुदोषाणां लक्षणम्, तद्वत्त्वं च दुष्ट हेतुनाम्, तदभिप्रायेणैव उपधेयसङ्करेऽपीत्यादि वक्ष्यति—त० चि० दी० सामा० नि० प्र०।

लिखते हैं कि ये लक्षण अपने मौलिक रूप में हेतु दोषों के ही हैं किन्तु "**तद्वत्व**" दुष्ट हेतुओं में हैं। यह मूलकार का अभिप्राय है, इसी अभिप्राय से मूलकार ने "**उपाधेय सङ्करेऽपि न उपाधिसङ्कर:**" कहा है। जिसका तात्पर्य है कि हेतुओं का सांकर्य होने पर भी हेतु दोष भिन्न ही होते हैं।

दोष युक्त हेतु निरूपण का प्रसङ्ग होने पर भी दोष का लक्षण करने पर "**तद्वत्त्वं**" रूप दुष्ट हेतु लक्षण स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। अत: मूलकार के उक्त लक्षणों को हेतु दोषों का लक्षण मानने में कोई हानि नहीं है।

"**अनुमितिप्रतिबन्धक यथार्थज्ञानविषयत्व**" इस लक्षण में "**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**" इस सद्धेतु में "**वह्न्यभाव**" में अतिव्याप्ति होती है। "**पर्वतवह्नियमान्** तथा **वह्निव्याप्य धूमवान्** है" इस अनुमिति के लिए प्रतिबन्धक ज्ञान पर्वतोवह्न्यभाववान्" यह बाध भ्रम होता है। उसका विषय वह्न्यभाव होने से उसमें अतिव्याप्ति होती है। इसके निवारण के लिए लक्षण में यथार्थ पद दिया है, किन्तु यथार्थ पद देने से भी "**ह्रदोवह्निमान्**" इस स्थल में वह्न्यभाव में अतिव्याप्ति बनी रहती है। "**ह्रदो वह्निमान्** और **वह्निव्याप्य जलवान्**" इस अनुमिति के लिए प्रतिबन्धक **वह्न्यभाव**वनान्हृद:" इस ज्ञान का विषय वह्न्यभाव भी है। अतः इसका निवारण करने के लिए "यद्रूप से निमन्त्रित विषयता, प्रकृत अनुमिति में रहने वाली प्रतिबध्यता से प्रदर्शित प्रतिबन्धकता की नियन्त्रक (अवच्छेदक) होती हो, **तद्रूपवत्व**" कहने पर यथार्थ पद व्यर्थ ही है। इसी अभिप्राय से यथार्थ पद के बिना द्वितीय लक्षण चिन्तामणिकार ने प्रदर्शित किया है। यह रघुनाथ शिरोमणि[1] का अभिप्राय है।

कुछ लोगों का विचार है कि जिस प्रकार दोष ज्ञान अनुमिति के लिए प्रतिबन्धक होता है उसी प्रकार—ज्ञायमान दोष भी प्रतिबन्धक होता है। इसलिए प्रथम लक्षण ज्ञायमान दोष को प्रतिबन्धक मानकर दोषयुक्त हेतु का ही लक्षण है। दोष का नहीं अनुमिति प्रतिबन्धक का जो यथार्थज्ञान इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करके "अनुमितिप्रतिबन्धक प्रकारक जो यथार्थ ज्ञान उसका विषयत्व[2] यह अर्थ करने पर यथार्थ पद न देने से" दोष प्रचारक भ्रम "लेकर प्रकृत हेतु से भिन्न रासभ आदि में उष्टता व्यवहार के निवारण के लिए "यथार्थ पद" देना चाहिए।

---

१. त० चि० दी० सामा० प्र०

२. वही।

ज्ञायमान दोष को प्रतिबन्धक मानने वाले के मत में भी एक देश "वह्न्यभाव आदि" में अतिव्याप्ति के वारण के लिए "यद्रूप से नियन्त्रित विषयता सामान्य, अनुमिति की प्रतिबन्धता का नियन्त्रक (अवच्छेदक) हो तद्रूप विशिष्ट प्रकारक प्रमा विशेष्यत्व यह लक्षणार्थ पर्यवसित होता है।

ज्ञातव्य है कि यहाँ "**प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्व**" "स्वरूप सम्बन्ध रूप लेना है।" अनतिरिक्त वृत्तित्व रूप नहीं यही प्रथम और द्वितीय लक्षण का भेद है। द्वितीय लक्षण में अनतिरिक्त वृत्तित्व रूप है। इस लक्षण में समान आकार वाले ज्ञानों की विशयतायें भिन्न मानी जाती हैं। द्वितीय लक्षण में नहीं। इसीलिए द्वितीय लक्षण में पाषाणमयत्व से युक्त पर्वत में अतिव्याप्ति होती है। इस लक्षण में नहीं होती है।

द्वितीय लक्षण

यथार्थ पद के बिना लघु लक्षण जो गङ्गेश ने[1] प्रतिपादित किया है। वही महत्त्वपूर्ण है उस पर गङ्गेश के उत्तरवर्ती तार्किकों ने विशेष विचार किया है। जिसका विषय होने से हेतु का ज्ञान अनुमिति का विरोधी होता है। वह हेत्वाभास कहलाता है—जैसे "**ह्रदोवह्निमान् जलात्**" इस स्थल में "वह्न्यभाव से युक्त ह्रद" बाध है। वह्न्यभाव से युक्त ह्रद का ज्ञान वह्नि से युक्त ह्रदज्ञान रूपी अनुमिति का विरोधी होता है। इसलिए वह्न्यभवाह्रद विषयकत्व यद् पद ये गृहीत होने पर तद्रूपवत्त्व वह्न्य भाव विशिष्ट ह्रद में आता है। अतः वह्न्यभाव विशिष्टह्रद हेत्वाभास है। इस लक्षण में हेतु "**लिङ्ग**" निवेश निष्प्रयोजन है बाध में हेतु विषय होता ही नहीं है। इसीलिए दीधितिकार ने लिखा है '**लिङ्गमविवक्षितम्**" यही कारण है कि विश्वनाथ[2] ने भी लिङ्ग पद नहीं दिया है।

"**यद्विषयकत्वेन**" यहां पर तृतीयार्थ अवच्छेदकत्व स्वरूप सम्बन्ध है तो वह्निमान् धूमात् यहां पर वह्न्य भाव में अतिव्याप्ति होती है। पर्वतो वह्न्यभाव वान् यह निश्चय प्रकृत अनुमिति में प्रतिबन्ध होने से प्रतिबन्धकता की स्वरूपसम्बन्ध रूप (अवच्छेदकता) वह्न्यभाव विषयकत्व में भी है। तद्रूपवत्व वह्न्यभाव में भी रहने से हैं। यदि इसके कारण के लिए अनतिरिक्त वृत्तितत्व रूप अवच्छेदकत्व लेते है तो "**ह्रदो वह्निमान् धूमात्**" में वह्नियभाव विशिष्ट ह्रद में अव्याप्ति होती है।

---

१. यद्विषयकत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धत्वं तत्त्वम्।

त० चि० सामा० नि० प्र०।

२. लिङ्गमविवक्षितम्—त० चि० दी० सामा० प्र०।

अनुमितिप्रतिबन्धकता से शून्य ह्रद इस ज्ञान में भी वह्न्यभावविशिष्टह्रद विषयकत्व है "विशिष्ट शुद्धान्नातिरिच्यते" इस मत के अनुसार वह्न्यभाव विशिष्टह्रद विषयकत्व और शुद्धह्रदविषयकत्व दोनों एक ही हैं जब ह्रद विषतकत्व ह्रद इस ज्ञान में हैं तो विशिष्टह्रदविषयकत्व भी है। अतः (यद्विशिष्यकत्व)[1] का अर्थ यादृशविशिष्ट विषयकत्व करना चाहिए जिससे बाधकाश्रय अनुमिति का विरोधी होने पर भी कोई दोष नहीं होता है। "पर्वतो वह्न्ययभवा वान्" यह विशिष्ट अप्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि न्याय के दृष्टिकोण से पर्वत सदैव वह्निमान् होता है इसलिए वह्न्यभाव से युक्त पर्वत गगन कुसुम सुत के समान अलीक है।

यादृश विशिष्ट विषयकत्व का अर्थ यद्रूपावच्छिन्न विषयकत्व है तथा तत्त्व का तद्रूपवत्व अर्थ है। ह्रद इस ज्ञान में वह्निभाव से युक्त ह्रदत्वस्ते अवच्छिन्न विषयताकत्व नहीं है। वह्नियभाव से युक्त (नियन्त्रित) ह्रदविषयकत्व "ह्रदो वह्निमानन्नवा" इस सन्देह तथा वहन्यभाव से युक्त ह्रद वह्निमान् है, इस आहार्य निश्चय में भी है। किन्तु वहां प्रकृतानुमिति की प्रतिबन्धकता नहीं है। इसलिए वह्न्य भाव से युक्त ह्रदविषयकत्व प्रतिबन्धकता से वाह्य में वृत्ति होने से अनतिरिक्त वृत्ति न होने से असम्भव दोष होता है। उसके निवारणार्थ ज्ञान पद को अनाहार्य अप्रामाण्यज्ञान से असंलग्न निश्चय का वाचक समझना चाहिए।[2]

यहां सत्प्रतिपक्ष को अनित्य दोष मानने वाले यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि "वह्न्यभाव व्याप्य पाषाणामयत्ववान्" इस परामर्श के रहने पर वन्हि व्याप्य धूम हेत्वाभास नहीं होना चाहिए क्योंकि पाषणमयत्व में वह्नियभाव की व्याप्यता नहीं है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उस काल में सद्धेतु हेत्वाभास नहीं होता है। अन्यथा वाद्य को भा अनित्य दोष मानना होगा। इस प्रकार साध्याभाववद्वृत्ति हेतु आदि दोष हैं तद्वत्व हेतु में किसी भी सम सम्बन्ध से लेना चाहिए। वह्न्यभाव व्याप्य पाषाणमयत्ववान् इस परामर्श के रहने पर भ्रम से अनुमिति का विरोध होता है किन्तु सद्धेतु दुष्ट नहीं है।[3]

---

१. यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमिति विरोधित्वं तत्त्वम्। न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० सामा० निरूपण।

२. ज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानपदमनाहार्ययाप्रामाण्य ज्ञानानास्कन्दितनिश्चयपरम्—
गादा० सामा० नि० प्र०।

३. गादा० सामा० प्र०।

यहां एक यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि दोष ज्ञान जिस हेतु के विषय में हो उस हेतु से होने वाली अनुमिति का ही विरोध करता है इसलिए एक हेतु में व्यभिचार ज्ञान होने पर अन्य हेतु से अनुमिति सम्भव है ।[1]

विशिष्टान्तराघटितत्व :

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार प्रमेयत्व विशिष्ट व्यभिचार में अतिव्याप्ति होती है। प्रमेयत्व विशिष्ट व्यभिचार विषयकत्व भी प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्त वृत्ति है। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ रघुनाथ शिरोमणि[2] ने "**विशिष्टान्तराघटितत्व**" का निवेश किया है। प्रकृतानुमिति प्रतिबन्धकतावच्छेदकान्तर से अघटित अनुमिति प्रतिबन्धकतावच्छेद होना चाहिए। प्रमेयत्व विशिष्ट व्यभिचार प्रकृतानुमिति प्रतिबन्धकतावच्छेदक जो व्यभिचारत्व उससे घटित ही है। इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती। **विशिष्टान्तराघटितत्व**[3] को परिष्कृत करते हुए गदाधर[4] कहते हैं कि अनुमिति की प्रतिबन्धकता का जिस रूप से नियन्त्रित विषयकत्व अवच्छेदक होता हो वह रूप जिस धर्म से नियन्त्रित विषयकत्व प्रतीति विषयता का अवच्छेदक हो उससे नियन्त्रित विषय जिसका न हो उस प्रतीति (ज्ञान) की विषयता का नियन्त्रक जो उससे नियन्त्रित होना ही **विशिष्टान्तर से घटित होना है।**

रघुनाथ मत :

दीधितिकार ने "**यद्विषयकत्वेन**" इस लक्षण के तीन अर्थ प्रदर्शित किए हैं। "**पर्वतो अग्निमान् धूमात्**" इस स्थल में काञ्जनमयत्व का पर्वत में अभाव रूप दोष में अतिव्याप्ति होती है तथा "**निर्वह्निः पर्वतो वह्निमान्**" अथवा "**पर्वतः पर्वतावृत्ति वह्निमान्**" इन स्थलों में अनुमिति असिद्ध होने से भविष्यद् अतिव्याप्ति को निवारणार्थ दीधितिकार[4] ने इस प्रकार का लक्षण किया है" जिस विषय के निश्चय की विरोधि विषयकता के कारण, उस निश्चय के पश्चात् उत्पन्न अनुमिति या अनाहार्य मानस ज्ञान में, पक्षता के नियन्त्रक से नियन्त्रित पक्ष में साध्यता के नियन्त्रक

---

१. गादा० सामा० प्र० ।

२. विशेषणीयञ्च तादृश विशिष्टान्तरा घटित्वेन त० चि० दी० सामा० नि० प्र० ।

३. गादा० सामा० नि० प्र० ।

४. त० चि० दी० सामा० प्र० ।

से नियन्त्रित साध्य के वैशिष्टय का विषयत्व तथा साध्यता के नियन्त्रक से युक्त साध्य के द्वारा प्रदर्शित व्याप्ति से युक्त तथा हेतु के नियन्त्रक धर्म से युक्त हेतुमता का विषयत्व इन दोनों का अभाव जहाँ हो वह हेतु दोष कहलाता है।[1] २—प्रकृत पक्ष में प्रकृत साध्य की आश्रयता तथा प्रकृत साध्य व्याप्य हेतु की आश्रयता को व्यक्त करने वाले ज्ञान का, जिस विषय का ज्ञान विरोधी विषय वाला हो वह हेत्वाभास होता है।[2] ३—जिस पक्ष जिस साध्य एवं जिस हेतु में जितने दोष सम्भव हैं, उनका अन्यतमत्व ही हेत्वाभास का लक्षण[3] है। इस प्रकार मत भेद से तीन अर्थ प्रदर्शित किए हैं।

आचार्य जगदीश और गदाधर ने इनकी स्व स्व मतानुसार व्याख्या की है।

मथुरानाथ मत :

आचार्य मथुरानाथ[4] ने चिन्तामणिकार के लक्षण में दीधितिकार के समान ही दोष दिखलाकर "**यद्विषयकत्वेन**" इस लक्षण में प्रयेयत्व विशिष्ट व्यभिचार में अतिव्याप्ति के वारणार्थ उक्त **विशिष्टान्तराघटितत्व** का निवेश किया है। किन्तु "**प्रमेयत्वं अवृत्ति प्रमेयत्वात्**" इस स्थलीय व्यभिचार में अव्याप्ति वारण के लिए "**विशिष्टान्तराघटितत्व**" के परिष्कार में प्रतिवन्धकता में "**स्वानिरूपित-विशिष्ट विशेष्यकत्वा नवच्छेदकत्व**" विशेषण दिया है।

पक्षधर मिश्र[5] के अनुसार चिन्तामणिकार का हेत्वाभास का सामान्य लक्षण दुष्ट हेतुओं का ही है, दोष का नहीं। प्रथम लक्षण भी ज्ञायमान दोष को प्रतिबन्धक मानने वाले मत में अनुमिति कारणीभूत अभाव प्रतियोगियों का जो यथार्थ ज्ञान, इस प्रकारक का षष्ठि तत्पुरुष समास करने पर—"अनुमिति कारणीभूताभाव प्रतियोगि प्रकार यथार्थ ज्ञान विषयत्व"—यह लक्षण होने से कोई दोष नहीं होता है।

पक्षधर मत :

पक्षधर मिश्र के अनुसार दुष्ट हेतु का लक्षण मानने पर यथार्थ पद की सार्थकता सिद्ध होती है, इसलिए गदाधर ने इस विषय में अपनी आस्था प्रकट की

---

१. त० चि० दी० सामा० प्र०।

२. वही।

३. त० चि० माधुरी सामा० नि० प्र०।

४. त० चि० आलोक सामा० नि० प्र०।

५. तदर्थश्च तादृशाभावप्रतियोगिनो ये व्यभिचारादयस्तत्प्रकारकयथार्थज्ञानविषयत्वम्—त० चि० दी० सामा० नि० प्र०।

है। जगदीश तर्कालङ्कार के अनुसार पक्ष वृत्ति के रूप में ज्ञात वह्न्यभावरूप बाध के यथार्थज्ञान का विषयत्व धूम में होने से भविष्यत् अतिव्याप्ति के कारण मिश्र की व्याख्या रुचिकर नहीं है।

मुक्तावलीकार विश्वनाथ[1] ने भी चिन्तामणिकार के द्वितीय लक्षण का ही उल्लेख किया है। सत्प्रतिपक्ष दोष को अनित्य दोष मानने वाले मत के अनुसार "परे तु" कहकर इसी लक्षण का विकल्प प्रस्तुत किया है। विश्वनाथ ज्ञायमान दोष को प्रतिबन्ध नहीं मानते, इसलिए उन्होंने चिन्तामणिकार के "**ज्ञायमानं सद्**" इस तृतीय लक्षण का उल्लेख नहीं किया है।

हेत्वाभास के भेद :

प्राचीन नैयायिकों के समान नव्य नैयायिक गङ्गेश[2] ने भी हेत्वाभास के पाँच भेद कहे हैं : ये हैं सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

सव्यभिचार :

सव्यभिचार का लक्षण करते हुए आचार्य गङ्गेश[3] लिखते हैं—साध्य संशय का जनक होते हुए साध्य और साध्याभाव रूप कोटिद्वय को उपस्थित करने वाला जो पक्षधर्मता का ज्ञान उसका विषय जो हेतु के रूप में अभिमत हो वह सव्यभिचार हेत्वाभास कहलाता है। जैसे—"**पर्वतो धूमवान् वन्हेः**" इस साधारण व्यभिचार में धूम और धूमाभाव सहचरित वह्निमान् पर्वतः यह ज्ञान लेकर लक्षण समन्वय होता है। धूम और धूमाभाव सहचरित वह्निमान् पर्वतः इस ज्ञान से धूम और धूमाभाव का स्मरणात्मक ज्ञान होता है। तथा पर्वत में धूम का सन्देह उत्पन्न होता है। इस प्रकार उक्त पक्षधर्मता का ज्ञान साध्य सन्देह का जनक तथा साध्य और साध्याभाव रूप कोटिद्वय स्मारक साधारण व्यभिचार भी होता है उसका विषय वह्निरूप हेतु हेत्वाभास है।

इसी प्रकार पर्वतो वह्निमान् गगनात् "इस असाधारण व्यभिचार में भी वह्नि और वह्न्यभाव व्यावृत्त गगनवान् पर्वत" इस पक्षधर्मता के ज्ञान को लेकर लक्षण समन्वय होता है। तथा "**सर्वमनित्यं मेयत्वात्**" इस स्थल में मेयत्व रूप अनुपसंहारी हेतु में भी लक्षण समन्वय होता है।

---

१. न्या० सि मु० अनु० ख० हेत्वाभास प्र०।

२. ते च सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च। त० चि० सामा० नि० प्र०।

३. साध्य संशयजनककोटिद्वयोपस्थापकपक्षधर्मताज्ञानविषयत्वे सति हेत्वभिमतः सः। त० चि० सव्यभि० प्र०।

गङ्गेश मत :

चिन्तामणिकार ने यह लक्षण छोड़कर सिद्धान्त लक्षण के रूप में दूसरा लक्षण प्रस्तुत किया है—उसका प्रयोजन व्यक्त करते हुए दीधितिकार[1] कहते हैं कि हेत्वाभास के सामान्य लक्षण में कहा गया है कि जो अनुमिति या उसके जनक का विरोधी हो किन्तु साध्य सन्देह जनक ज्ञान या कोटिद्वय की उपस्थिति का जनक ज्ञान अनुमिति या उसके कारण का प्रतिवन्धक नहीं है। क्योंकि उसमें विरोधी विषयकत्व नहीं है। यद्यपि पूर्वोक्त लक्षण में अव्याप्त्यादि दोषों की सम्भावना नहीं है तथापि उक्त ज्ञान अनुमिति का प्रतिवन्धक न होने से उसमें हेत्वाभासता वच्छेदकत्व स्वरूप घटित नहीं होता है। आचार्य गङ्गेश[2] के अनुसार व्यभिचार का सिद्धान्त लक्षण इसी प्रकार है "साध्य-साध्याभाव रूप कोटिद्वय उपस्थिति जनकतावच्छेदक रूपवत्व" साध्य तथा साध्याभाव रूप कोटिद्वय की उपस्थिति के जनकतावच्छेदक "नियन्त्रक" रूप साधारणत्व असाधारणत्व तथा अनुपसंहारित्व है अतः इन तीन रूपों से युक्त उपर्युक्त तीन व्यभिचार अनैकान्तिक कहलाते हैं।

आचार्य रघुनाथ[3], जगदीश[4], गदाधर[5] आदि ने गङ्गेश के ही उपर्युक्त लक्षण का परिष्कार पूर्वक समर्थन किया है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी व्यभिचार त्रय साधारण एक लक्षण असम्भव जानकर "साधारणादि अन्यतम को सव्यभिचार कहा है। केशवमिश्र[6] तथा अन्नभट्ट[7] ने अनैकान्तिकत्व ही सव्यभिचार का लक्षण किया है।

सव्यभिचार के भेद

आचार्य गङ्गेश ने व्यभिचार का विभाजन साधारण असाधारण तथा अनुपसंहारी के रूप में किया है।[8] विश्वनाथ पञ्चानन ने भी इस विभाजन को स्वीकार किया है। तर्क-भाषाकार के अनुसार साधारण तथा असाधारण दो ही इसके भेद हैं।

---

१. त० चि० दी० सव्यभि० प्र०।
२. त० चि० सव्यभि० प्र०।
३. त० चि० दी० सव्यभि० प्र०।
४. जाग० सव्यभि० प्र०।
५. गादा० सव्यभि० प्र०।
६। न्या० सि० मु० हेत्वा० प्र०।
७. तर्क० भा० हेत्वा० प्र०
८. सव्यभिचारोऽपि त्रिविधः साधारणासाधारणानुपसंहारिभदात् त० चि० सव्यभि० प्र०।

साधारण

साध्याभाव के आश्रय में रहने वाला हेतु साधारण हेत्वाभास कहलाता है। साध्याभाववद्वृत्ति हेतु इस प्रकार का निश्चय "साध्याभाववद वृतित्व" ज्ञान का विरोध करता है। "धूमवान् वन्हेः" यहां पर घूमाभाववद्वृत्ति वह्नि "यह निश्चय धूमाभाववद वृत्ति वह्नि इस व्याप्ति ज्ञान का विरोधी होकर अनुमिति का अवरोध करता है जिस प्रकार" साध्याभाव वद्-वृत्ति हेतु "यह साधारण व्यभिचार है उसी प्रकार" साध्यतावच्छेदक में हेतु के आश्रय में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता होना भी साधारण व्यभिचार है क्योंकि जिस प्रकार **साध्याभाववद वृत्तित्व**" यह व्याप्ति का लक्षण है उसी प्रकार "साध्यतावच्छेदक में हेतु सामानाधिकरणाभाव प्रतियोगिता नवच्छेदकत्व" भी व्याप्ति का लक्षण है। कारिकावलीकार[1] विश्वनाथ ने साधारण का लक्षण करते हुए कहा है जो हेतु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है वह साधारण हेत्वाभास है। विरुद्ध और साधारण में यही भेद है कि साधारण हेतु सपक्ष में भी रहता है जबकि विरुद्ध विपक्ष में ही रहता है।

असाधारण :

साध्य के व्यापकीभूत अभाव के प्रतियोगी हेतु को असाधारण कहते हैं। जैसे "**ह्रदो वह्निमान् जलात्**" यहां पर जल हेतु असाधारण व्यभिचार है, अग्नि के व्यापकीभूत अभाव जलाभाव का प्रतियोगी जल है। अग्नि जहां-जहां रहता है वहां-वहां जल का अभाव अवश्य रहता है। इसलिए जलाभाव अग्नि का व्यापक है।

असाधारण्य का निश्चय अनुमिति का साक्षात् अवरोधक होता है। यहाँ निरोधकत्व निश्चय से युक्त निश्चय के रूप में है। जलवान्ह्रदः इस निश्चय से युक्त" "वह्निव्यापकीभूताभाव का प्रतियोगी जल" यह निश्चय ह्रदो वह्निमान् इस अनुमिति का विरोधी है।

आचार्य विश्वनाथ[2] के अनुसार असाधारण के प्राचीन और नवीन मतों के अनुसार लक्षणोदाहरण भिन्न भिन्न हैं। नवीनमत के अनुसार साध्यासमानाधिकरण हेतु असाधारण है जैसे "**शब्दों नित्यः शब्दत्वात्**" इस हेत्वाभास का ज्ञान व्याप्ति के घटक साध्य सामानाधिकरण ज्ञान का बिरोध करता है। प्राचीन मत के अनुसार "**सपक्षविपक्षव्यावृत्त**" असाधारण होता है। जैसे शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात् यहां शब्द में अनित्यता का सन्देह होने पर शब्दमात्र में रहने वाला शब्दत्व असाधारण हेत्वाभास है। जब शब्द में अनित्यत्व का निश्चय हो तब वह असाधारण नहीं है। पक्ष में साध्य का

---

१. भाषा० परि० अनु० ख० का ७३।

२. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वाभास—प्र०।

निश्चय होने पर पक्ष ही सपक्ष का रूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में सपक्ष-व्यावृतत्व उसमें नहीं आता है। केवल सपक्षव्यावृतत्व भी असाधारण का लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने दिया है। तर्कभाषाकार तथा तर्कसंग्रहकार के लक्षणों में कोई वैलक्षण्य नहीं है।

अनुपसंहारी

अत्यन्ताभावा प्रतियोगी साध्य वाले हेतु को अनुपसंहारी कहते हैं। साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है, यह निश्चय व्यतिरेक-व्याप्ति ज्ञान का विरोधी होता है। अन्वयव्याप्तिज्ञान के द्वारा यहां अनुमिति होने पर इसे केवलान्वयी सद्धेतु कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ[1] ने केवलान्वयी पक्षक को अनुपसंहारी कहा है "सर्वम् अभिधेयं प्रमेयत्वात्" यह सर्वपक्ष होने से सामानाधिकरण्य ग्रह के लिए दूसरा स्थल न होने से अनुमिति नहीं होती है। पक्ष की किसी एक इकाई में सहचार ग्रह होने पर भी अनुमिति हो सकती है। मान भी लिया जाय कि सहचर ग्रह नहीं होता है तो भी इसे अज्ञान रूप असिद्धि कह सकते हैं, हेत्वाभास नहीं। इसलिए केवलान्वयी साध्यकत्व यही अनुपसंहारी का लक्षण उचित है। केवलान्वयी हेतु और अनुपसंहारी हेत्वाभास के भेद को तर्कसंग्रह[2] कार ने स्पष्ट कर दिया है। अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही प्रकार के दृष्टान्तों से रहित हेतु अनुपसंहारी है। केवलान्वयी में अन्वय दृष्टान्त होता है। किन्तु अनुपसंहारी में किसी भी प्रकार का दृष्टान्त नहीं होता है। दोनों ही प्रकार के दृष्टान्तों का अभाव होने से दोनों प्रकार के व्याप्तिज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। यही यहां दूषकता बीज है।

विरुद्ध :

जिस हेतु में साध्य का असामानधिकरण्य हो, वह हेतु विरुद्ध है। जैसे यह गाय है क्योंकि इसमें अश्वत्व है। यहां अश्वत्व हेतु में, साध्य गोत्व का असामानाधिकरण्य है। गाय में अश्वत्व नहीं रहता है। यह हेतु **साध्य सामनाधिकरण्याभाववान्** है। यह ज्ञान सिद्धान्त व्याप्ति में सन्निविष्ट साध्यसामानाधिकरण्य ग्रह का अवरोधक होता है।

आचार्य विश्वनाथ[3] ने साध्य व्यापकी भूत अभाव के प्रतियोगी हेतु को

१. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० प्र०।
२. तर्क० सं० अनु० परि०।
३. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० प्र०।

विरुद्ध कहा है, यही लक्षण आचार्य गङ्गेश[1] का भी है। तर्कभाषा[2] कार तथा अन्नभट्ट[3] दोनों ने साध्यविपर्यय अर्थात् साध्याभाव से व्याप्य हेतु को विरुद्ध कहा है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि कृतक है, यहां कृतकत्व हेतु नित्यत्वाभाव अर्थात् अनित्यत्व व्याप्त है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है। आचार्य गङ्गेश[4] आदि के अनुसार यह अनुमिति का साक्षात् विरोधी होने से हेत्वाभास है। "गौत्व-व्यापकी-भूताभाव-प्रतियोगी-अश्वत्ववान्" यह ज्ञान तदभावव्याप्यवत्ता ज्ञान के रूप में "अयं गौः इस अनुमिति का अवरोध करता है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि सत्प्रति-पक्ष में भी हेतु साध्याभाव व्याप्त होता है। ऐसी अवस्था में विरुद्ध और सत्प्रतिपक्ष में क्या अन्तर है इसका समाधान न्यायबोधिनीकार करते हैं कि विरुद्ध हेतु एक ही होता है जबकि सत्प्रतिपक्ष में दो हेतु होते हैं। साध्याभाव को साधक को साध्य के साधक रूप में प्रस्तुत किया जाना उसके असामर्थ्य को भी सूचित करता है।

सत्प्रतिपक्ष

गङ्गेश मत :

"साध्याभाव-व्याप्य-हेतुमत्पक्ष" को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं, इसका लक्षण आचार्य गङ्गेश[5] ने इस प्रकार किया है "साध्य के विरोधी के उपस्थान में समर्थ समान वल की उपस्थिति से जिसके कार्य का प्रतिरोध हो वह हेतु जैसे "शब्दो नित्यः "श्रावणत्वात्" शब्दत्ववद् "शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवत्", यहां पर साध्य विरोधी अर्थात् साध्य के अभाव अनित्यत्व की उपस्थापना में समर्थ समान बल अर्थात् "अनित्यत्व व्याप्य कार्यत्ववद्शब्द" रूप परामर्श से श्रावणत्व हेतु के कार्य शब्द के नित्यत्व की अनुमिति, का प्रतिरोध हो जाता है। अतः श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित कहलाता है। सत्प्रतिपक्ष शब्द की व्याख्या करते हुए दीधितिकार[6] लिखते हैं सन्—विद्यमान है प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी परामर्श जिस हेतु के लिए वह हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विरोधी परामर्श के रहने से जिस साधक हेतु का कार्य रुक जाता है वह हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होता है।

---

१. त० चि० वि० प्र०।
२. तर्क भा० अनु० परि०
३. तर्क सं० अनु० परि०
४. त० चि० वि० प्र०।
५. त० चि० सत्प्रति० प्र०।
६. त० चि० दी० सत्प्रति० प्र०।

केशवमिश्र मत :

आचार्य केशव मिश्र[1] ने प्रकरणसम शब्द का प्रयोग ही सत्प्रतिपक्ष के लिए किया है तथा जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक कोई अन्य हेतु विद्यमान हो वह प्रकरण-सम कहलाता है।

जब दो बिरोधी हेतु उपस्थित होते हैं उसी अवस्था में सत्प्रतिपक्ष बनता है किन्तु दोनों में से कौन हेतु हेत्वाभास है यह विवाद का विषय है। जब विश्वनाथ[2] पञ्चानन के लक्षण साध्याभाव व्याप्यवान् पक्षः से प्रतीत होता है कि 'विरोधी परामर्श विषय हेतु सत्प्रतिपक्ष है। किन्तु आचार्य विश्वनाथ[3] के अनुसार दूसरे के अभाव व्याप्यवत्ता परामर्श की अवधि में साध्य व्याप्य वत्ता परामर्श का विषय सत्प्रतिपक्ष है तो स्वकीय हेतु ही सत्प्रतिपक्ष प्रतीत होता है। किन्तु कारिकावली के हेत्वो: इस द्विवचन के प्रयोग से प्रतीत होता है कि दोनों हेतु ही सत्प्रतिपक्ष हैं क्योंकि दोनों, दोनों साध्यों की अनुमिति का परस्पर विरोध करते हैं।

अन्नंभट्टमत :

अन्नम्भट्ट[4] ने भी जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु हो उस हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहा है, अन्नम्भट्ट साध्याभाव व्याप्त हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहना नहीं चाहते क्योंकि उनके अनुसार यह विरुद्ध हेतु है और उसका निवारण करने के लिए ही उन्होंने "हेत्वन्तरं यस्य" कहा है इससे स्पष्ट है कि "सन् प्रतिपक्षो यस्य इस व्युत्पत्ति के आधार पर वे "स्व" हेतु को ही सत्प्रतिपक्ष मानते हैं।

सत्प्रतिपक्ष में दूषकता :

सत्प्रतिपक्ष, तदभावव्याप्यवत्ता ज्ञान के रूप में अनुमिति का विरोधी होता है। परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञान से परस्पर अनुमिति का विरोध होता है।

रत्नकोपकार मत समीक्षा :

रत्नकोषकार[4] का मत है कि सत्प्रतिपक्ष में संशयोत्पादकता ही दूषकता का बीज है, तद्भाव व्याप्यवत्ता ज्ञान अनुमिति में प्रतिबन्धक नहीं है इसलिए सत्प्रतिपक्ष स्थल में संशयाकार अनुमिति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार "घटाभावव्याप्यवत्ता"[5] का ज्ञान होने पर भी घट ओर चक्षु का संयोग होने पर घटवत्ताज्ञान उत्पन्न होता है या शंख में पीतत्वाभाव व्याप्य शुक्लवत्ता का ज्ञान होने पर भी पित्त रोगी को शङ्ख

---

१. तर्क० भा० अनु० परि०
२. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वाभास० प्र०।
३. वही।
४. तर्क सं० अनु० परि०
५. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वाभास प्र०।

पीला है, यही ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार दो विरोधी वस्तुओं के व्याप्य का दर्शन होने पर दो विरोधियों के विषय में संशय रूप अनुमिति होती है जहां एक वस्तु के व्याप्य का ज्ञान अधिक बलशाली होगा वहां द्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रतिबन्ध होकर संशय नहीं होगा। जहां दोनों में समानबल है वहीं संशय उत्पन्न होता है।

रत्नकोशकार मत का खण्डन

रत्नकोशकार का उपर्युक्त मत समीचीन नहीं है। किसी वस्तु के अभाव की व्याप्यवत्ता का ज्ञान होने पर उसके विषय में ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष शाब्दबोध आदि उत्पन्न नहीं होते हैं इसलिए लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न न होने वाले एवं दोष विशेष "पित्त आदि" से उत्पन्न न होने वाले ज्ञान मात्र में "तद्भाव व्याप्यवत्ता ज्ञान को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है, इसी में लाघव है। शाब्दबोध में तथा उपनीत-भान "ज्ञान-लक्षणा प्रत्यक्ष" में पृथक् रूप से प्रतिबन्धक मानने पर गौरव होता है अत: जहां किसी वस्तु के अभाव व्याप्य का ज्ञान है वहां उस वस्तु की अनुमिति कैसे सम्भव है ! लौकिक सन्निकर्ष के रहने पर प्रत्यक्ष प्रामाणिक है, किन्तु सत्प्रतिपक्ष स्थल में संशयाकार अनुमिति प्रामाणिक नहीं है। जहां परस्पर दो विरोधी वस्तुओं के व्याप्यवत्ता ज्ञान के विषय में अप्रामाण्य का ज्ञान है वहां संशय हो सकता है। किन्तु अन्यत्र नहीं, अन्यत्र परस्पर विरोध होने से अनुमिति उत्पन्न नहीं होती।[1]

सत्प्रतिपक्ष के भेद

सत्प्रतिपक्ष दो प्रकार का होता है **"साध्याभाववद्वृत्तिमत्पक्ष,"**[1] तथा **प्रतिहेतुव्यापकसाध्याभावसमानाधिकरण प्रतिहेतुमत्पक्ष**[2] पहला स्वतन्त्र रूप से अनुमिति प्रतिबन्धक है तथा दूसरा एक ज्ञान से युक्त दूसरे ज्ञान के रूप में अनुमिति का विरोधी है।[2]

असिद्ध

गङ्गेश मत

"साधारण्यादि भिन्न होते हुए ज्ञानीय विषय के रूप में परामर्श विरोधिता जिसमें हो वह असिद्ध कहलाता है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने प्रत्येक असिद्धि के विशेष लक्षणों को ध्यान में रखकर" आश्रयासिद्धयादि के अन्यतमत्व को ही असिद्धि का

१. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० प्र०

२. गादा० सामा० नि० भूमिका—शिवदत्त मिश्र० चौ० प्र० १६६५।

३. साधारण्यासाधारण्यानुपसंहारित्वभिन्नं ज्ञानस्य विषयतया परामर्शविरोधितावच्छेदकं रूपमसिद्धिः। त० चि० दी० असिद्धि प्र०।

सामान्य लक्षण कहा है। तर्कभाषाकार ने लिङ्ग के रूप में अनिश्चित हेतु को असिद्ध कहा है। तर्क संग्रहकार ने असिद्ध के सामान्य लक्षण का निर्देश किये बिना ही उसका विभाजन कर दिया है। प्रत्येक असिद्ध का ज्ञान परामर्श का विरोधी होता है। आश्रयासिद्धि का ज्ञान पक्षतावच्छेदक से युक्त पक्ष के ज्ञान का विरोधी होने से तथा व्याप्यत्वासिद्धि का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान का विरोधी होने से परामर्श का विरोधी होता है। साधारणादि का ज्ञान भी परामर्श विरोधी होता है। इसलिए साधारण्य भिन्न भी कहना आवश्यक है।

असिद्धि के भेद

असिद्धि तीन प्रकार की होती है—आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि[1]।

आश्रयासिद्धि

पक्षतावच्छेदक से शून्य पक्ष को आश्रयासिद्ध[2] कहा जाता है। जैसे कांचनमय पर्वत वह्निमान् है क्योंकि धूमवान् है इस अनुमान में काञ्चनमय पर्वत असिद्ध पक्षतावच्छेदक जो काञ्चन उसका पर्वत में अभाव है। अतः काञ्चन मयत्वाभाववान् पर्वतः यह निश्चय, "काञ्चनमय पर्वतः" इस पक्षज्ञान का विरोधी होने से अनुमिति और परामर्श दोनों का ही विरोधी है।

अन्नम्भट्ट ने आश्रयासिद्धि का लक्षण न लिखकर केवल उदाहरण प्रस्तुत किया हैं 'गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात्" न्यायबोधिनीकार ने पक्षतावच्छेदक से युक्त पक्ष की अप्रसिद्धि को ही आश्रयासिद्धि कहा है। अन्नम्भट्ट की इस पंक्ति से "**अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव**" इस पंक्ति से वही अर्थ द्योतित होता है।[3]

आश्रयासिद्धि के भेद

आश्रयासिद्धि के अनेक भेद हो सकते हैं। पक्ष में पक्षतावच्छेदक के अभाव के समान ही पक्ष में पक्षतावच्छेदक के अभाव को व्याप्य, पक्ष में पक्षतावच्छेदकवान् का अन्योन्याभाव, पक्षतावच्छेदक में पक्षता वच्छेदकता के अवच्छेदक "नियन्त्रक" का अभाव, पक्षता वच्छेदक में पक्षता वच्छेदकतावच्छेदक के अभाव का व्याप्य, पक्षतावच्छेदक में पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवान्[4] का अन्योन्याभाव, पक्षतावच्छेदक में

---

१. त० चि० असिद्धि प्र०।

२. न्या० सि० मु० अन्० हेत्वा निरु०।

३. तर्क सं० अन्० परि०।

४. न्या० बो० अन्० परि०।

पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवान् के अन्योन्याभाव का व्याप्य, पक्षतावच्छेदकाभाव से युक्त पक्ष, पक्षतावच्छेदकाभावव्याप्यवान् पक्ष, "पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकाभाववत्पक्षतावच्छेदक, पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकाभाव व्याप्यवत्पक्षतावच्छेदक, पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवदन्योन्याभाववत्पक्षतावच्छेदक, पक्षतावच्छेदकतावच्छेदकवदन्योन्याभावव्याप्यवत्पक्षतावच्छेदक आदि।[1]

समान प्रकारक बुद्धि के लिए समान प्रकारक अभाव बुद्धि को विरोधी मानने वाले कुछ नव्य नैयायिक **पक्षतावच्छेदकाभाववान् पक्ष, पक्षतावच्छेदकभावव्याप्यवान् पक्ष, पक्षतावच्छेदकवदन्योन्याभाववान् पक्ष, पक्ष:पक्षतावच्छेदककान्योन्याभावव्याप्यवान**[2], आदि को ही आश्रयासिद्धि मानते हैं, पक्ष में पक्षतावच्छेदक के अभाव को नहीं। इसका कारण यह है कि उनके मत में अनुमिति सर्वदा पक्ष: साध्यवान् यही होती है पक्षे साध्यं नहीं हो तो। अत: पक्ष साध्यवान् इस अनुमिति तथा पक्ष:साध्यव्याप्यवान् इस परामर्श के लिए "पक्षे साध्यं" यह ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं है। क्योंकि "पक्षे साध्याभाव:" यह ज्ञान पक्ष प्रकारक है तथा पक्ष: साध्यवान् यह साध्य प्रकारक है तथा समान प्रकारक नहीं है। फलत: उनमें प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव नहीं है। इनके अनुसार आश्रयासिद्धि का लक्षण है जिस धर्म से नियन्त्रित विषयिता, पक्षतावच्छेदक जिसमें प्रकार है तथा पक्ष विशेष्य है ऐसे ज्ञान की विरोधिता की नियन्त्रक हो, उस धर्म से युक्त" अश्रयासिद्ध होता है। इस लक्षण के अनुसार उपर्युक्त पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव आदि आश्रयासिद्ध नहीं है।[3]

स्वरूपासिद्ध

पक्ष में हेतु के अभाव को या हेतु से रहित पक्ष को स्वरूपासिद्धि कहते हैं। जैसे "ह्रद द्रव्य है क्योंकि धूमवान्" इस अनुमान में धूमाभाव से युक्त ह्रद स्वरूपासिद्धि कहलाती है। इसका निश्चय "द्रव्यत्वव्याप्यधूमवान् ह्रद" इस परामर्श का विरोधी है।

स्वरूपासिद्धि के भेद

चन्द्रजसिंहमत

तर्कसंग्रह के टीकाकारचन्द्रजसिंह ने स्वरूपासिद्ध के चार प्रकार प्रदर्शित किये हैं। शुद्धासिद्धि, भागासिद्धि, विशेषणासिद्धि और विशेष्यासिद्धि।[4]

---

१. गा० सामा० नि० भूमिका—शिवदत्त मिश्र—चौ० १९६५

२. न्या० को० असि० ल० विचार। महादेव पुणताम्बेकर।

३. स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः

—न्या० सि० मु० हेत्वा० निरु०

४. तर्क सं—पद० अनु० परि०।

शुद्धासिद्धि

शब्द गुण है क्योंकि चाक्षुष है। इस अनुमान शब्द में चाक्षुषता का अभाव है। शब्द श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है।

भागासिद्धि

उद्भूत रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण है क्योंकि रूपत्ववान् हैं। इस अनुमान में रूपत्व हेतु पक्ष के अन्य घटक भागों में अविद्यमान होने से भागासिद्धि हेत्वाभास कहलाता है।

विशेषणासिद्धि

वायु प्रत्यक्ष है, रूपवान् होते हुए स्पर्शवान् है। इस अनुमान में वायु में रूप का अभाव होने से हेतु गत विशेषण असिद्ध है। विशेषण के असिद्ध होने से विशेषण से युक्त विशेष्य भी असिद्ध है।

विशेष्यासिद्धि

वायुः प्रत्यक्ष है, स्पर्शवान् होते हुए रूपवान् है। इस अनुमान् में हेतु के अन्तर्गत विशेष्यभाग रूपवत्त्व का वायु में अभाव है अतः विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव है। यह हेतु विशेष्यासिद्ध हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्धि के भी आश्रयासिद्धि के समान कई भेद नव्य नैयायिकों ने प्रदर्शित किये हैं। जैसे **साधनतावच्छेदकावच्छिन्न साधनाभाववत्पक्ष, साधनवदन्योन्याभाववत्पक्ष, साधनवदन्योन्यभावव्याप्यवत्पक्ष, पक्ष में साधनाभाव** आदि।

व्याप्यत्वासिद्धि

आश्रयासिद्धि और स्वरूपासिद्धि से भिन्नअसिद्धि को व्याप्यत्वासिद्धि कहते हैं।[1] व्याप्ति का अभाव व्याप्यत्वासिद्धि का लक्षण करने पर साध्याप्रसिद्धि साधनाप्रसिद्धि का अन्तर्भाव उसमें नहीं होता इसलिए व उपर्युक्त लक्षण किया गया है। अन्नमट्ट[2] ने सोपाधिक हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहा है।

व्याप्यत्वासिद्धि के भेद

व्याप्यत्वासिद्धि के तीन प्रकार नव्यनैयायिकों ने प्रदर्शित कये हैं। साध्याप्रसिद्धि, साधनाप्रसिद्धि, व्याप्ति-विरह रूप असिद्धि।

---

१. न्या० कौ० असि० ल० विचार। महादेव पुणताम्बेकर।

२. त० स० अनु० परि०।

साध्याप्रसिद्धि

साध्य में साध्यतावच्छेदक का न होना साध्याप्रसिद्धि कहलाता हैं।[1] जैसे पर्वत काञ्चनमय वह्निमान् हैं क्योंकि धूमवान् है। इस अनुमान में काञ्चनमयत्व रूप साध्यतावच्छेदक का अग्नि में अभाव है। क्योंकि अग्नि काञ्चनयमय नहीं होता। इसलिए उक्त साध्य के लिए प्रयुक्त हेतु धूमत्त्वत्व साध्याप्रसिद्धि है। काञ्चनमयत्वाभाववान् अग्नि यह ज्ञान काञ्चनमय वह्निव्याप्य धूमवान् इस परामर्श का, व्याप्ति ज्ञान का तथा अनुमिति का विरोधी है। आश्रयासिद्धि के समान ही इसके भी अनेक प्रकार हैं।

साधनाप्रसिद्धि

हेतु में हेतुतावच्छेदक के अभाव को साधना प्रसिद्धि कहते हैं। पर्वतोऽग्निमान् काञ्चनमयधूमात् 'यहां पर काञ्चनमयत्व के अभाव से युक्त धूम साधना-प्रसिद्धि है। यहां हेतुतावच्छेदक काञ्चनमयत्व से युक्त हेतु का ज्ञान न होने से व्याप्तिज्ञान नहीं होता है। फलतः अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है। काञ्चनमयत्वाभाववान् धूमः यह निश्चय। वह्निव्याप्यकाञ्चनमयधूमवान् पर्वतः इस ज्ञान का विरोधी है।[2]

व्याप्ति विरह रूप असिद्धि[3]

साध्या-प्रसिद्धि, साधना-प्रसिद्धि, स्वरूपासिद्धि एवं आश्रयासिद्धि से भिन्न असिद्धि को व्याप्ति विरह रूप असिद्धि कहा जाता है। व्याप्ति का अभाव जहां होता है वहां व्याप्ति विरह रूप व्याप्यत्वासिद्धि होती है। जैसे घट क्षणिक है, क्योंकि सत् है। इस अनुमान में क्षणिकत्व के साथ सत्व हेतु की कोई व्याप्ति नहीं है। "यत् सत् तत् क्षणिकम् यह पक्ष से भिन्न किसी पदार्थ में नहीं देखा गया है। अतः क्षणिकत्व की व्याप्ति सत्व में असिद्धि होने से यह व्याप्यत्वासिद्धि हेत्वाभास है।

गङ्गेश मत

व्याप्यत्वासिद्धि में व्यर्थ विशेषण का भी संङ्ग्रह आचार्य गङ्गेश[4] ने किया है। जैसे पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्" में नीलधूमत्व धूमत्व की अपेक्षा गुरुधर्म

---

१. साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याभावः साध्याप्रसिद्धिः न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० निरू०।

२. हेतौ हेतुतवच्छेदकाभावः साधनाप्रसिद्धिः—न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० निरू०।

३. त० चि० असि० प्र०।

४. वही।

होने से हेतुता का नियन्त्रक नहीं है इसलिए नील यह विशेषण व्यर्थ है। व्यथ विशेषण वाला होने से यह हेतु भी व्याप्यत्वासिद्धि है।

किन्तु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है जब कि नील धूम में भी अग्नि की व्याप्यता है तो इसे असिद्ध क्यों माना जाय। नील धूमत्व अनवच्छेदक होने से नील धूमत्वा वच्छेदेन व्याप्ति नहीं है। यह भी नहीं कह सकते। स्वरूप सम्बन्ध रूप अवच्छेदकत्व न होने से, स्वरूप सम्बन्ध रूप हेतुतावच्छेदक रूप से उसमें व्याप्ति का अभाव है इसलिए वह व्याप्यत्वासिद्ध है यह कथन भी युक्ति सङ्गत नहीं है, "स्वरूप सम्बन्ध रूप" अवच्छेदकत्वाभाव का ज्ञान ग्राह्याभाव विषयक न होने से व्याप्तिज्ञान का विरोधी नहीं है। इसलिए व्यर्थ विशेषणक स्थल में व्याप्यत्वासिद्धि मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। यहां इतना ही कहा जा सकता है कि जब "धूमात्" इतने से ही कार्य सिद्ध हो सकता है तो नीलधूमात् प्रयोग कहने वाला "अधिक" नामक निग्रहस्थान से ग्रस्त होगा हेतु दुष्ट नहीं है।

तर्कभाषाकार[1] ने व्याप्यत्वासिद्ध के भी दो भेद प्रदर्शित किये हैं। एक व्याप्ति ग्राहक प्रमाणाभाव होने से तथा दूसरा उपाधि के होने से व्याप्यत्वासिद्ध होता है। "शब्दः क्षणिकः सत्वात्" इस अनुमान में सत्त्व क्षणिकत्व के बीच व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं इसलिए "सत्व" हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

सोपाधिक हेतु

दूसरा प्रकार उपाधि युक्त हेतु का है इसे अन्नम्भट्ट[2] ने भी प्रदर्शित किया है। अन्नम्भट्ट केवल इसे ही व्याप्यत्वासिद्ध कहा है। अन्नम्भट्ट के अनुसार जो हेतु उपाधि से युक्त होता है उसे व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। साध्यका व्यापक होते हुए जो साधन का अव्यापक हो अर्थात् जहां साध्य हो वहां-वहां रहे किन्तु जहां-जहां हेतु ही वहां-वहां न रहे वह उपाधि कहलाती है। जैसे पर्वतो धूमवान् वन्हेः यहां पर "गीले इन्धन का संयोग" उपाधि है। जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां गीले इन्धन का संयोग होता है। किन्तु जहां अग्नि होता है वहां-वहां गीले इन्धन का संयोग नहीं होता है। अग्नि तप्त लौह में भी होता है। इस प्रकार साध्य का व्यापक होते हुए साधन का अव्यापक होने से गीले इन्धन का संयोग उपाधि है और इस उपाधि से से युक्त होने से अग्नि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

उपाधि में दूषकता

उपाधि में दूषकता का कारण है कि गीले इन्धन के संयोग में धूम की

---

१. त० भा० अनु० परि०।

२. तर्क सं० अनु० परि०।

व्यापकता का ज्ञान होने पर धूम में गीले इन्धन के संयोग की व्याप्यता का ज्ञान होता है। उसी प्रकार गीले इन्धन का संयोग अग्नि का व्यापक नहीं है यह ज्ञात होने पर अग्नि भी गीले इन्धन के संयोग का व्याप्य नहीं है यह ज्ञात होता है, अर्थात् व्यभिचार का ज्ञान होता है। जब हेतु में उपाधि का व्यभिचार ज्ञान होता है तो उपाधि से व्याप्य धूम अर्थात् साध्य का भी व्यभिचार ज्ञात होता है। उसका आधार यह अनुमान है। अग्नि धूम का व्यभिचारी है क्योंकि धूम के व्यापक गीले इन्धन के सयोग का व्यभिचारी है घटत्व आदि के समान। इस प्रकार प्रकृत अनुमान के हेतु स्वरूप पक्ष में साध्य के व्यभिचार को प्रदर्शित करके हेतु को दूषित करना ही उपाधि का फल है। इस प्रकार से "धूमाभाववदवृत्तित्व रूप व्यभिचार का ज्ञान अग्नि में होने पर धूमाभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति ज्ञान का निरोध हो जाता है। फलस्वरूप अनुमिति की उद्धावना धूमिल हो जाती है। इसलिए सोपाधिक हेतु को व्याप्यत्वा-सिद्ध कहा जाता है।

उपाधि के भेद

प्रसङ्गतः उपाधि के भेदों का वर्णन करना यहां उचित ही होगा तर्कसङ्ग्रह तथा जगदीश के टीकाकार चन्द्रजसिंह[1] ने उपाधि के तीन भेद प्रदर्शित किये हैं **केवलसाध्यव्यापक, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक और साधनावच्छिन्न साध्यव्यापक।**

केवल साध्यव्यापक—

जहां उपाधि शुद्ध साध्य की व्यापक होती है उस केवल साध्यव्यापक उपाधि कहते हैं—जैसे—यज्ञीय हिंसा अधर्म की जनक है क्योंकि हिंसा है जैसे यज्ञ से बाहर की हिंसा। इस अनुमान में निषिद्धता उपाधि है। जहां-जहां अधर्म की कारणता है वहां निषिद्धता है किन्तु जहां हिंसा है वहां वहां निषिद्धता नहीं है। यज्ञीय हिंसा निषिद्ध नहीं है अतः साध्य की व्यापक और साधन की अव्यापक होने से निषिद्धता उपाधि है। यह शुद्ध साध्य का व्यापक उपाधि है।

पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक[2]

जहाँ पक्ष धर्म से नियन्त्रित साध्य की व्यापक और साधन की अव्यापक उपाधि होती है। उसे पक्षधर्मावच्छिन्न साध्य व्यापक उपाधि कहते हैं। जैसे वायु प्रत्यक्ष है क्योंकि प्रत्यक्ष स्पश से युक्त है। जहां उद्भूतरूप उपाधि है। उद्भूत रूप केवल साध्य का व्यापक नहीं है—प्रत्यक्ष रूपादि गुणों का भी होता है। वहां उद्भूत रूप नहीं होता है। गुण में गुण नहीं रहता है इसलिए उद्भूत रूप पक्षधर्म द्रव्यत्व से

१. तर्क सं० पद० अनु० परि०।
२. वही।

नियन्त्रित प्रत्यक्षत्व का व्यापक है किन्तु साधन प्रत्यक्ष स्पर्श का व्यापक नहीं है इसलिए यह भी उपाधि है।

साधनावच्छिन्न साध्यव्यापक

साधन से नियन्त्रित साध्य की व्यापक उपाधि को साधनावच्छिन्न साध्यव्यापक उपाधि कहते हैं। जैसे—प्रागभाव विनाशी है, क्योंकि जन्य है, इस अनुमान में भावत्व उपाधि हैं। भावत्व विनाशित्व "का व्यापक नहीं है विनाशित्व प्रागभाव में भी है परन्तु वहां भावत्व नहीं है। अत: साधन से नियन्त्रित साध्य का व्यापक कहा है साधन जन्यत्व से नियन्त्रित भावत्व प्रागभाव में नहीं है। प्रागभाव जन्य नहीं होता है। साधन से नियन्त्रित विनाशित्व जहां-जहां है वहां भावत्व है किन्तु जहां-जहां जन्यत्व है वहाँ भावत्व नहीं है जन्यत्व ध्वंस में भी है। अत: साधन से नियन्त्रित साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने से भावत्व उपाधि है। इसी प्रकार **"स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्"** यहां पर "शाकपाकजन्यत्व" उपाधि है। श्यामता नीले घड़े में भी होने से केवल साध्य की व्यापक उपाधि नहीं है, अपितु साधन से नियन्त्रित साध्य की व्यापक है। मैत्रीतयनयत्व से नियन्त्रित श्यामता जहां-जहां है वहां-वहां शाकपाक जन्यत्व है किन्तु मैत्रीतनयत्व अष्टम पुत्र में भी है किन्तु वह गौर वर्ण होने से श्यामता का उसमें अभाव है इसलिए साधन की अव्याप्यकता है।

इन तीन में से किसी भी उपाधि से युक्त होने पर हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। **"व्याप्यत्वस्य असिद्धि यस्मात्"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्याप्यत्वासिद्धि पद उपाधि का बोधक है और उपाधि व्यभिचार की उन्नायक होने से हेत्वाभास है।

बाध

"पक्ष में साध्य का अभाव"[1] बाध कहलाता है। जसे **"ह्रदो बह्निमान्धूमात्"** इस अनुमिति में ह्रदमें वह्नि का अभाव "बाध है। ह्रद वह्न्यभाव से युक्त है" या ह्रद में वह्नि का अभाव है "यह ज्ञान" ह्रदो वह्निमान्" इस अनुमिति का साक्षात् विरोधी है।" तद्वता बुद्धि के लिए "तद्भाव वत्ता" निश्चय प्रतिबन्धक होता है।

जिस प्रकार पक्ष में साध्याभाव बाध कहलाता है, उसी प्रकार "साध्यवान् से अन्य पक्ष, पक्ष में अविद्यमान साध्य, साध्यवान् में रहने वाला पक्ष का भेद, साध्य में रहने वाला पक्ष निष्ठ अभाव का प्रतियोगित्व, आदि भी बाध है।[2]

---

१. तर्क सं० पद० अनु० परि०।

२. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० निरू०।

बाध के मूलत: दो भेद किये जाते हैं। संकीर्ण बाध और असंकीर्ण बाध। संकीर्ण बाध उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

असंकीर्ण बाध

उत्पत्ति काल में घट गन्धवान् है क्योंकि पृथ्वी है या मूल में वृक्ष कपिसंयोगी है, क्योंकि वह, वह वृक्ष है। इन अनुमानों में क्रमशः गन्धाभाव से युक्त उत्पत्तिकालीन घट तथा कपि संयोगाभाव से युक्त मूल सहितवृक्ष ये बाध हैं।

यहां विचारणीय है कि दोषान्तर से संकीर्ण ही बाध होता है क्योंकि बाधस्थल में पक्ष में हेतु रहे तो व्यभिचार दोष होगा पक्ष में हेतु न रहे तो स्वरूपासिद्धि ऐसी परिस्थिति में बाध को इनसे भिन्न स्वतन्त्र दोष क्यों माना जाय। इसके विषय में कुछ तार्किकों का कथन है कि स्वरूपासिद्धि और व्यभिचार होने पर भी जब उनका ज्ञान नहीं है उस अवस्था में बाध ज्ञान से ही अनुमिति का निरोध होता है इसलिए इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास मानना आवश्यक है। किन्तु यह समाधान आलोच्य है पक्ष में साध्यभाव के ज्ञान की अवस्था में यदि पक्ष में हेतु का ज्ञान नहीं है तो "पक्षधर्मताज्ञान न होने से ही अनुमिति उत्पन्न नहीं होती। यदि पक्षधर्मता का ज्ञान है तो व्यभिचार ज्ञान के होने से अनुमिति नहीं होती है। व्यभिचार ज्ञान परामर्श का विरोधी होने से ही अनुमिति का विरोधी होता है। किन्तु जहां परामर्श विद्यमान है वहां व्यभिचार ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होती वहां बाध ज्ञान व्यभिचार विषयक नहीं हो सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य विश्वनाथ[1] पञ्चानन ने लिखा है कि जहां परामर्श के पश्चात् बाधज्ञान उत्पन्न होता है वहां व्यभिचार ज्ञान व्यर्थ होने से वहां बाधज्ञान को अनुमिति का प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि व्यभिचार ज्ञान अनुमिति में साक्षात्प्रतिबन्धक नहीं होता है। वह परामर्श का प्रतिबन्धक होकर ही अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। इसलिए परामर्श के बाद उत्पन्न होने वाली व्यभिचार बुद्धि व्यर्थ है। वहां अनुमिति की उत्पत्ति न होने का कारण बाधज्ञान को ही मानना आवश्यक है।[2]

असंकीर्णबाध का उदाहरण पूर्व दिया जा चुका है, उपर्युक्त उदाहरण में पक्ष में हेतु होने से स्वरूपासिद्धि नहीं है तथा "**प्रतियोगिव्याधिकरणसाध्याभावद् वृत्तित्व**" न होने से व्यभिचार भी नहीं है वहाँ अनुमति का प्रतिबन्धक बाधज्ञान होने से बाध को स्वतंत्र हेत्वाभास मानना आवश्यक हैं।

---

१. न्या० कौ० बाध ल० वि०।

२. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० निरू०।

बाध और बाधव्याप्य सत्प्रतिपक्ष को छोड़कर अन्य व्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध आदि हेत्वाभासों के व्याप्य हेत्वाभासों का उन्हीं में समावेश होता है। उनको स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं माना जाता किन्तु बाधव्याप्य सत्प्रतिपक्ष को बाध में समाविष्ट न कर उसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माना जाता है। इसका कोई तार्किक कारण प्रस्तुत न कर आचार्य विश्वनाथ[1] ने इसे मुनि की स्वतन्त्र इच्छा मानी है। सत्प्रतिपक्ष व्याप्य कोई हेत्वाभास नहीं है क्योंकि उसका ज्ञान अनुमिति या उसके कारण का प्रतिबन्धक नहीं है। साध्यभावव्याप्य की व्याप्यक्ता का ज्ञान साध्यवत्ता के ज्ञान का विरोधी मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

बाध का लक्षण :

आचार्य रघुनाथ[2] के अनुसार जिस धर्म से नियन्त्रित, विषयिता, विरोधी अनुमिति की जनकता को नियन्त्रक न होते हुए प्रकृत पक्ष विशेष्य वाली प्रकृत पक्षतावच्छेदक प्रकार वाले ग्रहत्व की अव्यापिका प्रकृत साध्यता वच्छेदक प्रकार वाले ग्रहत्व की अव्यापिका, तथा प्रकृत पक्षता के नियन्त्रक से नियन्त्रित बिशेष्यता से प्रदर्शित प्रकृत साध्यता के सम्बन्ध से नियन्त्रित साध्यतावच्छेदक से नियन्त्रित प्रकारता वाले ज्ञानत्व की व्यापिका जो प्रतिबध्यता उस प्रतिबध्यता से प्रदर्शित प्रतिबन्धकता के नियन्त्रक धर्म से युक्त, बाध हेत्वाभास कहलाता है।

बाधित हेत्वाभास के भेद :

बाधित हेत्वाभास[3] दस प्रकार का है। धर्मिग्राहकमान से बाधित हेतु तीन प्रकार के हैं, साध्य प्रतियोगिग्राहकमान से बाधित तीन तथा साध्यग्राहकमान बाधित एक तथा हेतुग्राहकमान से बाधित तीन।

धर्मिग्राहकमान से बाधित[4] :

जो हेतु पक्ष के ग्राहक प्रमाण से बाधित होता है उसे धर्मिग्राहकमान बाधित हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे घट में विभुत्व का बाध प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होता है।

अनुमान प्रमाण से बाधित[5] :

"परमाणु अवयवयुक्त है क्योंकि मूर्त है "इसमें परमाणुओं का सावयवत्व अनुमान प्रमाण से बाधित है।

आगम प्रमाण बाधित[6] :

मेरु पाषाणमय है क्योंकि पर्वत है "इस अनुमान में मेरु का पाषाणमयत्व मेरु को सुवर्ण कहने वाले आगम से बाधित है।

साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित[7] :

साध्य विरोधी के ग्राहक प्रमाण से बाधित हेत्वाभास को साध्य प्रतियोगि-

---

१. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० निरु०।

२. त० चि० दी० बाध प्र०।

३. से ७—त० चि० बाध प्र०।

ग्राहकमान बाधित कहते हैं—जैसे अग्नि अनुष्ण है क्योंकि कृतक हैं "इस अनुमान में अग्नि की अनुष्णता के प्रतियोगि उष्णता के ग्राहक प्रमाण से बाधित है। उसी प्रकार "शब्द अश्रावण हैं, क्योंकि गुण है, यह अनुमान साध्य विरोधी के ग्राहक अनुमान प्रमाण से बाधित है। शब्द में श्रावणत्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। उसी प्रकार साध्यप्रतियोगिग्राहक उपमान प्रमाण से बाधित हेत्वाभास का उदाहरण है, गवयत्व, गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है क्योंकि जाति है।

साध्यग्राहकमानसजातीयबाधिता[1]

"नर शिर कपाल शुचि है क्योंकि प्राणि का अङ्ग है—जैसे शङ्ख। इस अनुमान में दृष्टान्त शङ्ख को शुचि सिद्ध करने वाले आगम के सजातीय आगम" मलमूत्र पुरीषास्थिनिर्गतं ह्यशुचि स्मृतम्। नारं स्पृष्टवा तु सस्नेहं सचैलो जलमाविशेत्" से बाधित है।

हेतुग्राहकमानबाधित[2] :

हेतु के ग्राहक प्रमाण से जिसमें साध्य का बाध ज्ञात होता है उसे हेतुग्राहकमान बाधित कहते हैं।

हेतुग्राहकप्रत्यक्ष प्रमाण बाधित :

जल और वायु उष्ण है क्योंकि पृथ्वी में रहने वाले स्पर्श से भिन्न स्पर्श युक्त हैं। यहाँ पृथ्वी में रहने वाले स्पर्श से भिन्न स्पर्श को व्यक्त करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जल और वायु में उष्णस्पर्श का बाध होता है।

हेतुग्राहकअनुमान प्रमाण बाधित[3]

मन विभु है क्योंकि ज्ञान के समवायी "आत्मा" के संयोग का आधार है। मन में ज्ञान के समवायी के संयोग की आधारता को सिद्ध करने वाले अनुमान प्रमाण से ही मन का विभुत्व बाधित होता है।

हेतुग्राहकआगम प्रमाण बाधित—

"राजसूय यज्ञ ब्राह्मण का कर्तव्य है, क्योंकि स्वर्ग का साधन है। राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण कर्तव्यता का बाधक है, राजसूय को स्वर्ग साधन बतलाने वाला आगम" राजा राजसूयेन यजेत" इत्यादि। इस प्रकार से हेतु के ग्राहक आगम प्रमाण से बाधित होने से यह भी हेतुग्राहक मानबाधित हेत्वाभास है।

---

१. त० चि० बाध प्र०।
२. वही
३. वही।

आचार्य विश्वनाथ पंचानन,[1] अन्नम्भट्ट[2], केशव[3]मिश्र आदि ने बाध के भेदों का कोई संकेत नहीं किया है। उन्होंने पक्ष में साध्य के न रहने पर बाध दोष माना है। यहां विचारणीय है कि साध्य बाधित है या हेतु बाधित है वस्तुतः बाध तो साध्य का होता है किन्तु जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर द्वारा निश्चित होता है वह हेतु भी बाधित कहलाता है। बाधित साध्य का साधक हेतु भी बाधित है इसलिए बाध साध्य का दोष होकर हेतु का दोष है।

दृष्टान्ताभास एवं पक्षाभास

आचार्य गङ्गेश[4] ने वैशेषिकों के द्वारा प्रतिपादित बारह प्रकार के दृष्टान्ताभासों को स्वीकार किया है—किन्तु आचार्य गङ्गेश के टीकाकारों ने इसे विशेष महत्त्व नही दिया है। वे सिद्धान्ततः इन्हें हेतु दोषों में ही समाहित मानते हैं। महर्षि गौतम ने भी हेत्वाभासों के समान इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन तथा नवीन दोनों ही नैयायिक दृष्टान्ताभासों को पृथक् दोष नहीं मानते हैं दृष्टान्ताभासों का जिनको वैशेषिकों ने स्वीकार किया है, अन्तर्भाव असिद्धि में तथा पक्षाभासों का बाधित में सुगमता से किया जा सकता है। इसीलिए गङ्गेश ने पक्षाभास का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त उपनयाभास, निगमनाभास आदि जैन तार्किकों के द्वारा प्रदर्शित आभास भी हेत्वाभास के भेदों में भलीभांति समाविष्ट हो सकते हैं। इनका पृथक् विवेचन नैयायिकों के लिए पिष्टपेशण ही होता है इसलिए नैयायिकों ने इनका पृथक् आभासों के रूप में विवेचन करने का प्रयास नहीं किया है। जिन अन्य, आभासों का समावेश हेत्वाभासों में संभव नहीं है उनका समावेश छल, जाति निग्रहस्थानों में होता है।

---

१. न्या० सि० मु० अनु० ख० हेत्वा० निरू०।

२. तर्क सं० अनु० परि०।

३. तर्क भा० अनु० परि०।

४. इदं च साध्यसाधनोभयाश्रयविकलानुपदर्शितान्वयं विपरीतोपदर्शितान्वयानुपदर्शितव्यतिरेकविपरीतोपदर्शित व्यतिरेकभेदादाभासरूपमि तित० चि० अव० प्र०।

अध्याय —५

उपसंहार

"अनुमान-प्रामाण्य"

प्राचीन न्याय

अनुमान के प्रामाण्य के विषय में प्रश्न उपस्थित करते हुए न्याय सूत्राकार[1] कहते हैं कि रोध, उपधात और सादृश्य से वस्तुओं में व्यभिचार होने के कारण अनुमान प्रमाण नहीं है। नदी की वृद्धि देखने से वृष्टि का जो अनुमान होता है, उसे शेषवदनुमान कहा गया है। वह सांशयिक है। जल के अवरोध से भी नदी की पूर्णता दिखलाई पड़ती है। अत: नदी वृद्धि और वृष्टि में कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार का अनुमान मिथ्या सिद्ध हो सकता है। उसी प्रकार पिप्पिलिका के अनुसंचरण से भाविवृष्टि का अनुमान भी मिथ्या ही है। चींटीं के नीड़ का ध्वंस होने पर भी चींटी अण्डों को लेकर चलती है। पुरुष भी मयूर की ध्वनि का अनुकरण कर सकता है। अत: मयूर शब्द से जो अनुमान होता है, वह ध्वनि के सादृश्य के कारण मिथ्यानुमान हो सकता है।

अनुमान के मिथ्यात्व का निराकरण सूत्रकार[2] ने इस प्रकार से किया है, नदी वृद्धि मात्र अनुमिति का कारण नहीं है, अपितु विशिष्ट प्रकार का जल जो फेन बुद्बुदों" आदि से युक्त होता है, तथा जिसका तेजी से बहाव दृष्टिगोचर होता है वही जल भूतकालीन वृष्टि का अनुमापक है। केवल उदकवृद्धि मात्र से वृष्टि का अनुमान नहीं किया जाता है।

उसी प्रकार जब प्रीतिपूर्वक एक पंक्ति में चींटी का अण्डसंचार देखा जाता है, तभी वृष्टि का अनुमान किया जाता है, किसी एक पिप्पिलिका के अण्डसंचार से वृष्टि का अनुमान नहीं किया जाता है। जब कोई पुरुष मयूर की ध्वनि करता है, तो यह मयूर का शब्द नहीं है—उसके सदृश है यह विशेष ज्ञान न होने से ही मिथ्या अनुमान होता है। जो मयूर के विशिष्ट शब्द को पहचान कर अनुमान करता

---

१. रोधोपघातसदृशेभ्योऽनुमानमप्रमाणम्। न्या० सू० २-१-३८ पृ०

२. वही २-१-३९

है उसका अनुमान मिथ्या नहीं हो सकता है। जैसे सर्प मयूर के विशिष्ट शब्द को जानकर उसके विषय में यथार्थ अनुमान कर लेता है। उसको कभी भी मयूर शब्द के सदृश शब्द से मयूर के अस्तित्व की भ्रान्ति नहीं होती। मिथ्यानुमान तब अनुमाता का अपराध है (अनुमान का नहीं) जो व्याप्ति को बिना जाने ही अनुमान करता है। यह दोष अनुमाता का ही है।

न्याय मंजरीकार[1] जयन्त पूर्वपक्ष के रूप में अनुमान के प्रामाण्य पर आक्षेप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रमाण को गौण नहीं होना चाहिए। अनुमान प्रमाण गौण होने से उसके द्वारा अर्थनिश्चय सम्भव नहीं है। हेतु के पक्षधर्मत्व आदि रूप गौणी वृत्ति के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। पक्षधर्म को साध्य करने पर हेतु में पक्षधर्मत्व नहीं रहता है। और धर्मी को साध्य करने पर हेतु के साथ अन्वय व्याप्ति नहीं बनती। क्योंकि जहां धूम है वहां पर्वत है यह नहीं है, और धर्म और धर्मी दोनों को साध्य करने पर जहां धूम है वहां दोनों पर्वत और अग्नि नहीं हैं। अग्नि और पर्वत दोनों का धर्म धूम नहीं है। इसलिए जहां धूम है वहां पर्वत और अग्नि हैं, यह व्याप्ति भी नहीं है। इसलिए पक्षधर्मता और व्याप्ति की प्राप्ति के लिए धर्मविशिष्ट धर्मी में रूढ़ पक्ष शब्द केवल मात्र धर्मी का गौणीय वृत्ति "लक्षणा"[x] द्वारा बोधक होता है। अतः अनुमान लाक्षणिक होने से प्रमाण नहीं है।

अनुमान के प्रामाण्य विषयक पूर्व पक्ष को आगे बढ़ाते हुए जयन्त[2] कहते हैं— विशेष वस्तु का अनुमान नहीं होता है और सामान्य वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है, इसलिए अनुमान की बात ही कहां आती है। साहचर्य सम्बन्ध के विषय में भ्रम हो सकता है। शतवार देखने पर भी व्यभिचार की सम्भावना बनी ही रहती है। देशकाल और परिस्थिति के भेद से भिन्न वस्तुओं के विषय में अविनाभाव का नियम स्थिर नहीं किया जा सकता। अवस्था, काल और देश की भिन्नता से वस्तुओं में विभिन्न शक्तियां उत्पन्न होती हैं। उन विभिन्न शक्तियुक्त पदार्थों की अनुमान के द्वारा प्रसिद्धि अति दुर्लभ है। उनमें अविनाभाव होने पर भी उनका ज्ञान प्राप्त करना तीन लोकों के सभी पदार्थों के प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं है। जबतक विश्व के समस्त अग्नि धूमों का प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक उनके बीच अविनाभाव सम्बन्ध का निर्धारण नहीं किया जा सकता क्योंकि सम्भव है कोई धूम ऐसा भी हो जो अग्नि के बिना ही रहता हो।

उपर्युक्त पूर्व-पक्षों का उत्तर देते हुए आचार्य जयन्त[3] कहते हैं कि अनुमान

---

१. न्या० म० अनु० प्र०।

२. वही।

३. न्या० म० अनु० प्र०।

के प्रामाण्य का निराकरण सम्भव नहीं है। क्योंकि वह सर्वजन प्रसिद्ध है। अबला, बालक, गोपाल तथा हालिक भी निश्चितरूप से एक पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का ज्ञान करते हैं। अनुमान को अस्वीकार करने पर प्रत्यक्ष मात्र के आधार पर लोक व्यवहार नहीं चल सकता है, लोग चित्रलिखित की तरह हो जायेंगे। अनुमान प्रमाण के असिद्ध होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं अनुमान प्रमाण से ही वे सिद्ध हैं।

प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तु की सजातीयता रूप हेतु के द्वारा उस सजातीय वस्तु में सुख या दुख की साधनता को जानकर लोग उसका ग्रहण या त्याग करते हैं। नियम अर्थात् व्याप्ति बनाना शक्य नहीं है यह कथन उचित नहीं क्योंकि किसी भी वस्तु को देखकर किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है अपितु एक निश्चित वस्तु को देखकर ही दूसरी निश्चित वस्तु का ज्ञान होता है। यह वस्तुओं का स्वभाव है कि एक अविनाभूत वस्तु से दूसरी वस्तु का बोध होता है इसलिए जिसके ज्ञान से जिस किसी वस्तु "दूसरी वस्तु" का ज्ञान होता है उन दोनों में निश्चित रूप से कोई सम्बन्ध होना चाहिए। वह सम्बन्ध तादात्म्य या तदुत्पत्ति रूप है। किन्तु हमारे लिए तो वह साहचर्य रूप से ही हृदयङ्गम होता है। उसके रहने पर रहना और उसके न रहने पर न रहना यही अविनाभाव या सहचारिता सम्बन्ध है।

सकल धूम और अग्नि व्यक्ति का प्रत्यक्ष न होने से व्याप्तिग्रहण सम्भव नहीं है। इस आक्षेप के सन्दर्भ में जयन्त का कथन है कि व्याप्ति ग्रहण के लिए की त्रिभुवन में फैले धूमाग्निव्याप्ति के साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। अग्नित्वरूप सामान्य धर्म के आधार पर व्याप्ति ग्रहण होता है।

जो यह बात अनुमान प्रमाण के विषय में कही गई थी कि गौण होने के कारण अनुमान के द्वारा अर्थनिश्चय सम्भव नहीं है। इस कथन की आलोचना करते हुए जयन्त[1] कहते हैं कि हम प्रमाण की गौणता अनुमान के सन्दर्भ में नहीं देखते, पक्षधर्म आदि गौण पदों को उसकी व्याख्या करने वालों ने प्रयोग किया है। क्या इतने से ही प्रमाण गौण हो जाता है ? दूसरे शब्दों से उसका लक्षण करने पर तो वह गौण नहीं होगा।

दूसरी बात जो यह कही गयी थी कि देशकाल और अवस्था के भेद से वस्तुओं का स्वरूप बदल जाता है, इसलिए अविनाभाव नियम नहीं बन सकता है। वह भी ठीक नहीं है। ठीक प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण हो जाने पर विप्लव नहीं होता है। यदि होता है तो वह अनुमाता का अपराध है, अनुमान का अपराध नहीं है।

---

१. न्या० म० अनु० प्र०।

अविनाभाव सम्बन्ध के ग्रहण के उपायों में विभिन्नता होने के कारण अनुमान में अप्रमाणता हो सकती है इसका खण्डन करते हुए जयन्त[1] कहते हैं कि शब्दप्रमाण, अनुमान, तर्क, अथवा प्रत्यक्ष से गृहीत अविनाभाव सम्बन्ध में कोई भेद नहीं होता है। साधन भिन्न होने पर भी अविनाभाव सम्बन्ध का स्वरूप समान ही होता है। इसलिए उसके द्वारा अनुमान की अप्रमाणता की कोई सम्भावना नहीं है।

आचार्य उदयन[2] भी चार्वाक के पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हुए उसका निराकरण करते हैं। चार्वाक के अनुसार अनुमान में साध्य और साधन के मध्य अनौपाधिक सम्बन्ध का निश्चय होना दुष्कर है क्योंकि कालान्तरीय तथा देशान्तरीय धूम के सम्बन्ध में उपाधि के सन्देह के बने रहने की सम्भावना सवदा रहती है। इस आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य उदयन[3] कहते हैं कि सन्देह के रहने पर तथा न रहने पर दोनों ही अवस्थाओं में अनुमान सम्भव है कालान्तरीय देशान्तरीय के सम्बन्ध में उपाधि की आशंका निर्मूल है क्योंकि कालान्तर और देशान्तर प्रत्यक्ष गम्य न होने से चार्वाक मत में उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। उनकी सिद्धि अनुमान से ही हो सकती है। चार्वाक का उपाधि सन्देह भी अनुमान की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है, फिर सन्देह भी निश्चित ज्ञान की अपेक्षा करता है क्योंकि सन्देह तभी उत्पन्न होता है जब दो पदार्थों के सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष तथा विशेष धर्मों का स्मरण होता है। धूम से अग्नि के अनुमान को इसलिए तब सम्भावना मूलक नहीं माना जा सकता कि अग्नि के होने की सम्भावना नहीं तक उत्पन्न हो सकती है जब तक अग्नि का अनुभव निश्चयात्मक रूप से नहीं हो जाता है। और वह निश्चय अनुमिति रूप अनुभव से ही हो सकता है।

इसी प्रकार चार्वाक जो कार्यकारण भाव का खण्डन करते हैं वह भी उचित नहीं क्योंकि यदि कार्यकारणभाव में ही सन्देह किया जाय तो सन्देह की उत्पत्ति ही नहीं होगी, संशय का भी कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। यदि उसका कोई कारण नहीं है तो किसी भी कारण से किसी की भी उत्पत्ति हो सकती है यथा मृत्तिका से पट और बालुका से आभूषण निर्मित किये जा सकते हैं ऐसा नहीं होता है इसलिए चार्वाक को भी संशय का कोई न कोई कारण अवश्य मानना होगा। इस प्रकार अनिच्छा से ही चार्वाक को भी कार्यकारणभाव मानना अनिवार्य है। अतः वह कार्यकारणभाव मूलक अविनाभाव का निषेध नहीं कर सकता है।

---

१. न्या० म० अनु० प्र०।

२. न्या० कु० ३/६

३. न्या० कु० ३/७

अनुमान प्रमाण को नहीं मानने से चार्वाक दूसरों को अज्ञ या भ्रान्त नहीं कह सकते हैं क्योंकि दूसरे की आत्मगत अज्ञता तथा भ्रम को व्यक्ति मन के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, किन्तु उसके वाक्य का श्रवण आदि करके अनुमान करता है। सर्वत्र ही दूसरों के अज्ञान या भ्रम के विषय में सम्भावनात्मक होने से निश्चित रूप से वह कभी कहा नहीं जा सकता किन्तु यह भी कदापि नहीं कहा जा सकता है कि सर्वत्र अप्रत्यक्ष विषय में संभावनात्मक संशय ज्ञान के द्वारा ही जीवों की प्रवृत्ति तथा व्यवहार होते हैं स्त्री या पुत्र आदि के मर जाने पर उस मृत्यु के अनुमापक अनेक अव्यभिचारी हेतुओं का निश्चय करके अनुमान प्रमाण के द्वारा उस मृत्यु का निश्चय होने पर ही देह की दाह आदि क्रिया में प्रवृति होती है, अनेक स्थलों में भ्रमात्मक निश्चय हो सकता है। किन्तु मृत्यु के विषय में किसी तरह के संशय के रहने से सर्वत्र उस तरह दाहादि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अनुमान के प्रामाण्य को सन्दिग्ध कहने से उसका अप्रामाण्य भी सन्दिग्ध ही होगा किन्तु जो "सन्दिग्ध है, सिद्धान्त नहीं हो सकता अतः अनुमान अप्रामाण्य को सिद्धान्त कहना हो तो उसके साधक प्रमाण को भी कहना होगा। किन्तु चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं है।

न्यायभूषणकार[1] ने भी अनुमान की अप्रामाणिकता का लोक विरोध और स्ववचन विरोध दिखलाकर कई युक्तियों से निराकरण किया है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र[2] ने भी अनुमान को अप्रमाण कहने वाले चार्वाक का खण्डन किया है अनुमान को प्रमाण न मानने वाला चार्वाक अज्ञानी संशयी तथा भ्रान्त पुरुष की पहचान कैसे कर सकता है ? दूसरे पुरुष में रहने वाले अज्ञान संदेह और भ्रम स्थूलदृष्टि वाले चार्वाक के लिए प्रत्यक्ष गम्य नहीं है, और अन्य किसी प्रमाण से भी गम्य नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से अतिरिक्त किसी प्रमाण को नहीं मानता है। दूसरों के अज्ञान संशय और विपर्यय को जाने विना यदि वह किसी को उपदेश देने के लिए प्रवृत्त होता है तो अनवधेय वचन होने से समान्य लोगों द्वारा उन्मत्त के रूप में उपेक्षित होता है इसलिए इसे दूसरों के अज्ञान आदि को अभिप्राय के भेद से वचन के भेद से या उसकी चेष्टादि रूप हेतु से अनुमान करना होगा। इस प्रकार अनिच्छा से ही उसे अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार करना होगा।

वैशेषिकों ने भी प्रायः उपर्युक्त युक्तियों को ही अनुमान के प्रामाण्य के समर्थन में प्रस्तुत किया है।

---

१. न्यां भू० २ परि० व्याप्तिगृहे प्रसङ्गनिरासः।

२. सां० त कौ०

बौद्ध एवं जैन मत।

आचार्य धर्मकीर्ति[1] ने अनुमान की आवश्यकता और उसके प्रामाण्य का व्यवस्थापन करते हुए लिखा है कि "प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य दोनों का ज्ञान सम्पादित करने के लिए अन्य पुरुष की बुद्धि ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का भी सद्भाव मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी अविसंवादी है और बहिरर्थ से उदित होता है इसलिए दोनों में समबलत्व है। तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण को माने विना न तो प्रमाण सामान्य ही सिद्धि हो सकता है, और न किसी सामान्य ज्ञान को अप्रमाण ही कह सकते हैं'। कारण किसी भी ज्ञान सामान्य को प्रमाण सिद्ध करने के लिए उसका अविसंवादी होना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान का अविसंवादी होना उसका स्वभाव है, उसी प्रकार किसी ज्ञान को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए उसका विसंवादी होना आवश्यक है, मिथ्या ज्ञान के साथ विसंवाद का अविनाभाव सम्बन्ध है, ऐसी स्थित में अनुमान इस प्रकार होता है" अमुक ज्ञान अप्रमाण है क्योंकि वह विसंवादी है। अतः निष्कर्ष निकला कि प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है। क्योंकि लोक में प्रमाण सामान्य और अप्रमाण समान्य की स्थिति है। अविसंवादित्व और संवादित्व रूप हेतुओं के विना प्रमाण सामान्य एवं अप्रमाण सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

अनुमान प्रमाण के विना चार्वाक अपनी प्रतीति में अनुभूत प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अन्य पुरुषों के लिए प्रतिपादित नहीं कर सकते, क्योंकि अन्य पुरुषों की चित्त वृत्ति और विचारधारा प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अवगत नहीं होती। स्वर्ग परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि न हो सकने के कारण प्रतिषेधमुख से अनुपलब्धि हेतु द्वारा सम्पन्न होने के कारण अनुमान ही है। सम्बद्ध तथा उपलब्धि लक्षण प्राप्त विषयों का ही प्रतिषेध किया जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष द्वारा यह कार्य सम्पादित न होने के कारण अतीन्द्रिय पदार्थों के निषेध के लिए अनुमान प्रमाण को स्वीकार करना अपरिहार्य है।[2]

१, उद्धृत प्र० मा० पृ० ७" ८

२. यथा व्यवहारादिकार्यलिङ्गमन्तरेणान्यधियो गतिः पद बुद्धि निश्चयो न सम्भवति तथा उपलब्धिलिङ्गमन्तरेण परलोकादेः प्रतिषेधो न घटते इत्यनुपद्यमान-प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यन्थामति परलोकादिप्रतिषेधसाधकस्वभावादिलिङ्ग त्रयं प्रमाणान्तरस्यादनुमानस्य समीचीनभावं साधयति न्या० र० मा० २ परि०।

यदि यह कहा जाय कि अनुमान आदि अन्य प्रमाण सदैव निर्दोष नहीं होते इसलिए वे अप्रमाण हैं। यह कथन उचित नहीं है, कारण प्रत्यक्ष ज्ञान भी भ्रांत हो सकता है, पीतरोगी को शंख पीला दिखलाई पड़ता है। तैमरिक रोगी को सर्वत्र केश गुच्छ दिखलाई पड़ते हैं, रज्जु में सर्प का तथा मृग मरीचिका में जल का प्रत्यक्ष होता है आदि। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण विसंवादी हो सकता है उसी प्रकार अनुमान भी विसंवादी हो सकता है जो विसंवादी है उसे अप्रमाण कहना उचित हैं किन्तु जो अनुमान अविसंवादी है, उसे अप्रमाण कहना कथमपि उचित नहीं है।

अनुमान को अप्रमाण कहने वाले बार्हस्पत्य मत की समालोचना करके आचार्य शान्ति[1] रक्षित ने भी धर्मकीर्ति मत का अनुगमन किया है। शान्तिरक्षित के व्याख्याकार कमलशील[2] ने भी बार्हस्पत्य मत तथा पुरन्दर चार्वाक मत की आलोचना करके गुरू के स्वसिद्धान्त की ही पुष्टि की है।

जैन मत :

माणिक्यनन्दी के व्याख्याकारों में आचार्य प्रभाचन्द्र[3] तथा लघु अनन्तवीर्य ने चार्वाक के आक्षेपों का निराकरण करके अनुमान के प्रामाण्य की रक्षा की है।

चार्वाक के मत को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए लघु अनन्तवीर्य[4] कहते हैं कि चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण मानने वालों के अनुसार "निश्चित अविनाभावी लिङ्ग से जो लिङ्गी "साध्य" का ज्ञान होता है वह अनुमान कहलाता है, लिङ्ग अर्थात् हेतु तीन प्रकार का होता है "स्वभाव कार्य और अनुपलब्धि इसमें से स्वभाव लिंग के विना भी साध्य का सद्भाव पाया जाता है। इस देश और इस काल में आवलों के कसैले होने पर भी देशान्तर और कालान्तर में अन्य द्रव्य से सम्बन्ध मिलने पर अन्यथा स्वभाव देखा जा सकता है। अर्थात् दुग्धादि विशेष रसायन से सींचे जाने पर किसी देश या किसी काल में आवलों का मधुर रस पाया जा सकता है। अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी है।

इसी प्रकार किसी देश में आम्र वृक्ष रूप है तो किसी देश में लता रूप में पाया जाता है। कहीं शीशम वृक्ष रूप है तो कहीं लता रुप होने की सम्भावना है। इसलिए स्वभाव हेतु के व्यभिचारी होने से उसके द्वारा होने वाला साध्य ज्ञान रूप

१. तत्व० सं० अनु० परी० प्र०

२. तत्व सं० पं अनु० परी० प्र०

३. प्र० क० मा० २ प्रत्यक्ष परि०

४. प्र० र० मा० २ परि०।

अनुमान व्यभिचारी सिद्ध होता है। कार्य लिङ्ग भी व्यभिचारी ही है यदि धूम को अग्नि का कार्य मानकर उससे अग्नि का अनुमान करते हैं तो इन्द्र जालिक के घट आदि में धूम अग्नि के बिना भी निकलता हुआ देश जाता है। अत: कार्य हेतु व्यभिचारी होने से उसके द्वारा होने वाला साध्य का ज्ञान भी अयथार्थ ही होगा। अत: एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना उचित है। क्योंकि उसी में अविसंवादित्वव है।

उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए जैन तार्किक[1] कहते हैं कि चार्वाक अनुमान प्रमाण का निषेध उत्पादक कारणों के अभाव से करते हैं? अथवा विषय रूप आलम्बन के अभाव से करते है? इनमें से प्रथम पक्ष इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि जिसकी अन्यथानुपपत्ति सुनिश्चित है, ऐसे अनुमान के उत्पादक साधन का सद्भाव पाया जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान के विषय रूप आलम्बन अग्नि आदि के विचार चतुर लोगों के चित्त में सदा प्रतीत होते हैं और स्वभाव हेतु में व्यभिचार की सम्भावना इसलिए नहीं हैं कि केवल स्वभाव को हेतुत्व ही नहीं है किन्तु व्याप्य रूप स्वभाव को ही व्यापक रूप साध्य के प्रति हेतुत्व है। व्याप्य में व्यापक व्यभिचारत्व नहीं रह सकता यदि व्यभिचारत्व है तो व्याप्य कैसे?

और विशेष बात यह है कि अनुमान को प्रमाण न मानने वाले तथा स्वभाव हेतु को व्यभिचारी कहने वाले चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं रहता है क्योंकि प्रत्यक्ष में अविसंवादकता और अगौणता अर्थात् मुख्यता दोनों भी अनुमान को माने बिना निश्चित नहीं की जा सकती। इन दोनों का प्रमाणत्व के साथ अबिनाभाव सम्बन्ध है। और जो अग्नि के बिना धूम के होने की सम्भावना व्यक्त की गई है वह अशिक्षित कथन प्रतीत होती है। क्योंकि सुनिश्चित कार्य का कारण के साथ व्यभिचार नहीं पाया जाता। अग्नि से उत्पन्न धूम जिस प्रकार साधन रूप से फैलता हुआ पर्वत भाग में पाया जाता है वैसा धूम इन्द्रजालिक के घट में नहीं पाया जाता है। एवं बांबी में जो धूम का अन्यथा सदभाव देखा जाता है उसके विषय में प्रश्न यह है कि यह बांबीं अग्नि स्वभाव है या अनग्नि स्वभाव, यदि वह अग्नि स्वभाव है तो वह अग्नि ही है, उससे उत्पन्न धूम के व्यभिचारत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? और यदि वह अग्नि स्वभाव नहीं है तो उससे निकलने वाला पदार्थ धूम ही नहीं है फिर उसका अग्नि के साथ अव्यभिचार सम्भव ही नही है।[2]

---

१. प्र० भा० टी० र० २ परि०

२. प्र० र० भा० २ परि०

दूसरी बात यह है कि एक प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाला यह चार्वाक शिष्यादि पर पुरुष को प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का प्रतिपादन कैसे करेगा ? क्योंकि पर पुरुष की आत्मा का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं किया जा सकता "यदि यह कहा जाय कि वचन चातुर्यादि से पर पुरुष की बुद्धि को जान लेगा तब कार्य से कारण का ही अनुमान आ गया। अनुमान का निशेध कैसे ?[1]

नव्य न्याय मत—

आचार्य गङ्गेश[2] अनुमानाप्रामाण्य विषयक चार्वाक मत को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित कर खण्डन करते हैं। चार्वाक के अनुसार "अनुमान प्रमाण नहीं हैं योग्य उपाधियों के अभाव का निश्चय योग्यानुपलब्धि के द्वारा हो सकता है। किन्तु अयोग्योपाधि की आशंका से व्यभिचार की आशंका बनी रहती है, सौ बार सहचार देखने पर भी व्यभिचार की उपलब्धि होती हैं। इसलिए अनुमान प्रमाण नहीं है किन्तु पर्वतादि के प्रत्यक्ष से अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो वहां धूमार्थी को अग्नि के विषय में जो प्रवृत्ति होती है उसका कारण सम्भावना मात्र है, सम्भावना के आधार पर ही अग्नि बिषयक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। संभावना के कारण के रूप में लिङ्गज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मान सकते। सम्भावना विषय अग्नि अलीक होने से सम्भावना प्रमाण नहीं है। संवादाभिमान से उसमें प्रामाण्य का अभिमान होता है वस्तुतः वह प्रमाण नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए आचार्य गङ्गेश[3] कहते हैं कि अप्रमाण साधर्म्य अर्थात् प्रमाणताप्रयोजक रूपशून्यत्व हेतु के द्वारा अप्रमाणय को सिद्ध करना दृष्ट साधर्म्य का अनुमान है। इस प्रकार वलातू अनुमान प्रमाण सिद्ध होता है "अनुमान प्रमाण नहीं है" यह वाक्य संदिग्ध अथवा विपर्यस्त पुरुष को उद्देश्य करके बोला जाता है। किन्तु परकीय व्यक्ति में रहने वाला सन्देह और भ्रम अप्रत्यक्ष हैं। उनका ज्ञान प्रत्यक्षेतर प्रमाण से ही हो सकता है। अपि च अनुमान अप्रमाण है इस वाक्य के प्रामाण्य और अप्रमाण्य दोनों का व्याघात होता है। तात्पर्य यदि अनुमान अप्रमाण है इस वाक्य को अप्रमाण मानें तो अप्रामाण्य भ्रम का जनक होने से अनुमान का प्रामाण्य आ जायेगा। क्योंकि अप्रामाण्याभाववति अप्रामाण्य प्रकारत्व रूप भ्रम में विशेषांश में "प्रामाण्यवत्त्व" आ जाता है। इस प्रकार अनुमान

---

१. प्र० र० भा० २ परि०

२. अथानुमानं न प्रमाणं योग्योपाधीनां योग्यानुपलब्ध्याऽभावनिश्चयेऽप्योग्योपाधिशङ्कया व्यभिचारसंशयाच्छतशः सहचरितयोरपिव्यभिचारोमलब्धेश्च लोके धूमादिदर्शनानन्तरं वह्न्यादि व्यवहारश्च सम्भावनामात्रात् संवादेन च प्रमाण्याभिमानादिति ना प्रत्यक्षं प्रमाणमिति—त० चि० अनु० प्र०।

३. त० चि० अनु० प्र०।

प्रामाण्य सिद्ध होता है। दूसरी[1] बात यह है कि अनुमान को अप्रमाण मानने पर प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जाता है क्योंकि प्रामाण्य का ग्रहण अनुमान से ही होता है। स्वत: प्रामाण्य मानने पर कहीं संशय नहीं होगा। इसलिए संशयानुपपत्ति के कारण प्रामाण्य को अनुमेय ही मानना होगा।

कुछ धुरन्धर नैयायिकों[2] के अनुसार "मैं वह्नि का अनुमान करता हूं, साक्षात्कार नहीं" इस प्रतीति के आधार पर अतिरिक्त अनुमितित्व जाति की सिद्धि होती है। उस जाति से युक्त के कारण में रूप में लिङ्ग ज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है। उस प्रतीति से सिद्ध होने वाली अतिरिक्त जाति को हम प्रत्यक्षत्व की व्याप्य ही जाति मान लेंगे तो लिङ्ग ज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानना पड़ेगा यह कथन उचित नहीं है क्यों उसे प्रत्यक्षत्व की व्याप्य जाति मानने पर चाक्षुषत्वादि जातियों के साथ सांकर्य प्रसङ्ग होता है। उस सांकर्य के निराकरण के लिए उसे मानस प्रत्यक्ष मानने पर मानस प्रत्यक्ष के लिए चाक्षुषादि सामग्री प्रतिबन्धक होने से पर्वत के साथ चक्षु सन्निकर्ष के रहते मानस वह्नि का ज्ञान नहीं होगा। इसके लिए अनुमित्यन्य मानस के लिए चाक्षुष सामग्री को प्रतिबन्धक मानना होगा। इस प्रकार प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में अनुमित्यन्यत्व का प्रवेश करने से गौरव होगा। उसकी अपेक्षा वहां स्वतन्त्र अनुमितित्व मानना ही उचित है। अपिच कि अनुमित्यन्य मानस प्रत्यक्ष में आत्मलौकिक विषयता नियम पूर्वक रहती है। इसीलिए लौकिक विषयता सम्बन्ध से आत्मत्व ही मानसत्व है' वही मन: सन्निकर्ष की जन्यता का अवच्छेदक है। इसलिए अनुमिति में मानसत्व नहीं रह सकता।[1]

अनुमिति में प्रत्यक्षत्व मानने पर भिन्न विषयक प्रत्यक्ष में अनुमित्सा विशिष्ट अनुमिति सामग्री प्रतिबन्धक होने से, वह्न्यादि की अनुमित्सा के साथ वह्नि की अनुमिति की सामग्री रहने पर भी वह्नि विषयक अनुमिति नहीं होगी। उसके लिए सामग्री की प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में अनुमित्यन्यत्व का अधिक निवेश करना होगा। उसकी अपेक्षा अनुमिति को स्वतन्त्र मानकर भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के लिए अनुमिति सामग्री को प्रतिबन्धक माना जा सकता है।

इस प्रकार से अनुमिति में प्रत्यक्षत्व को स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष सामग्री की दशा में अनुमिति का निर्वाह करने के लिए अनुमित्यन्यत्व का प्रतिवध्यतावच्छेदक कोटि में अधिक निवेश करने से महा गौरव होता है। अत: अनुमितित्व जाति को प्रत्यक्षत्व से भिन्न मानना चाहिए प्रत्यक्षत्व और अनुमितित्व में भिन्नता सिद्ध होने पर

१. न्या० कौ० अनु० ख० अनु० प्रामा० पृ० २५०।
२. न्या० कौ० पृ० २४३-२४४

उससे युक्त प्रमाओं में तथा उनके कारणों में भी भिन्नता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से अनुमान का स्वतन्त्र प्रमाणत्व रूप से प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

अनुमान की व्यापकता

अनुमान के समस्त अंग प्रत्यगों का निरूपण कर देने के पश्चात् उसकी अन्य प्रमाणों में विशिष्ट स्थिति जानने के लिए अन्य प्रमाणों का उसमें कहां तक समावेश हो सकता है उसकी व्यापकता कहां तक किस रूप में है यह जान लेना आवश्यक है।

अनुमान की व्यापकता हमारे सामने कई तरह से व्यक्त होती है। पहले तो अनुमान इस अर्थ में व्यापक है कि अति भौतिक वादी चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक उसके प्रामाण्य को स्वीकार करते है। दूसरे अर्थ में अनुमान की व्यापकता यह है कि विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये उपमान अर्थापत्त्यादि समस्त ज्ञान के साधनों का इसमें अन्तर्भाव दिखलाया जा सकता है।

इस अध्याय में विभिन तार्किकों के दृष्टि से किन-किन अतिरिक्त प्रमाणों का इसमें समावेश हो सकता है इसका विचार कर्तव्य है।

प्राचीन न्याय

प्राचान न्याय[1] मत के अनुसार प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द, अर्थात् अनुमान में प्रत्यक्ष उपमान और शब्द को छोड़कर इतर किन प्रमाणों का अन्तर्भाव सम्भव है इसका विवेचन लक्ष्य है।

अनुमान एवं प्रत्यक्ष

सबसे पहले विचारणीय विषय है कि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है? महर्षि गौतम[2] ने इस प्रश्न को उपस्थित कर निराकरण किया है। पूर्व पक्ष का आशय यह है कि प्रत्यक्ष भी अनुमान है क्योंकि किसी वस्तु के आगे के भाग का इन्द्रिय सन्निकर्ष से ग्रहण होने पर वस्तु की उपलब्धि होती है। गौतम के आशय को स्पप्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—जो यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से "वृक्ष" इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनुमान ही है। क्योंकि वृक्ष के एक भाग को ग्रहण से वृक्ष की उपलब्धि "ज्ञान" होती है। वृक्ष का अर्वाग्भाग वृक्ष नहीं है। जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है। उसी प्रकार वृक्ष के एक भाग को देखकर वृक्ष का अनुमान होता है।

उपर्युक्त पूर्व पक्ष का [3]वात्स्यायन ने यथोचित उत्तर दिया है। वात्स्यायन

१- न्या० सू० १-१-३
२, न्या० सू० २-१-३१
३, न्याद भा० २-१-३१

प्रश्न करते हैं—गृह्यमाण एक भाग से भिन्न अनुमेय भाग को मानते हो? उसका उत्तर अनुमान वादी देता है कि वस्तु को अवयव समूह मानने पर पूर्व भाग के अवयव और परभाग के अवयव भिन्न है द्रव्यान्तर अवयवी मानने पर पूर्व भाग अवयव है और वृक्ष अवयवी है। इसका उत्तर देते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि अवयव समूह पक्ष में एक देश के ग्रहण से वृक्ष बुद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उनमे परस्पर सम्बन्ध नहीं है। पूर्वभाग भी वृक्ष नहीं है पर भाग भी वृक्ष नहीं है। एक देश के ग्रहण से देशान्तर का अनुमान होकर समुदाय के प्रतिसन्धान से वृक्ष बुद्धि उत्पन्न होती है यह मानने पर "वृक्ष" यह ज्ञान अनुमान नहीं है। यह मानना होगा। अवयव स्वीकार करने पर अवयव से भिन्न रूप में अवयवी का ग्रहण नहीं होता है। अवयवी का ही ग्रहण होता है अतः वृक्ष का ज्ञान अनुमान नहीं है।

एक देश के ग्रहण को आधार बनाकर प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कहा जा सकता—जो एक देश का ग्रहण होता है, वह प्रत्यक्ष से वस्तु का ग्रहण है, "ग्रहण" निर्विषयक नहीं होता है। वस्तु का एक देश वस्तु से भिन्न नहीं है, वस्तु के एक देश का ग्रहण वस्तु का ही ग्रहण है। अतः एक देश के ग्रहण से वस्तु के ग्रहण को अनुमान कहना उचित नहीं है। क्योंकि वहां कोई हेतु नहीं है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक है। धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान होता है। धूम के प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कह सकते वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य है, अग्नि का ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य नहीं है। यही प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद है। इस प्रकार वात्स्यायन[1] के ही मत का समर्थन वार्तिककार, तात्पर्य टीकाकार आदि प्राचीन नैयायिकों ने किया है।

प्राचीन नैयायिक शब्द को भी अनुमान से भिन्न प्रमाण मानते हैं। उनके मत से शब्द प्रमाण का अनुमान मे अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अनुमान के अंगों की वहां कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए शब्द स्वतन्त्र प्रमाण है। उसी प्रकार उपमान[2] भी प्राचीन नैयायिकों के विचार से स्वतन्त्र प्रमाण है। इसका भी अनुमान में अन्तर्भाव नहीं होता है।

---

१. न्या० भा० २-१-३१-३२
२. न्या० सू० २-१-४७, ४८, ४९

अनुमान एवं अर्थापत्ति

न्याय सूत्र[1] ने अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। न्याय सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार[2] कहते हैं "अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है जिस प्रकार प्रत्यक्ष वस्तु से अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान कहलाता है उसी प्रकार वाक्यार्थ ज्ञान से अभिहित अर्थ का विपरीत व्याप्ति के द्वारा ग्रहण अर्थापत्ति रूप अनुमान के अन्तर्गत ही आता है। उद्योतकर[3] तथा वचस्पति मिश्र ने श्रुतार्थापत्ति के प्रचलित उदाहरण का प्रयोग करते हुए भाष्यकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्षगम्य देवदत्त की पुष्टता से अप्रत्यक्ष रात्रि भोजन का ज्ञान अनुमान है अर्थापत्ति नहीं।[4]

भाष्यकार[5] ने अर्थापत्ति का लक्षण किया है—जहां किसी एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ का लाभ हो जाता है उसी का नाम अर्थापत्ति है। इस लक्षण से प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति के रूप में उन्हें श्रुतार्थापत्ति ही इष्ट है इसी का उन्होंने अनुमान में अन्तर्भाव किया है। उद्योतकर[6] और वाचस्पति[7] मिश्र के उदाहरण निरूपण से भी यही बात ज्ञात होती है।

अर्थापत्ति प्रमाण का जयन्त[8] ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया हैं। उनका अभिप्राय है कि विचार करने पर अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है। सम्बन्ध के बिना एक वस्तु दूसरी वस्तु का बोध नहीं करा सकती। दूसरी बात यह है कि उसके बिना इसकी उपपत्ति नही हो सकती। यह व्यतिरेक सूक्ति है। उसके पश्चात् उसके रहने पर इसकी उपपत्ति होती है। यह अन्वय सूक्ति है, अन्वय तथा व्यतिरेक हेतु के धर्म हैं, तब अर्थापत्ति अनुमान कैसे नहीं ?

अभाव पूर्विका अर्थापत्ति का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है। जीबित के गृहाभाव रूप हेतु के द्वारा चैत्र का बहिर्भाव ज्ञात होता है। चैत्र का गृहाभाव रूप धर्मों बहिर्भाव से तद्वान् है यह साध्य है। तथा जीबित मनुष्य का गृहाभावत्व हेतु हैं। तथा पूर्वोलब्ध एवंविध गृहाभावत्व हेतु है। तथा पूर्वोपलब्ध एवंविध गृहा भाव उदाहरण है। इस प्रकार इसमें अनुमान की प्रक्रिबा पूर्ण होती है।

---

१. न्या० सू० २-२-२, ३
१. वा० भा० २-२-२, ३
३. न्याय० वा० २-२-२
४. न्या० वा० ता० टी० २-२-२, ३
५. वा० भा० २-२-१
६. न्या० वा० २-२-१
७. न्याय० वा० ता० टी० २-२-१
८. न्याय० म० प्रमा० आ० १ पृ० ४०

श्रुतार्थापत्ति भी अनुमान से भिन्न नहीं है। वाक्य के एक अंश की कल्पना अनुपपन्न होने से तथा कार्य लिङ्ग के विद्यमान होने से यहां अनुमान ही होता है। जैसे पर्वत में धूम को देखकर उसके कारणीभूत वह्नि का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द से पीनत्व को जानकर उसके कारण भोजन का अनुमान किया जाता है, दोनों में क्या अन्तर है? जिस प्रकार धूम अग्नि का कार्य है उसी प्रकार पीनत्व भोजन का कार्य है यह भूयोदर्शन द्वारा अवगत होता है। हेतु का ज्ञान कहीं प्रत्यक्ष से होता है कहीं शब्द से होता है दोनों में कोई भेद नहीं है।

आचार्य उदयन[1] ने अनुपपत्ति तथा विरोध मूलक अर्थापत्तियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। उनका तात्पर्य यह है कि जीवित देवदत्त घर में नहीं है इस ज्ञान के बाद "बाहर है" यह जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को अर्थापत्ति कहा जाता है इसमें भी अनियम्य अर्थात् अव्याप्य की अनुपत्ति नहीं है तथा अनियन्ता अव्यापक अर्थात् उपपादक नहीं होता। कारण व्यापक अर्थात् बहिः सत्ता का अभाव होने पर व्याप्य अर्थात् अनुपद्यमान अर्थ गृहाभाव का सर्वदा अभाव पाया जाता है। इस प्रकार अनुपत्ति ज्ञान में व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान कारण होने से उक्त दृष्टार्थापत्ति को केवल व्यतिरेकी अनुमान में सुगमता पूर्वक समाविष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार श्रुतार्थापत्ति को भी, देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, क्योंकि दिन में भोजन न करते हुए भी मोटा है इस अनुमान में समाविष्ट किया जा सकता है।

अनुपलब्धि

महर्षि गौतम[2] ने अभाव प्रमाण का भी अनुमान में अन्तर्भाव किया है। वात्स्यायन[3] के अनुसार विरोधी अभूत अर्थात् अविद्यमान विरोधी पदार्थ से भूत अर्थात् विद्यमान पदार्थ की कल्पना को अभाव कहा जाता है। जैसे कि अविद्यमान वर्षा के अभाव से उसके विरोधी वायु अभ्र के संयोग का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार अभाव प्रमाण का स्वरूप भाष्यकार ने उपस्थित किया है, भाष्यकार[4] का कथन है कि वह प्रमाण तो है किन्तु प्रमाणान्तर नहीं है इसका अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है क्योंकि कार्य की अनुपपत्ति से कारणाभाव का अनुमान किया जाता है। अभाव का अन्तर्भाव अनुमान के किस भेद में होता है इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए उद्योतकर[5] ने लिखा है कि सामान्यतोदृष्ट में इसका अन्तर्भाव होता है।

---

१. न्या० कु० ३।१६
२. न्या० सू० २-२-१, २
३. वा० भा० २-२'१
४. वा० भा० २-२-२
५. न्या० वा० २-२-२

वाचस्पति मिश्र[1] ने भी वार्तिककार का समर्थन करते हुए अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव किया है, किन्तु उदयन[2] तथा उसके उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव किया है। जयन्त[3] ने अभाव प्रमाण को अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों में अन्तर्भूत माना है। भासर्वज्ञ ने अपने तीन प्रमाणों में दृष्टान्तानुसार अभाव प्रमाण का समावेश किया है।

संभव

खारी में द्रोण आढ़क, प्रत्य कुडव इत्यादि अन्य परिमाण सम्भव है। यह ज्ञान करने वाला सम्भव नामक पृथक् प्रमाण पौराणिकों को मान्य है। वह भी अनुमान के अन्तर्गत ही है, क्योंकि द्रोण इत्यादि के बिना न होने वाली खारी अपने में द्रोण आढक आदि अल्प परिमाण वाले की सत्ता का अनुमान कराता है। महर्षि गौतम के अनुसार सम्भव प्रमाण को अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं माना जा सकता।

आचार्य वात्स्यायन के अनुसार अविनाभावरूप व्याप्ति के द्वारा गृहीत समुदाय और समुदायी में से समुदाय के द्वारा समुदायी का ग्रहण रूप सम्भव प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत ही है। उद्योतकर[4] वाचस्पतिमिश्र[5] जयन्त[6] भासर्वज्ञ, उदयन आदि ने भी भाष्यकार का समर्थन करके सम्भव को अनुमान ही माना हैं।

वैशेषिक मत

वैशेषिक शब्द उपमान, अर्थापत्ति अनुपलब्धि सम्भव आदि का अनुमान में ही अन्तर्भाव करते हैं वैशेषिकों के दृष्टिकोण से अनुमान नैयायिको की अपेक्षा अधिक व्यापक है। नैयायिकों के शब्द और उपमान रूप दो स्वतन्त्र प्रमाणों का भी ये अनुमान में समावेश कर लेते हैं।

शब्द प्रमाण

महर्षि कणाद[7] ने शब्दज्ञान को लैङ्गिक ज्ञान के समान व्याख्यात होने के कारण उसको स्वतन्त्र[8] प्रमाण न मानते हुए उसका लैङ्गिक ज्ञान में ही समावेश

१. न्या० वा० ता० टी० २-२-२
२. न्या० कु० ३।२०
३. न्या० म० प्रमा० आ० १ पृ० ४६, ४७
४. न्या वा० २-२-१
५. न्या० वा० ता० टी० २-२-१
६. न्या० परि० २-२-१
७. वै० सू०
८. प्र० भा०

किया है। प्रशस्तपाद के अनुसार शब्द और अनुमान की प्रक्रिया समान होने से शब्द भी अनुमान है। समान प्रक्रिया से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्ति पक्षधर्मता के आधार पर होती है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण की भी प्रवृत्ति भी व्याप्ति पक्षधर्मता के आधार पर होती है। उसी प्रकार शब्द प्रमाण की भी प्रवृत्ति भी व्याप्ति पक्ष धर्मता के आधार पर होती है। अनुमान की तरह शब्द भी अपने अर्थ का बोध तब तक नहीं करा सकता जब तक अर्थ के साथ शब्द का अव्यभिचार गृहीत नहीं होता जैसे व्याप्ति के आधार पर अनुमान में हेतु धूम अप्रत्यक्ष साध्य अग्नि का ज्ञापक होता है उसी प्रकार शब्द भी समय "सम्बन्ध" बल से अपने अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञापक होने से अनुमान ही है। किरणावलीकार[1] उदयन के अनुसार शब्द स्थल में इस प्रकार की अनुमान प्रक्रिया हो सकती है। ये पदार्थ परस्पर सम्बन्धित हैं क्योंकि आकांक्षादि से युक्त पदों द्वारा स्मारित हैं। अथवा ये पद स्मारित अर्थ संसर्ग पूर्वक हैं क्योंकि आकाक्षादि से युक्त होते हुए पदार्थों के स्मारक हैं। जैसे गामभ्याज इत्यादि पद समूह। इस प्रकार पदार्थ पक्षक तथा पद पक्षक दोनों प्रकार के अनुमानों को उपस्थित कर उदयन ने शब्द के अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का दिग्दर्शन किया है।

उपमान

उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रशस्तपाद[2] ने आप्तवचन में ही किया है। फलस्वरूप वह अनुमान ही है। इसी का समर्थन श्रीधर[3] उदयन[4] आदि टिकाकारों ने भी किया है।

संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि के द्वारा सिद्ध न होने से वह उपमान का फल है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वाक्य द्वारा ही सम्बन्ध का ज्ञान होता हैं यह जो गोसदृश है उसकीगवय संज्ञा है इस वाक्य से सम्बन्ध का ज्ञान होने के पश्चात केवल यह "वही" है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है।

अर्थापत्ति

अर्थापत्ति प्रमाण का प्रशस्तपाद[5] ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। दर्शनार्थापत्ति का विरोधी अनुमान में तथा श्रुतार्थापति का शब्दज अनुमान में अन्तर्भाव होता है।

---

१. किरणा० लै० ज्ञा० प्र०
२. आप्तेन प्रसिद्धस्य गवयस्य गवय प्रतिपादनात् उपमाने आप्तवचन मेव।
३. न्याय क० लै० प्र०
४. किरणा० लै० प्र०
५. किरणावली बु० निरुपण।

दर्शनार्थापत्ति की व्याख्या करते हुए उदयनाचार्य[1] कहते हैं कि दर्शन होते हुए जो अर्थ हो वह दर्शनार्थ है। दृश्यमान अर्थ जहां अनुपपद्यमान होते हुए अर्थान्तर की कल्पना कराता है वहां दर्शनार्थापत्ति है जैसे जीवित होते हुए देवदत्त घर में नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जो गृहासत्व है वह दृढता से प्रमाण के उपलब्ध होने के कारण जीवित व्यक्ति का कहीं पर अस्तित्व होना चाहिए इस प्रकार अन्यथा अनुपपद्यमान वहिस्सत्व की कल्पना की जाती है। इस अर्थापत्ति प्रमाण का विरोधी अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है। यद्यपि जीवित का गृहाभाव वहिः सद्भाव का विरोधी नहीं है अपितु उपपादक होने से अनुकुल ही है तथापि जीवन और असत्व परस्पर विरोधी होने से यह अनुमान विरोध्यनुमान कहा गया है।

श्रुतार्थापत्ति की स्वतन्त्रता का खण्डन करते हुए किरणावलीकार[2] उदयन कहते हैं कि हेतुभूत वाक्य के द्वारा अनुमित पीनत्त्व से उसका कारण रात्रि भोजन अनुमित होता है। यहाँ अवधेय है कि श्रुतार्थापत्ति स्वसिद्धान्त विरोधी है क्योंकि सिद्ध पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है पीनो देवदत्त: दिवा न भुङ्‌क्ते यहां पर रात्री भुङ्क्ते यह वाक्य शेष है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह अनुलम्भ से बाधित है कण्ठ ताल्वादि व्यापार के न रहने से उसकी शङ्का भी सम्भव नहीं है। इसलिए रात्री भुङ्क्ते अभिप्राय हो ग्रहण करना चाहिये। वेदवाक्य में वक्ता का अभाव होने से अभिप्राय भी नहीं है अत: श्रुतार्थापत्ति भी नही है। लौकिक व्यवहार में श्रुतार्थापत्ति का व्यवहार निष्प्रयोजक है श्रुतार्थापत्ति में वक्ता का अभिप्राय आवश्यक होने से वेद को पौरुषेय मानना होगा वा श्रुतार्थापत्ति को छोड़ना होगा। इसलिए यही उचित है कि श्रुतार्थापति अनुमित अनुमान है।

सम्भव

प्रशस्तपाद[3] के अनुसार सम्भव भी अविनाभावी होने से अनुमान ही है। सम्भव का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए किरणावलीकार उदयन[4] कहते है कि सम्भव दो प्रकार का होता है। योग्यताकार और निश्चयाकार। इनमें योग्यताकार सम्भव निश्चय का जनक न होने से अप्रमाण ही है। जैसे क्षत्रीय होने से शौर्य की सम्भावना अथवा ब्राह्मण होने से तप की सम्भावना, द्वितीय सम्भव का उदाहरण देते हुए उदयनाचार्य कहते है कि जैसे सहस्र में शत की सम्भावना या पुराण में पुण्य की सम्भावना आदि। सहस्र शत के विना नहीं हो सकता है। क्योंकि कारण के विना कार्य नही होता है इसलिए सम्भव अनुमान ही है।

१. किरणावली बु० निरूपण
२. प्र० भा० बु० नि०
३. सम्भवोऽपि अविनाभावत्वात् अनुमानमेव-प्र० भा० बु० प्र०
४. किरणा बु० निरू०

अभाव

अभाव प्रमाण का भी प्रशस्तपाद[1] भाष्यकार ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया हैं। जिस प्रकार उत्पन्न कार्य कारण के अस्तित्व का अनुमापक होता है। उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य कारण के अभाव का अनुमापक होता है।

किरणावलीकार[2] ने भाष्यकार के अपिशब्द के आधार पर अभाव कहीं प्रत्यक्ष भी माना है और कहीं अनुमान भी। अभाव प्रमाण का किरणावलीकार[3] ने अनुमान प्रमाण में इस प्रकार अन्तर्भाव दिखलाया हैं वह भूतल उस समय चैत्र के अभाव से युक्त है एक ज्ञान ग्रहण योग्य का ज्ञायमानात्व होने पर भी चैत्रवान के रूप में ज्ञायमान नहीं है।

ऐतिह्य

ऐतिह्य प्रमाण आप्तोपदेश होने के कारण प्रशस्तपाद ने उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। ऐतिह्य के स्वरूप को व्यक्ति करते हुए किरणावलीकार आचार्य उदयन कहते हैं। कि श्रुति स्मृति वाक्य की तरह जो प्रसिद्ध और प्रकृष्ट वक्ता के द्वारा उच्चरित नही है वही ऐतिह्य है। लोक व्यवहार में प्रवाह परम्परा से जो कहा जाता है। आचार के द्वारा स्मृति को जानकर तत्मूलक श्रुति की कल्पना की जाती है। इसलिए इस प्रकार का यथार्थ वाक्य आप्तोपदेश है अत: शब्द प्रमाण की तरह इसका भी अनुमान में अन्तर्भाव होता है।

चेष्टा

चेष्टा को साहित्यिक लोग स्वतन्त्र प्रमाण मानते है उसका निषेध करते हुए प्रशस्तपाद कहते हैं प्रसिद्ध अभिनय का चेष्टा के द्वारा प्रदर्शन होने से चेष्टा भी अनुमान ही है।

चेष्टा के प्रामाण्य पर आक्षेप करते हुए किरणावलीकार[5] कहते है कि चेष्टा प्रमाण ही नहीं हैं। चेष्टा दो प्रकार की होती है कृत और अकृत समय के भेद से। उनमें

---

१. अभावोऽपि अनुमानमेव यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम एवम् अनुत्पन्न कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् — प्रश० भा० लै० प्र०।

२. सच अभाव: प्रत्यक्षः क्वचिच्च आनुमानिक एवेतिलोक सिद्धमेवेत्यर्थ:— किरणा लै० प्र०।

३. तद्भूतलं तदा चैत्राभाववत् एक ज्ञान ग्रहणयोग्यस्य ज्ञायमानत्वेऽपि चैत्रवत् या ज्ञायमानत्वात् इति किरणा० लै० प्र०

४. प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रदर्शनात् तदपि अनुमानमेव। प्र० भा० लै० ज्ञा० प्र०।

५. किरणा० लै०प्र०।

से कृत समय चेष्टा अभिप्रायस्थ शब्द स्मरण मात्र में उपयोगी है लिपि की तरह। अकृत समय चेष्टा प्रमाणन्तर नही है क्योंकि इसमें व्याप्ति नहीं है। जहां धूम है वहां वहां अग्नि है की तरह। जहां उर्ध्व तर्जनी वहां दश संख्या स्मरण यह नियम नहीं क्योंकि भय प्रदर्शन में व्यभिचार होता है। चेष्टा पदार्थों की स्मारक होने पर भी प्रमाण नहीं है।

यद्यपि चेष्टा स्वरूपत: प्रमाण नही है तथापि संशय ज्ञान की तरह गौण रूप से प्रमाण मानकर उसका अनुमान में अतर्भाव भाष्यकार ने किया है।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन ने प्रत्यक्षेतर सभी तथा कथित प्रमाणों का इसमें समावेश करके इसे अत्यन्त व्यापकता प्रदान की है।

बौद्धमत

शब्द

बौद्ध मत में शान्तिरक्षित[1] से पूर्व के आचार्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अतिरिक्त किसी को भी प्रमाण नही मानते। शब्दादि उनके अनुसार अविसंवादी ज्ञान के स्रोत ही नहीं है इसलिए अप्रमाण हैं। प्रथमत: शन्तिरक्षित ने भी शब्द को अप्रमाण ही कहा है। परन्तु पश्चात में उन्होंने लिखा है कि कोई व्यक्ति दुराग्रह से शब्द को प्रमाण स्वीकार करता है तो उसका अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है क्योंकि सम्पूर्ण वचनों द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान किया जाता है विवक्षा वचनों की हेतु तथा वचन उसके कारण है। इनमें कार्य कारण भाव का निश्चय प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि से किया जाता है। इसलिए शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है। तत्त्व संग्रह के टीकाकार कमलशील[2] ने भी शान्तिरक्षित का ही समर्थन करते हुए शब्द को अनूमानान्तर्गत माना है।

उपमान

शान्तिरक्षित के पूर्वाचार्यों ने शब्द के समान उपमान को विसंवादी होने से अप्रमाण माना है किन्तु शान्तिरक्षित इसे अप्रमाण घोषित करने के अतिरिक्त गवय को देखने से जो गाय सादृश्य ज्ञान होता है इस मीमांसा प्रणीत तथा संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध प्रतिपत्ति रूप न्याय प्रणीत उपमानों को स्मृति कहा है। इस प्रकार से मीमांसा और न्याय दोनों के उपमान स्वरूप को अप्रमाण सिद्ध किया गया है किन्तु उनके विचार से उपमान के विषय में आग्रह ही हो तो इसे अनुमान के अन्तर्गत मानना ही उचित होगा।

---

१. वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैवानुमीयते। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्धेतु: सा हि निश्चिता—तत्त्व सं० प्रभा० भा० परी० श्लो० १५१४

२. तत्त्व सं० पंजिका, श्लो० १५१४-१५२५

अर्थापत्ति

शान्तिरक्षित[1] के अनुसार अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव होता है क्योंकि यहां स्वभाव हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान हो जाने से अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति अनुमान से अतिरिक्त नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार शब्द पूर्विका अर्थापत्ति भी अनुमान से भिन्न नहीं है। यहाँ यह अनुमान हो सकता हैं। यह पुरुष रात्रि भोजी है क्योंकि दिवाभोजी न होते हुए भी पुष्ट है दूसरे पुरुषों की तरह।

अभाव पूर्विका अर्थापत्ति में चैत्र का गृहाभाव होने से वहिर्भाव की कल्पना की जाती है जिसे शान्तिरक्षित[2] प्रमाण नहीं मानते क्योंकि गृहाभाव की कल्पना बहिर्भाव के विना भी की जा सकती है जीवन समाप्ति में भी गृहाभाव हो सकता है। जीवित पद देने से भी हेत्वाभास का निराकरण नहीं होता है। जब चैत्र घर में नहीं देखा जाता तब वह बाहर जीवित ही होगा इसका निश्चायक प्रमाण न होने से हेतु सन्दिग्धा सिद्ध हेत्वाभास होता है।

संभव

शान्रितक्षित[3] तथा उनके टीकाकार कमल शील[4] दोनों सम्भव को न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का अनुगमन करते हुए कार्य से कारण के अनुमान में समाविष्ट किया है।

इतर चेष्टा आदि के विषय में शान्तिरक्षित आदि बौद्धाचार्यों ने पूर्वाचार्यों के समान ही कोई विचार नहीं किया है।

जैन न्याय मत

सिद्धसेन दिवाकर[5] आदि जैनतार्किकों ने शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण माना है उसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया है।

उपमान

आचार्य अकलङ्क ने उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान में किया है इसी का समर्थन प्रभाचन्द्र वादिराजसूरि लघुअनन्तवीर्य ने किया है इन्होंने उपमान का

---

१. तत्त्व सं० श्लो० १५६९—१५८५
२. वही
३. तत्त्व सं० श्लो०
४. तत्त्व सं० पं०
५. न्या० व०।

अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया है। अतः अनुमान की व्यापकता की दृष्टि से यह मत विचारणीय नहीं है।

अर्थापत्ति

जैन तार्किक प्रभाचन्द्र के अनुसार दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति दोनों अन्यथानुपत्ति द्वारा सिद्ध होने से अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं हैं इतर जैन तार्किकों ने भी इसी का समर्थन किया है।

नव्यन्याय

नव्यनैयायिक आचार्य गङ्गेश ने केवल अर्थापत्ति के विषय में पूर्वाक्ष उपस्थित कर उसका व्यतिरेकी अनुमान में समावेश किया है। इतर तथा कथित प्रमाणो के विषय में उनका मत प्राचीन नैयायिकों से भिन्न नहीं है। वे शब्द और उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। तथा जिन प्रमाणों का अनुमान के समावेश सूत्रकार और भाष्यकार मानते हैं उनका वे समर्थन करते है केवल दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि को छोड़कर सभी नव्य नैयायिक, पक्षधर, मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर आदि गङ्गेश का अनुमोदन करते हैं,।

आचार्य रघुनाथ शिरोमणि[1] अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं वे इसका व्यतिरेकी अनुमान में अन्तर्भाव नही मानते हैं वे व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को अनुमिति कारण नही मानते। उनके विचार से व्यतिरेक सहचार से भी अन्वय व्याप्ति ही गृहीत होती है। अतः व्यतिरेक अनुमान न होने से पीनो देवदत्त इत्यादि स्थल के अर्थापत्ति को ही प्रमाण मानना चाहिए।

अतः स्पष्ट है कि प्रचीन नैयायिकों ने अर्थापत्ति अनुपलब्धि और सम्भव प्रमाणों को अनुमान के अन्तर्गत हीं माना है तथा वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष को छोड़कर लगभग सभी प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव किया हैं। यद्यपि प्राचीन बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर किसी को प्रमाण ही नहीं माना केवल शान्तिरक्षित और कमलशील ने अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का अनुमान में अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है। जैन तार्किकों ने भी अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव किया हैं तथा रघुनाथ शिरोमणि को छोड़कर सभी नव्य नैयायिकों ने प्राचीन नैयायिकों का ही समर्थन किया है।

---

१. त० चि० दी० के० अनु० प्र०।

सन्दर्भ ग्रन्थ पत्र एवं पत्रिकायें

१. अकलंकग्रन्थत्रयम्—सिंघि जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद सन् १९३९

२. अनुयोगद्वारसूत्र—आगमोदय समिति सूरत

३. अष्टादश उपनिषद्—वैदिक संशोधन मण्डल पूना १९५८, गीता प्रेस गोरखपुर।

४. आप्तमीमांसा—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था काशी, १९५८

५. ऋग्वेद—वैदिक संशोधन मण्डल पूना १९४६

६. कौटिल्यअर्थशास्त्र—सं० पं० राज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ १९७४

७. चरकसंहिता—वि० मु० बम्बई १९३५

८. जैनतर्क भाषा—सिंघि जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद।

९. न्यायसूत्र-भाष्य—वार्तिक तात्पर्य टीका-परिशुद्धि-मिथिला विद्यापीठ १९६७

१०. न्यायावतार—सिंघि जैन ग्रन्थ माला अहमदाबाद

११. प्रमाणमीमांसा ,, ,,

१२. प्रमाणवार्तिक—बौद्ध भारती वाराणसी

१३. प्रमाणसमुच्चय—द्वादशारनयचक्र में उद्धृत सं० जम्बू विजय

१४. बौद्ध दर्शन—किताब महल इलाहाबाद-१९६२

१५. बौद्ध धर्म दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, १९५६

१६. भारतीय तर्कशास्त्र—डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय, वाराणसी, १९६१

१७. भारतीयदर्शन शास्त्र—डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री-१९४५

१८. भारतीयदर्शन परिचय-भाग-२ प्रो० हरिमोहन झा-पटना

१९. याज्ञवल्क्य स्मृति—आ० मु० पूना १९०३

२०. वाचस्पत्यम्—चौ० प्र० वाराणसी

२१. स्थानाङ्गसूत्र—आ० स० सूरत

२२. हेतुबिन्दु—गा० ओ० सी० बड़ौदा १९४९

—अंग्रेजी पुस्तकें—

1. The elements of Indian Logic —B. L. Atreya-1948
2. A modern Introduction to Indian logic—Delhi 1965
3. History of Navya Nyāya in Mithilā—D.C. Bhattacharya Mithila Institute 1958.
4. The Nyāya theory of Knowledge—S.C. Chatterjee.
5. Calcutta University press, Calcutta 1950
6. History of Indian Philosophy—S. N. Das Gupta. (Hindi translation)
7. The six ways of knowing—D. M. Dutta London 1932.
8. Navya Nyāya system of logic—D. C. Cupta—Bharatiya Vidyaprakashan, Varanasi.
9. Materialā for the study of Navya Nayāya logic— Ingelells London—1951.
10. Buddhist philosophy in India and ceylon—Chaukhambha Varanasi.
11. Indian Philosophy—Dr. Radha Krishan.
12. Nyāya Parichaya—Phanu Bhushan Tarkvagish.
13. Buddist logic—Stcherbataky—T. (Dover Publication, New Yark 1962. with Hindi Translation of Chaukhamba)

शोध पत्र एवं पत्रिकायें

१. ध्रुव-त्रिविधमनुमानम् अथवा ए स्टडी इन न्याय सूत्र १-१-५ अध्यक्षीय भाषण प्राच्य विद्या सम्मेलन पूना १९१९
२. डा० रामनारायण शा० द्रविड़—बौद्ध प्रमाण मीमांसा तथा वर्ट्रेंड रसेल की ज्ञान मीमांसा—शोध पत्र—तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान वाराणसी, १९७६।
३. प्रो० समदोङरिनपोछे—प्रमाणमीमांसा में बौद्ध आचार्यों का योगदान-तिब्बती शोध संस्थान वाराणसी १९७६।
४. अनन्त लाल ठाकुर—भारतीय दर्शने मिथिलाया अवदानम् इनटरनेशनल संस्कृत कान्फरेस १९७२

५. डा० गोपिका मोहन भट्टाचार्य—कन्ट्रीब्यूशन आफ नव्वद्वीप टू नव्य न्याय। इण्टरनेशनल संस्कृत कान्फरेंस, १९७२

६. सेम्पादोर्जे-आचार्य—दिङनाग पूर्व प्रमाणमीमांसा-तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान १९७६।

७. जन्मायेग छोंग—तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान १९७२

८. पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार—नव्य न्याय में व्याप्ति का विकास तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान १९७२

९. डा० किशोरनाथ झा—व्याप्ति के सम्बन्ध में बौद्ध तथा नैयायिकों का मतभेद। तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, १९७२

पत्रिकायें

१. ना० श० रामानुजाचार्य—विरुद्धा व्यभिचारी-विश्व संस्कृतम् १९६६

२. श्री निवास शास्त्री—बौद्धन्याये बाह्य वस्तुतः स्वरूपम्—विश्वसंस्कृतम् १९६५

३. डा० किशोरनाथ झा—न्याय भाष्ये शास्त्रान्तर-विमर्श-विश्व संस्कृतम्, मई, १९६५

४. डा० केदार नाथ ओझा—न्यायस्य प्रामाण्यवाद, संस्कृतम् फरवरी, १९६७

५. सु० नील कण्ठ शास्त्री-हेत्वाभाससामान्य लक्षणम्—शारदा-नव० १९६८

६. के अच्युत पोतुयासकोच्चि—हेत्वाभास सामान्य लक्षणे विशिष्टान्तरा-घटितत्ववैम्यर्य्य शंका-शारदा-१९६८

७. बी० राम भट्ट-सत्प्रतिपक्ष लक्षण विचारः शारदा-१९६८

८. शेवड़े वसन्त शर्मा—रघुनाथ शिरोमणि चरितम्—सरस्वती सुषमा २-३-४

९. म० म० परमेश्वरानन्द शास्त्री स्मृति ग्रन्थ—श्री० ला० व० शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली, १९७३-७४।

१०. अध्ययन माला—श्री ला० ब० श० केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९७५

११. कृष्णाराव—दी प्लेस आफ प्रशस्तपाद एण्ड दिङनाग इन दी एवेलूशन आफ व्याप्ति।

१२. इनफरेंस इन इण्डियन फिलोसोफी, जे० ओ० आर० मद्रास, जन० अक्टू० १९२७।

१३. श्री महावीर परिनिर्वाण स्मृति ग्रन्थ—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

अनुक्रमणिका